by Arya Samaj Foundation Chennai and

स्वामी दयानंद सरस्वती

विश्व
मं

R
15.1
गुप्त-स

lic Domain. Gurukul Kangri Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ी दयानंद सरस्वती

व्यक्ति और विचार

विश्व प्रकाश गुप्त
मोहिनी गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
१५.१
१५३

138761

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न बनायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R
१५.१
१५३
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या............ आगत संख्या 138761

पुस्तक वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

1083
24/may/07

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी दयानंद सरस्वती व्यक्ति और विचार

138761

विश्वप्रकाश गुप्त
मोहिनी गुप्त

138761

राधा पब्लिकेशन्स
नई दिल्ली-110002

R 15.1,GUP-S
138761
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

© सुरक्षित

प्रथम संस्करण : 2002
ISBN 81-7487-271-X
मूल्य : 400/- रुपये

R
१५.१
१५३

राधा पब्लिकेशन्स
4378/4-B, अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-110002
फोन : 3261839, 3254306

श्री नितिन गर्ग द्वारा राधा पब्लिकेशन्स के लिए प्रकाशित तथा
तरुण आफसेट प्रिंटर्स, मौजपुर, शाहदरा, दिल्ली में मुद्रित।

SWAMI DAYANAND SARASWATI : VYAKTI AUR VICHAR
by Vishwa Prakash Gupt, Mohini Gupt

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्नेही मित्र श्री विश्वनाथ गुलाटी
को समर्पित
जिनकी सहायता और प्रेरणा से
यह ज्ञान-यज्ञ संपन्न हो सका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय का मार्ग

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।

"नीति-निपुण लोग निंदा करें या स्तुति, धन का आगम हो या घर आई लक्ष्मी चली जाए, आज ही मृत्यु हो जावे या युगों लंबी आयु मिले, किंतु न्याय के मार्ग से धीर पुरुष कभी विचलित नहीं होते।"

—भतृहरि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तावना

स्वामी दयानंद सरस्वती भारतीय नवजागरण के पुरोधा थे और आधुनिक भारत के वैतालिक। उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय आकाश में नवजागरण के जो विविध स्वर गूंजे थे, उनमें एक स्वर उस अवधूत संन्यासी का भी था जिसका पश्चिम से कोई सीधा संपर्क नहीं था, जिसे कोई विदेशी भाषा नहीं आती थी, जो सचमुच में देश की मिट्टी से जन्मा था जिसे गैरों के ही नहीं अपनों के विरोध का भी आजन्म सामना करना पड़ा था और जिसने इस देश की संस्कृति के मूल स्रोत की पहचान कर उसके प्रवाह को अवरुद्ध करने वाले सारे झाड़-झंखाड़ एक झटके में उखाड़ फेंके थे। यह अवधूत संन्यासी स्वामी दयानंद सरस्वती ही हमारे इस ग्रंथ के चरित नायक हैं।

स्वामी दयानंद सरस्वती : व्यक्ति और विचार पुस्तक छः खंडों में विभक्त है। पहला खंड **ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि** है। इसके छः अध्यायों में क्रमशः भारतीय संस्कृति और उसकी विशेषताओं, भारतीय समाज के ऐतिहासिक विश्लेषण, भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना, युगीन परिस्थितियों, साहित्यिक जागरण और उन्नीसवीं सदी के सुधार आंदोलनों का लेखा-जोखा है। यह सामग्री स्वामी दयानंद के जीवन और कार्य को समझने के लिए पृष्ठभूमि का काम देती है।

खंड दो में स्वामीजी के जीवन-प्रवाह का आकलन है। इसमें उनकी जीवनी के संबंध में उपलब्ध स्रोत सामग्री की परीक्षा की गई है और फिर उनके जीवन की मुख्य घटनाओं—बाल्यकाल, गृह-त्याग, पर्यटन, सार्वजनिक जीवन तथा अंत काल का वर्णन है।

खंड तीन में स्वामीजी के रचना-संसार का दिग्दर्शन है। स्वामीजी ने अपने जीवन-काल में लगभग 20,000 मुद्रित पृष्ठों की सामग्री तैयार की थी। इस खंड में स्वामीजी के संपूर्ण साहित्य का परिचय देने के साथ-साथ उनके तीन सबसे प्रमुख ग्रंथों—**सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका** और **संस्कार-विधि** की विस्तृत समीक्षाएं दी गई हैं।

खंड चार में स्वामीजी के चिंतन के कुछ विशिष्ट आयामों की चर्चा है। ये आयाम हैं : दर्शन तथा धर्म, राज्य और शासन, समाज-संगठन, शिक्षा, सामाजिक बुराइयां और वेदों की व्याख्या।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खंड पांच में स्वामीजी का ऐतिहासिक मूल्यांकन है। इसमें एक अध्याय आर्य समाज के ऊपर है।

खंड छः **दयानंद-चयनिका** है। इसमें स्वामीजी के अपने चार आलेख हैं। इन आलेखों से स्वामीजी की भाषा-शैली से पाठक प्रत्यक्ष रूप से परिचित हो सकते हैं।

स्वामी दयानंद के जीवन और कार्य के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह याद रखना है कि उन्होंने कभी किसी स्वतंत्र मत के प्रवर्तन का दावा नहीं किया। उनका कहना था :

"भाई, हमारा कोई स्वतंत्र मत नहीं। मैं तो वेद के अधीन हूं और हमारे भारत में पच्चीस कोटि आर्य हैं। कई-कई बात में किसी-किसी में कुछ-कुछ भेद है, सो विचार करने से आप ही छूट जाएगा। मैं संन्यासी हूं और मेरा कर्त्तव्य यही है कि जो आप लोगों का अन्न खाता हूं इसके बदले जो सत्य समझता हूं उसका निर्भयता से उपदेश करता हूं। मैं कुछ कीर्ति का रागी नहीं हूं। चाहे कोई मेरी स्तुति करे वा निंदा करे, मैं अपना कर्त्तव्य समझ के धर्म बोध कराता हूं। कोई चाहे माने वा न माने, इसमें मेरी कोई हानि लाभ नहीं है।"

स्वामी दयानंद अपने अनुयायियों को सदा यह चेतावनी देते थे :

"आप यदि समाज से पुरुषार्थ कर परोपकार कर सकते हो, समाज कर लो। इसमें मेरी कोई मनाही नहीं है। परंतु इसमें यथोचित व्यवस्था न रखोगे तो आगे बड़बड़ाध्याय हो जाएगा। मैं तो जैसा अन्य को उपदेश देता हूं वैसा ही आपको भी करूंगा और इतना लक्ष्य में रखना कि मेरा कोई स्वतंत्र मत नहीं है। और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूं। इससे यदि कोई मेरी गलती आगे पाई जाए, युक्तिपूर्वक परीक्षा करके इसी को भी सुधार लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह भी एक मत हो जाएगा, और इसी प्रकार से 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' करके इस भारत में नाना प्रकार के मत-मतांतर प्रचलित होके, भीतर-भीतर दुराग्रह रख के धर्मांध होके लड़के (लड़कर) नाना प्रकार की सद्विद्या का नाश करके यह भारतवर्ष दुर्दशा को प्राप्त हुआ है। इसमें यह भी एक मत बढ़ेगा। मेरा अभिप्राय तो है कि इस भारतवर्ष में नाना प्रकार के मतमतांतर प्रचलित हैं वो भी, वे सब वेदों को मानते हैं इससे वेदशास्त्र रूपी समुद्र में यह सब नदी नाव पुनः मिला देने से धर्म एक्यता होगी। और धर्म एक्यता से सांसारिक और व्यावहारिक सुधारणा होगी और इससे कला कौशल आदि सब अभीष्ट सुधार होके मनुष्य मात्र का जीवन सफल होके अंत में अपना धर्म बल से अर्थ, काम और मोक्ष मिल सकता है।"

प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी दयानंद के कार्य का मूल्यांकन व्यापक मानव-चिंतन और विश्व-साहित्य के संदर्भ में किया गया है। उदाहरण के लिए स्वामी दयानंद द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था की यूनानी विचारक प्लेटो की न्याय-धारणा से तुलना की गई है, स्वामीजी के सामाजिक चिंतन और संगठन को पूंजीवाद तथा समाजवाद के परिप्रेक्ष्य में आंका गया है और भारतीय नवजागरण का यूरोपीय नवजागरण से सादृश्य तथा वैषम्य समझने का प्रयास किया गया है।

स्वामी दयानंद ने जब अपना कार्य आरंभ किया था, उनके पास समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र के वे नूतन उपकरण नहीं थे जो आज हमारे पास हैं। न उन्हें आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की वैज्ञानिक सिद्धियों का पूर्वाभास था। फिर भी स्वामीजी के चिंतन के अनेक सूत्र वर्तमान के लिए ही नहीं, भविष्य के लिए भी उपयोगी हो सकते हैं। मानव की जय-यात्रा का कोई अंत नहीं है। स्वामी दयानंद का जीवन और कृतित्त्व इतना बहु-आयामी है कि उसे एक पुस्तक में समाहित करना असंभव है। उसके लिए अनेक खंडों की आवश्यकता है। वर्तमान लेखकों ने इस विषय में पर्याप्त सामग्री एकत्रित भी कर ली है। यदि ईश्वर की कृपा हुई, तो वे यह पुण्य कार्य अवश्य करेंगे।

लेखकों को इस ग्रंथ के लिए सामग्री-संकलन में अनेक स्रोतों से सहायता मिली है। हम सबसे अधिक आभारी अपने स्नेही मित्र श्री विश्वनाथ गुलाटी के हैं जिनकी प्रेरणा और सहायता से यह ज्ञान-यज्ञ संपन्न हो सका है। ग्रंथ विनम्रतापूर्वक उन्हीं को समर्पित किया गया है।

श्री गुलाटी जैसा निष्काम और निस्पृह व्यक्ति आज के संसार में दुर्लभ है।

लेखक आर्य समाज मंदिर, अशोक विहार फेज-I, दिल्ली के महामंत्री श्री शांतिलाल जी आर्य के प्रति हृदय से कृतज्ञ हैं कि उन्होंने अपने विचार-विनिमय तथा पुस्तकों से उन्हें उपकृत किया है। वे गुरुवत् पूज्य आचार्य श्री वेदपाल जी गुप्त के प्रति भी आभारी हैं जिन्होंने स्वामी दयानंद की आर्ष-दृष्टि के बारे में उनका पथ-प्रदर्शन किया है। इतिहासकार डॉ. ओमप्रकाश जी का लेखकों के ऊपर सदा से स्नेह रहा है। इसी प्रकार विज्ञानवेत्ता डॉ. सूर्यप्रकाश जी भटनागर ने अपने अमूल्य पुस्तक-भंडार में से लेखकों को, उन्होंने जो भी पुस्तकें चाहीं, दी हैं।

स्वामी दयानंद का जीवन एक जीवित मशाल था। महात्मा गांधी का रचनात्मक कार्यक्रम स्वामी दयानंद के सामाजिक कार्यक्रम का परिष्कृत रूप था। गांधीजी के आंदोलन की पृष्ठभूमि बहुत कुछ स्वामी दयानंद ने तैयार की थी। यदि लेखकों की इस रचना से लोगों की स्वामीजी के जीवन, कार्य तथा सिद्धांतों के बारे में कुछ जानकारी बढ़ सकी, तो वे अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

—विश्वप्रकाश गुप्त
मोहिनी गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रम

प्रस्तावना 7

खंड एक : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

1. भारतीय संस्कृति और उसकी विशेषताएं 13
2. भारतीय समाज : एक ऐतिहासिक विश्लेषण 49
3. अंग्रेजी राज की स्थापना 62
4. युगीन परिस्थितियां 77
5. साहित्यिक जागरण 94
6. सुधार आंदोलन 113

खंड दो : जीवन-प्रवाह

7. स्रोत-सामग्री 131
8. बाल्यकाल और गृह-त्याग 140
9. ज्ञान की खोज में 146
10. सार्वजनिक जीवन 152
11. 'तेरी इच्छा पूर्ण हो' 161

खंड तीन : रचना-संसार

12. साहित्य-परिचय 166
13. सत्यार्थ प्रकाश 175
14. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका 197
15. संस्कार विधि 214

खंड चार : चिंतन के आयाम

16. दर्शन तथा धर्म 222
17. राज्य और शासन 238
18. समाज-संगठन 254

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

19. शिक्षा 267
20. सामाजिक बुराइयां 280
21. वेदों की व्याख्या 286

खंड पांच : मूल्यांकन

22. स्वामी दयानंद और भारतीय नवजागरण 295
23. आर्य समाज 326
24. स्वामी दयानंद : इतिहास का निर्णय 342

खंड छह : दयानंद-चयनिका

25. ईश्वर के विविध नाम 357
26. अपने विचार 374
27. नित्य कर्म और मुक्ति 380
28. आत्मकथा 385

परिशिष्ट

I. स्वामी दयानंद के जीवन की प्रमुख तिथियां तथा घटनाएं 391
II. स्वामी दयानंद का वंश-वृक्ष 400
III. स्वामी दयानंद के कुछ प्रमुख शास्त्रार्थ 401
IV. आर्य समाज का संविधान 406

संदर्भ ग्रंथ-सूची :

हिंदी ग्रंथ 416
अंग्रेजी ग्रंथ 419

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 1

भारतीय संस्कृति और उसकी विशेषताएं

संस्कृति

किसी देश की आध्यात्मिक, सामाजिक और मानसिक विभूति की प्रेरक शक्ति को संस्कृति के नाम से जाना जाता है। संस्कृति का संबंध संस्कार से है जिसका सामान्य अर्थ परिष्कार करना है। संस्कृत अथवा संशोधित हुए गत्यात्मक भाव को भाववाचक संज्ञा के रूप में संस्कृति कहा जा सकता है। संस्कृति का संबंध संशोधित करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना आदि माना गया है। यह प्रक्रिया प्रकृति के नियमानुसार स्वयं प्रभावी होती है। ''संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं उनसे अपने आपको परिचित रखना संस्कृति है।'' एक दूसरी परिभाषा में कहा गया है कि ''संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।'' यह ''मन, आचार, रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि'' है। यह ''सभ्यता के भीतर से प्रकाशित हो उठना'' है।

एक विचारक के शब्दों में, ''जब कोई समाज विशेष मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों का निर्माण कर लेता है तब ये उसके सामूहिक जीवन में इस तरह घुलमिल जाते हैं कि समस्त समाज इन उदात्त और सूक्ष्म विशेषताओं में रंग जाता है। उसके सभ्य जीवन की समस्त सामग्री इन उच्च ध्येयों की पूर्ति का साधन मात्र बन जाती है। उसकी समस्त रचनात्मकता संस्कृत अर्थात् निखरे हुए उद्देश्यों की प्रतीक हो जाती है।''

डॉ. व्हाइटहेड के शब्दों में, संस्कृति की परिभाषा है ''मानसिक प्रयास, सौंदर्य और मानवता की अनुभूति।''

अंग्रेजी में संस्कृति के लिए कल्चर (Culture) शब्द प्रयुक्त हुआ है। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' में मूल धातु वही है जो 'एग्रीकल्चर' में है। इसका अर्थ है पैदा करना, सुधारना या परिष्कृत करना। संस्कृति व्यक्ति के आचार-विचार में प्रतिभासित होती है किंतु जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहा जाता है। प्रकट है कि ''भाववाचक होने के कारण संस्कृति एक समूह-वाचक शब्द है।'' जलवायु के अनुकूल रहन-सहन की विधियों और विचारधाराओं के, जाति के लोगों में दृढ़ मूल हो जाने से, जाति के संस्कार बन जाते हैं। इनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी प्रकृति के अनुकूल न्यूनाधिक मात्रा में पैतृक संपत्ति के रूप में प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है। ये संस्कार व्यक्ति के घरेलू जीवन तथा सामाजिक जीवन में परिलक्षित होते हैं। मनुष्य अकेला रहने पर भी इनसे छुटकारा नहीं पा सकता। ये संस्कार दूसरे देश में निवास करने तथा दूसरे देशवासियों के संपर्क में आने से कुछ परिवर्तित भी हो सकते हैं और कभी-कभी दब भी जाते हैं, किंतु अनुकूल वातावरण प्राप्त करने पर फिर उभर आते हैं। वास्तव में संस्कृति जीवन का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर' के शब्दों में, ''संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो सारे जीवन को व्यापे हुए हो तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ हो।''

मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है उसी को संस्कृति कहते हैं। चिंतन द्वारा अपने जीवन को सरल, सुंदर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है, उसका परिणाम संस्कृति के रूप में प्राप्त होता है। ''मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शन-शास्त्र के रूप में जो चिंतन किया, साहित्य, संगीत और कला का जो सृजन किया; सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं और संस्थाओं को विकसित किया—उन सबका समावेश हम संस्कृति में करते हैं।''

संस्कृति एक व्यापक परिवेश का शब्द है जिसका अर्थ अत्यंत व्यापक है। संस्कृति वास्तव में मानव के आंतरिक गुणों का समूह है, वह प्रेरक और सृजनात्मक है। व्यक्ति और उसके सामाजिक व्यवहारों का निश्चय संस्कृति द्वारा पल्लवित होता है। संस्कृति ही साहित्य, भाषा और संस्थाओं को जन्म देती है। सत्य की खोज, सौंदर्य की अभिव्यक्ति और मानव प्रेम का विकास संस्कृति के आधारभूत गुण हैं।

संस्कृति सामाजिक जीवन का शाश्वत तत्त्व नहीं है। अनेक राजसत्ताओं ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए संस्कृति को बदलने की कोशिश की है। उन्नीसवीं सदी में जर्मनी में बिस्मार्क ने 'संस्कृति-युद्ध' द्वारा शिक्षित वर्गों को रोमन कैथोलिक चर्च के प्रभाव से मुक्त करने का प्रयत्न किया था। लेनिन, स्टालिन और हिटलर ने भी सांस्कृतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध संघर्ष किया था। साम्यवादी चीन में 1967-68 में नौकरशाही तथा विशिष्ट वर्गवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई थी और साम्यवादी विचारधारा के अनुसार सामाजिक विकास की उपयुक्त परिस्थितियां पैदा करने की कोशिश की गई थी। इस आंदोलन के अंतर्गत कला-संगीत, साहित्य और शिक्षा-संस्थाओं से परिचय के प्रभाव को दूर करने का उपक्रम किया गया था।[1]

संस्कृति और सभ्यता[2]

जिस प्रकार संस्कार शब्द से संस्कृति का विकास हुआ उसी प्रकार सभ्य शब्द से सभ्यता का विकास हुआ है। सभ्य का अर्थ सदस्य या सभासद है। सदस्यता किसी सभा, समाज की होती है। अतः सभ्यता एक सामाजिक प्रक्रिया है। किसी व्यक्ति की वेशभूषा, बोल-चाल और आचार-व्यवहार से हम उसके सभ्य या असभ्य होने का अनुमान कर सकते हैं। यदि यह कहा जाए तो उपयुक्त होगा कि मानव ने अपनी जिजीविषा शक्ति से प्रकृति द्वारा प्रदत्त पदार्थों, तत्त्वों और शक्तियों का रचनात्मक उपयोग कर भौतिक क्षेत्र में जो असाधारण उपलब्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
प्राप्त की है उसी उपलब्धि को सभ्यता कहा जा सकता है। सभ्यता से तात्पर्य उन उपकरणों से है जो मानव ने जीवन-मूल्यों के सृजन में आवश्यकताओं की स्वतंत्रतापूर्वक पूर्ति हेतु अर्जित कर अपनी भौतिक समृद्धि का विस्तार किया है। वास्तव में संस्कृति के बाह्य पक्ष को ही सभ्यता कहा गया है। सभ्यता मूल रूप में व्यवहार की साधुता की परिचायक मानी गई है। यह तो मूल अर्थ माना जा सकता है किंतु अर्थ-विस्तार में सभ्यता के अंतर्गत रहन-सहन, जीवन के साधनों और उपकरणों, कला कौशल, स्थापत्य, ज्ञान-विज्ञान की उन्नति आदि पक्ष आते हैं। आधुनिक युग में तो 'सभ्यता' शब्द का और विस्तार हुआ है। पदार्थगत सामग्री अथवा उपकरण जो मानव ने अपनी भौतिक उन्नति के लिए निर्मित किए हैं वे सभी सभ्यता के परिचायक हैं। भौतिकवादी दृष्टि की प्रधानता के कारण सभ्यता का मापदंड भौतिक पदार्थों के उपयोग और स्थूल सामग्री मात्र रह गया है। यह एकांगी दृष्टि है। जिस सभ्यता के विकास में संस्कृति की आत्मा नहीं होती वह सभ्यता रेत की दीवार की भांति ढह जाती है। इतिहास इसका साक्षी है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि संस्कृति के बाह्य उपादान ही सभ्यता के परिचायक चिह्न हैं। सभ्यता संस्कृतिविहीन होकर आधारहीन हो जाती है। संस्कृति यदि आत्मा है तो सभ्यता उसका शरीर।

सभ्य समाज में शिष्टाचार का बहुत महत्त्व है। शिष्टाचार वास्तव में दिखावा मात्र नहीं होता। संस्कार से आचार की शिष्टता का निकट का संबंध है। भारतीय समाज में विनय और शील का जो रूप दिखाई देता है। वास्तव में यह उसकी सभ्यता का बाहरी रूप है जिसे शिष्टाचार कहा जाता है। शिष्टाचार का शाब्दिक अर्थ होता है शिष्टों का आचरण। देश की आर्थिक और अन्य बाह्य विभूतियों के लिए सभ्यता शब्द का प्रयोग किया जाता है। सभ्यता शब्द अंग्रेज़ी के सिविलाइजेशन (Civilization) शब्द का पर्यायवाची बन गया है।

विद्वानों में संस्कृति और सभ्यता के संबंध में मत-वैभिन्य प्राप्त है। अनेक विद्वान संस्कृति और सभ्यता इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची मानकर इनका प्रयोग एक-सा करते हैं। हर्स कोविट्स नामक विद्वान का मत है कि सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे के पर्याय हैं। उनके अनुसार 'संस्कृति' के लिए एक शब्द है 'परंपरा' और दूसरा 'सभ्यता'। बेवर इन दोनों में मौलिक अंतर मानते हैं। उनके मतानुसार सभ्यता में उपयोगी भौतिक पदार्थ और उनको निर्माण करने तथा प्रयोग करने की विधियां सम्मिलित होती हैं, संस्कृति में समूह के आदर्श मूल्य, मानसिक तथा भावात्मक पहलू सम्मिलित होते हैं। दूसरे विद्वान ओसबाल्ड स्पेंगलर, संस्कृति और सभ्यता को एक दूसरे से पृथक स्वीकार करते हैं। "सभ्यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था होती है। प्रत्येक संस्कृति अपनी सभ्यता से मंडित और सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। सभ्यता से किसी संस्कृति की बाहरी चरम कृत्रिम अवस्था का बोध होता है। संस्कृति विस्तार है तो सभ्यता कठोर स्थिरता।"

सभ्यता का विकास बुद्धिजन्य ज्ञान पर निर्भर होता है जबकि संस्कृति अनुभवजन्य ज्ञान पर। अनुभवजन्य ज्ञान नित्य होने से संस्कृति नित्य और बुद्धिजन्य ज्ञान परिवर्तनशील होने से सभ्यता परिवर्तनशील होती है। "संस्कृति मनुष्य के अखिल जीवन को संस्कारित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती है और सभ्यता काल सापेक्ष होने के कारण बाह्य जीवन को अल्प समय के लिए प्रभावित करती है।''

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृति और सभ्यता पर्याय नहीं हैं। संस्कृति और सभ्यता मानवीय जीवन-मूल्यों की निकटतम दो भिन्न स्थितियां हैं। संस्कृति के भौतिक स्वरूप को सभ्यता और सभ्यता के आंतरिक पक्ष को संस्कृति कहा जाता है। एक विद्वान ने संस्कृति तथा सभ्यता के अंतर को एक रोचक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है। ''मानव ने साधारण बेडौल पाषाण या संगमरमर को काट-छांट कर सुंदर मूर्ति का निर्माण किया—यह सभ्यता का अंग है और यही संस्कृति का भौतिक स्वरूप। परंतु पाषाण की इस मूर्ति में मानव की कला और सौंदर्य की श्रेष्ठ भावनाएं तथा हस्त कौशल अभिव्यक्त हुआ है। यह सभ्यता का अभौतिक अंग है जिसे संस्कृति कहते हैं।''

भौतिक व्यवहार, जिसे सभ्यता कहा गया है, वह संस्कृति की नींव है। इसी नींव पर मानसिक, आध्यात्मिक व्यवहाररूपी संस्कृति का भव्य भवन खड़ा हुआ है।

संस्कृति के अर्थ के संदर्भ में यह भी एक विचारणीय पक्ष है कि उसका औचित्य और प्रयोजनीयता क्या है जबकि सभ्यता से ही मानव अपनी सुख सुविधामयी जीवन-यात्रा को पूर्ण कर लेता है। संसार के इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात करें तो पाएंगे कि दो परस्पर विरोधी शक्तियां प्रतिद्वंद्वी भाव से क्रियाशील हैं। एक वह मूल चेतन शक्ति है जो बाहरी ह्रासोन्मुख उपकरणों को पचाकर जीवन में सामंजस्य प्रदान करती है तो दूसरी वह जो विघटित होकर निःशेष हो जाती है। भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक उन्मेष का यह पक्ष अनूठा और श्लाघ्य है। सभ्यता के शिखर ध्वस्त हो रहे हैं। भौगोलिक सीमाओं, जातियों और धर्मों के बाह्य रूपों को आधार मान कर विकसित होने वाली संस्कृतियां भी धूमिल हो रही हैं। यदि कोई जीवंत चेतना है तो वह मानवीय संस्कृति है जिसमें समन्वय और सामंजस्य पैदा करने की शक्ति है। भारतवर्ष में इस मानवीय संस्कृति के उद्‌भव और विकास की रेखाएं स्पष्ट और उजागर हैं और विघटनकारी वृत्तियों से सतत संघर्षरत यह जिजीविषा संसार का आशा-केंद्र है।

संस्कृति के अंगीभूत तत्त्व

किसी भी देश की संस्कृति उसके भौगोलिक स्वरूप और सीमाओं में घिरकर विशिष्ट और अंतर्मुखी हो जाती है। कभी-कभी ये सीमाएं इतनी प्रबल होती हैं कि संस्कृति के मूल अंगीभूत तत्त्वों से भिन्न होकर विशिष्ट रूप में विकसित होने लगती हैं। काल के प्रबल थपेड़ों में वह मात्र इतिहास की वस्तु रह जाती है। संस्कृति मानवीय सभ्यता के विकास की चेतना का इतिहास है और भौगोलिक सीमाओं में भी ये तत्त्व विकसित होते रहते हैं। इन्हीं तत्त्वों को संस्कृति के अंगीभूत तत्त्व कह सकते हैं। किसी भी संस्कृति के प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित माने जा सकते हैं—

(1) आध्यात्मिक, सामाजिक और मानसिक दृष्टि।

(2) मानवता, सौंदर्य और कलात्मक प्रयास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) प्रेरक और रचनात्मक मूल्यों का संरक्षण।
(4) साहित्य, भाषा और संस्थाओं की नियामक शक्ति।
(5) नित्य और कालजयी चेतना।

भारतीय संस्कृति का जन्म

भूमंडल पर मानव सृष्टि का आरंभ कब, कहां और कैसे हुआ यह प्रश्न अभी भी अनुत्तरित ही है। कुछ विद्वान आदि सृष्टि का आरंभ उत्तरी ध्रुव मानते हैं। कुछ के विचार से मध्य एशिया वह स्थान हो सकता है जहां मानव की सृष्टि हुई। इस प्रश्न को पृथक रखकर भारतीय संस्कृति के उद्‌भव संबंधी विचारों का विश्लेषण करना समीचीन होगा। मनुष्य जाति के साहित्य में सबसे प्राचीन और प्रथम शब्द रचना वेद हैं और वेद की ऋचाओं को ही अपना मार्ग-दर्शक मानकर परमात्मा और प्रकृति का गान करने वाले मानवों को आर्य संज्ञा से विभूषित किया गया।

भारत की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के निर्माता आर्य थे।

आर्य

ऐसा माना जाता है कि मूलतः आर्य एक जाति थी जो एक स्थान पर रहती थी, एक भाषा बोलती थी और बड़ी पराक्रमी थी। बाद में वे बिछुड़कर विभिन्न दिशाओं में चल पड़े। जो पश्चिम की ओर गए वे बाद में यूरोप के अनेक जन बने और जो पूर्व की ओर गए वे ईरानी और आर्य कहलाए। कुछ विद्वानों का मत है कि आर्य भारत में लगभग ईसा से 2000 वर्ष पूर्व आए। कुछ अनार्य जातियां उत्तर-पश्चिम भारत में रहती थीं। आर्यों ने उन अनार्य जातियों को हराकर इस प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। इन पराजित जातियों में से कुछ को अपना दास बना लिया और कुछ अनार्य लोग इस प्रदेश को छोड़कर दक्षिण भारत की ओर चले गए। यह भी अनुमान है कि कुछ आर्यों ने अनार्यों से मिलकर दूसरे अनार्यों को हराया हो। कुछ अनार्य जातियां जो पहले उत्तर भारत में रहती थीं, पहाड़ों और जंगलों में जाकर रहने लगीं। उनके वंशज कोल, भील, गोंड आदि जातियों में अब भी मिलते हैं।

इस प्रकार सैंधव सभ्यता के ध्वंसावशेषों के ऊपर आर्य सभ्यता की नींव डाली गई। इन उदीयमान और नवीन सभ्यता के संवाहकों को ऋग्वेद में 'आर्य' कहा गया है। आर्य का अर्थ एकमात्र 'उत्तम' अथवा श्रेष्ठ होता है। मूल निवासियों को श्रेष्ठ आर्यों ने दास अथवा दस्यु शब्दों से सम्बोधित किया हो तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

आर्यों का आदि देश

आर्यों के आदि देश के संबंध में अन्वेषकों की भिन्न-भिन्न स्थापनाएं हैं। विद्वान इस विषय में एक मत नहीं हैं कि आर्य भारत में ही किसी स्थान पर रहते थे अथवा बाहर से आए। वैदिक साहित्य के विद्वानों के मतानुसार आर्यों का प्रारंभिक निवास स्थान हिमालय की ऊंची घाटियों और हिमाच्छादित चोटियों पर था। भारत के इतिहास का पहला परिच्छेद कश्मीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और तिब्बत के ठंडे और सुहावने पर्वतों और मैदानों में लिखा गया। यह वह प्रदेश है जिसे उत्तर-कालीन आर्य 'स्वर्ग' और 'नरक' आदि नामों से संबोधित करते थे।

भारत को आर्यों का आदि देश मानने में अनेक आपत्तियां उठाई गई हैं। इतिहास, भाषा-विज्ञान, पुरातत्त्व और प्रजाति संबंधी मानव-शास्त्र के आधार पर आर्यों की आदि भूमि तथा उनमें से भी पूर्व भारत में रहने वाले द्रविड़ों की आदि भूमि के संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इस देश के मूल निवासी आर्य नहीं थे तो कौन थे और उनकी सभ्यता के अवशेष क्यों प्राप्त नहीं हैं, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। 'आर्य और द्रविड़ दोनों प्रकार के लोग इस देश में अनंत काल से रहते आए हैं और हमारे प्राचीनतम साहित्य में भी इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि दोनों जातियां बाहर से आईं अथवा इन दोनों के बीच कभी लड़ाइयां भी हुई थीं। जाति या रेस (Race) के सिद्धांत हमारे देश में अंग्रेजों के आगमन के बाद प्रचलित हुए अन्यथा इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि आर्य और द्रविड़ जाति के लोग एक-दूसरे को विजातीय समझते थे। मैथिल, गौड़, कान्यकुब्ज आदि की तरह द्रविड़ शब्द भी यहां भौगोलिक अर्थ देने वाला था।

द्रविड़ जाति

कतिपय भारतीय विद्वान द्रविड़ और आर्य जाति को एक ही मानते हैं और किन्हीं विशिष्ट स्थितियों में एक समय में आर्यों के ही एक विशिष्ट वर्ग को द्रविड़ नाम से अभिहित किया जाने लगा। मनु ने शक आदि को क्रियाहीन क्षत्रिय माना है। रावण ब्राह्मण था और पुलस्त्य ऋषि का नाती था फिर भी च्युतकर्म होने से संघर्ष हुआ। इतिहास में कल्पना की जा सकती है, कितनी ही घटनाएं इस प्रकार घटी होंगी। सांस्कृतिक विकास के क्रम में आर्य और द्रविड़ समान रूप से भागीदार थे, इसमें दो मत नहीं हो सकते। आर्य तथा द्रविड़ भारतीयों का धर्म एक है, संस्कार एक है, भाव और विचार एक है, जीवन के विषय में दृष्टिकोण एक है। आर्यों और द्रविड़ों का सांस्कृतिक मिश्रण इतनी सघनता से हुआ है कि उसके दो सांस्कृतिक सूत्र होने का आधार अनावश्यक और भ्रामक होने लगता है। प्रायः सभी इतिहासकार इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि "द्रविड़ प्राचीन विश्व की अत्यंत सुसभ्य जाति थी और भारत में भी सभ्यता का वास्तविक आरंभ इसी जाति ने किया था। कृषि विकास, भवन निर्माण, नगरीय सभ्यता का विकास द्रविड़ों की देन है। समाज में मातृसत्तात्मक व्यवस्था के प्रवर्तक द्रविड़ थे और शैव तथा शाक्त धर्म तथा भक्तिवाद का विकास भी उन्होंने ही किया था।"

ऋग्वेद का रचना-काल

समस्त विश्व का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद है। इसके पूर्व किसी अन्य ग्रंथ का उल्लेख प्राप्य नहीं है। ऋग्वेद के रचना-काल का निर्णय प्रामाणिक आधारों पर अभी भी सर्वमान्य नहीं हुआ है। किसी के मतानुसार इसकी रचना पचहत्तर हजार वर्ष पूर्व की है। तो कोई ईसा पूर्व दो सौ वर्ष मानता है। वेद अपौरुषेय माने गए हैं इसलिए गणना के क्रम को आर्यों ने अहमियत न दी हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान जैकोबी ने ऋग्वेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बाद रचित कल्प सूत्रों का रचनाकाल ईसा से 4700 वर्ष और ऋग्वेद का रचनाकाल लगभग 6500 वर्ष पूर्व माना है।

वेदों को श्रुति भी कहा गया है, वेद कंठस्थ हुआ करते थे और यह परंपरा अज्ञातकाल से प्रचलित थी। मंत्रों की संख्या अधिक होने से उन्हें संहिताओं में विभाजित किया गया। संहिताओं को लिखने की बात तभी सूझी होगी जब लेखन कला का आविष्कार हुआ होगा। भारत में लेखन कला का प्रचलन ईसा से 1800 वर्ष पूर्व हुआ होगा, ऐसा अनुमान है। संहिताएं तभी लिखी जाने लगी होंगी। वेद जिन संहिताओं में अभी मिले हैं उनका संपादन कृष्ण द्वैपायन व्यास ने किया है। व्यास महाभारत काल में जीवित थे। महाभारत का युद्ध ईसा से 1400 वर्ष पूर्व हुआ था, उससे भी सात सौ वर्ष पूर्व से वेद लिपिबद्ध हो रहे थे।

लेखन कला का मूल प्रमाण सिंधु घाटी की खुदाई में मिला है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की लिपि प्रामाणिक रूप में पढ़ी नहीं जा सकी है किंतु जिन शब्दों को पहचाना गया है वे वेद मंत्रों के लेखन से मिलते हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि मोहनजोदड़ो में जो लिपि के निशान मिले हैं उसी को देखकर आर्यों ने लिखना सीखा होगा।

हिंदू शब्द प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं है किंतु जो संस्कृति मूल वैदिक साहित्य से उद्भूत होकर विकसित हुई वह हिंदू संस्कृति के नाम से जानी गई। अपनी समन्वयशीलता के कारण इस संस्कृति में अनेक संस्कृतियों का सम्मिश्रण हो गया।

वैदिक साहित्य में निम्न साहित्य सम्मिलित है–

(1) वेद, (2) ब्राह्मण, (3) आरण्यक, (4) उपनिषद, (5) वेदांग, (6) सूत्र साहित्य, (7) उपवेद।

भारतवर्ष के आर्यों के संबंध में वैदिक साहित्य ही प्रामाणिक सामग्री है जो भारतीय संस्कृति का मूल आधार है।

वेद चार हैं : (1) ऋग्वेद, (2) यजुर्वेद, (3) सामवेद, और (4) अथर्ववेद। वेद मंत्रों को ऋक् या ऋचा कहते हैं। ऋग्वेद की प्रतिपादन शैली स्तुति या स्वरूप वर्णन है।

ऋग्वेद–चारों वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन और बृहत् है। विषयों की दृष्टि से उसका विस्तार बहुत व्यापक हुआ है। परमात्मा, ईश्वर, प्रकृति आदि आध्यात्मिक विषयों; सूर्य, चंद्र, अग्नि, वायु, भूमा, पूषा आदि आधिदैविक, विषयों; जीव, मानव आदि आधिभौतिक विषयों के समावेश के साथ सांसारिक विषयों का निर्देश भी ऋग्वेद में विद्यमान है। ऋग्वेद के सूक्तों के महत्त्व को बताते हुए डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है कि 'हम एक प्रकार की ताजगी, सादगी और बसंत काल की बयार के समान एवम् प्रातःकाल के खिले हुए फूल की भांति एक अनिर्वचनीय आकर्षण मानव मस्तिष्क के इन सर्वप्रथम प्रयत्नों में देखते हैं, जो बिंब के रहस्य को अवगत करके उसकी अभिव्यक्ति करने के लिए किए गए थे।'

यजुर्वेद–यजुर्वेद गद्यात्मक है। यज्ञ में कहे जाने वाले गद्यात्मक मंत्रों को 'यजुस्' कहा जाता है। यजुर्वेद में यज्ञों और हवनों के नियम और विधान हैं। इसका वर्ण्य विषय कर्मकांड है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी दयानंद की 'आर्य' विषयक धारणा[3]

स्वामी दयानंद के अनुसार, "जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्य विद्यादि गुणयुक्त और आर्यावर्त देश में सब दिन रहने वाले हैं, उनको आर्य कहते हैं।" वेदों में अनेक स्थानों पर 'आर्य' और 'दस्यु' शब्दों को प्रयोग हुआ है। स्वामी दयानंद के मत से "श्रेष्ठों का नाम आर्य, विद्वान्, देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु दो नाम हुए।" स्वामी दयानंद ने ऋग्वेद भाष्य में 'आर्य' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है।

पाश्चात्य विद्वान 'आर्य' और 'दस्यु' शब्दों से प्रायः दो पृथक जातियों का अर्थ ग्रहण करते हैं। उनकी धारणा है कि आर्यों से पहले भारत में दस्यु जाति के लोग रहते थे। आर्यों ने दस्यु जाति को पराजित कर भारत में अपने राज्य स्थापित किए। स्वामी दयानंद यह नहीं मानते। उनका कहना है कि मनुष्यों की आदि सृष्टि तिब्बत में हुई। तिब्बत से आर्य लोग सीधे आकर भारत में बसे। इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था। आर्यों से पूर्व इस देश में कोई नहीं बसता था। आर्यों के नाम पर ही इस देश का नाम 'आर्यावर्त' पड़ा है। स्वामी दयानंद के अनुसार आर्यावर्त का विस्तार हिमालय से रामेश्वरम् तक है। उनके शब्दों में–

"हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वरपर्यंत विंध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सबको आर्यावर्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त कहलाया है।"

स्वामी दयानंद ने अपने ग्रंथों में आर्यों के प्राचीन गौरव का गान किया है। उनका कहना है कि प्राचीन काल में आर्यों का सारे भूमंडल पर शासन था। अन्य राजाओं की स्थिति अधीन मांडलिक राजाओं की-सी थी।

स्वामी दयानंद मानते हैं कि प्राचीन काल में आर्य राजनीतिक दृष्टि से ही आगे बढ़े हुए नहीं थे, वे ज्ञान-विज्ञान, कला और धर्म में भी अग्रणी थे। संसार में जितनी विद्या फैली है, उस सबका स्रोत भारत था। स्वामी दयानंद ने यह भी प्रतिपादित किया है कि भारत युद्धकला में शिरोमणि था, तोपों और बंदूकों का प्रयोग जानता था, वायुयानों का निर्माण कर सकता था और उसे बिजली तथा तार आदि का भी ज्ञान था। गणित, ज्योतिष तथा चिकित्सा के क्षेत्रों में भारत की उपलब्धियां महत्त्वपूर्ण थीं। महाभारत युद्ध के पश्चात् आर्यों की शक्ति का निरंतर ह्रास आरंभ हुआ। यह क्रम अभी तक चल रहा है।

पारसी जाति

पारसी लोग फारस से आकर भारत में बस गए थे यह घटना बहुत बाद की है। वे जरथुस्त्री हैं और जरथुस्त्र द्वारा प्रवर्तित धर्म को मानते हैं। आर्य संस्कृति के सूत्रों को जोड़ने में पारसी जाति का बहुत बड़ा हाथ है। किसी समय भारतीय आर्य ईरान में भी थे; पारसी जाति उन्हीं आर्यों की संतान थी जो ईसा पूर्व तीन चार हजार वर्ष पहले भारत आ चुके थे। इस शाखा के आर्य भी भारतीय आर्यों के समान प्रकृति के दिव्य तत्त्वों के उपासक थे। इनका प्राचीनतम ग्रंथ जिंदावेस्ता है जिसके मंत्र ऋग्वेद के मंत्रों की भाषा से मिलते-जुलते हैं। काल-क्रम में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२
१५.१
१५३

भाषा-भेद का विस्तार हुआ। अहर (असुर) पारसियों के यहां ईश्वर के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा किंतु भारतीय आर्य उसका प्रयोग बाद में दानव के रूप में करने लगे।

वैदिककालीन संस्कृति

भारतीय संस्कृति का प्रारंभ वेदों से होता है। वैदिक काल में आर्य संस्कृति फली-फूली और उसका विकास हुआ। महान वैदिक साहित्य की रचना इसी काल में होने के कारण इसे वैदिककालीन संस्कृति कहा जाता है किंतु समय के साथ-साथ उसमें परिवर्तन भी होते गए। परिवर्तन की यह प्रक्रिया दो प्रकार से हुई। बाहरी परिवर्तन के फलस्वरूप उसकी आंतरिक मूल स्थिति और गहन तथा तीव्र होती चली गई। वास्तव में आर्य संस्कृति ही भारतीय संस्कृति की आधारभूत धारा है जिसमें सम्मिश्रण की प्रक्रिया और सामासिकता का प्रवाह सतत् प्रयत्नशील रहा है। आर्य संस्कृति आर्येतर लोगों के लिए हिंदू संस्कृति रही है क्योंकि हिंदू क्षेत्र का संबंध सिंधु नदी से होने के कारण 'स' का 'ह' हो गया और इस प्रकार हिंदू शब्द की व्युत्पत्ति हुई।

वैदिक साहित्य में निम्न साहित्य सम्मिलित है :

(1) वेद, (2) ब्राह्मण, (3) आरण्यक, (4) उपनिषद, (5) वेदांग, (6) सूत्र साहित्य (7) उपवेद।

वेद चार हैं : (1) ऋग्वेद, (2) यजुर्वेद, (3) सामवेद, और (4) अथर्ववेद।

1. ऋग्वेद

138761

चारों वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। इसमें परमात्मा, प्रकृति आदि आध्यात्मिक विषयों, सूर्य, चंद्र, अग्नि, वायु आदि आधिदैविक विषयों तथा जीव और मानव जैसे आधिभौतिक विषयों की चर्चा है।

2. यजुर्वेद

यजुर्वेद गद्यात्मक है। यज्ञ में गाए जाने वाले गद्यात्मक मंत्रों को 'यजुस्' कहा जाता था। यजुर्वेद में यज्ञों के नियम हैं। यजुर्वेद में वर्णित कर्म के दो भाग हैं : (1) मनुष्य के जीवन सम्बन्धी नैमित्तिक कर्म, (2) विविध यज्ञ। इस वेद का अंतिम अध्याय ईषोपनिषद् के नाम से विख्यात है। भगवद्गीता में जिस कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है उसका आधार ईषोपनिषद् में प्राप्य है। धर्मशास्त्र के इतिहास में इसका असाधारण महत्त्व है। कालांतर में यजुर्वेद की दो शाखाओं का उल्लेख मिलता है : (1) कृष्ण यजुर्वेद, (2) शुक्ल यजुर्वेद। दोनों में अंतर यह है कि शुक्ल यजुर्वेद में छंदों के साथ गद्यात्मक मंत्र भी हैं।

3. सामवेद

सामवेद में स्तुतिपरक मंत्रों को संग्रहीत किया गया है। ये मंत्र गेय हैं तथा अधिकांश मंत्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। यज्ञ, अनुष्ठान और हवन के समय मंत्रों का सामूहिक गायन होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा, सामगान का आधार सामवेद ही है।

4. अथर्ववेद

इस वेद में आयुर्वेद, राजधर्म तथा व्यावहारिक विद्याओं से संबंध रखने वाले मंत्रों की बहुलता है। अथर्ववेद की रचना सबसे बाद में हुई—उसकी भाषा के आधार पर यह अनुमान किया जाता है। जादू टोने तथा उसके निवारण या प्रयोग की विधियां इस वेद में प्राप्य हैं। अनिष्ट से बचने तथा शत्रु नाश के लिए मरण, मोहन, उच्चाटन क्रियाओं का विधान भी इसमें प्रायः होता है। शल्य चिकित्सा का उल्लेख भी अथर्ववेद में हुआ है।

वेदों के अंग

प्रत्येक वेद के चार भाग हैं : संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्।

संहिता—संहिता का अर्थ संग्रह अथवा संकलन करना है। संहिता वेद का वास्तविक और सबसे प्राचीन अंग है।

ब्राह्मण—ब्राह्मण ग्रंथों में संहिताओं की ऋचाओं की व्याख्या शास्त्रोक्त और सैद्धांतिक ढंग से की गई है। इसकी भाषा गद्य है, इसकी रचना याज्ञिकों का मार्गदर्शन करने हेतु हुई थी।

आरण्यक—ब्राह्मण ग्रंथों के अंतिम भाग आरण्यक हैं। जिन अंशों पर वानप्रस्थी अधिक विचार-विमर्श करते थे उन्हें आरण्यक भाग में लिया गया है। दार्शनिक सिद्धांत और उपासना की महत्ता आरण्यक में प्राप्त है।

उपनिषद्—वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में उपनिषदों की ख्याति है। उपनिषदों में धर्म के बाह्याडंबर और कर्मकांड का तिरस्कार, आत्मा और सत्य का विवेचन किया गया है।

वेदांग

वेदों का प्रत्येक शब्द उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि उच्चारण भेदों से बंधा हुआ है। उच्चारण ध्वनि में शुद्धता की अपेक्षा की गई थी। वेद के अर्थ को ठीक-ठीक समझने के लिए छः विषय रखे गए जिन्हें वेदांग कहा गया। ये वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण भाग हैं।

(1) शिक्षा (2) छंद (3) निरुक्त (4) व्याकरण (5) ज्योतिष (6) कल्पसूत्र।

उपवेद

उपवेद चार हैं : (1) आयुर्वेद (2) धनुर्वेद (3) गंधर्ववेद (4) अर्थवेद।

वेदों की प्रार्थनाओं तथा स्तुतियों से जो संस्कृति प्रतिभासित होती है उससे यह प्रकट हो जाता है कि वैदिक संस्कृति एक जीवंत और प्रगति में आस्था और विश्वास के साथ गतिशील संस्कृति है, विविध क्षेत्रों में उसकी उपलब्धियां निम्नलिखित हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आध्यात्मिक दृष्टि

वेदों के आध्यात्मिक विचारों का सारांश यह है कि जगत् की सब भौतिक और मानवी शक्तियां सम्मान और मनन के योग्य हैं किंतु मननीय परमदेव ब्रह्म हैं जो सब शक्तियों को उत्पन्न करने वाले और उनके नियायक हैं।

धर्म-दर्शन

वेद मंत्रों में जिस धर्म का विधान है उसका आधार 'ऋत' और 'सत्य' है। अहिंसा, यज्ञ आदि को परम धर्म माना गया है।

सामाजिक संगठन

वैदिक साहित्य में समाज संगठन का आधार श्रम का विभाजन है। पुरुष सूक्त में समाज के शरीर के मुख अर्थात् विचारक और व्याख्याकार को ब्राह्मण, बाहु अर्थात् क्षत्रिय रक्षक के रूप में, संपत्ति को पचाकर सारे शरीर में बांटने वाले कृषिकरों को वैश्य और शारीरिक परिश्रम और सेवा भाव द्वारा समाज के सब कार्यों का निर्वाह करने वाले शूद्र नाम से निर्दिष्ट किए गए। वर्णाश्रम व्यवस्था में विभाजन के फलस्वरूप कोई कार्य छोटा अथवा बड़ा नहीं माना गया।

आश्रम व्यवस्था

वेदों में ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम की विशद और विस्तृत चर्चा है। ब्रह्मचर्य को अमर पद की प्राप्ति का आधार और इस लोक में शक्ति का स्रोत माना गया। यह विधान किया गया कि गुरु और आचार्य दोनों ही ब्रह्मचारी हों। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाला स्नातक ब्रह्मचारी श्रेष्ठ माना गया। गृहस्थ के पश्चात् वानप्रस्थ और तत्पश्चात् संन्यास। संन्यास को यति धर्म के पर्याय रूप में ग्रहण किया गया।

शासन पद्धति

समाज की राजनैतिक इकाई 'परिवार' था। परिवारों के समूह को ग्राम और ग्रामों के समूह को 'जन' कहा जाता था। जनपद उसी की विस्तृत अभिव्यक्ति है। विश् शब्द का प्रयोग प्रजा अथवा जन के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'विशः' का नेता इन्द्र हुआ करता था जो प्रमुख शासक तथा सेनापति भी होता था। उसका निर्वाचन होता था। वैदिक साहित्य में अनेक सूक्तियां इस संबंध में प्राप्य हैं।

आर्यों की भारतीय संस्कृति को देन

वैदिक काल में आर्यों ने धर्म, सामाजिक आदर्श, गठन, विचार के क्षेत्र में जो देन दी है वह बहुत महत्त्वपूर्ण और मूल्यों के शाश्वत स्वरूप को प्रकट करने वाली है। बीसवीं शती तक मानव जाति ने विकास के अनेक मोड़ झेले, पर भारतीय संस्कृति का मूल ढांचा आज भी बहुत कुछ अपने मूल रूप में विद्यमान है। इस युग में आर्यों ने जिन बातों का प्रचलन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया, समय-समय पर भारत में आने वाली जातियों ने अपना योगदान देकर उन्हें पुष्ट ही किया है यद्यपि उत्तर वैदिक काल में कर्मकांड की प्रधानता और पशुबलि ने जन-मानस में आक्रोश की लहर पैदा की। तथापि वह भी सुधार की एक प्रक्रिया ही कही जायेगी। आर्य और आर्येतर जातियों के मिलन से समन्वयशील संस्कृति का उदय भारतीय संस्कृति की अनुपम देन है जिसमें लोकोत्तर जीवन की खोज, त्याग के साथ भोग, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि यमों के द्वारा उन्नत व्यक्तित्व के विकास आदि के आदर्श ने भारतीय दृष्टिकोण को सदैव ही प्रभावित किया है। अपनी इस आधारभूत शक्ति के कारण ही भारतीय संस्कृति से परिचित होने वाला कोई भी अभारतीय विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नहीं रहता। वैदिक संस्कृति जिजीविषा की प्रकृत अवधारणा और मानवीय मूल्यों का सम्मान ही एक ऐसा कारण है जिसे आदि काल से मान्य किया गया है और अनंत काल तक मान्य किया जाएगा।

वैदिक सूक्तियां[1]

नीचे हम अभय, ईश्वर, एकता, एकेश्वरवाद, कर्म, पुरुषार्थ, प्रार्थना जैसे विषयों पर कुछ वैदिक सूक्तियां तथा उनके हिंदी अर्थ दे रहे हैं। इन सूक्तियों से वैदिक संस्कृति की प्रागवत्ता की झलक मिलेगी।

1. अतिथि

अतिथि देवो भव।

अतिथि में देवबुद्धि रखो।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

2. अध्ययन

स्वाध्याय प्रवचनाम्यां न प्रमदितव्यम्।

अध्ययन और प्रवचन में आलस्य नहीं करना चाहिए।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

3. अभय

अभयं मित्रादभयमित्रात्।

मित्र की ओर से अभय हो, शत्रु की ओर से अभय हो।

—अथर्ववेद।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षममयंद्यावा पृथिवी उभे उभे।
अभयं पश्चारमयं युरस्तादत्तरादधरादयेभयं नोअस्तु।।

अंतरिक्ष हमें अभय प्रदान करे। आकाश और पृथिवी हमें अभय प्रदान करें। पीछे से, आगे से, ऊपर से और नीचे से—चारों दिशाओं से हमें अभय प्राप्त हो।

—अथर्ववेद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाम्योऽमयं नः पशुभ्यः।।

जहां-जहां से आवश्यक हो वहां-वहां से हमें अभय प्रदान करो। हमारी प्रजा के लिए कल्याण हो। हमारे पशुओं के लिए अभय हो।

यजुर्वेद।

शं में अस्त्वभयं मे अस्तु।

मेरे लिए कल्याण हो, मेरे लिए अभय हो।

अथर्ववेद।

4. ईश्वर

ईशावास्यमिदं सर्वं यकिंच जगत्यां जगत्।

जगत् में जो कुछ भी जड़चेतनस्वरूप है, वह सब ईश्वर से व्याप्त है।

ईशावास्योपनिषद्।

5. एकता

नेह नानास्ति किंचन्।

इस लोक में जीवमात्र में किसी तरह का भेद नहीं है।

—वृहदारण्यकोपनिषद।

सं गच्छध्वं सं वरध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

तुम सब परस्पर मिल कर चलो, परस्पर मिल कर प्रेम से वार्तालाप करो। तुम लोगों का मन समान होकर ज्ञान प्राप्त करे।

ऋग्वेद।

6. एकेश्वरवाद

एकोदाधार भुवनानि विश्वा।

एक अद्वितीय परमात्मा सारे लोकों और लोकांतरों को धारण करता है।

—ऋग्वेद।

7. ओम

ओमिति ब्रह्म।

'ओम' ही ब्रह्म है।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. कर्म

वहति ह वै बह्रिर्धुरो यासु युज्यते।

कर्मशील व्यक्ति जिस काम में भी लगा दिया जाए उसे पूरा करके ही छोड़ता है।

—ऐतरेय ब्राह्मण।

9. काम

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

प्रारंभ में काम उद्भूत हुआ जो मन का प्रथम बीज था।

—ऋग्वेद।

10. काल

न श्वः श्वः उपासीत् को हि मनुष्यस्य श्वो वेद।

कल पर कोई कार्य न छोड़ें। मनुष्य के कल को कौन जानता है?

—शतपथ ब्राह्मणम्।

11. गुरुजन

आचार्य देवोभव।

आचार्य में देवबुद्धि रखो।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

12. जीवन

पश्येम शरदः शतम्। जीवेन शरदः शतम्।

हम सौ वर्ष तक देखें। हम सौ वर्ष तक जिएं।

—यजुर्वेद।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

इस जगत में कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए।

—ईशावास्योपनिषद।

मयूसी शरदः शतात।

हम सौ वर्ष से भी अधिक आयु का जीवन जिएं।

—अथर्ववेद।

13. त्याग

तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।

उस ईश्वर को साथ रखते हुए त्यागपूर्वक मांग करो।

—ईशावास्योपनिषद्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

14. दुष्ट

दुष्कृते मा सुगं भूत्।

दुष्कर्म करने वाले को स्वेच्छा से विचरण की अनुमति न हो।

—ऋग्वेद।

15. धन

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।

मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं होता।

—कठोपनिषद्

मा गृधः कस्याचिद् धनम्।

दूसरे के धन में आसक्त मत हो।

—ईशावास्योपनिषद्।

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कूर्याम्।

मैं (मैत्रेयी) उस संपत्ति को लेकर क्या करूंगी जिससे मैं अमर नहीं हो सकती हूं।

—बृहदारण्योकोपनिषद्।

16. धर्म

धर्मान्भि प्रमदितव्यम्

धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

17. पत्नी

गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा।

घर ही पत्नी की प्रतिष्ठा है।

—शतपथब्राह्मणम्

जाया पत्ये मधुमर्ती वाचं वदतु शांतिवाम्।

पत्नी पति के प्रति मधुर और शांति प्रदान करने वाली वाणी बोले।

—अथर्ववेद।

18. पुत्री

दुहिता दूरे हिता।

दुहिता दूर से ही हितकारक होती है।
(पुत्री का विवाह जितनी दूर हो, उतना ही अच्छा होता है)।

—निरुक्तम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

19. पुरुष

पुरुष एवेदं सर्वम्।

यह सब चराचर जगत पुरुष ही है।

—ऋग्वेद।

20. पुरुषार्थ

अक्षैर्या दीव्यः कृषिमित्कृषस्व।

पांसों से मत खेलो, बस खेती ही करो।

—ऋग्वेद।

न ऋते श्रांतस्य सख्याय देवाः।

परिश्रम न करने वाले के साथ देवता मित्रता नहीं करते।

—ऋग्वेद।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निर्बाधत।

मनुष्यो! उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के संसर्ग से ब्रह्म को जानो।

—कठोपनिषद्।

21. प्राण

प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।

सब कुछ प्राण में प्रतिष्ठित है।

—अथर्ववेद।

22. प्रार्थना

अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।

हम सौ वर्ष तक दैन्यभाव से रहित हों और सौ वर्ष से भी अधिक जिएं।

—यजुर्वेद।

तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

हमारा अध्ययन तेज से परिपूर्ण हो। हम कमी परस्पर विद्वेष न करें।

—यजुर्वेद।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासव। यद् भद्रं तन्न आ सुव।।

हे सर्वप्रेरक देव। हमारे सारे दुर्गुण और दुर्भाव दूर कीजिए। जो कल्याणकारी है, उसे हमारे लिए प्रेरित कीजिए।

—ऋग्वेद

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः
स्वस्ति नः पूषा विश्वदेवाः।
स्वस्ति नस्तार्श्यो अरिष्टनेमिः
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यशस्वी इंद्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञाता पूषादेव हमारा कल्याण करें। अरिष्टनाशक गरुणदेव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति भी हमें कल्याण प्रदान करें।

—सामवेद।

23. बल

बाहू मे बलमिन्द्रियम्।

मेरी दो भुजाएं बल और ऐश्वर्य हैं।

—यजुर्वेद।

24. ब्रह्म

ब्रह्मविदाप्नोति परम्।

ब्रह्मज्ञानी परम ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

जो ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।

—मुंडकोपनिषद्।

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः।

ब्रह्म का प्रकाश सूर्य के समान है।

—यजुर्वेद।

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति।

भगवान रस स्वरूप हैं। उसी रस को पाकर प्राणिमात्र आनंद का अनुभव करता है।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।

वह व्यापक परमतत्त्व सभी प्राणियों में ओतप्रोत है।

—यजुर्वेद।

सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म।

ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनंत है।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

यह सब कुछ ब्रह्म ही है।

—छांदोग्योपनिषद्।

स वा अयमात्मा ब्रह्म।

आत्मा ही ब्रह्म है।

—बृहदारण्यकोपनिषद्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

सूर्य (तेजस्वी परमात्मा) चेतन और जड़ जगत् का स्वामी है।

—ऋग्वेद।

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।

उस परमात्मा ने कामना की—"मैं बहुत हो जाऊं।"

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

25. भोजन

केवलाघो भवति केवलारी।

अकेला भोजन करने वाला केवल पाप को खाता है।

—ऋग्वेद।

26. माता-पिता

द्यौः। पिता पृथिवी माता।

द्युलोक पिता है और पृथिवी माता है।

—अथर्ववेद।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

पृथिवी मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूं।

—अथर्ववेद।

माता पृथिवी महीयम्।

यह विशाल पृथिवी हमारी माता है।

—ऋग्वेद

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।

तुम माता में देवबुद्धि रखो। तुम पिता में देवबुद्धि रखो।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः।

जैसे माता अपने पुत्र को दूध पिलाती है वैसे ही यह हमारी मातृभूमि हम सबके लिए विविध दसों की सृष्टि करे।

—अथर्ववेद।

27. मित्र

न स सखा यो न ददाति सख्ये।

वह मित्र नहीं है जो मित्र की सहायता नहीं करता।

—ऋग्वेद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिवा नः सख्या संतु।

हमारी मित्रताएं मंगलजनक हों।

—ऋग्वेद

28. मुक्ति

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

—यजुर्वेद।

29. यज्ञ

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।

यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ कर्म है।

—शतपथब्राह्मण।

30. वाणी

सक्तुमिव तिताउना पुनन्तो यत्रधीरा मनसा वाचमक्त।

जिस प्रकार लोग छननी से सत्तू को स्वच्छ करके प्रयोग करते हैं, वैसे ही बुद्धिमान मनरूपी छननी से पवित्र करते हुए वाणी का प्रयोग करते हैं।

—ऋग्वेद।

सुमंगलो भद्रवादी वदेह।

हे मनुष्य! तू इस संसार में मंगलकारी और सुखप्रद वचनों को बोल।

—ऋग्वेद।

31. विद्या

धियो यो नः प्रचोदयात्।

परमात्मा हमारी बुद्धि और कर्मों को सुमार्ग पर प्रेरित करें।

—ऋग्वेद।

विद्ययामृतमसृते।

मनुष्य विद्या से अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

—ईशावास्योपनिषद्।

32. विश्वभावना

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।

सब आर्य हों।

—ऋग्वेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

ब्रह्म में यह संपूर्ण विश्व एक घर के समान है।

—यजुर्वेद।

सह नाववतु सह नौ भ्रनक्तु सह वीर्य करवावहे

परमाला हमारी साथ-साथ रक्षा करे। हमारा साथ-साथ पालन करे। हम साथ-साथ ही शक्ति प्राप्त करें।

—यजुर्वेद।

33. वैद

स्तुता वया वरदा वेदमाता।

हम इष्ट प्रदान करने वाली 'वेदमाता' की स्तुति करते हैं।

—अथर्ववेद।

34. वेदांत

तत् त्वमसि।

वही (ब्रह्म) तुम (आत्मा) हो।

—छांदोग्योपनिषद्।

35. शरीर

इदं यस्यातं शरीरं।

यह शरीर नश्वर है।

—ईशावास्योपनिषद्।

36. शांति पाठ

द्यौः शान्तिरन्तरक्षि
शान्तिः पृथिवी शान्ति रायः
शान्ति रोषधयः शान्ति। वनस्पतयः
शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म
शान्तिः सर्व शान्ति शान्तिदेव
शान्तिः साया शान्तिरेधि।।

द्युलोक शांत हो, अंतरिक्ष शांत हो, पृथ्वी शांत हो, जल शांत हो, औषधियां शांत हों, वनस्पतियां शांत हों, समस्त देवता शांत हों, ब्रह्म शांत हो, सब कुछ शान्त हो, शांति हो, शांति हो और हमारी यह शांति सदा बनी रहे।

—यजुर्वेद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

37. श्रद्धा

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।

श्रद्धा से ही अग्नि को प्रज्ज्वलित किया जाता है और श्रद्धा से ही हवन में आहुति दी जाती है।

—ऋग्वेद।

श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः। श्रद्धा सत्यं तरित्युत्तमं मिथुनम्।

जीवनरूपी यज्ञ में श्रद्धा पानी है और सत्य यजमान है। श्रद्धा और सत्य की श्रेष्ठ जोड़ी है।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

38. संकल्प

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

यह मेरा मन कल्याणकारी निश्चय वाला हो।

—यजुर्वेद।

39. संतान

बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश।

बहुत संतान वाले मनुष्य कष्ट और दुख उठाते हैं।

—ऋग्वेद।

मदेम शतमार्हमा सुवीराः।

हम संतानयुक्त होकर अपने पूर्ण जीवन को प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत करें।

—अथर्ववेद।

40. सत्य

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मामृतं गमय।

मुझे असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर ले चल।

—बृहदारण्यकोपनिषद्।

सत्यं वै चक्षुः। सत्यं हि प्रजापतिः।

सत्य ही चक्षु है और सत्य ही प्रजापति है।

—शतपथ ब्राह्मणम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यमेव जयते नानृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः।

सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं। सत्य से स्वर्ग के लिए देवयान नामक मार्ग प्रशस्त होता है।

—मुंडकोपनिषद्।

सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्।

सत्य की नौकाएं सत्कर्म करने वाले को पार उतार देती हैं।

—ऋग्वेद।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्।

सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

सत्येनोन्त्तामिता भूमिः।

पृथ्वी सत्य के आधार पर स्थित है।

—ऋग्वेद।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिदितं मुखम्।

सत्य का मुख स्वर्णिम पात्र से छिपा हुआ रहता है।

—ईशावास्योपनिषद्।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

एक तत्त्व को ही विद्वान लोग अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि कई नामों से पुकारते हैं।

—ऋग्वेद।

एकं संतं बहुधा कल्पयंति।

एक प्रभु का अनेक तरह से वर्णन किया जाता है।

—ऋग्वेद।

41. सुख/दुःख

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।

असीम में ही सुख है। सीमित में सुख नहीं है।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

42. सुमति

वयं देवानां सुमतौ स्याम्।

हम देवो की सुमति में रहें।

—यजुर्वेद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय संस्कृति का सामासिक स्वरूप

भारतवर्ष की भौगोलिक सीमाओं में समुद्र, पहाड़ों और नदियों का महत्वपूर्ण योगदान है। पहाड़ों से किसी देश का स्वरूप और नदियों से मिट्टी का बहाव और उपजाऊपन निर्मित होता है। धरती नदियों के जलदान से ही अन्न के भंडार भरती है। भारत का आकार उसके पहाड़ों से बना है, उसके हिमालय और विंध्याचल से, पूर्वी और पश्चिमी घाटों से, मलय और दर्दुर से। अरब समुद्र, हिंद महासागर और बंगाल की खाड़ी से भारत तीन ओर से समुद्र से घिरा है और उत्तर में गिरिराज हिमालय उसका प्रबल प्रहरी है। भारतवर्ष की ये सीमाएं संस्कृति के उद्भव और विकास के बाद सागर के घटने और पर्वतों के उभरने से बनी हैं जबकि भारतीय संस्कृति इन सीमाओं के पूर्व की संस्कृति है। संस्कृति को उसके भूभाग के वैशिष्ट्य से ही जाना जाता है फिर भी सीमाएं संस्कृति के सार्वजनीन होने में बाधक हैं। हिंदू संस्कृति के नाम से विख्यात भारतीय संस्कृति किसी धर्म के आधार पर निकली संस्कृति की भांति न तो मुस्लिम संस्कृति जैसी संस्कृति है और न ईसाई या अन्य प्रकार की।

भारत : महामानव समुद्र

भारतवर्ष में प्राचीनकाल से अनेक मानव-जातियों का उल्लेख मिलता है। भारत के इस महामानव समुद्र में पवित्र तीर्थ हैं, मनुष्यता की कितनी ही धाराएं दुर्वार वेग से बहती हुई कहां-कहां से आईं और इस महासमुद्र में खो गईं। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक बंगला कविता में भारतीय एकता की अद्भुत छटा अंकित की गई है। उन्होंने कहा है, "इस भारतवर्ष में आर्य हैं, अनार्य हैं, द्रविड़ और चीनी वंश के लोग हैं। शक, हूण, पठान और मुगल न जाने कितनी जातियों के लोग इस देश में आए और सब एक ही शरीर में समाकर एक हो गए। समय-समय पर जो लोग रणधारा बहाते हुए एवं उन्माद और उत्साह में विजय के गीत गाते हुए रेगिस्तान को पार कर एवं पर्वतों को लांघकर इस देश में आए थे, उनमें से अब किसी का भी अस्तित्त्व नहीं है। वे सब के सब मेरे देश के भीतर विराजमान हैं। मुझसे कोई भी दूर नहीं है। मेरे रक्त में सबका स्वर ध्वनित होता है।"

भारतीय संस्कृति राष्ट्र अथवा धर्माश्रित नहीं

राष्ट्रों अथवा धर्माश्रित संस्कृतियों के स्वर से भारत की इस संस्कृति का स्वर भिन्न है यद्यपि कतिपय विद्वान ऐसे भी हैं जो संस्कृति को राष्ट्रीयता और धार्मिकता से जोड़कर ही उसकी गौरव गाथा से संतुष्ट हो जाते हैं।

मूल रूप में सामासिक संस्कृति

भारतीय संस्कृति अपने मूल स्वभाव में एक सामासिक संस्कृति है। सामासिक संस्कृति का प्रमुख लक्षण यह है कि वह एकात्मवादी और काल-प्रवाह के साथ चलकर अपनी विशिष्टताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की शक्ति पर अग्रसर होती रहती है। सामासिक संस्कृति को एक मिश्रित संस्कृति समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। मिश्रित संस्कृतियां संस्कृतियों के आदान-प्रदान के मिश्रण से आकार धारण करती हैं जबकि सामासिक संस्कृति का विकास आंतरिक तत्त्वों के साथ बाह्य प्रभावों को झेलते हुए और अपने अनुरूप ढालते हुए होता है। भारतीय संस्कृति का संबंध एक ओर आर्यों से पूर्व मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता से और द्रविड़ों की महान परंपरा से है तो दूसरी ओर आर्यों की वैदिक सभ्यता की छाप भी उस पर सबसे गहरी है। परवर्ती युग में इस वैदिक आर्य या हिंदू संस्कृति में क्षेत्रीय विशेषताएं भी समन्वित हो जाती हैं। भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेषता हमारी सामासिक संस्कृति की अपनी विशेषता है। आक्रमणकारी अथवा राज्य करने की दृष्टि से आने वाली जातियां यद्यपि अपने पृथक् अस्तित्त्व के कारण पहचानी जाती हैं तथापि उनके बीच सांस्कृतिक एकता का एक सूत्र दृष्टिगोचर हो ही जाता है। विभिन्नता भी एकता की ही भांति एक प्रबल तत्त्व है जो अस्तित्त्व को पृथक सिद्ध करता है किंतु भिन्नता के साथ ही एक मौलिक एकता हमारी संस्कृति की विशेषता है।

किसी एक जाति की रचना नहीं

यदि गहराई से विचार किया जाए तो ज्ञात होता है भारतीय संस्कृति का आदि से आज तक का जीवन-प्रवाह किसी एक ही जाति की रचना नहीं है। जो जाति जितनी प्राचीन होगी और काल के प्रवाह को झेलती हुई वर्तमान तक चल लेगी, निश्चय ही उसकी प्रकृति सामासिक होगी। भारतवर्ष को यह गौरव प्राप्त है कि आदि मानव की सभ्यता का विकास इस भूमि पर हुआ और उसी से भारतीय संस्कृति का बीज पनपा और आज भी मानव सभ्यता के विकास को अग्रसर करने वाले तत्त्वों और परंपराओं को हमारा देश अक्षुण्ण रखे हुए है। भारतीय संस्कृति को हम मूल मानवीय संस्कृति भी कह सकते हैं जिसमें आर्यों, आर्येतर जातियों का अंश मानवता के विकास में सहयोगी हुआ है। भारत ने कभी किसी देश की भौगोलिक सीमाओं को बल अथवा शक्ति से अपने अधिकार में नहीं किया बल्कि मानवता की विजय की कामना की है। वास्तव में भारतीय संस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार हुई प्रतीत होती है, वह रस जो जीवन को जीवंतता और प्राणों को उल्लास प्रदान करता है, उसके भीतर अनेक जड़ी-बूटियां एकात्म होकर रसवत् हो गई हैं या मूल रस के साथ सम्मिलित हो गई हैं।

समन्वय वृत्ति

समन्वय, संस्कृति के संबंध में अनेक बार प्रयुक्त होता है किंतु इसका अर्थ एक स्थान पर मात्र संग्रह अथवा एकीकरण नहीं है। अनेक अनाज के दानों को एक पात्र में मिला लेने के बाद भी हम उन्हें अलग-अलग कर सकते हैं किंतु सांस्कृतिक समन्वय में, जैसाकि भारतवर्ष में हुआ, अस्तित्त्व की पृथकता का बोध या अलग-अलग पहचानने की प्रक्रिया शेष नहीं रहती। मधु संचय की वृत्ति के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति मूल जीवन को संचित रख सकी है। यही उसकी विश्व के लिए बड़ी देन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत के इस सांस्कृतिक एकात्म के क्या कारण हो सकते हैं? प्रथम दृष्टि में तो इसका कारण भौगोलिक स्थिति है। उत्तर और पूर्व की ओर पहाड़, दक्षिण और पश्चिम की ओर समुद्र से घिर कर भारत एक स्वतंत्र भूभाग के रूप में स्थित है। इसका कारण वैदिक, आर्य या हिंदू धर्म के वे तत्त्व हैं जो किसी विश्वास-विशेष के लिए दुराग्रह नहीं करते।[5] सहिष्णुता, स्वाधीन चिंतन और वैयक्तिक स्वतंत्रता यदि किसी एक धर्म में पल्लवित और पुष्पित हुई है तो वह हिंदू धर्म में। इस धर्म का प्रवर्तक कोई पैगंबर, ईश्वर-पुत्र या चमत्कार नहीं है। प्रकृति, ऋत और सत्य से इस धर्म का विकास हुआ है। ईश्वर के प्रति दृढ़ आस्थावान होते हुए भी उसके मानने, न मानने, साकार या निराकार रूप में मानने, अवतार रूप में मानने या देवताओं में विश्वास न रखने के बाद व्यक्ति हिंदू समाज का अभिन्न अंग हो सकता है। हिंदू धर्म की लोचदार जीवन-पद्धति के कारण जिसने भी चाहा उसे हिंदू धर्म ने स्वीकार कर उसे अपने में एकात्म कर लिया। एकात्म होने की यह प्रक्रिया भी स्वतः होती रही और विविधता भी हिंदू धर्म की एक विशेषता बनती चली गई। विविधता में एकता का दर्शन हमें इसलिए होता है कि ज्यों-ज्यों विदेशी जातियां हिंदू समाज में प्रवेश पाती गईं, हिंदू संस्कृति का रूप और समृद्ध होता गया। यदि यह कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी कि संसार में भारतीय संस्कृति ही एक ऐसी संस्कृति है जिसमें अधिक से अधिक परंपराएं एक रंग होकर मिल गई हैं। फलतः मानसिक और आध्यात्मिक एकता का प्रतिनिधित्व भारतीय संस्कृति में हो जाता है।

संस्कृति की अभिव्यक्ति उसके भाषा और साहित्य के माध्यम से होती है। सामासिकता का यह स्वरूप उसकी भाषा और साहित्य में देखा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति की विशषताएं

भारतीय संस्कृति में व्यावहारिक, उत्तम एवं पारमार्थिक श्रेष्ठता दोनों पूर्णता की सीमा पर प्रतिष्ठित हैं। यह संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में गिनी जाती है। प्राचीन विश्व की अनेक सभ्यताएं इस समय मृतप्राय हो चुकी हैं परंतु भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति सहस्रों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी अब तक विद्यमान है। गीता और उपनिषदों के ज्ञान की धारा आज भी इस देश में बह रही है। अनेक बार विदेशी आक्रमण हुए परंतु वे इस संस्कृति को नष्ट नहीं कर सके। भारतीय संस्कृति के विकास में अनेक तत्त्वों ने सहयोग दिया है और अनेक विविध श्रेष्ठ सांस्कृतिक तत्त्वों का संग्रह होता रहा है। भारतीय संस्कृति की अपनी अनेक विशेषताएं रही हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं।

(i) आध्यात्मिकता

भारत की संस्कृति तपोवन की संस्कृति रही है। हमारे यहां शरीर को नश्वर माना गया है तथा परलोक, सत्य, अहिंसा, तप आदि को अधिक महत्त्व दिया गया है। हमारे दर्शन का अर्थ आत्मा का दर्शन है। भारतीय जीवन में आध्यात्मिक प्रगति और आनंद की विशेष प्रतिष्ठा हुई है। जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण माना गया है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए भक्ति,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान और तप आदि विविध साधन बतलाए गए हैं। मानव जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना है। स्वामी विवेकानंद ने कहा था, ''भारतीय राष्ट्र मर नहीं सकता, अमर है वह और उस समय तक अमर रहेगा जब तक कि वह विचारधारा पृष्ठभूमि के रूप में रहेगी, जब तक उसके लोग आध्यात्मिकता को नहीं छोड़ेंगे और आध्यात्मिकता कहते हैं, धर्म और ईश्वर की श्रद्धा में निष्ठायुक्त भावना को, वही प्रत्येक भारतीय का जीवन का है–वही भारतीय संस्कृति की आधारशिला है।''

(ii) धर्म प्रधानता

भारतीय संस्कृति में धर्म विशिष्ट स्थान रखता है। इस संस्कृति में धर्म की अभिव्यक्ति अत्यंत ही व्यापक रूप में हुई है। धर्म में वे सभी सिद्धांत सम्मिलित हैं जिनकी अनुभूति समाज के महान् पुरुषों को सत्य का अन्वेषण करते समय हुई थी। धर्म में अनेक धार्मिक सिद्धांत तो हैं ही परंतु उनमें अनेक नियमों और विधि-विधानों को भी सम्मिलित कर लिया गया है जिनसे व्यक्ति के विकास के साथ-साथ समाज की आधिभौतिक प्रगति भी हो सके। इस प्रकार धर्म में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का समन्वय किया गया है।[6]

(iii) समन्वयशीलता

हमारे देश के प्रचारक समन्वयवादी थे। उन्होंने सभी वस्तुओं में सत्य के दर्शन किए। यहां सभी धर्मों को समान रूप से आदर देने का दृष्टिकोण रहा है। यहां के सनातन वैदिक धर्म ने अनेक धर्मों को अपेन में लीन कर लिया। राम और रहीम, कृष्ण और करीम की एकता के प्रतिपादन द्वारा इस देश के अनेक संतों ने इस्लाम और हिंदू धर्म में समन्वय करने का प्रयास किया। इस संस्कृति की सम्मिश्रण, एकीकरण और समन्वय की रचनात्मक प्रवृत्तियों के कारण ही भारतीय संस्कृति में विविध पुनीत धाराओं का अलौकिक समागम हुआ है। **हुमायुं कबीर ने उचित ही कहा है, ''भारतीय संस्कृति की कहानी एकता, समाधानों, समन्वय तथा प्राचीन परंपराओं के पूर्ण संयोग की उन्नति की कहानी है।''** यही समन्वय की प्रवृत्ति थी, जिसने भारत की प्राचीन संस्कृति की परंपरा को अब तक अक्षुण्ण रखा है।

(iv) प्राचीनता

भारतीय संस्कृति विश्व में अत्यंत प्राचीन रही है। भारत में अनेक स्थानों से पाषाणकाल के मानव के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। यह निर्विवाद है कि मानव इतिहास के प्रारंभ काल से ही भारतवर्ष मानव समूहों की लीला भूमि रहा है। सिंधु घाटी की सभ्यता भारतीय सभ्यता की पुरातनता की द्योतक है। वेद दुनिया का सबसे प्राचीन साहित्य है। मिस्र और असीरिया की सभ्यताएं काल की दृष्टि से भारतीय सभ्यता के समान ही प्राचीन थीं। मिस्र के वर्तमान निवासियों का संस्कृति की दृष्टि से उन प्राचीन लोगों के साथ कोई संबंध नहीं जिन्होंने कि नील नदी की घाटी में गगनचुम्बी विशाल पिरामिडों का निर्माण किया था और जिन्होंने अपने पितरों की ममी बनाकर उन्हें अमर जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया था। यूनान और रोम की सभ्यताएं तो इसके बाद की सभ्यताएं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(v) मूलभूत एकता

भारत में अनेक रीति-रिवाजों, विभिन्न प्रकार के खान-पान और वेशभूषा होते हुए भी भारतीय संस्कृति में भावना की प्रच्छन्न एकता रही है। वास्तव में इस विविधता के मूल में मौलिक एकता विद्यमान रही है। भारत के आचार्यों और संतों ने समस्त भारत में परिभ्रमण करके अपने ज्ञान का प्रकाश वितरित किया। उदाहरण के लिए शंकराचार्य जैसे भारतीय संतों ने इस देश में स्थित विभिन्न तीर्थ स्थानों को तथा विभिन्न नदियों और पर्वतों को महत्त्व देकर इसी एकता की भावना को अधिक बल दिया। मनु की स्मृति का राजधर्म सारे भारत में मान्य हो गया था, इससे राजनीतिक एकता को बल मिला।

(vi) सर्वकल्याणकारिणी

भारतीय संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी है। इसके द्वारा न केवल अपने अनुयायियों के लिए वरन् समस्त विश्व के लिए मंगलकारी प्रभाव उत्पन्न होता है। हमारी दैनिक प्रार्थना में भी सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः (अखिल विश्व सुखी रहे और सभी स्वस्थ तथा नीरोग रहें) का आदर्श सदैव रहता है। भारत के ब्राह्मण, जैन व बौद्ध धर्म में यह शिक्षा दी गई है, "दूसरों का कष्ट दूर करने के लिए, तन, मन और धन से सदा सन्नद्ध रहो, दूसरों की उन्नति करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहो।" वसुधैव कुटुम्बकम् का उच्च सिद्धांत भारतीय संस्कृति का ही है। भारतीय संस्कृति में यह उच्च भावना रही है कि अपना सर्वस्व त्याग कर भी दूसरों को सुखी बनाया जाए। इस संस्कृति का स्वरूप सदा से ही जागृत है और इसने विश्वशांति की भावना को अपनाया है।

(vii) जीवनक्षमता

भारतीय संस्कृति विविध रूपी रही है, जिसकी अभिव्यक्ति कला और साहित्य, राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं में हुई है। मिस्र, असीरिया, वैबीलोनिया आदि के तो अब केवल नाम ही बचे हैं, लेकिन भारत की संस्कृति हजारों वर्ष बीत जाने पर भी अब तक कायम है। भारतीय संस्कृति आज भी अविरल गति से और अबाध रूप से प्रवाहित हो रही है। भारत का धर्म अब भी वैदिक है, इस देश के पुरोहित व ब्राह्मण आज भी वेद-मंत्रों द्वारा यज्ञ-कुंड में आहुति देकर देवताओं व प्राकृतिक शक्तियों को तृप्त करते हैं। गीता का संदेश आज भी भारतीयों को प्रभावित करता है। महात्मा बुद्ध और महावीर ने अहिंसा और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भावना का जो संदेश दिया था, वह आज तक भी इस देश में जीवित और जाग्रत है। यहां की स्त्रियों का आदर्श इस बीसवीं सदी में भी सीता, सावित्री और पार्वती जैसा है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप हमारे देश में अनेक संस्कृतियों ने अपना प्रभाव छोड़ना चाहा। परंतु भारतीय संस्कृति ने अन्य संस्कृतियों को समेट कर आत्मसात् कर लिया। भारतीय संस्कृति ऐसे भयंकर प्रहारों को सहकर भी अपनी अमर आधार-शिला पर स्थित है। यह उसके प्राणवान होने का परिचायक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(viii) चिंतन की स्वतंत्रता

भारतीय संस्कृति में विचार स्वतंत्र रहा है। समाजशास्त्रियों, अन्वेषकों को अपने विचार व्यक्त करने, अपने मतों के प्रतिपादन करने की पूर्ण स्वतंत्रता रही है। भारतीय इतिहास में अनेक ऐसी सभाओं का उल्लेख है, जहां एक ही मंच से विभिन्न मतों और संप्रदायों के लोगों ने अपने-अपने मतों का समर्थन किया है। इसलिए भारत की पुण्य भूमि ने विविध दर्शनों एवं संप्रदायों को जन्म दिया था और धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में महान् खोज की थी।

(ix) वर्णाश्रम व्यवस्था

भारतीय संस्कृति का आधार वर्णाश्रम व्यवस्था भी है जो आर्य संस्कृति की देन है। **पी. एन. प्रभु** ने कहा है, **''आश्रम तथा वर्ग पद दोनों संस्थाएं हिंदू सामाजिक संगठन के सिद्धांत की आधारशिलाएं रही हैं।''** इस देश के विचारकों ने मानव-समाज की कल्पना एक जीवत-जाग्रत शरीर के रूप में की। समाजरूपी शरीर में ब्राह्मण सिर के समान, क्षत्रिय बाहुओं के समान, वैश्य उदर और जंघाओं के समान और शूद्र पैरों के समान हैं। इस प्रकार समाज को उपरोक्त चार वर्णों में बांटा गया था, जिससे कि कार्य सुचारू रूप से चल सके। यह विभाजन कर्म पर आधारित था, जन्म पर नहीं। बाद में इन वर्णों ने जाति का रूप ले लिया लेकिन भावना यही रही है कि वर्ण यही चार हैं। मानव के जीवन को भी चार भागों में विभाजित किया गया था, जिन्हें आश्रम कहा गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास आश्रम व्यक्ति के जीवन के अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तथा चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की पूर्ति के लिए यह अद्‌भुत व्यवस्था थी। प्राचीन विचारकों ने ब्रह्मचर्य आश्रम के द्वारा साहित्यिक धरोहर की सुरक्षा की व्यवस्था की और गृहस्थ आश्रम द्वारा व्यक्ति के समाज के प्रति कर्त्तव्यों की पूर्ति को आवश्यक बताया। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की व्यवस्था कर अध्यात्म भावना को सदा जीवित रखा गया।

(x) सामूहिक कुटुंब प्रणाली

सामूहिक कुटुंब प्रणाली का भारतीय संस्कृति में केवल विशेष स्थान ही नहीं है, वरन् यह भी एक शिला के रूप में प्राचीन काल से अविचल है। कुल के लिए सब कुछ त्याग कर देने की भावना (त्यजेत् देहं कुलस्यार्थे) आरंभ से ही चली आ रही है। वैदिक समाज की रूपरेखा भी इसी आधार पर थी और गृहपति का संपूर्ण कुटुंब के ऊपर अधिकार था। संयुक्त परिवार में लोगों का जीवन सुखी एवं संपन्न था। सामूहिक व्यवस्था भी इसीलिए सफल हो सकी कि इसमें गृहपति कुटुंब के सब प्राणियों को, अपने स्वार्थ का बलिदान करके एक सूत्र में बांधने का प्रयास करता है तथा इसकी सफलता का श्रेय और भार उसी पर है। यह व्यवस्था, जिसने भारतीय संस्कृति में दृढ़ स्थान प्राप्त कर लिया था, आज भी अपने परिवर्तित रूप में विद्यमान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(xi) धार्मिक सहिष्णुता और उदारता

आदिकाल से ही भारतीय संस्कृति की आधार-शिला धार्मिक सहिष्णुता और उदारता रही है। ऋग्वेद की प्रसिद्ध उक्ति 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुसार शक्ति एक है, स्वरूप उसके भिन्न हैं। यह भावना पारस्परिक विरोध के स्थान पर उदारता को प्रेरणा देती है। परमात्मा के अद्वैत स्वरूप को मानकर भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं तथा धार्मिक विचारवादियों में वैमनस्य नहीं होना चाहिए। यही भारतीय संस्कृति का मूल सिद्धांत रहा है। सम्राट् अशोक ने धार्मिक एकता और उदारता की भावना को लेकर ही देश-विदेशों में महामात्र भेजे। सम्राट् कनिष्क ने तो अपने सिक्कों पर हिंदू, बौद्ध, ईरानी, यूनानी तथा अन्य प्राकृतिक देवी-देवताओं की प्रतिमाएं अंकित करा कर इस धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। गुप्त राजाओं ने भी वैष्णव, शैव तथा बौद्ध धर्म को अपनाया और उनके काल में पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता थी। साम्राज्य में उदारता का वातावरण व्याप्त था। हर्ष ने भी इसी परंपरा को अपनाया। वह स्वयं बुद्ध, शिव और सूर्य की उपासना करता था। मुसलमानी काल में भी इस भावना को तिरस्कृत नहीं किया जा सका, चाहे वह अकबर के दीनइलाही अथवा सूफी संतों की भक्ति भावना के रूप में हो। औरंगजेब जैसे शासकों ने जब धर्म की आड़ में भारतीय संस्कृति की उदारता की शिला पर आघात करने का प्रयास किया तो उन्हें असफलता का मुख देखना पड़ा। अशोक द्वारा समवाय (मेलजोल) की भावना भारत के संपूर्ण इतिहास में ओतप्रोत रही है। इसीलिए यहां सांप्रदायिक संघर्षों के उदाहरण नहीं मिलते।

(xii) सर्वांगीणता

विद्वानों का विचार है कि भारतीय धर्म और संस्कृति परलोकवादी, आध्यात्मिक और चिंतनप्रधान है। परंतु यह धारणा निराधार व निरर्थक प्रतीत होती है। अध्यात्म की भावना ने भारत की संस्कृति को निष्क्रिय और इस लोक की उन्नति से विमुख नहीं बना दिया। इस देश के राजा दिग्विजय और चक्रवर्ती साम्राज्य को सदा अपना आदर्श समझते रहे। इस देश के व्यापारी धनोपार्जन के लिए मिस्र, रोम, जावा, सुमात्रा और चीन जैसे सुदूरवर्ती देशों में आते-जाते रहे। ऐहलौकिक उन्नति की भारतीयों ने कभी उपेक्षा नहीं की। भारतीय चिंतनपद्धति लोकपरक और कर्मप्रधान भी है। इसने समाज और मनुष्य को भी उचित स्थान दिया है। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक और भौतिकता का अनूठा समन्वय है। इस संस्कृति में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की शक्तियों के उत्थान पर बल दिया गया है। इस प्रकार इसका लक्ष्य मनुष्य के ऐहिक और लौकिक जीवन को समृद्ध बनाना रहा है। इसी भूमि पर और इसी जन्म में मनुष्य को जीवन की सर्वोच्च उपलब्धियों की ओर प्रेरित किया है। इसी कारण महर्षि वेदव्यास ने यह प्रतिपादित किया था कि लोक का जो प्रत्यक्ष जीवन है, उसको जाने बिना मनुष्य सर्वदर्शी नहीं हो सकता। संसार के सुख और भोग हेय नहीं हैं, उनको प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। पर साथ ही यह जान लेना और भी अधिक आवश्यक है कि ऐहलौकिक सुख ही मनुष्य का अंतिम ध्येय नहीं है। इस विचारधारा ने भारत की संस्कृति में एक अनुपम सौंदर्य ला दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेकता में एकता

भारतवर्ष आकार में एक विशाल देश है। यहां विभिन्न धर्मों, जातियों, संप्रदायों एवं संस्कृतियों की विद्यमानता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की वेशभूषा, खान-पान, रीति-रिवाज और रहन-सहन के तरीकों के कारण भारत में एक विविधता-सी प्रतीत होती है। विभिन्न भाषाएं बोलने वाले लोग भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक दृष्टिगोचर होते हैं। मुख्यतया इस विशाल देश की स्थिति, बनावट एवं जलवायु इतनी विषम है, जिससे स्पष्ट होता है कि यह एक ऐसा देश है, जिसमें विभिन्नता के साथ-साथ विषमता भी अधिक है।

प्राचीन काल में ऐसे कम अवसर आए जबकि देश में पूर्ण राजनीतिक एकता स्थापित हो सकी हो, साधारण रूप से भारत में राजनैतिक एकता का अभाव ही रहा। इन कारणों से उस व्यक्ति को, जो इस देश को दूर खड़ा होकर देखता है, उसे यहां एकता का अभाव-सा लगता है। परंतु यदि ध्यानपूर्वक इस देश की संस्कृति का अध्ययन किया जाए तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि जाति, भाषा और प्राकृतिक अवस्था की विषम विभिन्नता होने पर भी इस देश में अखंड मौलिक एकता है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतीय संस्कृति की इस मौलिक एकता का आभास हमें निम्नलिखित दृष्टिकोणों से हो जाता है–

(1) **भौगोलिक एकता**–भौगोलिक दृष्टि से भारत एक इकाई है और प्राकृतिक सीमाओं से सुरक्षित है। उत्तर में हिमालय पर्वत, दक्षिण में कन्याकुमारी, पूर्व में बंगाल की खाड़ी और पश्चिम में अरब सागर इसकी प्राकृतिक सीमाएं रही हैं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार प्रसिद्ध राजा भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। भारत के निवासियों का एक प्राचीन नाम भारती था। विद्वानों का अनुमान है कि भारतीय संतति का अर्थ सम्राट् भरत की प्रजा से है। इसके अतिरिक्त यहां की भौगोलिक स्थिति में रहने एवं प्रभावित होने वाले सभी मनुष्यों के हाव-भाव, विचार और बुद्धि में एक ऐसी एकता झलकती है जो कि अत्यंत स्पष्ट व प्रत्यक्ष है। प्राचीन काल से ही यहां धर्मवेत्ताओं, दार्शनिकों, साहित्यिकों और कवियों के सामने भारत की मौलिक एकता की बात सदा रही। भारतीय साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनमें विचारकों ने इस भूखंड को एक भौगोलिक इकाई के रूप में स्वीकार किया है। भारत निवासियों ने भारत को पुण्यभूमि और अपनी मातृभूमि के रूप में इसके लिए सर्वस्व न्यौछावर कर देने की प्रेरणा प्राप्त की है।

(2) **राजनीतिक एकता**–भारतवर्ष में साधारणतया राजनीतिक एकता का अभाव ही रहा। अंग्रेजी काल से पूर्व संपूर्ण भारत का एकछत्र राज्य किसी भी काल में स्थापित न हो सका। परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्राचीन भारत के निवासी राजनीतिक एकता से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक शक्तिशाली सम्राटों ने इस देश के अधिकांश भाग पर अपनी सत्ता स्थापित करके राजनीतिक दृष्टि से इस देश को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास किया।

प्राचीन काल में अशोक और समुद्रगुप्त ने राजनीतिक एकता को स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अलाउद्दीन खिलजी, अकबर तथा औरंगजेब इसी आदर्श को ही अपने सम्मुख रखकर विजय पर विजय प्राप्त करते चले गए और संगठित केंद्रीय शासन की उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापना की। इस प्रकार सार्वभौमिक सत्ता की स्थापना की भावना सदैव विद्यमान रही। राजाओं की मनोकामना दिग्विजय करके चक्रवर्ती सम्राट बनने की होती थी। चाणक्य के विचार में चक्रवर्ती सम्राट वही है जो हिमालय से लेकर समुद्रतट तक अपना साम्राज्य स्थापित कर ले। महत्त्वाकांक्षी विजयी नरेश इस बात का बराबर प्रयास करते रहे कि समस्त देश को एक सूत्र में बांध सकें परंतु एक दीर्घकाल के पश्चात् प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासकों ने इसे क्रियान्वित करने में सफलता प्राप्त की। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् देशी राज्यों के भारतीय गणतंत्र में विलय हो जाने से देश की राजनीतिक एकता एक-सी शासन व्यवस्था के द्वारा और भी अधिक दृढ़ हो गई। यह सत्य है कि प्राचीन काल में देश की विशालता, यातायात के सुगम साधनों के अभाव तथा विकेन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियों के कारण पूर्ण राजनीतिक एकता स्थापित न हो सकी। परंतु राजाओं, राजनीतिज्ञों और लेखकों तथा विचारकों में राजनीतिक एकता की भावना विद्यमान थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आदिकाल से ही इस देश के निवासी एकानुभूति के वातावरण में रहते आए हैं।

(3) **सांस्कृतिक एकता**–इस देश की मौलिक एकता सबसे अधिक उसके सांस्कृतिक जीवन में व्यक्त हुई है। सारे देश का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का मौलिक आधार एक समान है। भारतीय संस्कृति ने सम्मिश्रण की शक्ति का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है। समय-समय पर इस देश में आने वाली जातियों की सभ्यता भारत की सभ्यता तथा संस्कृति में घुलमिल गई। **हुमायुं कबीर** ने ठीक ही कहा है : **"भारतीय संस्कृति की कहानी, एकता, समाधानों का समन्वय तथा प्राचीन परंपराओं के पूर्ण संयोग की उन्नति की कहानी है। यह प्राचीन काल में रही है और जब तक यह विश्व रहेगा तब तक सदैव रहेगी। दूसरी संस्कृतियां नष्ट हो गईं परंतु भारतीय संस्कृति व इसकी एकता अमर है।"** रेमजे मेकडोनाल्ड ने अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है : **"हिंदू लोग भारत को केवल राजनीतिक इकाई के रूप में नहीं देखते अपितु उसको एक सार्वजनिक सत्ता का विषय भी मानते हैं। जिस किसी ने भी इसे अपनाया, ग्रहण किया, चाहे मुसलमानों ने, चाहे अंग्रेजों ने, चाहे हिंदुओं ने, उन सभी ने इसको एक मंदिर के बाहरी रूप के समान समझा। चाहे वे अपनी आध्यात्मिक संस्कृति के अनुसार उसमें किसी देवी की भी पूजा करें किंतु, मंदिर समान है–उसी ने भारत को अपनी संस्कृति का प्रतीक बनाया तथा उसे अपनी आत्मीयता से परिपूरित किया।"**

(4) **धार्मिक एकता**–भारत देश ने अनेक धर्मों को उत्पन्न किया तथा कुछ धर्म बाहर से भी आए। यहां पर जन्म लेने वाले बौद्ध, जैन, भक्ति मार्ग, ब्रह्म समाज और आर्य समाज इत्यादि अनेक धर्म एवं मत हैं। इन विभिन्न मत-मतांतरों के द्वारा पुरातन धर्म में उत्पन्न हुई कुरीतियों का अंत करने के लिए ही धर्माचार्यों ने अपने-अपने धर्म का प्रचार किया था। परंतु वे भारत के मूल प्राचीन आध्यात्मिक तत्त्वों और सिद्धांतों से ही निकलते हैं। लगभग सभी धर्मों ने एकेश्वरवाद, आत्मा का अमरत्व, कर्म सिद्धांत, पुनर्जन्म, मोक्ष और निर्वाण इत्यादि ऐसे सिद्धांत हैं जिन्हें स्वीकार किया है। भारत के प्राचीन महापुरुष राम व कृष्ण सभी स्थानों में एक समान ही आदर प्राप्त करते हैं। प्रत्येक भारतवासी गीता, उपनिषद, महाभारत, रामायण तथा पुराणों के प्रति श्रद्धा रखता है। देश के प्रत्येक भाग के मनुष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिंधु, गंगा, यमुना, नर्मदा और गोदावरी आदि नदियों को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। भारतीय तीर्थ स्थान जैसे ब्रदीनारायण, द्वारिका, रामेश्वर, जगन्नाथपुरी, गया, बनारस और प्रयाग इत्यादि देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए हैं। हिंदुत्व का विशिष्ट लक्षण तीर्थयात्रा है, जो जनता को, चाहे वह शाक्त हो अथवा शैव अथवा वैष्णव, समान धार्मिक उत्साह के साथ विविध केंद्रों के दर्शन करने की प्रेरणा देता है। इन स्थानों पर पहुंचकर कौन ऐसा व्यक्ति है जिसकी भावनाएं पवित्र न होती हों। मातृभूमि की समस्त मृत्तिका की पवित्रता के भाव में साम्प्रदायिक भेद विलीन हो जाते हैं और राष्ट्रीयता और जनतंत्र की नैतिक आधारशिला के रूप में अखिल-भारतीय दृष्टिकोण की उपलब्धि होती है। भारतीय संस्कृति की आत्मा इस उदात्त वाक्य में मुखरित हो उठती है **'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'** (माता और मातृभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर हैं) इस धार्मिक एकता को उत्पन्न करने में ऋषियों, मुनियों व धर्म प्रचारकों ने महत्त्वपूर्ण सहयोग किया था। उन्होंने ऐसे केंद्रों की स्थापना की जो कि संस्कृति के केंद्र बने और सांस्कृतिक एकता को उत्पन्न किया। शंकराचार्य ने कन्याकुमारी से हिमालय तक अपने सिद्धांतों का प्रचार किया। चैतन्य ने बंगाल से वृंदावन तक तथा मीरा ने समस्त भारत को कृष्णभक्ति की पवित्र मंदाकिनी से आप्लावित किया। नानक ने एक छोर से दूसरे छोर तक घूम-घूम कर अपना उपदेश दिया।[7]

(5) **सामाजिक एकता**–भारत की सामाजिक व्यवस्था में भी अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहे हैं जिन्होंने सामाजिक एकता को बनाए रखा। वर्ण-व्यवस्था ने समाज के विभिन्न वर्गों में प्रतिद्वंद्विता को उत्पन्न होने से रोका। इसके अंतर्गत प्रत्येक वर्ण का कार्य निश्चित था, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक क्रिया-विधियों में सहयोग का होना स्वाभाविक था। भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था आधारशिला रही है, जिसने सामाजिक स्थायित्व तथा एकता को प्रदान किया है। आश्रम व्यवस्था, जो कि भारतीय संस्कृति में एक अद्वितीय सामाजिक संस्था रही है, उसने समाज में अराजकता और अव्यवस्था को नहीं होने दिया। संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था ने भी समाज को संगठित बनने में सहयोग दिया है। सारे देश में सामाजिक रूढ़ियां व परंपराएं एक समान हैं। रिजले का कथन उचित प्रतीत होता है :

"प्राकृतिक, सामाजिक, भाषा, रीति-रिवाज व धर्म संबंधी विभिन्नताओं के अंतर्गत भी जो भारतवर्ष पर दृष्टिपात करने वाले व्यक्ति को खटकती हैं, हिमालय से कुमारी अंतरीप तक, सामाजिक जीवन में एकरूपता सहज में ही दृष्टिगोचर होती है।"

(6) **भाषा की एकता**–प्राचीन काल से भारत की प्रधान भाषा संस्कृत रही है। यदि इसको भारत में बोली जाने वाली सभी भाषाओं की जननी कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। देश की साहित्यिक भाषा संस्कृत रही और इसका महत्त्व आज भी कम नहीं है। भारत के भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रचार के लिए संस्कृत, पालि, प्राकृत भाषा का प्रयोग किया गया। अशोक तथा कुषाण सम्राट् कनिष्क ने अपने धर्मोद्देश्यों का इन्हीं भाषाओं द्वारा प्रचार किया, जो कि संस्कृत का ही एक रूप थीं। यदि गहन अध्ययन किया जाए तो यही पता लगता है कि हिंदी, मराठी, पंजाबी, बंगला और गुजराती भाषाओं का मूल स्रोत संस्कृत भाषा ही है। तमिल तथा तेलुगु भाषाएं भी संस्कृत भाषा से प्रभावित हैं। संस्कृत और फारसी के सम्मिश्रण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से एक नवीन भाषा का जन्म हुआ, जो उर्दू कहलाती है। स्वाधीनता प्राप्त होने के बाद हिंदी को हमारे देश की राष्ट्रभाषा बनाया गया है, जिसका स्रोत संस्कृत ही है।

भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य में भी हम प्रेरणा का एक समान ही मूल स्रोत पाते हैं। इनमें भारतीय अध्यात्मवाद की छाप है। रामायण, महाभारत और पुराणों की गाथाएं सभी भाषाओं के साहित्य के मुख्य विषय हैं। दिनकर के शब्दों में, "विचारों की एकता जाति की सबसे बड़ी एकता होती है। अतएव भारतीय जनता की एकता के असली आधार भारतीय दर्शन और साहित्य हैं जो अनेक भाषाओं में लिखे जाने पर भी अंत में जाकर एक ही साबित होते हैं।"

भारत की विशालता उसकी मौलिक एकता में बाधक नहीं बल्कि सहायक ही सिद्ध हुई है और यह महान् राष्ट्र अपनी एकता के फलस्वरूप ही आगे बढ़ा है तथा आज भी जीवित है, जबकि अन्य अनेक देश, जो कभी महान् थे, आज विश्व में अपना अस्तित्त्व खो बैठे हैं। अनेक संकटों सें निकलकर यह देश अपनी महत्ता एवं गौरव को स्थिर रख सका है। इसका एकमात्र कारण है इसकी अपनी मौलिक एकता।

विभिन्नताओं और विषमताओं के होते हुए भी भारतवर्ष स्वयं 'समष्टि में व्यष्टि' के सिद्धांत का एक ज्वलंत उदाहरण है। इस देश में अनेकता में एकता रही है। **सर हर्बर्ट रिजले** ने ठीक ही कहा है–

"भारत में दर्शक को भौतिक और सामाजिक क्षेत्र में भाषा, आचार और धर्म में जो विविधता दृष्टिगोचर होती है, उसकी तह में हिमालय से कन्याकुमारी तक एक आंतरिक एकता है।" यह एक भौगोलिक पृथक्त्व और राजनीतिक आधिपत्य से उत्पन्न हुई एकता नहीं है। यह इसकी अपेक्षा कहीं अधिक गहन और महत्त्वपूर्ण है। यह वह एकता है, जो रक्त, वर्ण, भाषा, वेशभूषा, आचार, धर्म, संप्रदाय आदि के भेद-भावों का प्रतिरोध कर भारत को सर्वश्रेष्ठ उन्नत राष्ट्र बनाती है।

सारांश

किसी देश की आध्यात्मिक, सामाजिक और मानसिक विभूति की प्रेरक शक्ति संस्कृति है। यह जातीय संस्कारों का समुच्चय है। संस्कृति का निर्माण सदियों के अनुभवों के फलस्वरूप होता है। धर्म, चिंतन, दर्शन, साहित्य, संगीत, कला आदि के क्षेत्रों में मानव की उपलब्धियां संस्कृति को आकार देती हैं। सत्य की खोज, सौंदर्य की अभिव्यक्ति और मानव प्रेम का विकास संस्कृति के आधारभूत गुण हैं।

'सभ्यता' शब्द का विकास 'सभ्य' शब्द से हुआ है। सभ्य का अर्थ सदस्य या सभासद है। सभ्यता समाजिक प्रक्रिया है। व्यक्ति की वेशभूषा, बोलचाल और आचार-व्यवहार से उसके सभ्य या असभ्य होने का अनुमान हो सकता है। सभ्यता से तात्पर्य उन उपकरणों से है जो मनुष्य ने अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अर्जित किए हैं।

संस्कृति यदि आत्मा है तो सभ्यता उसका शरीर।

संस्कृति के प्रमुख तत्त्व हैं : (1) आध्यात्मिक, सामाजिक और मानसिक दृष्टि, (2)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवता, सौंदर्य और कलात्मक प्रयास, (3) प्रेरक और रचनात्मक मूल्यों का संरक्षण, (4) साहित्य, भाषा और संस्थाओं की नियामक शक्ति, और (5) नित्य और कालजयी चेतना।

भारत की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के निर्माता आर्य थे। स्वामी दयानंद के अनुसार 'आर्य' शब्द श्रेष्ठ, विद्वान तथा धर्मात्मा का वाचक है। उनके विचार से आर्य भारत के मूल निवासी थे और उन्होंने अपने देश का नाम आर्यावर्त रखा। स्वामी दयानंद ने अपने ग्रंथों में आर्यों के प्राचीन गौरव का गान किया है। उनका कहना है कि प्राचीन काल में आर्यों का सारे भूमंडल पर शासन था। प्राचीन काल में आर्य ज्ञान-विज्ञान, कला, धर्म और दर्शन सभी क्षेत्रों में अग्रणी थे। महाभारत युद्ध के पश्चात् आर्यों की शक्ति का निरंतर ह्रास आरंभ हुआ।

भारतीय संस्कृति का आरंभ वेदों से होता है। वैदिक संस्कृति ही आगे चल कर हिंदू संस्कृति के नाम से विख्यात हुई। वैदिक साहित्य में निम्नलिखित साहित्य सम्मिलित है—(1) वेद, (2) ब्राह्मण, (3) आरण्यक, (4) उपनिषद, (5) वेदांग, (6) सूत्र साहित्य, (7) उपवेद।

वैदिक संस्कृति एक जीवंत और प्रगतिशील संस्कृति थी। उसकी मुख्य विशेषताएं थीं आध्यात्मिक दृष्टि, अहिंसा, सत्य और सदाचार पर आधारित धर्म, समाज का चार वर्णों में विभाजन, जीवन का चार आश्रमों में विभाजन, निर्वाचित राजतंत्र।

भारतीय संस्कृति सामासिक संस्कृति है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारत को महामानव समुद्र कहा है। भारतीय संस्कृति अनेक जातियों के योग से बनी है। यह संस्कृति राष्ट्र अथवा धर्म पर आश्रित नहीं है। इस संस्कृति का मूल अध्यात्म है। भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता समन्वय वृत्ति है।

भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताएं हैं : (1) आध्यात्मिकता, (2) धर्म-प्रधानता, (3) समन्वयशीलता, (4) प्राचीनता, (5) मूलभूत एकता, (6) सर्वकल्याणकारी, (7) जीवन-क्षमता, (8) चिंतन की स्वतंत्रता, (9) वर्णाश्रम व्यवस्था, (10) सामूहिक कुटुंब प्रणाली, (11) धार्मिक सहिष्णुता, (12) सर्वांगीणता, और (13) अनेकता में एकता।

भारत विविधताओं का देश है फिर भी उसमें अंतर्भूत एकता पाई जाती है। भौगोलिक दृष्टि से भारत एक इकाई है और प्राकृतिक सीमाओं से सुरक्षित है। भारतीयों के लिए भारत उनकी पुण्यभूमि और मातृभूमि है।

भारत में प्रायः राजनीतिक एकता का अभाव रहा। प्राचीन भारत में अशोक और समुद्रगुप्त ने राजनीतिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। राजाओं की मनोकामना दिग्विजय द्वारा समूचे देश पर अपना साम्राज्य स्थापित करने की रही। अंग्रेजों ने भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। स्वतंत्रता के बाद देशी राज्यों के विलय के फलस्वरूप यह एकता और सुदृढ़ हो गई है।

भारत की मौलिक एकता सबसे अधिक उसके सांस्कृतिक जीवन में व्यक्त हुई है। भारतीय संस्कृति ने समन्वय और सामंजस्य का अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है।

भारत ने अनेक धर्मों को जन्म दिया। कुछ धर्म बाहर से भी आए। भारत के प्रायः सभी धर्मों में एकेश्वरवाद, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धांत, मोक्ष आदि की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकल्पनाएं पाई जाती हैं। प्रत्येक भारतवासी वेद, उपनिषद, गीता और पुराणों के प्रति श्रद्धा रखता है। शंकराचार्य, चैतन्य, नानक और रामकृष्ण परमहंस जैसे संतों ने भारत में धार्मिक एकता स्थापित करने में योग दिया है।

भारत की सामाजिक व्यवस्था में भी एकता के अनेक तत्त्व हैं। मूल रूप से समाज का चार वर्णों में विभाजन जन्म के आधार पर नहीं था, कर्म के आधार पर था। संयुक्त परिवार-व्यवस्था ने भारतीय समाज को विघटन से बचाया है।

प्राचीन काल से भारत की प्रधान भाषा संस्कृत रही है। वह भारत की अधिकांश भाषाओं की जननी है। भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य में एकता का स्वर है। रामायण, महाभारत और पुराणों की गाथाएं सभी भाषाओं के साहित्यों में पाई जाती हैं।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. "Revolution requires the fulfilment of both 'Objectives Conditions (material transformation) and 'subjective conditions' (the way in which social reality is pereceived). Cultural revolution is a necessary part of achieving appropriate subjective conditions, and involves the breaking down of the habits and artifects of bourgeois culture, so as to deprive the old economic order of its clutural support ; Roger ....
   A Dictionary of Political Thought Pan Books Ltd. 1982, P-109.
2. 'सभ्यता' शब्द के कोशीय अर्थ हैं : 'सभ्य होने का भाव, सदस्यता, शिष्टता, नम्रता, भद्रता, कुलीनता, किसी देश या जाति की बाह्य तथा भौतिक समृद्धि और परंपरागत विशेषताओं का सामूहिक नाम'। कालिका प्रसाद—**बृहत् हिंदी कोश**, ज्ञानमंडल, बनारस, 1989, पृ. 1198।
3. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, **आर्यसमाज का प्रथम भाग** के पहले अध्याय 'विषय-प्रवेश' में आर्यों के विषय में निम्नलिखित मुद्दों पर विस्तार से विचार किया है : (1) महर्षि दयानंद सरस्वती का आर्य से अभिप्राय; (2) आर्यों के प्राचीन गौरव के विषय में महर्षि के मंतव्य; (3) प्राचीन साहित्य से आर्य राज्यों के संबंध में परिचय; (4) प्राचीन संसार के विविध क्षेत्रों में आर्य सभ्यता की सत्ता के संकेत; और (5) महर्षि दयानंद सरस्वती की चक्रवर्ती आर्य राज्य की कल्पना। पृ. 17-32।
4. इन सूक्तियों का संकलन शशि तिवारी द्वारा संपादित **संस्कृत लोकोक्ति कोश** (प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1996) से किया गया है।
5. ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मंत्र में माना गया है कि एक तत्त्व को ही लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं।

   एकं सर विप्रा बहुधा वदन्ति
   अग्निं यमं मातरिश्वानमाङ।
6. भारतीय साहित्य में धर्म की अत्यंत उदात्त कल्पना है। वैशेषिक दर्शन, गीता, रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, रघुवंश, हितोपदेश आदि ग्रंथों में धर्म की इस भावना को उजागर किया गया है। कुछ उदाहरण हैं :

वैशेषिक दर्शन

यतोऽभ्युदय निःश्रेयस संसिद्धिः स धर्मः।

जिससे अभ्युदय (लौकिक उत्थान) और निःश्रेयस (परम कल्याण) की सिद्धि होती है, वही धर्म है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीता

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्याय संभवामि युगे युगे।।

साधु पुरुषों के उद्धार के लिए और दूषित कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए मैं (श्रीकृष्ण) युग-युग में प्रकट होता हूं।

रामायण

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारविदं जगत्।।

धर्म से धन होता है। धर्म से सुख होता है। मनुष्य धर्म से सब कुछ प्राप्त करता है। धर्म ही जगत् का सार है।

महाभारत

धर्ममूलाः पुनः प्रजाः।

धर्म प्रजा का मूल है।

मनुस्मृति

धर्म एव हतो हन्ति
धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हंतव्यो
मा नो धर्मो हतोऽवधीत।।

पालन न किया गया धर्म ही मनुष्य का नाश करता है। रक्षा किया गया धर्म उसकी रक्षा करता है। इसलिए धर्म को नष्ट नहीं करना चाहिए जिससे नष्ट हुआ धर्म हमें नष्ट न कर डाले।

रघुवंश

धर्म संरक्षणायैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः।

पृथ्वी पर भगवान का अवतार धर्म की रक्षा के लिए होता है।

हितोपदेश

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।

मृत्यु ने बाल पकड़ लिए हैं, ऐसा मान कर धर्म का आचरण करें।

7. इस समय संसार में 12 संगठित धर्म हैं : (1) बहाई धर्म, (2) बौद्ध धर्म, (3) ईसाई धर्म, (4) कन्फ्यूशियस धर्म, (5) हिंदू धर्म, (6) इस्लाम, (7) जैन धर्म, (8) यहूदी धर्म, (9) शिंतो धर्म, (10) सिख धर्म, (11) ताओ धर्म और (12) जटथुरत धर्म। इन बारह धर्मों में से चार धर्म–हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म और सिख धर्म भारत में ही उत्पन्न हुए। इन धर्मों के अतिरिक्त इस्लाम और ईसाई मत के अनुयायियों की संख्या भी काफी है। इन सभी धर्मों का परिचय प्राप्त करने के लिए देखिए : A. N. Kapoor, V.P. Gupta, **A Dictionary of World Religions,** Ajanta Publications, New Delhi, 1998.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 2

भारतीय समाज : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

समाज का अर्थ

समाज का साधारण अर्थ व्यक्तियों का समूह है। लेकिन तकनीकी रूप से समाज 'संबंधों की अवस्था' अथवा 'संबंधों का जाल' है[1]। ''जिस प्रकार जीवन एक वस्तु नहीं लेकिन जीवित रहने की एक प्रक्रिया है, उसी प्रकार समाज एक वस्तु नहीं है, बल्कि संबंध स्थापित करने की एक प्रक्रिया है।''[2] समाज की सर्वस्वीकृत परिभाषा यह है कि वह एक प्रकार की व्यवस्था है—रीति-रिवाजों की व्यवस्था, सत्ता और आज्ञापालन की व्यवस्था, पारस्परिक सहयोग की व्यवस्था, मानव-व्यवहार के विभिन्न संदर्भों की व्यवस्था, मनुष्य के अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था। इस व्यवस्था में निरंतर परिवर्तन होता रहता है और वह निरंतर जटिल होती जाती है।

समाज के मुख्य आधार हैं—रीति-रिवाज, प्रक्रियाएं, सत्ता, प।रस्परिक सहयोग, समूह और विभाग, मानव-व्यवहार का नियमन, स्वतंत्रता और प्रतिबंध। समाज-निर्माण की आवश्यक परिस्थितियां हैं—जनसंख्या की निरंतरता, जनसंख्या में श्रम विभाजन, सामूहिक एकता और सामूहिक व्यवस्था में स्थायित्व। समाज अमूर्त होता है। उसमें समानता और भिन्नता, सहयोग तथा संघर्ष दोनों के तत्त्व पाए जाते हैं और इन तत्त्वों के घात-प्रतिघात से सामाजिक उन्नति का पथ प्रशस्त होता है।

समाज की अनिवार्यता

सामान्यतः कोई व्यक्ति निपट एकाकी जीवन व्यतीत नहीं करता। वह सामाजिक प्राणी है और जन्म से मृत्युपर्यंत समाज में रहता है। समाज में उसे कुछ अधिकार मिले होते हैं—जीवन का अधिकार, संपत्ति का अधिकार, परिवार का अधिकार। इसके साथ ही उसके अपने साथियों के प्रति कुछ कर्त्तव्य भी होते हैं जिनका पालन करना उसके लिए अनिवार्य होता है।

समूह तथा समुदाय

समाज में व्यक्ति अनेक समूहों अथवा समुदायों का सदस्य होता है। इस प्रकार का पहला सामाजिक समूह परिवार है। परिवार में बालक अपने माता-पिता, दादी-दादा, भाई-बहनों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ रहता है और अपने भावी जीवन के लिए आरंभिक संस्कार ग्रहण करता है।

परिवार के बाद विद्यालय का स्थान है। धीरे-धीरे बालक के सामाजिक संबंधों का दायरा बढ़ता जाता है। उसके मित्र बनते हैं। वह अनेक संघों का सदस्य बनता है। सामाजिक समूहों की इस व्यवस्था में शिखर पर राज्य होता है। वह नागरिकों के जीवन पर नियंत्रण रखता है और समाज की आंतरिक अशांति तथा बाहरी हमलों से रक्षा करता है।

समाज के रूप

समाज के प्रायः अनेक रूप पाए जाते हैं। समाज का एक आरंभिक रूप पितृसत्तात्मक समाज (Patriarchal Society) अथवा मातृसत्तात्मक समाज (Matriarchal Scociety) है।

पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक समाज

पितृसत्तात्मक समाज में पिता की प्रधानता होती है और वंश-क्रम उसी से चलता है। मातृसत्तात्मक समाज में माता का वर्चस्व होता है और वंश-परंपरा उससे चलती है।

कबाइली समाज

समाज का एक रूप कबाइली समाज है। कबीले की एक भाषा और एक संस्कृति होती है। उसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं। कबीले में राजनीतिक सत्ता का होना आवश्यक नहीं है। लेकिन कबीले में आदेश-पालन की एक श्रृंखला (chain of Command) अवश्य होती है। उसमें रीति-रिवाजों के आधार पर कानून का भी किसी-न-किसी रूप में अस्तित्व होता है। कबीले का मुख्य आधार होता है। नातेदारी (Kinship) होती है। कबाइली समाज की मुख्य विशेषताएं हैं—

(1) सामाजिक संगठन का प्रमुख रूप यौन-भेद, रक्त-संबंध, धर्म, जादू और टोटमवाद पर आधारित होता है।

(2) कबीले की दो आधारभूत इकाइयां हैं—परिवार और गोत्र।

(3) कबाइली समाज में विवाह के रूपों में भिन्नता पाई जाती है और नैतिकता का कोई सामान्य मानदंड नहीं होता।

(4) कबीले का सामाजिक जीवन बहुत हद तक टोटमवाद से प्रभावित होता है। टोटमवाद का अभिप्राय उन विश्वासों से है जिनके आधार पर कोई गोत्र या समूह अपना संबंध किसी काल्पनिक पूर्वकालीन पशु या पेड़-पौधे से जोड़ता है और अपने आपको उसका वंशज मानता है।

(5) कबीले आकार में छोटे होते हैं।

(6) कबीलों की अर्थ-व्यवस्था पिछड़ी होती है और उनमें विशेषीकरण का अभाव पाया जाता है।

(7) कबीलों का राजनीतिक संगठन मुखिया और पंचायत के द्वारा संचालित होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(8) कबीलों में पौराणिक और लोक-कथाओं का विशेष महत्त्व होता है।
(9) कबीले प्रकृति के अधिक निकट होते हैं।
(10) कबीला एक प्रकार का अनौपचारिक समाज है और उसे मानव की प्रारम्भिक सभ्यता का प्रतीक समझा जा सकता है।

सभ्य अथवा जटिल समाज

कबाइली अथवा आदिम समाज से उल्टा सभ्य अथवा जटिल समाज है। इसकी प्रमुख विशेषताएं हैं–

(1) इसमें सामाजिक संगठन का आधार औपचारिक होता है।
(2) सभ्य समाज में परिवार और गोत्र का प्रभाव घटता जाता है।
(3) सभ्य समाज में विवाह के रूपों में साम्यता पाई जाती है और नैतिकता का एक सामान्य मानदंड विकसित होता है।
(4) सामाजिक जीवन बहुत कुछ तर्क पर आधारित होता है।
(5) सभ्य समाज अपेक्षाकृत बड़े आकार के होते हैं।
(6) सभ्य समाजों की आर्थिक व्यवस्था विकसित होती है और उनमें विशेषीकरण पाया जाता है।
(7) सभ्य समाज में राजनीतिक व्यवस्थाओं के विभिन्न रूप पाए जाते हैं।
(8) सभ्य समाजों में पौराणिक और लोक-कथाओं का महत्त्व कम होता है।
(9) सभ्य समाज प्रकृति से दूर होते हैं।
(10) सभ्य समाज औपचारिक समाज है और वह मानव की विकसित सभ्यता का प्रतीक है।

परंपरागत और मुक्त समाज

मानव समाज का एक अन्य प्रकार परंपरागत और मुक्त समाज है। परंपरागत समाज परंपराओं पर आधारित होता है। इस समाज में परिवर्तन की गति धीमी होती है, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव पाया जाता है और मानसिकता रूढ़िवादी होती है। इसके विपरीत मुक्त समाज खुला समाज होता है। इसमें व्यक्तिगत गुणों के आधार पर व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति निर्धारित होती है।[3]

परंपरागत और मुक्त समाज में निम्नलिखित भेद पाए जाते हैं–

परंपरागत और मुक्त समाज में भेद
(Distinction between Traditional and Open Society)

परंपरागत समाज
(Traditional Society)

1. परंपरा, प्रथा, धर्म आदि का महत्त्व।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. भाग्यवादिता और रूढ़िवादिता का बोलबाला।
3. वैज्ञानिक और यांत्रिक प्रगति का अभाव।
4. सामाजिक जीवन में एकरूपता।
5. परंपरा द्वारा पद तथा कार्य का निर्धारण।
6. सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधन जैसे परिवार, प्रथा, रूढ़ि, परंपरा आदि।
7. स्त्रियों की निम्न स्थिति।
8. सामाजिक ऊंच-नीच का निर्धारण जाति-प्रथा जैसी व्यवस्था द्वारा।
9. व्यक्तिगत संबंधों की व्यवस्था।
10. अविकसित श्रम-विभाजन प्रणाली।
11. सामूहिकता।
12. सामाजिक गतिशीलता व परिवर्तन धीमा।

मुक्त समाज
(Open Society)

1. विज्ञान का महत्त्व।
2. भाग्यवादिता और रूढ़िवादिता का अभाव।
3. वैज्ञानिक और यांत्रिक प्रगति को प्राथमिकता।
4. सामाजिक जीवन में विषमता।
5. व्यक्तिगत गुणों द्वारा पद और कार्य का निर्धारण।
6. सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधन जैसे कानून, पुलिस, शासक आदि।
7. स्त्रियों की स्थिति अच्छी।
8. सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण वर्ग-प्रणाली द्वारा।
9. अवैयक्तिक संबंधों की व्यवस्था।
10. श्रम-विभाजन और विशेषीकरण।
11. व्यक्तिवादिता।
12. सामाजिक गतिशीलता व परिवर्तन तीव्र।

वर्ग तथा जातियां

प्रत्येक विकसित समाज कुछ वर्गों तथा जातियों के बीच बंटा होता है। वर्गों और जातियों का अस्तित्त्व सभ्यता के आदि काल से चला आ रहा है। मध्यकाल में यूरोप के अधिकांश समाज तीन वर्गों में बंटे हुए थे—कुलीन, व्यापारी और किसान।

अमीर और गरीब

आधुनिक समाजों में अमीरों और गरीबों के बीच व्यापक भेद पाया जाता है। कार्ल मार्क्स ने वर्ग-भेद के आधार पर समूचे मानव-इतिहास और सामाजिक संबंधों की व्याख्या की है।[4]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय समाज का बदलता स्वरूप

भारतीय समाज का क्रमबद्ध इतिहास कम-से-कम 4,000 साल से पुराना है।

हड़प्पा संस्कृति[5]

इस इतिहास की यात्रा हड़प्पा संस्कृति से आरंभ होती है। जिसका काल विद्वान ई. पू. 2300 से 1750 तक मानते हैं। हड़प्पा की संस्कृति नगरीय संस्कृति थी। लोग चावल, जौ, खजूर, कपास आदि की खेती करते थे तथा फारस की खाड़ी, मेसोपोटामिया, अफगानिस्तान तथा तुर्कमेनिया जैसे देशों से व्यापार करते थे। समाज में प्रायः पांच वर्ग पाए जाते थे—विद्वान, योद्धा, व्यापारी, किसान और कारीगर।

वैदिक संस्कृति

भारत के सामाजिक विकास में हड़प्पा संस्कृति के बाद दूसरा बड़ा अवस्थान वैदिक संस्कृति का है। वैदिक संस्कृति के दो चरण माने जाते हैं। एक चरण लगभग ईसा पूर्व 1500 से 1000 तक है। यह भारत और संसार के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद का काल है।[6] इस काल का प्रमुख व्यवसाय पशुपालन था। गाय इस समय प्रमुख पशु था और वस्तुओं का मूल्य भी गायों में निर्धारित होता था। समाज कबीलों अथवा जनों में बंटा हुआ था। जन का नेता गोप्ता कहलाता था। ऋग्वैदिक समाज मुख्य रूप से दो वर्गों में बंटा हुआ था—आर्य और दास। ऋग्वैदिक काल में समाज का चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—के बीच वर्गीकरण आरंभ हो गया था। परिवार में पिता का स्थान श्रेष्ठ था किंतु घर के प्रबंध में स्त्री को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। साधारणतया एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता था। पत्नी पति की सहधर्मिणी थी अर्थात् वह उसके साथ धार्मिक कृत्यों में भाग लेती थी। लड़कियों को अपने पति चुनने का अधिकार था।

वैदिक संस्कृति का दूसरा चरण उत्तर वैदिक काल है। यह ईसा पूर्व 1000 से 500 तक का समय है। इस काल में कबाइली संगठन में दरार पड़ गई थी और छोटे-छोटे कबीले जनपदों के रूप में संगठित हो गए थे। इसमें पैतृक राजतंत्र और राष्ट्र की संकल्पनाएं स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगती हैं। उत्तर वैदिक काल में लोहे के फाल का प्रयोग आरंभ हुआ। इससे कृषि में उन्नति हुई और कापिल्य तथा कौशाम्बी जैसे बड़े-बड़े नगरों का विकास हो सका।

वेदोत्तर काल

भारत के सामाजिक विकास में 600 ई. पू. से 300 ई. पू. तक का समय वेदोत्तर काल कहा गया है। इस काल में चंपा, राजगृह, उज्जयिनी, वैशाली और पाटलीपुत्र आदि नगरों का उत्थान हुआ। सुनारों, बढ़ईयों, रेशम का कपड़ा बुनने वालों और हाथी दांत का काम करने वालों के अपने-अपने व्यापारी संघ (Guilds) थे। प्रत्येक श्रेणी के मुखिया को 'जेढ़ठक' कहते थे। इस काल में शिल्पों और व्यापार की बहुत उन्नति हुई। मुद्रा-प्रणाली का प्रचलन भी आरंभ हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गृह्यसूत्रों में अनेक प्रकार के 'संस्कारों' और आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। इनमें चारों आश्रमों–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास–और चारों वर्णों के भी विवरण उपलब्ध होते हैं। समाज में शूद्रों की स्थिति दयनीय थी।[7]

इस काल में बौद्ध धर्म का उदय हुआ और उसका समाज के सभी वर्गों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। क्षत्रिय अपने आपको ब्राह्मणों से श्रेष्ठ समझने लगे। स्त्रियां भी बौद्ध संघ में सम्मिलित होकर शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं। गौतम बुद्ध ने यज्ञादि कर्मकांडों तथा जन्म पर आधारित जाति-प्रथा का विरोध किया।[8]

मौर्य तथा मौर्येत्तर काल

ई. पू. 300 से 300 ई. तक का काल मौर्य तथा मौर्येत्तर काल है। इस काल में व्यक्ति-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण था। कृषि के उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई। इस काल की एक प्रमुख विशेषता थी धातु उद्योग का विकास। धातुओं में सबसे महत्त्वपूर्ण धातु लोहा थी। मौर्येत्तर काल में मूर्त्तिकला का भी विकास हुआ और बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की अनेक मूर्तियां बनाई गईं। इस काल में भारत का पश्चिमी एशिया, यूनान, रोम, मिस्र और मध्य एशिया के अनेक देशों से संपर्क हुआ। विदेशी व्यापार की भी उन्नति हुई। उत्तर पश्चिम भारत के यूनानी राजाओं ने सबसे पहले ऐसे सिक्के जारी किए जिन पर राजाओं के नाम और तिथियां उत्त्कीर्ण होती थीं। यूनानी शासकों के अतिरिक्त शक, कुषाण और सातवाहन शासकों ने भी तांबे, सोने या चांदी के सिक्के चलाए। सारे भारत में सिक्कों के चलन से शिल्पों और उद्योगों को प्रोत्साहन मिला।[9]

मौर्यकाल में वर्णाश्रम व्यवस्था पूरी तरह से विकसित हो गई थी। कौटिल्य के अनुसार शासक का यह कर्त्तव्य था कि वह सभी लोगों से वर्णाश्रम धर्म का पालन कराए।[10] इस काल में अनेक विदेशी जातियां भारतीय समाज में घुलमिल गईं और उन्होंने भारतीय देवताओं को अपनाया।

दक्षिण भारत में संगम साहित्य की रचना हुई।[11] दक्षिण भारत और उत्तर भारत की संस्कृतियों में समन्वय की प्रक्रिया भी आरंभ हुई।

गुप्त काल

300 ई. से 600 ई. तक का काल गुप्त काल है। इस काल में क्षत्रियों की स्थिति ब्राह्मणों की अपेक्षा गिर गई। वैश्यों की स्थिति में भी पतन हुआ। शूद्रों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। वे किसान, शिल्पी और व्यापारी हो सकते थे।

स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आई। विधवाओं को पुनर्विवाह करने की अनुमति नहीं थी। इस काल में दासों की संख्या में वृद्धि हुई। जहां मनु (ई. पू. 200 से 100) ने सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया है, नारद (500 ई.) ने पंद्रह प्रकार के दासों का उल्लेख किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुप्तोत्तर काल

लगभग 650 ई. से 1200 ई. तक का काल गुप्तोत्तर काल है। इस काल में सामंती व्यवस्था का पूर्ण रूप से विकास हुआ, कृषि-विज्ञान की उन्नति हुई, राजपूतों का उदय हुआ, वैश्यों और शूद्रों की स्थिति में गिरावट आई, विवाह और खान-पान के नियम कठोर हो गए तथा स्त्रियों की स्थिति पहले की अपेक्षा हीन हो गई। समाज अनेक जातियों और उपजातियों में बंट गया और मुसलमानों के सम्मुख पराजित हुआ।

मुस्लिम काल

भारतीय इतिहास में 1200 ई. से 1757 ई. तक का काल मुस्लिम काल है। आठवीं सदी के आरंभ में अरबों ने भारत के पश्चिमी प्रदेश सिंध पर आक्रमण कर भारत में मुस्लिम राज्य की नींव रखी। ग्यारहवीं सदी के आरंभिक वर्षों में गजनी के शासक महमूद गजनवी ने भारत पर 17 बार आक्रमण किए और वह अपार धन-संपदा लूट कर गजनी ले गया। उसके बाद मुहम्मद गौरी ने 1175 से भारत पर आक्रमण करने शुरू किए। 1192 में उसने तराइन के दूसरे युद्ध में उत्तरी भारत के शक्तिशाली नरेश पृथ्वीराज चौहान को पराजित कर भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना की।

भारत में मुस्लिम शासन दो कालखंडों में विभक्त है—दिल्ली सल्तनत और मुगलवंश।

दिल्ली सल्तनत

दिल्ली सल्तनत के अंतर्गत पांच राजवंशों ने भारत पर शासन किया—(1) गुलाम वंश (1206-1290), (2) खलजी राजवंश (1290-1320), (3) तुगलक राजवंश (1320-1414), (4) सैयद राजवंश (1414-1450), और (5) लोदी राजवंश (1450-1526)।

दिल्ली सल्तनत के पतन के अनेक कारण थे : उत्तराधिकार-नियम का अभाव, सत्ता के लिए आंतरिक संघर्ष, सरकार की दुर्बलता, दास-प्रथा, स्थायी सेना का अभाव, हिंदुओं का प्रतिरोध, मंगोल आक्रमण, तैमूर का आक्रमण, राजनीति में उलेमाओं का हस्तक्षेप और पानीपत की पहली लड़ाई में मुगल आक्रमणकारी बाबर के हाथों इब्राहीम लोदी की पराजय।

दिल्ली सल्तनत सांप्रदायिक राज्य था। कुरान और हदीस की शिक्षाओं को शासन-व्यवस्था की धुरी माना जाता था। सैद्धांतिक दृष्टि से राज्य के सभी साधन इस्लाम की रक्षा और प्रचार के लिए थे। दिल्ली सल्तनत केवल मुसलमानों को अपनी प्रजा मानता था। बहुसंख्यक हिंदुओं को निम्न श्रेणी का नागरिक माना जाता था। उन्हें सरकारी सेवाओं तथा उच्च पदों से दूर रखा जाता था।

सल्तनत काल में लोगों की जीविका का मुख्य साधन कृषि ही था। राज्य की आय का भी प्रमुख स्रोत कृषि से प्राप्त होने वाला भूमि कर अथवा लगान था। अलाउद्दीन खलजी ने किसानों पर अनेक नए कर लगाए। इन करों के परिणामस्वरूप किसान को अपनी आय का 75 प्रतिशत भाग करों के रूप में चुकाना पड़ता था। फीरोज़ तुगलक ने कृषि की उन्नति के लिए अनेक नहरों का निर्माण कराया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगल काल

1526 में बाबर ने पानीपत की पहली लड़ाई में इब्राहीम लोदी को पराजित कर भारत में मुगल शासन की नींव रखी। मुगल शासन 1526 से 1857 तक रहा। इस वंश के मुख्य शासक छः थे : बाबर (1526-1530), हुमायूं (1530-1556), अकबर (1556-1605), जहांगीर (1605-1627), शाहजहां (1628-1666) और औरंगजेब (1666-1707)।

मुगल साम्राज्य अपने समय का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था। इस काल में स्थापत्य-कला, चित्रकला, धातु कला और साहित्य की विशेष उन्नति हुई। शाहजहां का शासन काल स्थापत्य-कला का स्वर्ण-काल है। उसके द्वारा निर्मित आगरे का ताजमहल, दिल्ली का लाल किला और जामा मस्जिद विश्वविख्यात इमारतें हैं। चित्रकला के क्षेत्र में बहजाद, मीर सैयद अली ख्वाजा, अब्दुसम्मद और अबुल हसन ने नए कीर्तिमान स्थापित किए। मुगल काल में फारसी साहित्य को बढ़ावा मिला। बाबर ने तुर्की भाषा में अपनी आत्मकथा **तुजुके बाबरी** लिखी। हुमायूं की बहन गुलबदन बेगम ने **हुमायूंनामा** की रचना की। अकबर के शासनकाल में **अकबरनामा** तथा **आइने-अकबरी** जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गए। रामायण और महाभारत के फारसी में अनुवाद हुए। जहांगीर स्वयं एक विद्वान था। उसने अपनी आत्मकथा **तुजुक-ए-जहांगीरी** की रचना की। शाहजहां के दरबारी इतिहासकारों में अब्दुल हमीद लाहोरी ने **बादशाहनामा** और इनायतखां ने **शाहजहांनामा** लिखा। शाहजहां के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह ने उपनिषदों, भगवद्गीता और योगवशिष्ठ के फारसी में अनुवाद तैयार कराए। उपनिषदों के ये फारसी अनुवाद ही फ्रांस और जर्मनी आदि यूरोपीय देशों में पहुंचे और वहां की भाषाओं में अनूदित हुए।

मुगल काल में संस्कृत, हिंदी और उर्दू साहित्य की भी उन्नति हुई। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जगन्नाथ शाहजहां के राज्याश्रित थे। उन्होंने **रसगंगाधर** और **गंगालहरी** नामक ग्रंथों की रचना की। मुगल काल में हिंदी का साहित्यिक भाषा के रूप में तेजी से विकास हुआ। मंझन ने **मधुमालती,** जायसी ने **पद्मावत** तथा तुलसीदास ने **रामचरितमानस** की रचना इसी काल में की। **रामचंद्रिका** के रचयिता केशवदास जहांगीर के समकालीन थे। अब्दुर्रहीम खानखाना, रसखान, सेनापति, चिंतामणि, भूषण, मतिराम और बिहारी जैसे कवि मुगलकाल की देन हैं।

मुगलकाल में उर्दू भाषा का उद्भव और विकास हुआ। उर्दू कविता को सबसे पहले दक्षिण के बीजापुर और गोलकुंडा के सुल्तानों से मान्यता मिली। अठारहवीं सदी के अंत में मुगल सम्राटों और उनके सरदारों की मातृभाषा फारसी के स्थान पर उर्दू हो गई।

हिंदू-मुस्लिम संबंध

मध्यकालीन भारतीय इतिहास की एक प्रमुख विशेषता हिंदू और इस्लामी संस्कृतियों का पारस्परिक समन्वय है। हिंदू समाज और संस्कृति पर मुसलमानों का प्रभाव पड़ा और मुसलमानों पर हिंदुओं का। दोनों संस्कृतियों पर एक-दूसरे का प्रभाव पड़ने के बावजूद उनके बीच धार्मिक भिन्नता बनी रही। मुसलमान बहुत थोड़ी संख्या में बाहर से आए थे। शासकीय जोर-जबर्दस्ती,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रलोभनों और हिंदुओं की जाति-प्रथा की कट्टरता के कारण निम्न श्रेणियों के हिंदुओं ने भारी संख्या में इस्लाम ग्रहण किया।

भक्ति आंदोलन

मध्यकालीन भारत की एक प्रमुख देन भक्ति आंदोलन है। भक्तिधारा का विकास दक्षिण भारत में हुआ जिसका श्रेय आलवार संतों को है। रामानुजाचार्य, निम्बार्क माधवाचार्य, रामानंद, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, नामदेव, रैदास, दादू, कबीर, नानक, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि भक्ति आंदोलन के प्रमुख प्रवर्त्तक थे।

भक्ति आंदोलन ने सामाजिक समानता पर जोर दिया। सभी भक्तों ने धर्म के बाह्याडंबरों का खंडन कर आचरण और चरित्र की पवित्रता का गुणगान किया। कुछ भक्त कवियों ने रामभक्ति पर जोर दिया और कुछ ने कृष्ण भक्ति पर। वे सभी एक ईश्वर में आस्था रखने वाले थे। भक्त कवियों ने लोक भाषाओं में अपने विचार प्रकट किए। भक्ति आंदोलन मुख्य रूप से जनवादी आंदोलन था और उसे जनता का भरपूर सहयोग मिला था। भारत में बौद्ध धर्म के पश्चात् भक्ति आंदोलन सबसे बड़ा देशव्यापी आंदोलन था। इस आंदोलन ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सद्भावना विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

सूफीमत

मध्ययुगीन भारत में भक्ति आंदोलन के साथ ही जिस एक अन्य धार्मिक विचारधारा का उदय हुआ वह था सूफीमत। सूफी सभी धर्मों का आदर करता है। सूफी मत का उदय आठवीं और नवीं शताब्दियों में अरब में हुआ। शुरू में उनकी पहचान उनके ऊनी लिबासों से की जाती थी। 'सफ' का अर्थ है 'ऊन' अर्थात् बकरी या भेड़ के बाल का ऊनी कपड़ा। इस दृष्टि से जो 'सफ' अर्थात् ऊन के कपड़े पहनता था, वह सूफी कहलाया जाने लगा। कुछ विद्वान 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति 'सफा' शब्द से करते हैं 'सफा' का अर्थ है 'पवित्रता'। जो लोग आचार-विचार से पवित्र थे, उन्हें सूफी कहा गया।

सूफी धर्म के बाह्याडंबरों और विधि-विधानों को नहीं मानते थे। इस मत का ईरान में विशेष रूप से उत्कर्ष हुआ। सूफियों ने कुरान की एक नए ढंग से व्याख्या की और उसमें रहस्यवाद के अनेक सूत्र खोज निकाले। मंसूर, अलगजाली, जलालुद्दीन रूमी और इब्नुलअरबी प्रसिद्ध सूफी साधक हुए हैं।

भारत में सूफी मत ने तेरहवीं शताब्दी में प्रवेश किया। इस समय तक सूफी मत के सभी प्रमुख सिद्धांत निर्धारित हो चुके थे। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में पंजाब, बंगाल, दक्षिण भारत और कश्मीर में अनेक सूफी केंद्रों अथवा खानकाहों की स्थापना हुई।

आइने अकबरी में अबुल फजल ने 14 सूफी संप्रदायों (सिलसिलों) का उल्लेख किया है। इनमें चार सूफी संप्रदाय विशेष प्रसिद्ध थे—चिश्ती, सुहरावर्दी, कादरी और नक्शबंदी। चिश्ती भारत का सबसे प्राचीन सूफी संप्रदाय है। इस संप्रदाय के संस्थापक ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती सन् 1192 में शिहाबुद्दीन गोरी की सेना के साथ भारत आए थे। उन्होंने अजमेर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अपना स्थायी निवास बनाया। उनकी समाधि अजमेर में 'ख्वाजा साहब' के नाम से प्रसिद्ध दरगाह है। ख्वाजा बख्तियार काकी, बाबा फरीद, हज़रत निजामुद्दीन औलिया, हजरत अलाउद्दीन साबिर, शेख सलीम चिश्ती, हाजी रूमी और शेख हुसैनी गेसूदराज चिश्ती संप्रदाय के प्रमुख नेता थे।

भारत में सुहरावर्दी संप्रदाय को बहाउद्दीन जकारिया ने लोकप्रिय बनाया। जलालुद्दीन तबरीजी, बाबा फखरुद्दीन, सैयद सुर्खपोश और ब्रहान इस संप्रदाय के प्रसिद्ध संत हुए। यह संप्रदाय सिंध, गुजरात, बंगाल, हैदराबाद और बीजापुर में विशेष रूप से फैला।

शाहजहां के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह ने सूफी मत और वेदांत दोनों का अध्ययन किया था। अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह की अनेक कविताओं में सूफी सिद्धांतों की झलक मिलती है।

सूफी परमात्मा को सृष्टि के कण-कण में व्याप्त पाते हैं। उनका ईश्वर जाति-धर्म के भेदभाव से ऊपर है और उसकी दृष्टि में सभी मनुष्य एक जैसे हैं। सूफी प्रेम को ही ईश्वर का सच्चा रूप मानते हैं। साधक मानवता के प्रति प्रेममार्ग पर चल कर ही ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। सूफी साधना में गुरु का विशेष महत्त्व है। सूफी साधक संगीत को अपनी साधना का एक महत्त्वपूर्ण साधन मानते हैं।

शेख सरहिंदी तथा शाह वलीउल्ला ने नक्शबंदी संप्रदाय के माध्यम से प्रतिक्रियावादी विचारधारा का नेतृत्व किया।

मुगल साम्राज्य का पतन

18वीं सदी में मुगल साम्राज्य के केंद्रीय संगठन में दरारें पड़ गईं। मुगल सम्राट् देश में राष्ट्रीय भावना का विकास करने में असमर्थ रहे। उत्तर भारत में मुगलों, अफगानों और पेशवाओं के बीच त्रिकोणीय संघर्ष हुआ। अफगानों और मराठों ने मुगल साम्राज्य को झकझोर दिया। भारतीय राजे-रजवाड़ों ने एक दूसरे की शक्ति को कम किया जिसके फलस्वरूप ईस्ट इंडिया कंपनी की शक्ति बढ़ती गई।

भारत की राजनीतिक अव्यवस्था को देखते हुए यूरोप की तीन महाशक्तियों, डचों, अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने आपस में प्रतिस्पर्धा की जिसमें अंततः अंग्रेज विजयी हुए। उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक तक अंग्रेजों का करीब-करीब समूचे भारत पर अधिकार हो गया। मुगल साम्राज्य के पतन के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

(1) औरंगज़ेब के समय में मुगल साम्राज्य अपने शिखर पर पहुंच गया था। उसकी कट्टर नीति ने सिखों, जाटों, बुंदेलों, राजपूतों और मराठों को मुगल शासन का विरोधी बना दिया।

(2) औरंगज़ेब ने दक्षिण में अनेक वर्षों तक लड़ाई जारी रखी जिससे खजाना खाली हो गया।

(3) औरंगज़ेब के उत्तराधिकारी कमजोर थे।

(4) मुगल सम्राटों की तरह मुगल अमीर-उमरा भी विलासी और निकम्मे थे। राज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग्य प्रशासकों तथा कुशल सेनापतियों की सेवाओं से वंचित हो गया।

(5) मुगल राजदरबार में दलबंदी थी। राजपुरुषों के विभिन्न दल एक-दूसरे को नीचा दिखाने के फेर में रहते थे।

(6) मुगलों में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था। एक बादशाह की मौत के बाद उसके पुत्रों में अकसर लड़ाई होती थी और जो जीतता वही गद्दी हथिया लेता था।

(7) यूरोपीय शक्तियां प्रशासनिक क्षमता, सैन्य कौशल तथा राजनीतिक धूर्तता में मुगल शासकों से कहीं आगे थीं। सभ्यता की दौड़ में यूरोपीय शक्तियों के मुकाबले मुगल शासक बहुत पीछे थे।

सारांश

समाज का साधारण अर्थ व्यक्तियों का समूह है। लेकिन तकनीकी रूप से समाज 'संबंधों की व्यवस्था' अथवा 'संबंधों का जाल' है। समाज संबंध स्थापित करने की प्रक्रिया है। समाज अमूर्त होता है। उसमें समानता और भिन्नता, सहयोग तथा संघर्ष दोनों के तत्त्व पाए जाते हैं और इन तत्त्वों के घात-प्रतिघात से समाज उन्नति की ओर बढ़ता है।

मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है और वह जन्म से मृत्युपर्यंत समाज में रहता है। समाज में व्यक्ति अनेक समूहों अथवा समुदायों का सदस्य होता है। परिवार, विद्यालय, राज्य ये सभी मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक संघ हैं।

समाज के अनेक रूप पाए जाते हैं—पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक समाज, कबाइली और सभ्य समाज तथा परंपरागत और मुक्त समाज।

प्रत्येक विकसित समाज कुछ वर्गों अथवा जातियों के बीच बंटा होता है। आधुनिक समाजों में अमीरों और गरीबों के बीच व्यापक भेद पाया जाता है। कार्ल मार्क्स ने वर्ग-भेद के आधार पर समूचे मानव इतिहास और सामाजिक संबंधों की व्याख्या की है।

भारतीय समाज का क्रमबद्ध इतिहास कम से कम 4000 साल पुराना है। इस इतिहास के मुख्य पड़ाव हैं : हड़प्पा संस्कृति (ई. पू. 2300 से 1750 तक); ऋग्वेद (ई. पू. 1500 से 1000 तक); उत्तर वैदिक काल (ई. पू. 1000 से 500 तक); वेदोत्तर काल (ई. पू. 600 से ई. पू. 300 तक); मौर्य तथा मौर्येत्तर काल (ई. पू. 300 से 300 ई. तक, 300 ई. से 600 ई. तक); गुप्तोत्तर काल (650 ई. पू. से 1200 ई. तक); सल्तनत काल (1200 ई. से 1526 तक); मुगल काल (1526 से 1757 तक)।

प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन की मुख्य विशेषताएं थीं—समाज का चार वर्णों में विभाजन, जीवन के चार आश्रम, जाति-प्रथा, शूद्रों की स्थिति में निरंतर गिरावट, स्त्रियों की सम्मानपूर्ण स्थिति, वैवाहिक जीवन की पवित्रता, सामाजिक जीवन में परिवार का महत्त्व, नैतिकता के ऊंचे मानदंड, व्यापार और वाणिज्य की उन्नति, व्यापारिक संघों की व्यवस्था।

दिल्ली सल्तनत सांप्रदायिक राज्य था। इसमें कुरान और हदीस की शिक्षाओं को शासन-व्यवस्था की धुरी माना जाता था। बहुसंख्यक हिंदू निम्न श्रेणी के नागरिक समझे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते थे। लोगों की जीविका का मुख्य साधन कृषि ही था।

मुगल साम्राज्य अपने समय का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था। उसके काल में स्थापत्य, चित्रकला और साहित्य की उन्नति हुई।

मध्ययुगीन भारत में भक्ति-आंदोलनों तथा सूफी मतों ने जन्म लिया। हिंदुओं और मुसलमानों ने एक-दूसरे के ऊपर प्रभाव अवश्य डाला लेकिन उनमें पूर्ण सांस्कृतिक समन्वय स्थापित नहीं हो सका।

10वीं सदी में मुगल साम्राज्य के केंद्रीय संगठन में दरारें पड़ गईं। अफगानों और मराठों ने मुगल साम्राज्य को झकझोर दिया। प्रशासनिक समता, सैन्य कौशल तथा राजनीतिक धूर्तता में मुगल शासक ईस्ट इंडिया कंपनी का मुकाबला न कर सके।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. "It is a web of social relationships". Mac Iver and Page ?
2. "Just as life is not a thing but a process of living, so society is not a thing but Process of associating." E. B. Reuter.
3. 'मुक्त समाज' (Open Society) पद का प्रयोग पापर (Popper) ने अपने ग्रंथ **द ओपन सोसाइटी एंड इट्स एनेमीज़, 1945** (The Open Society and its Enemies, 1945) में किया था। पापर के मत से मुक्त समाज के सदस्य बिना किसी दंड-भय के राज्य की संस्थाओं की आलोचना करते हैं। इस समाज में शिक्षा बालक के दिमाग में किसी सिद्धांत-विशेष को आरोपित नहीं करती। लोग विचारों, अभिव्यक्ति और कार्य की स्वतंत्रता का उपयोग करते हैं।
4. "In Marxian and Similar theories the term "class" is used as a technical term associated with a theory of ownership and control. It denotes positions in the system of production relations which are held to explain all characterestics of class recognition...For the Marxist the principal theoritical classifications are those of masters and slave, peticion and plebain lords and serf, and bourgeois and proletarian."
   Roger Scurton, A Dictionary of Political Thought, Pan Books, 1982 Page, 67.
5. हड़प्पा संस्कृति की खोज 1921 में हुई थी। इसकी खोज का श्रेय भारतीय पुरातत्त्व विभाग के प्रधान सर जान मार्शल तथा उनके सहयोगी डी. आर. साहनी को है। शुरू में हड़प्पा संस्कृति के भग्नावशेष सिंध घाटी में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नामक दो स्थलों पर मिले थे। बाद में ये अवशेष 70 अन्य स्थलों पर मिले हैं जिनमें रोपड़, लोथल और दक्षिण गुजरात सम्मिलित हैं। हड़प्पा घाटी में प्राप्त मुहरों पर उत्कीर्ण लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है।
6. ऋग्वेद के अधिकांश मंत्र प्राकृतिक शक्तियों के प्रति संबोधित हैं। इन सभी शक्तियों के मूल में एक परम शक्ति का विचार है। ऋग्वेद के एक सूत्र में कहा गया है कि सच्चाई एक है लेकिन विभिन्न विद्वान उसका अपने-अपने ढंग से कथन करते हैं। ऋग्वेद से हिंदुओं के दार्शनिक और धार्मिक चिंतन का सूत्रपात होता है।
7. विवरण के लिए देखिए स्वामी दयानंद कृत **संस्कार-विधि**।
8. गौतम बुद्ध ने जन्म से जाति को नहीं माना। वे सब जातियों को बराबर मानते थे। उन्होंने लिखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि ब्राह्मण की समाज में श्रेष्ठता उसके अच्छे गुणों के कारण है न कि ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के कारण।

ओम प्रकाश, **प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास** पंचम संस्करण, विश्व प्रकाशन, 2001, पृ. 104।

9. ओम प्रकाश, **प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास**, पंचम संस्करण, विश्व प्रकाशन, 2001, देखिए अध्याय 'मुद्रा विनिमय और साहूकारी'।
10. कौटिल्य के बारे में कहा जाता है कि वह चंद्रगुप्त मौर्य का मंत्री था और उसने सम्राट के मार्गदर्शन के लिए अर्थशास्त्र की रचना की थी। यह प्राचीन भारत के राज्य शास्त्र पर प्रमुख ग्रंथ है। इसका स्वर पूर्णरूप से व्यावहारिक है और उसमें राजसत्ता के विकास के सूत्र दिए गए हैं। ग्रंथ की सोलहवीं सदी के इतालवी राजनेता मैकियावेली के **प्रिंस** से तुलना की जाती है।
11. प्राचीन तमिल साहित्य का एक युग जो ई. पू. पहली शताब्दी से छठी शताब्दी ई. तक चला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 3

अंग्रेजी राज की स्थापना

अंग्रेजों की भारत-विजय का स्वरूप

भारत पर अंग्रेजों की विजय इतिहास का एक महान आश्चर्य है। अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आए थे लेकिन बन बैठे यहां के शासक। भारत जैसा विशाल, समृद्ध और प्राचीन देश मुट्ठी भर अंग्रेजों की अधीनता में हो गया। यह कैसे हुआ? स्वतंत्र भारत के नागरिकों के लिए इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। इस छान-बीन का बौद्धिक और ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, इसका सामयिक महत्त्व भी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत अपनी कमजोरियों के कारण गुलाम बना। वे कमजोरियां क्या थीं? स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए आवश्यक है कि इन कमजोरियों से बचा जाए।

एक व्यापक धारणा

भारत पर अंग्रेजों की विजय के बारे में एक व्यापक धारणा यह है कि अंग्रेजों ने भारत पर अनायास ही विजय प्राप्त कर ली। उन्होंने देश में अपने साम्राज्य की स्थापना और विस्तार करते समय किसी पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार काम नहीं किया।[1]

सर जोशुआ चाइल्ड की योजना

अंग्रेजों की भारत-विजय के संबंध में उपयुक्त धारणा गलत है। भारत की तत्कालीन स्थिति को देखते हुए अनेक अंग्रेज अधिकारियों के मन में यह बात थी कि भारत में अंग्रेजी हुकूमत कायम की जाए। उदाहरण के लिए सत्रहवीं शताब्दी के अंत में ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रधान सर जोशुआ चाइल्ड ने भारत में सदैव के लिए एक विशाल और सुदृढ़ अंग्रेजी राज्य की स्थापना का लक्ष्य अपने सामने रखा था। सर जोशुआ के उत्तराधिकारी इस नीति से सहमत नहीं थे और उन्होंने साम्राज्य-स्थापना की नहीं, वाणिज्य-विस्तार की नीति का ही पालन किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जेम्स मिल की योजना

1746 में जेम्स मिल नामक व्यक्ति ने बंगाल-विजय की एक योजना तैयार की थी। मिल ने बंगाल के नवाब को अपदस्थ करके कंपनी के शासन को स्थापित करने का प्रस्ताव किया था। उसका कहना था कि मुगल दरबार की स्थिति अच्छी नहीं है। उसकी सैनिक शक्ति कमजोर है। उसके पास अपने समुद्र तटों की रक्षा करने के लिए नौ-सेना का सर्वथा अभाव है। हम बड़ी आसानी से बंगाल पर अपना अधिकार कर सकते हैं। इस समय बंगाल मुगलों के एक विद्रोही सरदार के नियंत्रण में है। शेष हिंदुस्तान बंगाल के नवाब की मदद नहीं करेगा। मिल का विचार था कि 1500 से 2000 तक सिपाही इस अभियान के लिए पर्याप्त थे। उसका सुझाव था कि इस अभियान में इंग्लैंड के सम्राट् की सहायता ली जा सकती थी। मिल की योजना पर तत्काल अमल नहीं हुआ लेकिन इसके ग्यारह साल बाद ही क्लाइव ने इस पर अमल किया।[2]

अराजकता की स्थिति

सामान्यतः ब्रिटिश अधिकारी भारत में अपना राज स्थापित करने के इच्छुक नहीं थे। लेकिन मुगल साम्राज्य के पतन के बाद देश में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई। भारत में मुगलों के स्थान पर कोई केंद्रीय राजनीतिक सत्ता उभर कर सामने न आ सकी। भारत-स्थित अंग्रेज अधिकारियों ने इस स्थिति से लाभ उठा कर भारत में धीरे-धीरे अपना राज स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।

पुर्तगालियों का भारत-प्रवेश

यूरोप में पुनर्जागरण के बाद राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ। नवोदित राष्ट्रीय राज्यों को अपनी उन्नति के लिए धन की आवश्यकता थी और धन विदेशी व्यापार के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता था। फलतः इन देशों ने पूर्वी देशों तक पहुंचने वाले समुद्री मार्गों का पता लगाने की कोशिश की। इसी कोशिश में स्पेनी यात्री कोलम्बस (1451-1506) 1492 में अमरीका जा पहुंचा और पुर्तगाली यात्री वास्कोडिगामा ने 1498 में भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित कालीकट बंदरगाह पर अपने पैर रखे। कालीकट के राजा जमोरिन ने पुर्तगालियों को व्यापार करने की सुविधा दे दी। पुर्तगालियों ने पश्चिमी समुद्र तट का सारा व्यापार अपने नियंत्रण में ले लिया।

पुर्तगाल की पराजय

पुर्तगाली करीब एक शताब्दी तक भारत में अपनी शक्ति बनाए रख सके। सोलहवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते हालैंड और इंगलैंड की प्रतिस्पर्धा में पुर्तगाल पराजित हो गया और उसके अधिकार में गोवा, दमण तथा दीव ही शेष रहे।[3]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डचों का प्रवेश

डच हालैंड वासी थे। यह राज्य भी पुर्तगाल की ही भांति यूरोप का छोटा-सा राज्य था। यहां के लोग प्रोटेस्टैंट धर्म को मानने वाले थे। डचों ने 1602 में विदेशों में व्यापार करने के उद्देश्य से डच ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना की। 1604 ई. में डच बेड़ा कालीकट पहुंचा। उन्होंने कालीकट के शासक जमोरिन के साथ समझौता किया। डच भारत से मसाले ले जाकर यूरोप के बाजारों में बेचते थे। डचों में भारत की अपेक्षा इंडोनेशिया की ओर ज्यादा ध्यान दिया और वे वहां के द्वीपों पर अधिकार करने में सफल हुए। अंग्रेजों ने 1759 में बेदरा की लड़ाई में डचों को पराजित किया और उन्हें भारत से खदेड़ दिया।[4]

अंग्रेजों का आगमन

इंगलैंड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम ने लंदन के व्यापारियों को 31 दिसम्बर, 1600 को पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने की अनुमति दी। व्यापारियों ने ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना की। अंग्रेज कंपनी का पहला जहाज हैक्टर 1608 में सूरत के बंदरगाह पर आकर लगा। मुगल सम्राट् जहांगीर ने भारत के पश्चिमी क्षेत्र में कंपनी को अपनी बस्तियां बनाने की अनुमति दे दी। 1615 में ब्रिटिश सरकार का राजदूत सर टामस रो जहांगीर से मिला और उसने जहांगीर से भारत में कोठियां खोलने की अनुमति प्राप्त कर ली। कंपनी के व्यापारिक केंद्रों को फैक्ट्रियां कहा जाता था। इन फैक्ट्रियों में किसी प्रकार की मशीनें नहीं लगाई जाती थीं। सामान रखने के लिए गोदामों का काम करते थे। भारत में बंबई, कलकत्ता और मद्रास अंग्रेजों की गतिविधियों के मुख्य केंद्र थे।

1600 ई. से 1740 ई. तक ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में मुख्य रूप से एक व्यापारिक संस्था के रूप में रही। उसने 1631 में दक्षिणी समुद्र तट पर मछलीपट्टम में अपनी कोठी स्थापित की। 1640 में उसने मद्रास के आस-पास का क्षेत्र खरीद कर वहां सेंट ज़ार्ज नामक किले का निर्माण किया। 1661 में इंग्लैंड के सम्राट् चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाली राजकुमारी कैदरीन से विवाह किया। इस अवसर पर पुर्तगाल नरेश ने बंबई दहेज में इंग्लैंड के सम्राट् को दे दिया। 1686 में कंपनी ने हुगली से 27 मील दूर कलकत्ता की बस्ती बसाई।

कंपनी ने 1652 में शहजादा शुजा से एक फरमान प्राप्त किया जिसके फलस्वरूप उसे 13,000 रुपए वार्षिक के बदले में बंगाल में चुंगी से माफी मिल गई। 1656 में शाह शुजा ने कंपनी को कुछ और सुविधाएं दीं। 1672 में शाइस्ताखां बंगाल का गवर्नर था। उसने भी इस साल कंपनी को कुछ सुविधाएं प्रदान कीं। 1686 में कंपनी का औरंगजेब से मनमुटाव हो गया। औरंगजेब ने नाराज होकर पटना, कासिम बाजार, सूरत और विशाखापट्टनम में कंपनी की फैक्ट्रियां बंद करवा दीं। कंपनी ने मुगल सम्राट से क्षमा मांगी। आगे के पचास सालों तक कंपनी ने सिर्फ व्यापार की ओर ध्यान दिया और वह स्थानीय राजनीति से दूर रही।

1707 में मुगल वंश के अंतिम प्रतापी सम्राट् औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत की राजनीतिक स्थिति बिगड़ गई। इस बिगड़ती स्थिति में ईस्ट इंडिया कंपनी को अपनी शक्ति के प्रसार का अवसर मिला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेज-फ्रांसीसी प्रतिस्पर्द्धा

अंग्रेजों को भारत में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए फ्रांसीसियों से जम कर टक्कर लेनी पड़ी। फ्रांस के राजा लुई चौदहवें ने फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना 1664 में की थी। फ्रांसीसी कंपनी ने 1668 में सूरत में, 1669 में मछलीपट्टनम में और 1674 में पांडिचेरी में व्यापारिक कोठियां स्थापित कीं। फ्रांसीसी कंपनी ने 1721 में मारीशस द्वीप पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। आरंभिक वर्षों में फ्रांसीसी कंपनियों के दो अधिकारियों-मार्टिन और डुमास—ने दक्षिण भारत में कंपनी की साख बढ़ाने में विशेष योग दिया।

1742 में डूप्ले फ्रांसीसी कंपनी का गवर्नर बन कर भारत आया। उसके काल में कर्नाटक की पहली (1746-48) और दूसरी (1748-54) लड़ाईयां हुईं। इन लड़ाइयों में दोनों की कंपनियों ने देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप किया था और उनकी आपसी फूट से लाभ उठाया था। कर्नाटक की तीसरी लड़ाई 1756-63 में हुई जिसमें अंग्रेजों के हाथों फ्रांसीसियों को पराजय का मुंह देखना पड़ा।

मराठा शक्ति का उत्थान और पतन

शिवाजी के नेतृत्व में मराठा साम्राज्य का निर्माण कोई आकस्मिक घटना न थी। महाराष्ट्र के संतों ने मराठों में नैतिक जागृति उत्पन्न की थी। पंद्रहवीं और सोलहवीं सदियों के भक्ति और धर्म सुधार आंदोलनों ने महाराष्ट्र में सामाजिक एकता के बीज बोए। शिवाजी ने बिखरे हुए मराठों को संगठित किया और अनेक दुर्गों पर अधिकार कर लिया। 1659 में उन्होंने मुगल सेनापति अफजल खां की हत्या कर दी और 1660 में दक्षिण के मुगल सूबेदार शाइस्ताखां को पूना से मार भगाया। जयपुर के राजा जयसिंह के हस्तक्षेप से शिवाजी और औरंगजेब के बीच एक संधि हुई और शिवाजी आगरा में मुगल दरबार में उपस्थित हुए। लेकिन शिवाजी को अपने प्रति मुगल सम्राट् का व्यवहार अपमानजनक लगा और वे मुगलों की नजरबंदी से भाग निकले। 16 जून, 1674 को शिवाजी ने रायगढ़ में अपना राज्याभिषेक कराया। 13 अप्रैल, 1680 को शिवाजी का देहावसान हो गया।

शिवाजी की मृत्यु के बाद उनका बड़ा पुत्र शम्भाजी मराठा साम्राज्य का प्रधान बना। 1689 में मुगलों ने उसे बंदी बना लिया और निर्दयतापूर्वक उसका वध कर दिया।

शम्भाजी के बाद राजाराम, ताराबाई और शाहू ने मराठों का नेतृत्व किया। शाहू ने 1713 में बालाजी विश्वनाथ को अपना पेशवा नियुक्त किया। बालाजी विश्वनाथ ने मराठा राज्य संघ की नींव रखी। बालाजी विश्वनाथ के बाद उसका पुत्र पेशवा बाजीराव प्रथम (1720-40) पेशवा बना। बाजीराव प्रथम ने मराठा शक्ति को भारत की प्रमुख शक्ति बना दिया।

पेशवा बाजीराव प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बालाजी बाजीराव पेशवा की गद्दी पर बैठा। उसके समय में अफगान शासक अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किया। बालाजी बाजीराव ने मराठों की एक विशाल सेना अब्दाली को रोकने के लिए दिल्ली की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर भेजी। 14 जनवरी, 1761 को दिल्ली के निकट पानीपत में मराठों और अफगानों का भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में मराठा फौज बुरी तरह पराजित हुई और भारत में मुगलों का स्थान ग्रहण करने का मराठों का स्वप्न सदा के लिए भंग हो गया।

मुगलों का पतन

1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य राजनीतिक, आर्थिक, सैनिक और नैतिक दृष्टियों से निरंतर पतन की ओर अग्रसर होता गया। औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह प्रथम में अपने पूर्ववर्तियों के समान दमखम न था। उसे राजपूतों से समझौता करना पड़ा। पंजाब में बंदा बहादुर के नेतृत्व में सिखों ने विद्रोह कर दिया। दक्षिण में मराठे स्वतंत्र हो गए। उसके समय में मुगल साम्राज्य की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय हो गई। बहादुरशाह के बाद उसका पुत्र जहांदारशाह दिल्ली के तख्त पर बैठा। जहांदारशाह के भतीजे फर्रुखसियर ने कुछ मुस्लिम सूबेदारों की सहायता से बादशाह को गद्दी से हटा दिया और वह खुद गद्दी पर बैठ गया। फर्रुखसियर के शासन काल में सल्तनत की सारी शक्ति दो सैयद बंधुओं के हाथों में थी—सैयद हुसैन अली और सैयद हसन अली। सैयद बंधुओं ने 1719 में फर्रुखसियर को गद्दी से हटाकर थोड़े-थोड़े समय के लिए दो राजकुमारों को गद्दी पर बैठाया। 1719 के अंत में मुहम्मद शाह गद्दी पर बैठा। वह इतिहास में मुहम्मद शाह 'रंगीला' के नाम से प्रसिद्ध है। उसके समय में हैदराबाद, बंगाल, बिहार, उड़ीसा और अवध के स्वायत्तशासी राज्यों का उदय हुआ और नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किए।

अवध

अवध के स्वतंत्र राज्य का निर्माण मीर मोहम्मद अमीन सआदत खां ने किया था। 1739 में उसकी मृत्यु के बाद उसका दामाद सफदरजंग अवध का नया शासक बना। सफदरजंग के उत्तराधिकारी शुजाउद्दौला ने पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठों के विरुद्ध अहमदशाह अब्दाली का साथ दिया। उसने बक्सर की लड़ाई में बंगाल के नवाब मीर कासिम का साथ दिया। लड़ाई में अंग्रेज विजयी हुए और इसके बाद से अवध पर अंग्रेजों का नियंत्रण स्थापित हो गया।

हैदराबाद

हैदराबाद के स्वतंत्र राज्य की स्थापना का श्रेय चिन किलीच खां निजाम-उल-मुल्क आसफजहां को है। निजाम उल मुल्क ने 1724 में हैदराबाद पर अधिकार कर लिया। 1724 से 1748 के बीच निजाम उल मुल्क के मराठों से कई बार संघर्ष हुए लेकिन वह अपनी शक्ति को बराबर बढ़ाता रहा। उसने शुरू में फ्रांसीसियों से सैनिक सहायता ली लेकिन बाद में वह अंग्रेजों के ऊपर निर्भर हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंगाल, बिहार और उड़ीसा

मुगल सम्राट फर्रुखसियर ने 1713 में मुर्शीद कुली खां को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया। 1727 में मुर्शीद कुली खां की मृत्यु के बाद उसका दामाद शुजाउद्दौला असदगंज बंगाल का शासक बना। मुगल सम्राट ने उसे बंगाल के अलावा उड़ीसा और बिहार का भी शासक स्वीकार कर लिया। 1739 में शुजाउद्दौला की मृत्यु के बाद उसका बेटा अलाउद्दीन हैदरजंग बंगाल, बिहार और उड़ीसा का शासक बना। बंगाल के नायब सूबेदार अलीवर्दी खां ने 1740 में अलाउद्दीन हैदरजंग को मार कर तीनों सूबों पर अधिकार कर लिया। बंगाल के कुछ हिंदू व्यापारियों राय दुर्लभ, जगतसेठ, मेहताबराय, स्वरूपचंद्र, राजा रामनारायण और राजा मानिकचंद्र आदि ने अलीवर्दी खां को सहायता दी थी। बदले में नवाब अलीवर्दी खां ने हिंदू व्यापारियों को अपने शासन में ऊंचे पद दे रखे थे। अलीवर्दी खां की 1756 में मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसका नवासा सिराजुद्दौला बंगाल का शासक बना।

सिराजुद्दौला के समय में अंग्रेजों ने बंगाल की राजनीति में घुसपैठ करना शुरू कर दिया था। सिराजुद्दौला ने इसे रोकने की कोशिश की। इसका परिणाम हुआ 1757 का प्लासी युद्ध। इस युद्ध में नवाब के सेनानायकों ने उसके साथ विश्वासघात किया। नवाब की पराजय हुई और बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार स्थापित हो गया।

अंग्रेंजों ने पहले मीर जाफर को और फिर मीर कासिम को बंगाल की गद्दी पर बैठाया। पर दोनों ही शासक अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बने रहे। मीर कासिम ने 1764 में अंग्रेजों से बक्सर में युद्ध किया। इस युद्ध में मीर कासिम पराजित हुआ। 1765 में ईस्ट इंडिया कंपनी का बंगाल के शासन पर पूरी तरह से अधिकार हो गया।

मैसूर

18वीं शताब्दी के बीच में मैसूर पर चिका कृष्णराज नामक हिंदू राजा का शासन था। शासन की समस्त शक्ति देवराज और निजराज नामक दो भाइयों के हाथों में केंद्रित थी। इन दोनों भाइयों के समय में एक अन्य सैनिक अधिकारी हैदर अली का उत्थान हुआ। 1761 में उसने मैसूर का शासन संभाल लिया और वह स्वयं सुल्तान बन बैठा। अठारहवीं सदी के अंत में भारत में अंग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में हैदर अली और उसके बेटे टीपू सुल्तान ने प्रमुख भूमिका निभाई।

हैदर अली की अंग्रेजों से बड़ी लड़ाईयां हुई—मैसूर की पहली लड़ाई (1766-69) और मैसूर की दूसरी लड़ाई (1780-84)। मैसूर की इन दोनों लड़ाईयों में हैदर अली की विजय हुई।

हैदर अली का पुत्र टीपू सुल्तान था। उसने फ्रांसीसियों की मदद से अंग्रेजों को भारत से खदेड़ने की कोशिश की। उसने 1790-92 में अंग्रेजों से मैसूर की तीसरी और 1799 में चौथी लड़ाई लड़ी। अंतिम लड़ाई में वह युद्ध में लड़ते हुए मारा गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब

नारिदशाह और बाद में अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने पंजाब में मुगल सरकार का प्रभाव समाप्त कर दिया। इस स्थिति में सिखों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली और समूचे पंजाब को 12 राज्यों में विभक्त कर लिया जिन्हें वे मिसल कहते थे। ये मिसल भी आपस में लड़ते रहते थे। इन मिसलों में सबसे शक्तिशाली मिसल सिकचुरिया थी जिसका सरदार महासिंह था। महासिंह के पुत्र रणजीत सिंह ने धीरे-धीरे सभी मिसलों पर अधिकार कर समूचे पंजाब को अधीन कर लिया। रणजीत सिंह को अपनी सास सदाकौर से अपने सैनिक अभियानों में सहायता प्राप्त हुई।

रणजीत सिंह के बढ़ते हुए प्रभाव से अंग्रेज आशंकित हुए। उन्होंने 1809 में रणजीत सिंह से अमृतसर की संधि कर ली। इस संधि के अनुसार रणजीत सिंह ने अंग्रेजों को वचन दिया कि वे सतलुज नदी के पूर्व से आगे नहीं बढ़ेंगे। अंग्रेजों ने भी वायदा किया कि वे सतलुज के पश्चिम में आगे नहीं बढ़ेंगे। संधि के अनुसार रणजीत सिंह पूर्व में तो आगे नहीं बढ़े लेकिन उन्होंने उत्तर-पश्चिम में कांगड़ा, अटक, मुल्तान, कश्मीर, पेशावर और लद्दाख पर कब्जा कर लिया। उन्होंने अफगानिस्तान के शासक शाह शुजा से कोहनूर हीरा भी प्राप्त किया। 1839 में रणजीत सिंह की मृत्यु हो गई।

रणजीत सिंह के उत्तराधिकारी अयोग्य थे। उनके सरदार भी अंग्रेजों से मिल गए। 1845-46 में पहला आंग्ल-सिख युद्ध हुआ। इसमें सिख हारे। अंग्रेजों ने लाहौर दरबार के ऊपर अपमानजनक संधि आरोपित की। 1848-49 में दूसरे आंग्ल-सिख युद्ध ने सिखों की कमर पूरी तरह तोड़ दी। लार्ड डलहौजी ने पंजाब को कंपनी शासन के अधीन कर लिया।

लार्ड डलहौजी की बेदखली की नीति

1848 में लार्ड डलहौजी भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के गवर्नर जनरल बनकर आए। उन्होंने लड़ाई और विजय प्राप्ति द्वारा पंजाब (1848), सिक्किम (1850) और बर्मा (1852) पर अधिकार कर लिया।

लार्ड डलहौजी ने कई देशी राज्यों को हड़पने के लिए एक नई नीति प्रस्थापित की—बेदखली की नीति। इस नीति का अभिप्राय था कि जिस शासक का कोई वैध उत्तराधिकारी न हो, उसके राज्य पर कंपनी का अधिकार हो सकता था। डलहौजी ने इस सिद्धांत के प्रयोग द्वारा सतारा (1848), जैतपुर और संभलपुर (1850), उदयपुर (1852), झांसी (1853) और नागपुर (1854) पर कब्जा कर लिया।

बरार पर अधिकार

डलहौजी ने 1853 में बरार पर अधिकार कर लिया। इसका कारण यह था कि निजाम हैदराबाद में शांति और व्यवस्था कायम रखने के लिए निजाम के खर्च पर कंपनी की फौज रहती थी। निजाम इसकी रकम कंपनी को अदा करता था। 1853 में वह यह रकम कंपनी को अदा न कर सका। कंपनी ने इस रकम के बदले में बरार छीन लिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवध पर अधिकार

लार्ड डलहौजी ने अवध के नवाब वाजिद अली शाह पर कुशासन का अरोप लगाया और 1856 में उस पर अधिकार कर लिया।

1857 का स्वातंत्र्य-समर

अंग्रेजों की भारत विजय में 1857 के स्वातंत्र्य-समर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 1857 का विप्लव वास्तव में भारत का पहला राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम था या वह कुछ असंतुष्ट सैनिकों का विद्रोह मात्र था—यह आधुनिक भारतीय इतिहास का एक विवादास्पद प्रश्न है। अधिकांश अंग्रेज इतिहासकारों ने इस युद्ध को सैनिक विद्रोह मात्र माना है। काये, मालेसन, ट्रेवेलीन, लारेन्स, होम्स आदि अंग्रेज इतिहासकारों ने 1857 के विद्रोह को—सैनिकों का विद्रोह कहा है जिन्हें जनसाधारण का समर्थन प्राप्त नहीं था। उस समय के अनेक प्रत्यक्षदर्शियों—मुंशी जीवनलाल, मोइनुद्दीन, दुर्गादास बंदोपाध्याय, सर सैयद अहमद खां और मिर्जा गालिब—ने भी 1857 के युद्ध को जनसमर्थित, सुनियोजित और राष्ट्रीय भावनाओं से युक्त, सशस्त्र प्रयत्न न मान कर कुछ असंतुष्ट सैनिकों, रजवाड़ों और सामंतवादी तत्त्वों की प्रक्रिया कहा है। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने 1857 की लड़ाई के स्वरूप का विश्लेषण करने के उपरांत निष्कर्ष निकाला है कि ''1857 का तथाकथित प्रथम राष्ट्रीय स्वतंत्रता युद्ध न तो प्रथम है, न राष्ट्रीय है और न स्वतंत्रता युद्ध है।''[5]

इतिहासकारों का एक दूसरा वर्ग 1857 के युद्ध को भारत का पहला स्वतंत्रता संग्राम मानता है। प्रसिद्ध मराठा देशभक्त और क्रांतिकारी वीर सावरकार ने अपनी पुस्तक इंडियन वार ऑफ इंडिपेंडेंस, *1857* में यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि 1857 का आंदोलन अंग्रेजों के विरुद्ध कोरा विद्रोह नहीं था, बल्कि स्वाधीनता संघर्ष था। सावरकर के बाद प्रायः सभी राष्ट्रवादी नेताओं ने 1857 के आंदोलन को राष्ट्रवादी माना है और उससे प्रेरणा ली है। डॉ. पट्टाभि सीतारामय्या, अशोक मेहता, जवाहरलाल नेहरू और नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने 1857 की घटनाओं को स्वतंत्रता युद्ध की घटनाएं माना है। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई जनमानस में एक ऐसी वीरांगना के रूप में प्रतिष्ठित हैं जिन्होंने भारत की अस्मिता की रक्षा के लिए विदेशी शत्रुओं से लड़ते हुए अपने प्राणों का विसर्जन किया। सुभाष चंद्र बोस ने आजाद हिंद फौज में स्त्रियों की जो पलटन तैयार की थी उसका नाम झांसी की रानी रेजीमेंट रखा था। इस पलटन के प्रशिक्षण केंद्र का उद्घाटन करते समय उन्होंने झांसी की रानी के अदम्य शौर्य की प्रशंसा की थी। जिस समय झांसी की रानी ने अंग्रेजों के विरुद्ध तलवार उठाई थी, उनकी आयु सिर्फ 23 वर्ष की थी। हिंदी कवियित्री सुभद्राकुमारी चौहान की रानी झांसी विषयक कविता लाखों-करोड़ों लोगों की जबान पर रही है। झांसी की रानी के ऊपर वृंदावनलाल वर्मा का उपन्यास भी साहित्य की शाश्वत निधि है। 1857 की क्रांति के अधिकांश नेता मंगल 'पांडे', बहादुरशाह जफर, बाबू कुंवरसिंह, बेगम हजरत महल, नाना साहिब, तांत्या टोपे, अमीमुल्ला खान, मौलवी अहमदुल्ला आदि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अग्रिम नेताओं के रूप में याद किए जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रांति के कारण

1857 की क्रांति के अनेक कारण थे—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक। 1857 का विस्फोट इतिहास की एक बड़ी घटना थी और वह अचानक ही घटित नहीं हुई। उसकी पृष्ठभूमि कई दशकों से कहना चाहिए प्लासी-युद्ध के बाद से ही तैयार हो रही थी। प्लासी-युद्ध के बाद भारत में अंग्रेजों की शक्ति बढ़ती रही थी लेकिन समय-समय पर देश के विभिन्न भागों में उसका प्रतिरोध भी होता रहा था।[6] प्रतिरोधों की इस कड़ी में 1857 का प्रतिरोध सबसे व्यापक और सशक्त था।

लार्ड वैलेजली (1798-1805) ने देशी रियासतों को अपने वश में करने के लिए सहायक संधि (सब्सिडियरी एलायंस) की पद्धति का उपयोग किया। इस संधि की मुख्य विशेषताएं थीं—

1. देशी रियासत अपने विदेशी संबंधों को कंपनी के नियंत्रण में छोड़ देगी। यदि उसे दूसरे राज्यों के साथ बातचीत करने की ज़रूरत पड़े तो वह यह काम कंपनी के माध्यम से करेगी।
2. यदि कोई देशी राज्य अपनी सेना रखेगा, तो वह सेना ब्रिटिश अफसरों के नियंत्रण में रहेगी। राज्य उस सेना के रख-रखाव के लिए अपनी रियासत का कुछ भाग कंपनी को सौंप देगा। इस सौंपे हुए भाग पर कंपनी की पूरी प्रभुता होगी।
3. राज्य को अपनी राजधानी में एक ब्रिटिश रेजीडेंट रखना पड़ेगा।
4. कंपनी राज्य के आंतरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी।
5. कंपनी बाहरी आक्रमणों से राज्य की रक्षा करेगी।

भारत के अनेक राज्यों ने सहायक संधि पर हस्ताक्षर किए। उनमें से मुख्य थे—हैदराबाद (1798, 1800), मैसूर (1799), तंजौर (1799), अवध (1801), पेशवा (1801), बरार (1803), सिंधिया (1804)। जोधपुर, जयपुर, मछेरी, बूंदी और भरतपुर ने भी इस संधि को स्वीकार कर लिया था।

डलहौजी की बेदखली की नीति वैलेजली की सहायक नीति से एक कदम आगे थी। डलहौजी ने बेदखली की नीति के द्वारा सतारा, संभलपुर, झांसी और नागपुर आदि रियासतों को कंपनी के नियंत्रण में ले लिया। उसकी इस कार्यवाही ने भारतीय शासकों के मन में कंपनी के प्रति संदेह और अविश्वास उत्पन्न कर दिया।

कंपनी ने पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब की पेंशन बंद कर दी। उसने अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह द्वितीय के साथ अपमानजनक व्यवहार किया। लोगों को यह पसंद न था।

ईस्ट इंडिया कंपनी की आर्थिक नीतियों ने भी जनता के मन में असंतोष पैदा किया। 18वीं शताब्दी में इंगलैंड के उद्योगों को सुरक्षित रखने की दृष्टि से भारत की निर्मित वस्तुओं के आयात पर प्रतिबंध लग गया। इंगलैंड में निर्मित माल तो आसानी से भारत में आ सकता था लेकिन भारत में निर्मित माल उतनी आसानी से इंगलैंड नहीं जा सकता था। फल यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ कि औद्योगिक दृष्टि से भारत पिछड़ता गया। भारत के घरेलू उद्योग-धंधे धीरे-धीरे नष्ट हो गए। सरकार द्वारा आरोपित लगान की मात्रा इतनी ज्यादा थी कि किसान उसे चुकाने में असमर्थ था। किसानों को लगान चुकाने के लिए साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था। साहूकार ऋणों के बदले में किसानों की जमीन हड़प लेते थे।

अंग्रेज शासक भारतीयों को अपमान की दृष्टि से देखते थे। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से भारतीय परंपराएं और रीति-रिवाज नष्ट होने लगे। ब्रिटिश काल में भारत में मध्य वर्ग का उदय हुआ। डॉक्टर, वकील, शिक्षक, सरकारी कर्मचारी इस वर्ग से संबंधित थे। योग्यता में यह वर्ग अंग्रेजों से कम न था, लेकिन उसे हेय दृष्टि से देखा जाता था।[7]

ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1813 के बाद ईसाई मिशनरियों को भारत आने और अपने धर्म का प्रचार करने की सुविधा दे दी थी। इन ईसाई मिशनरियों को अपने काम में ब्रिटिश शासकों का सहयोग भी मिलता था। ईसाई मिशनरी अक्सर हिंदू धर्म और इस्लाम की निंदा करते थे। वे गरीब जनता को आर्थिक प्रलोभन देकर ईसाई बनाते थे।

ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना में भी असंतोष था। भारतीय सिपाहियों और अंग्रेज सिपाहियों की स्थिति में अंतर था। अंग्रेज सिपाही ऊंचे समझे जाते थे और भारतीय सिपाही नीचे। ईस्ट इंडिया कंपनी ने अधिकांश देशी रजवाड़ों को भारतीय सैनिकों की मदद से जीता था। सैनिकों की समझ में धीरे-धीरे यह बात आने लगी की कंपनी ने 'उनकी ताकत से ही उनके शासकों को पददलित किया था।' ज्यों-ज्यों कंपनी के राज्य में वृद्धि होती गई, सैनिकों को दूर-दराज के इलाकों में भेजा जाने लगा। 1856 में लार्ड कैनिंग ने यह नियम बना दिया कि सैनिकों को नौकरी के लिए कहीं भी भेजा जा सकता है। सैनिकों की मुश्किल यह थी कि यदि वे भारत की धरती से बाहर जाते थे तो उन्हें उनकी जाति से बाहर कर दिया जाता था।

तात्कालिक कारण

1857 के विप्लव का तात्कालिक कारण था चर्बी वाले कारतूसों की घटना। इस समय भारत में कुछ ऐसी रायफलें आईं जिनमें एक विशेष प्रकार का कारतूस इस्तेमाल होता था। इस कारतूस को चिकना करने के लिए गाय या सूअर की चर्बी काम में लाई जाती थी। कारतूस को रायफल में डालने से पहले उसकी टोपी को मुंह से काटना पड़ता था। जब भारतीय सिपाहियों को इसका पता लगा तो वे भड़क गए। 29 मार्च, 1857 को मंगली पांडे ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया। उसने अपने एक अंग्रेज अधिकारी को मार डाला। मंगल पांडे को बंदी बनाकर मौत की सजा दी गई। लेकिन उसकी लगाई हुई चिंगारी शीघ्र ही सारे उत्तर भारत में फैल गई।

विद्रोह का प्रसार

10 मई, 1857 को मेरठ की एक सैनिक टुकड़ी ने विद्रोह किया। इस टुकड़ी ने जेल से अपने साथियों को मुक्त किया और अपने अंग्रेज अफसरों को मौत के घाट उतार दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11 मई, 1857 को मेरठ के विद्रोही सैनिक दिल्ली पहुंचे। उन्होंने मुगल सम्राट बहादुरशाह द्वितीय को अपना नेता घोषित किया। मुगल सम्राट क्रांति का नेतृत्व करने के लिए तैयार न था लेकिन सैनिकों की जबरदस्ती के आगे उसे झुकना पड़ा। शीघ्र ही गदर का समाचार समूचे उत्तर भारत और मध्य भारत में फैल गया। लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, बरेली, बनारस, झांसी आदि स्थान विद्रोह का मुख्य केंद्र थे। दक्षिण भारत विद्रोह से अछूता रहा।

अंग्रेजों ने विद्रोह को कुचलने में अपनी पूरी ताकत लगा दी। सितंबर, 1857 में दिल्ली को अंग्रेजों ने फिर से अपने कब्जे में कर लिया। मुगल सम्राट के दो पुत्रों तथा एक पोते को सरेआम कत्ल किया गया। सम्राट हुमायूं के मकबरे में छिप गया था। उसे वहां गिरफ्तार कर लिया गया। उस पर मुकदमा चला। इसके बाद उसे तथा उसकी रानी जीनतमहल को रंगून निर्वासित कर दिया।[8]

4 जून, 1857 को लखनऊ में क्रांति का ज्वालामुखी फूटा। निर्वासित नवाब वाजिद अली शाह की बेगम हजरत महल ने क्रांति का नेतृत्व किया। बेगम को अपने तालुकेदारों तथा प्रजा से भी सहायता मिली। हेनरी लारेन्स, ब्रिगेडियर इन्लिस, हैवलाक, आउटरम और सर कोलिन कैम्पबेल ने विद्रोहियों का डट कर मुकाबला किया और मार्च 1858 तक लखनऊ पर पुनः कब्जा कर लिया।

विद्रोहियों ने 5 जून, 1857 को कानपुर पर कब्जा कर लिया। उन्होंने नाना साहब को पेशवा घोषित किया। अंग्रेजों ने 6 दिसंबर को कानपुर पर फिर से कब्जा कर लिया। नाना के सेनापति तांत्या टोपे बच कर निकल गए तथा झांसी की रानी से जा मिले।

झांसी की सेना ने जून, 1857 को विद्रोह किया और रानी लक्ष्मीबाई को राज्य की शासक घोषित किया। रानी ने मर्दाना वेष में स्वयं युद्ध क्षेत्र में अपनी सेना का नेतृत्व किया। 6 अप्रैल, 1858 को अंग्रेज सेनापति ह्यू रोज़ ने झांसी पर कब्जा कर लिया। रानी अपने कुछ सहयोगियों के साथ झांसी छोड़ कर कालपी की ओर बढ़ी। यहां बांदा के नवाब और नाना के भतीजे राव साहब ने रानी का साथ दिया। रानी, राव और तांत्या टोपे ने ग्वालियर के किले पर अधिकार कर लिया। ग्वालियर का शासक सिंधिया आगरा भाग गया।

ग्वालियर पर अधिकार करने के बाद रानी झांसी और उसके सहयोगियों ने अंग्रेजों का मुकाबला करने की विशेष तैयार नहीं की। 15 दिन बाद ही सर ह्यू रोज़ ने ग्वालियर पर हमला किया। रानी झांसी लड़ते हुए वीरगति को प्रापत हुई।[9] तांत्या टोपे ने अंग्रेजों का मुकाबला किया लेकिन पराजित हुए और भाग निकले। इसके बाद वह छापामार शैली में क्रांति की आग भड़काते रहे। वह गुप्तवेश में रहते हुए विद्रोह का संगठन कर रहे थे। अंग्रेजों ने उन पर भारी इनाम रखा था। इनाम के लालच में उनके एक विश्वस्त ने उन्हें अंग्रेजों के हाथ पकड़वा दिया। उस पर मुकदमा चला और 18 अप्रैल, 1859 को उसे फांसी दे दी गई।

दिल्ली, लखनऊ, कानपुर और झांसी तो विद्रोह के प्रमुख गढ़ थे लेकिन विद्रोह की लपटें कुछ अन्य स्थानों में भी उठीं। ये स्थान थे : इंदौर, धर, नसीराबाद, नीमच, ढाका, चिटगांव, दानापुर, आरा। पंजाब में विद्रोह नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि अंग्रेजों ने पंजाब को अपने अधिकार में करने के बाद सैनिकों को निहत्था कर दिया था और सिखों को भी मुगल सम्राट के प्रति सहानुभूति नहीं थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रांति की असफलता

1857 की क्रांति के असफल होने के अनेक कारण थे। वह समय से पहले शुरू हो गई थी। योग्य नेतृत्व का अभाव था। सिखों, गोरखों और देशी नरेशों ने क्रांति का साथ नहीं दिया। वे अंग्रेजों के प्रति स्वामिभक्त बने रहे और उन्होंने विद्रोह का दमन करने में अंग्रेजों का साथ दिया। क्रांति सैनिकों के पास साधनों का अभाव था। उनके लक्ष्यों में भी साम्य न था। मुसलमान अंतिम मुगल सम्राट की प्रतिष्ठा को बहाल करना चाहते थे। हिंदू शासक अपने-अपने खोए हुए अधिकारों को प्राप्त करने के इच्छुक थे।

क्रांति का प्रभाव

1857 की क्रांति ने भारत में कंपनी शासन का अंत कर दिया। अब भारत का शासन सीधे 'क्राउन' के नियंत्रण में आ गया। इस विद्रोह के परिणामस्वरूप अंग्रेजों का भारतीय सैनिकों पर विश्वास जाता रहा। उन्होंने जातीय और सांप्रदायिक आधार पर सेना का पुनर्गठन किया और उसमें अंग्रेजों का वर्चस्व रखा। 1857 के बाद ब्रिटिश सरकार ने पहले हिंदुओं के प्रति और बाद में मुसलमानों के प्रति पक्षपात की नीति अपनायी तथा देश में 'फूट डालो और राज करो' नीति का विष बृक्ष बोया। सरकार अंग्रेज व्यापारियों को भारत में आने तथा अपनी पूंजी लगाने के लिए प्रोत्साहित करने लगी। 1857 की क्रांति का एक परिणाम यह भी हुआ कि सरकार भारतीयों को शासन में भाग लेने का अवसर देने लगी।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा

विप्लव शांत होने के बाद वायसराय लार्ड कैनिंग ने 1 नवंबर, 1858 को इलाहाबाद में एक भव्य दरबार किया जिसमें उन्होंने महारानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र को पढ़ कर सुनाया। इस घोषणा पत्र में कहा गया था कि भारत में अंग्रेजों का जितना राज है, उससे अधिक नहीं बढ़ाया जाएगा। देशी नरेशों तथा नवाबों के साथ कंपनी के समझौतों का पालन किया जाएगा। सरकार धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन करेगी। भारतीयों के साथ समानता का व्यवहार किया जाएगा और उनके कल्याण के लिए कार्य किए जाएंगे। लोगों के प्राचीन रीति-रिवाजों की रक्षा की जाएगी। सरकारी नौकरियों में किसी के साथ पक्षपात नहीं होगा। जिन विद्रोहियों ने किसी अंग्रेज की हत्या नहीं की है, उन्हें क्षमादान मिलेगा। महारानी विक्टोरिया का यह घोषणा पत्र 1917 तक ब्रिटिश सरकार की भारत-विषयक नीति का आधार बना रहा।[10]

सारांश

भारत पर अंग्रेजों का विजय इतिहास का एक महान आश्चर्य है। अंग्रेज भारत में व्यापारी बन कर आए थे लेकिन बन बैठे यहां के शासक।

भारत पर अंग्रेजों की विजय के बारे में यह धारणा गलत है कि अंग्रेजों ने भारत पर अनायास ही विजय प्राप्त कर ली और उनकी इस कार्यवाही के पीछे कोई पूर्व-निश्चित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योजना नहीं थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के दो अधिकारियों—सर जोशुआ चाइल्ड और जेम्स मिल ने बंगाल विजय की एक योजना तैयार की थी।

मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भारत में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। भारत-स्थित अंग्रेज अधिकारियों ने इस स्थिति से लाभ उठा कर भारत में धीरे-धीरे अपना राज स्थापित किया।

भारत में अंग्रेजों के अलावा तीन अन्य यूरोपीय शक्तियों—पुर्तगालियों, डचों और फ्रांसीसियों—ने प्रवेश किया। अंतिम युद्ध अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच हुआ, जिसमें अंग्रेज विजयी हुए।

अंग्रेजों ने सबसे पहले बंगाल में अपना प्रभाव बढ़ाया। 1757 की पलासी की लड़ाई में अंग्रेजों ने बंगाल के मुस्लिम शासक सिराजुद्दौला को पराजित किया। सिराजुद्दौला के बाद अंग्रेजों ने मीर जाफर और मीर कासिम को बंगाल की गद्दी पर बैठाया लेकिन ये दोनों शासक अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली बने रहे।

अंग्रेजों की बंगाल विजय के बाद क्रमशः मराठों, अवध, हैदराबाद और मैसूर के शासकों को अपने अधीन किया तथा पंजाब को अपने राज में मिलाया। लार्ड वैलेजली ने सहायक संधि और लार्ड डलहौजी ने बेदखली की नीति के द्वारा अनेक देशी राज्यों को अपने नियंत्रण में कर लिया।

अंग्रेजों की भारत विजय में 1857 के स्वातंत्र्य-समर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 1857 का विप्लव वास्तव में भारत का पहला राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संग्राम था या वह कुछ असंतुष्ट सैनिकों का विद्रोह मात्र था, यह आधुनिक भारतीय इतिहास का एक विवादास्पद प्रश्न है। अधिकांश अंग्रेज इतिहासकारों ने इस युद्ध को सैनिक विद्रोह कहा है। लेकिन वी. डी. सावरकर और अन्य राष्ट्रवादी नेता इस विद्रोह को स्वतंत्रता-संग्राम मानते हैं। इस युद्ध के नायकों में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई जनमानस में एक ऐसी वीरांगना के रूप में प्रतिष्ठित हैं जिन्होंने भारत के सम्मान की रक्षा के लिए विदेशी शत्रुओं से लड़ते हुए युद्ध भूमि में अपने प्राणों का विसर्जन किया।

1857 की क्रांति के अनेक कारण थे—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक। इस विद्रोह का तात्कालिक कारण था—चर्बी वाले कारतूसों की घटना। क्रांति की शुरुआत 10 मई, 1857 को मेरठ से हुई। इसके मुख्य केंद्र थे : दिल्ली, कानपुर, लखनऊ और झांसी। क्रांति के मुख्य नेता थे—अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर, बेगम हजरतमहल, नानासाहेब, तांत्या टोपे और रानी लक्ष्मीबाई।

1857 की क्रांति असफल हुई। इसकी असफलता के अनेक कारण थे। वह समय से पहले शुरू हो गई। इसमें योजना, कुशल नेतृत्व और साधनों का अभाव था। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच कोई समान लक्ष्य नहीं था।

अंग्रेजों ने क्रांति को क्रूरता से कुचल दिया। क्रांति के बाद भारत का शासन सीधे ब्रिटिश सम्राट के नियंत्रण में आ गया।

1 नवंबर, 1858 को महारानी विक्टोरिया ने अपने घोषणा-पत्र में भारतीयों को सुशासन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का आश्वासन दिया। विक्टोरिया का यह घोषणा-पत्र 1917 तक भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति का आधार बना रहा।

संदर्भ और पाद टिप्पणियां

1. "Our acquisition of India was made blindly. Nothing great that has ever been done by Englishman was done so unintentionally and so accidentally, as the conquest of India."
—John Seeley
2. "Mill's theory was never put to practical test, but it is undesirable that the anticipated to a large degree, the bold policy which was carried to a triumphant conclusion by Clive only eleven years later." R.C. Majumdar, *History of the Freedom Movement in India.* Vol. I, Calcutta, 1962, p. 9.
3. पुर्तगालियों ने अपनी तलवार के बल पर वाणिज्य की रक्षा की। उनके एक हाथ में तलवार रहती थी और दूसरे हाथ में क्रास। उनकी स्थिति का वर्णन करते हुए ओ'माले नामक इतिहासकार ने लिखा है :
"They came to India with a crucifix in one hand and a sword in the other, and the skal spirit of their rule was typified by a figure sculptured on the Viceroy's arch at Goa—that of a Saint whose foot was on the neck of a prostrate Indian and whose hand held a drawn sword pointing towards India." O' Malley, L.S.S. (Ed.), *Modern India and The West,* p. 44.
4. डचों का ध्यान प्रादेशिक विस्तार की ओर न होकर व्यापार बढ़ाने की ओर था। लेकिन व्यापार की सुरक्षा के लिए उन्हें भी प्रदेशों की जरूरत पड़ी। इस संबंध में लार्ड पामर्स्टन ने ठीक ही कहा था :
"The original settlers began with a factory, the factory grew into a fort, the fort expanded into a district, and the district into a province." Lord Parlemstor as quoted in R.C. Majumdar, *op. cit.,* p. 5.
5. "On the whole it is difficult to avoid the conclusion that the so-called First National War of Independence in 1857 is neither First, nor National War, nor a War of Independence." R.C. Majumdar, *History of the Freedom Movement in India,* Vol. I, Calcutta, 1962, p. 258.
6. 1857 से पहले अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए जो अनेक प्रयत्न किए गए, उनके लिए देखिए : K.K. Datta, *Anti-British Plots and Movement before 1857* और *Santhal Rebellion* R.C. Majumdar (Ed.) R.C. Majumdar, *History and Culture of Indian People.* Vol. IX; and S.B. Chaudhri, *Civil Disturbances under British Rule.*
7. भारतीयों के प्रति अंग्रेजों के दुव्यवहार के बारे में सर सैयद अहमद खां ने लिखा है :
"Their pride and arrogance led them to consider the natives of India as undeserving the name of human beings...such treatment was more offensive to Muslims who for centuries past have received honour and enjoyed special immunities in Hindusthan". Quoted by R.C. Majumder, *op. cit.,* p. 110.
8. 1857 के मुक्ति संग्राम में बहादुरशाह जफर की भूमिका के लिए देखिए : धर्मेन्द्रनाथ, *दिल्ली और आजादी,* दिल्ली, 1990, पृ. 13-43।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. "Clad in the attire of man and mounted on horseback, the Rani of Jhansi might have been seen animating her troops throughout the day. When inch by inch the British troops passed through the pass, and when reaching its summit Smith ordered the hussars to charge the Rani of Jhansi boldly fronted the British horsemen. When her comrades failed her, her horse, inspite of the efforts, carried her along with the others. With them she might have escaped but that her horse, crossing the canal near the (Phulbagh) cantonment, stumbled and fell. A hussar, close upon her track, ignorant of her sex and rank cut her down. She fell to rise no more." Malleson, quoted in R.C. Majumdar, *op. cit.*, p. 219. ब्रिटिश सेनापति सर ह्यू रोज ने झांसी की रानी को 'विद्रोहियों में सबसे अच्छा और सबसे बहादुर सैनिक नेता' कहा था।

10. महारानी विक्टोरिया की घोषणा के अंत में कहा गया था :
"In their properity will be our strength, in their contentment our security and in their gratitude our bet reward."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 4

युगीन परिस्थितियां

अट्ठारहवीं सदी का भारत

अट्ठारहवीं सदी के भारत में राजनीतिक अस्थिरता थी लेकिन सामान्य रूप से सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां परंपरा के अनुरूप बनी रहीं। सामाजिक व्यवस्था के शिखर पर सम्राट् था। उसके नीचे अमीर-उमरा थे जो राग-रंग में डूबे रहते थे। सामाजिक व्यवस्था में सबसे नीचे किसान और कारीगर थे। वे गरीब थे और गांवों में रहते थे। मध्य वर्ग में छोटे-छोटे व्यापारी और दुकानदार थे। देश के विभिन्न भागों में लोगों की आय में अंतर था और वस्तुओं की कीमतों में भी भिन्नता थी।

इस समय हिंदुओं में जाति प्रथा पाई जाती थी। विवाह, वेशभूषा, भोजन और व्यवसायों पर उसका प्रभाव था। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा आरंभ की गई नीतियों के कारण कुछ लोग अपनी जातियों से बाहर के पेशे अपनाने के लिए विवश हो गए थे।

स्त्रियों को घर और समाज में आदर का स्थान प्राप्त था लेकिन उन्हें आधुनिक अर्थों में समानता नहीं मिली थी। हिंदू समाज मलाबार और कुछ पिछड़े वर्गों को छोड़ कर अधिकतर पितृसत्तात्मक था। परिवार में पुरुष मुखिया की इच्छा को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता था। यद्यपि कुछ हिंदू और मुस्लिम महिलाओं ने राजनीति, प्रशासन तथा विद्वत्ता के क्षेत्रों में उल्लेखनीय सफलताएं प्राप्त की थीं लेकिन समाज में स्त्री को उसका उचित स्थान प्राप्त नहीं था। पर्दा-प्रथा का हिंदू और मुसलमान दोनों जातियों की स्त्रियों में प्रचलन था। बाल-विवाह का आम रिवाज था। उत्तर प्रदेश और बंगाल के कुलीन परिवारों में बहु-पत्नी प्रथा का चलन था। एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर सकता था।[1] विधवाओं का पुनर्विवाह प्रायः नहीं होता था। पेशवाओं ने विधवाओं के पुनर्विवाह पर एक कर लगा रखा था जिसे **मतदाम** कहते थे। बंगाल, मध्य भारत और राजपूताना की उच्च जातियों में सती प्रथा पाई जाती थी जिसके अनुसार स्त्रियां अपने मृत पति की चिता में जल जाती थीं। पेशवाओं ने अपने राज्य में सती प्रथा पर पाबंदी लगाने की कोशिश की थी लेकिन इसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं मिल सकी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दास प्रथा

अट्ठारहवीं सदी के भारत में एक और सामाजिक बुराई पाई जाती थी और वह थी दास प्रथा। दासों की दो श्रेणियां थीं—घरेलू दास और कृषक दास (Serfs)। कृषक दास जमीन से जुड़े हुए थे। जब जमीन का मालिक अपनी जमीन किसी दूसरे आदमी को बेचता था, तब कृषक दास भी पुराने मालिक को छोड़ कर नए मालिक के पास चले जाते थे। यूरोपीय यात्रियों और प्रशासकों ने दास प्रथा के व्यापक चलन के बारे में अनेक साक्ष्य दिए हैं। कुछ लोग आर्थिक विपन्नता, अकाल और प्राकृतिक आपदाओं के कारण अपने बच्चों को दास बना कर बेच देते थे। राजपूत, खत्री और कायस्थ घर के कामकाज के लिए दासियों को रखते थे। तथापि भारत में दासों के साथ यूरोप और अमरीका के दासों की अपेक्षा अच्छा व्यवहार किया जाता था।

भारत में यूरोपीय जातियों विशेष कर डचों, पुर्तगालियों तथा अंग्रेजों के आने पर दास-प्रथा को नया आयाम मिला। बंगाल, बिहार और आसाम में दासों के क्रय-विक्रय के अनेक केंद्र थे। यूरोपीय कंपनियां दस साल की लड़की को 5 से लेकर 15 रुपए तक में खरीदती थीं। 16 साल के लड़के की कीमत 12 से 20 रुपए तक होती थी। वयस्क दास 15 से लेकर 20 रुपए तक में बेचा जाता था।

शिक्षा

भारत में शिक्षा के प्रति सदा से आदर रहा है। शिक्षा का अर्थ संस्कृति रहा है, साक्षरता नहीं। व्यावसायिक शिक्षा व्यक्ति के वर्ण अथवा पारिवारिक परंपराओं पर आधारित थी। हिंदू और मुसलमान दोनों ही जातियों में शिक्षा का धर्म से घनिष्ठ संबंध था।[2]

बंगाल और बिहार में संस्कृत उच्च शिक्षा के केंद्रों को **टोल** कहते थे। नाडिया, काशी (बनारस), तिरहुत (मिथिला) और उत्कल (उड़ीसा) उच्च संस्कृत शिक्षा के केंद्र थे। फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने काशी को 'भारत का एथेंस' कहा है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक लोग काशी की पाठशालाओं में जाकर अध्ययन करते थे। अरबी और फारसी में उच्च शिक्षा के केंद्र मदरसा कहलाते थे। फारसी राजभाषा थी। इसलिए हिंदू और मुसलमान दोनों ही उसका अध्ययन करते थे। पूर्वी भारत में पटना फारसी शिक्षा का प्रतिष्ठित केंद्र था। कुरान तथा मुस्लिम धर्मशास्त्र का अध्ययन करने के इच्छुक लोग अरबी का अध्ययन करते थे।

अट्ठारहवीं शताब्दी में प्राथमिक शिक्षा का अच्छा-खासा प्रसार था। हिंदू प्राथमिक शिक्षा के केंद्र पाठशाला कहलाते थे और मुस्लिम प्राथमिक शिक्षा के केंद्र मकतब। इन प्राथमिक शिक्षा केंद्रों की पाठ्य-चर्या में पढ़ना-लिखना और हिसाब-किताब सिखाया जाता था। धर्म के प्रति श्रद्धा, बड़ों का आज्ञापालन, सचाई और ईमानदारी पर आग्रह, ये सद्गुण विद्यार्थियों के मन में कूट-कूट कर भर दिए जाते थे। शिक्षा अधिकतर ऊंची जातियों के लोगों तक सीमित थी। स्त्री शिक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापत्य

अट्ठारहवीं शताब्दी में दिल्ली के मुगल दरबार की यह स्थिति नहीं रही थी कि वह कलाकारों को संरक्षण दे सके। इसलिए कलाकार हैदराबाद, लखनऊ, मुर्शिदाबाद और जयपुर जैसी नव-स्थापित राज्य-राजधानियों में चले गए। लखनऊ के आसफउद्दौला ने 1784 में मुहर्रम मनाने के लिए बड़े इमामबाड़े का निर्माण करवाया। सवाई जयसिंह (1686-1743) ने गुलाबी नगर जयपुर बनवाया। उन्होंने भारत के विभिन्न नगरों में पांच वैधशालाओं (Astronomical Observatories) का भी निर्माण किया। उनकी बनवाई हुई तीन वैधशालाएं विशेष प्रसिद्ध हैं—जयपुर में, दिल्ली में और बनारस में। अमृतसर में महाराजा रणजीतसिंह ने स्वर्णमंदिर का अलंकरण किया। भरतपुर के राजा सूरजमल ने डीग में शानदार राजमहल का निर्माण किया।

ईसाई मिशनरियों की देन

अट्ठारहवीं सदी में उर्दू, हिंदी, बंगाली, असमिया, पंजाबी, मराठी, तेलुगु और तमिल जैसी प्रादेशिक भाषाओं का उत्कर्ष हुआ। इसी काल में ईसाई मिशनरियों ने प्रिंटिंग प्रेसों की स्थापना की और देश भाषाओं में बाइबिल के अनुवादों, अनेक व्याकरण ग्रंथों और कोशग्रंथों का प्रकाशन हुआ। बाप्टिस मिशनरियों ने सेरामपुर में जिस प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना की थी उसने बंगला भाषा में बाइबिल का अनुवाद छापा।

अर्थव्यवस्था

अट्ठारहवीं सदी के शुरू में भारतीय अर्थव्यवस्था की बुनियादी इकाई गांव था। गांव आत्मनिर्भर थे और वे स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी साज-सामान पैदा कर लेते थे। राज्य से उसका एक ही संपर्क था—भूमिकर की अदायगी। शासकों और राजवंशों में परिवर्तन होते रहते थे लेकिन गांवों का जीवन यथावत् चलता रहता था। इन गांवों ने देश को आर्थिक और सामाजिक स्थिरता प्रदान की लेकिन उनके कारण देश में आर्थिक जड़ता भी पैदा हुई।

भारत की दस्तकारियां सारे विश्व में प्रसिद्ध थीं। ढाका, अहमदाबाद और मछलीपाटम सूती वस्त्रों के लिए विख्यात थे। मुर्शिदाबाद, आगरा, लाहौर और गुजरात में रेशमी वस्त्रों का अच्छा काम होता था। आगरा, लाहौर और कश्मीर के ऊनी शालों की कहीं बराबरी न थी। विशाल स्तर के घरेलू और विदेशी वाणिज्य ने व्यापारी-पूंजीपति वर्ग को पैदा किया और बैंकिंग प्रथा की नींव डाली। उत्तर भारत में जगतसेठों और नगरसेठों का उत्कर्ष हुआ तथा दक्षिण भारत में चेट्टियों का। इन लोगों की दूर-दराज तक हुंडियां चलती थीं जिससे वाणिज्य और व्यापार को बढ़ावा मिला।

अंग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात

अट्ठारहवीं सदी की राजनीतिक अस्थिरता के कारण हिंदुओं और मुसलमानों के परंपरागत शिक्षा केंद्र धीरे-धीरे समाप्त होने लगे। इन केंद्रों को स्थानीय शासकों से जो आर्थिक संरक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त होता था, वह बंद हो गया। 21 फरवरी, 1784 को वारेन हैस्टिंग्स ने कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को सूचना दी थी कि उत्तर भारत और दक्षिण की प्रत्येक राजधानी में परंपरागत शिक्षा-केंद्रों की दयनीय दशा थी।

1765 में ईस्ट इंडिया कंपनी बंगाल की शासक बन गई। कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने शिक्षा के मामले में कोई हस्तक्षेप नहीं किया और उसे निजी क्षेत्र में रहने दिया। लेकिन ईस्ट इंडिया कंपनी के भारतीय अफसरों ने कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स से अपील की कि वह शिक्षा की उन्नति के लिए कुछ कार्यवाही करे। कंपनी की सरकार ने प्राच्य शिक्षा के विकास के लिए कुछ आधे-अधूरे प्रयत्न भी किए। वारेन हैस्टिंग्स ने फारसी और अरबी की पढ़ाई के लिए 1781 में कलकत्ते में एक मदरसे की स्थापना की। 1791 में बनारस के ब्रिटिश रेजीडेंस जोनाथन डन्कन के प्रयत्नों से बनारस में संस्कृत कालिज की स्थापना की गई। ये विद्यालय सफल न हो सके। ईसाई मिशनरियों ने प्राच्य शिक्षा-प्रणाली की आलोचना की और भारत में पाश्चात्य शिक्षा शुरू करने का आग्रह किया। लार्ड वेलेजली ने 1800 में कंपनी के अधिकारियों को भारत की भाषाओं तथा रीति-रिवाजों की शिक्षा देने के लिए कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना की। लार्ड वेलेजली का विचार था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि कंपनी के कर्मचारियों को भारतीय भाषाओं, इतिहास, धर्म, रीति-रिवाजों और साहित्य की जानकारी दी जाए। फोर्ट विलियम कालिज के लिए निर्धारित अध्ययन क्रम में अरबी, फारसी, संस्कृत, हिंदुस्तानी, तेलुगु, मराठी, कन्नड़ आदि भारतीय भाषाएं, मुस्लिम न्याय-विधि, हिंदू न्याय-विधि, नीतिशास्त्र, नागरिक शास्त्र, अंतर्राष्ट्रीय विधि आदि विषय सम्मिलित थे। कालांतर में वे भारतीय शिक्षा-पद्धति के अभिन्न अंग बन गए। कालेज के पाठ्यक्रम में तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों से संबंधित विषयों पर वाद-विवाद का प्रावधान था। इन वाद-विवादों में सती-प्रथा, जाति-व्यवस्था और विधवा जीवन से संबंधित समस्याओं के प्रति भावी ब्रिटिश शासकों का ध्यान आकृष्ट किया।

यद्यपि फोर्ट विलियम कालेज ने भारतीय भाषाओं और साहित्य के विकास की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया लेकिन ब्रिटिश शासकों की आंखों में वह कांटे की तरह चुभता रहा। लार्ड डलहौजी ने 1854 में इस कालेज को बंद कर दिया।

1813 में नया चार्टर एक्ट पास हुआ। कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने इस एक्ट में यह व्यवस्था की कि सरकार भारतीयों की शिक्षा पर प्रति वर्ष एक लाख रुपया खर्च किया करेगी। कंपनी को न्याय विभाग में ऐसे भारतीयों की आवश्यकता थी जो संस्कृत, अरबी और फारसी का ज्ञान रखते हों तथा अंग्रेज न्यायाधीशों की सहायता कर सकें। भारतीय शासकों से पत्र-व्यवहार करने के लिए भी फारसी और देशी भाषाओं के ज्ञान की आवश्यकता थी। कंपनी के राजस्व और व्यापार विभागों को अशिक्षित जनसाधारण से काम पड़ता था। इन विभागों में काम करने वाले लोगों के लिए देशी भाषाओं का ज्ञान ज़रूरी था।

इन दिनों राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन किया। भारत के लिए अंग्रेजी शिक्षा की सार्थकता का सबसे प्रमाणित दस्तावेज राजा राममोहन राय का वह पत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जो उन्होंने दिसंबर 1823 में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड एम्सहर्ट को लिखा था। सरकार हिंदू पंडितों की देख-रेख में एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना करना चाहती थी। राजा राममोहन राय ने सरकार के इस प्रस्ताव का विरोध किया और कहा कि इस तरह के विद्यालयों और इस तरह की शिक्षा से भारतीयों को कोई लाभ नहीं होगा। इस तरह के विद्यालय मध्यकाल में यूरोप में भी थे और लार्ड बेकन ने उनका विरोध किया था। ये विद्यालय नौजवानों को व्याकरण की बारीकियां पढ़ाते थे और उन्हें अध्यात्म के गोरखधंधों में उलझा देते थे। इन विषयों के ज्ञान से न तो व्यक्ति को कोई लाभ होता है और न समाज को। ये वही बातें हैं जिनका लोगों को आज से दो हजार साल पहले भी ज्ञान था। विद्यार्थी जीवन के दस-बारह साल व्यक्ति के जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण होते हैं। इन सालों को संस्कृत व्याकरण की बारीकियों, वेदांत की कल्पनामूलक उड़ानों, वैदिक अवतरणों की अधकचरी व्याख्याओं और न्यायशास्त्र के ऊहापोहों में लगा देना अमूल्य समय का अपव्यय मात्र है। संस्कृत शिक्षा-पद्धति भारत को अज्ञान के अंधेरे में रखेगी। ब्रिटिश सरकार यह कदापि नहीं चाहती। उसका लक्ष्य जनता की उन्नति करना है। यह उन्नति लोगों को विज्ञान की शिक्षा देकर ही की जा सकती है।[3]

भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों की दृष्टि में अंग्रेजी शिक्षा के अलग-अलग उद्देश्य थे। जागरूक हिंदू उदार शिक्षा के माध्यम से प्रशासन में भागीदार बनने के लिए उत्सुक थे। ईसाई मिशनरी इस शिक्षा के द्वारा लोगों को ईसाई बनाना चाहते थे। अंग्रेजी शिक्षा का एक अन्य उद्देश्य लोगों में स्वतंत्रता की भावना विकसित करना था। लार्ड मैकाले तक ने हाउस ऑफ कामंस में कहा था कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से भविष्य में भारतीय अंग्रेजी संस्थाओं की मांग करेंगे और वह हमारे लिए गर्व का दिन होगा।

बंगाल के पुनर्जागरण में हिंदू कालिज का योगदान अविस्मरणीय है। हेनरी डेजारियो जैसे अध्यापकों ने छात्रों को स्वतंत्र चिंतन की प्रेरणा दी और उन्हें वाल्टेयर, लाक, बेकन, ह्यूम तथा टामस पेन के विचारों से परिचित कराया। हिंदू कालिज के विद्यार्थियों ने स्वतंत्र विचार विनिमय के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना की और कई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया।

भारत में आधुनिक शिक्षा-पद्धति के जन्मदाता लार्ड मैकाले (1800-54) हैं। वे ब्रिटिश संसद के सदस्य, भारत की सुप्रीम कौंसिल के सदस्य और ब्रिटिश सरकार के मंत्री रहे थे। उनका पांच खंडों में प्रकाशित इंगलैंड का इतिहास अपने विषय का प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। भारत के शैक्षिक इतिहास में लार्ड मैकाले का महत्त्व यह है कि उन्होंने भारत में अंग्रेजी शिक्षा की नींव डाली। 2 फरवरी 1835 को लार्ड मैकाले ने शिक्षा के बारे में अपना प्रसिद्ध नोट लिखा था। इस नोट में उन्होंने अरबी और संस्कृत भाषाओं का उपहास किया था, प्राचीन भारतीय साहित्य, विज्ञान औरं:दर्शन को पाश्चात्य साहित्य, विज्ञान और दर्शन की तुलना में हानिकारक ठहराया था और यहां तक कहा था कि यूरोपीय पुस्तकालय की एक अलमारी भारत और अरब के समूचे साहित्य के बराबर है। लार्ड मैकाले के प्रभाव से भारत में अंग्रेजी शिक्षा की नींव पड़ी। इस शिक्षा-पद्धति की समय-समय पर आलोचना अवश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती रही है लेकिन भारतीय शिक्षा का मूल ढांचा वही बना हुआ है जो लार्ड मैकाले ने निर्धारित किया था। लार्ड मैकाले का वास्तविक लक्ष्य भारत में ऐसे लोगों की जमात तैयार करना था जिनकी चमड़ी ज़रूर भारतीय हो लेकिन जिनकी विचारधारा पूरी तरह पश्चिम के रंग में रंगी हो।[4]

गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने मैकाले की सिफारिश स्वीकार कर ली और तय किया कि भविष्य में कंपनी सरकार अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देगी और शिक्षा के लिए निर्धारित सारा धन यूरोपीय साहित्य और ज्ञान-विज्ञान के प्रसार पर खर्च करेगी। मैकाले की शिक्षा-नीति का लक्ष्य उच्च वर्ग के लोगों को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देना था। इसमें आम लोगों को शिक्षा देने की पेशकश नहीं थी।

1854 में सर चार्ल्स वुड ने भारत की भावी शिक्षा योजना के बारे में एक विस्तृत रूपरेखा तैयार की। इसमें गांवों में प्राथमिक पाठशालाएं खोलने का विचार प्रस्तुत किया गया था। प्राथमिक विद्यालयों में देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जा सकती थी। कंपनी के अधीन पांच प्रांतों में शिक्षा निदेशालयों की स्थापना का सुझाव था। कलकत्ता, बंबई और मद्रास में लंदन विश्वविद्यालयों के ढंग पर विश्वविद्यालयों की स्थापना का प्रस्ताव था। योजना में यह भी कहा गया था कि अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए अध्यापक प्रशिक्षण महाविद्यालयों की स्थापना की जाएगी।

कंपनी सरकार ने चार्ल्स वुड की सिफारिशों पर आचरण किया और आगे के पचास वर्षों तक भारत की शिक्षा-प्रणाली इन्हीं आदर्शों पर संचालित होती रही। अधिकांश शिक्षा संस्थाओं के प्रधान आचार्य अंग्रेज होते थे। ईसाई मिशनरियों ने अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार में उल्लेखनीय योग दिया। मिशनरी गतिविधियों का एक अवांछनीय पहलू यह था कि लोगों विशेष कर समाज के निम्न वर्ग के लोगों को ईसाई बनाने की कोशिश की गई। इस कार्य में मिश्नरी संस्थाओं को सरकार का भी सहयोग प्राप्त होता था।

1882 में सरकार ने डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर की अध्यक्षता में एक शिक्षा आयोग नियुक्त किया। आयोग का काम यह विचार करना था कि 1854 के चार्ल्स वुड के पत्रक के बाद भारत में शिक्षा की कितनी प्रगति हुई है। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में प्राथमिक शिक्षा के विकास पर विशेष आग्रह किया। आयोग ने सिफारिश की कि प्राथमिक शिक्षा का नियंत्रण नव-स्थापित जिला और म्युनिसिपल बोर्डों को सौंपा जाए। आयोग का यह भी कहना था कि शिक्षा क्षेत्र में गैर-सरकारी उद्यम को प्रोत्साहन दिया जाए। आयोग ने स्त्री शिक्षा की कमी पर खेद प्रकट किया और उसकी वृद्धि के अनेक उपाय सुझाए।

आयोग का प्रतिवेदन प्रकाशित होने के 20 वर्षों में भारत में शिक्षा की तीव्र गति से उन्नति हुई। 1881-82 में माध्यमिक विद्यालयों की संख्या 3,916 थी। 1901-02 में यह संख्या बढ़ कर 5,124 हो गई। इसी प्रकार माध्यमिक स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या इसी अवधि में 214,077 से बढ़ कर 590,129 हो गई। प्रायः यही हाल कालेज शिक्षा के क्षेत्र में हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्य वर्ग

अंग्रेजों के प्रशासनिक और आर्थिक सुधारों ने भारत में एक नए वर्ग–मध्य वर्ग को जन्म दिया। इस वर्ग ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की और वह सरकार में ऊंचे पदों पर पहुंच गया। अपनी शिक्षा, स्थिति और शासक वर्ग के साथ निकट संपर्कों के कारण यह वर्ग आजादी की लड़ाई में भी आगे रहा। इंडियन नेशनल कांग्रेस के अधिकांश नेता इसी वर्ग के थे। स्वतंत्रता संग्राम में इस वर्ग का योगदान महत्त्वपूर्ण था।[5]

प्राचीन भारत की खोज

उन्नीसवीं सदी में मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स, राथ, वेलियम जान्स और पाल डाबसन जैसे विद्वानों ने प्राचीन भारत के इतिहास, साहित्य और संस्कृति के विषय में खोजें कर भारतीयों को उनकी समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा से परिचित कराया। मार्शल और कनिंघम के पुरातात्विक अन्वेषणों ने भारत के प्राचीन इतिहास की एक नई तस्वीर संसार के सामने रखी। इन खोजों से ज्ञात हुआ कि प्राचीन भारत की सभ्यता यूनान और रोम की सभ्यता से कम नहीं थी। विद्वानों ने वेदों तथा उपनिषदों के साहित्यिक सौंदर्य तथा आध्यात्मिक चिंतन की सराहना की। यूरोपीयों का मत था कि भारतीय आर्य उस जाति के लोग थे जिस जाति से यूरोप के अन्य राष्ट्रों का उद्भव हुआ था। इस धारणा ने शिक्षित भारतीयों के मन में आत्मविश्वास पैदा किया और उनमें देशभक्ति की भावना उत्पन्न हुई।

सामयिक यूरोपीय आंदोलन

यूरोप तथा दक्षिण अमरीका के राष्ट्रवादी आंदोलनों ने भी भारत के ऊपर प्रभाव डाला। दक्षिण अमरीका में स्पेनी तथा पुर्तगाल साम्राज्यों के ध्वंसावशेषों के ऊपर अनेक राष्ट्रीय राज्यों का उद्भव हुआ। यूरोप में यूनान, इटली तथा आयरलैंड के स्वतंत्रता आंदोलनों से भारतीयों को प्रेरणा प्राप्त हुई। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और लाला लाजपतराय जैसे नेता अपने व्याख्यानों तथा रचनाओं में इटली के दोनों स्वतंत्रता सेनानी मेजिनी और गेरोबाल्डी का हवाला देते थे। यूरोप के राष्ट्रीय आंदोलनों ने भारत के विकासशील राष्ट्रवाद को स्फूर्ति दी।

सांविधानिक विकास

1765 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल में दीवानी प्राप्त की। इसके बाद ब्रिटिश संसद ने कंपनी के ऊपर अपना शिकंजा कसना शुरू किया। इसके लिए उसने बीस-बीस वर्ष के अंतराल पर अनेक चार्टर एक्ट पास किए जिन्होंने धीरे-धीरे भारत में अंग्रेजी राजनीतिक व्यवस्था संस्थाएं आरंभ कीं। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में ब्रिटिश संसद द्वारा भारतीय शासन का प्रबंध करने के लिए पास किए गए प्रमुख चार्टर एक्ट थे (1) 1773 का रेग्यूलेटिंग एक्ट, (2) 1781 का संशोधन अधिनियम (The Amending Act of 1781), (3) पिट्स इंडिया एक्ट, 1784, (4) 1786 का अधिनियम, (5) 1793 का चार्टर एक्ट, (6) 1813 का चार्टर एक्ट, (7) 1833 का चार्टर एक्ट, (8) 1853 का चार्टर एक्ट, (9) 1858 का श्रेष्ठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय शासन अधिनियम, (10) इंडियन कौंसिल्स एक्ट 1861, और (11) इंडियन कौंसिल्स एक्ट, 1892।

भारतीय शासन के संबंध में ब्रिटिश संसद द्वारा पास किए जा रहे इन कानूनों ने भारत में धीरे-धीरे उत्तरदायी शासन की स्थापना की। सांविधानिक विकास की यह गति 20वीं सदी में तेज़ हो गई और अंततः उसने स्वतंत्रता का पथ प्रशस्त किया।

क्रिश्चियन मिशनरियों के कार्य-कलाप

ईसाई धर्म का भारत में प्रवेश ईसा की पहली शताब्दी में हुआ था। भारत में ईसाई धर्म को लाने का श्रेय सेंट टामस को है।[6] वे ईसा की पहली शताब्दी में मलाबार तट पर आए थे। ईसा की तीसरी सदी में सीरियाई ईसाई केरल राज्य में पहुंच चुके थे। सम्राट अकबर के शासन-काल में 1580 में फतेहपुर सीकरी में एक बाप्टिस्ट मिशन की स्थापना हुई थी और उसके मिशनरियों ने इबादतखाने की धर्म-चर्चा में भाग लिया था। सम्राट-शाहजहां के शासन-काल में जेसुएट मिशनरियों ने आगरा में एक जेसुएट कालेज को स्थापना की थी।

1498 में वास्को-डि-गामा कालीकट पहुंचा। उसका उद्देश्य भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करना था। फ्रांसिस जेवियर और राबर्ट-डी-नोबिली जैसे पुर्तगाली रोमन कैथोलिक मिशनरियों ने अनेक प्राथमिक विद्यालय स्थापित किए और अनाथाश्रम खोले।

सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दियों में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के डायरेक्टरों ने मुगल शासकों के डर से मिशनरियों की गतिविधियों को बढ़ावा नहीं दिया।

बाप्टिस्ट मिशनारियों ने सेरामपुर में अपना केंद्र बनाया और एक प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना की। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में कुछ उपयोगी कार्य किया और रामायण तथा महाभारत जैसे ग्रंथों के अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित किए।

1813 के चार्टर एक्ट ने भारत में मिशनरियों की गतिविधियों पर से प्रतिबंध हटा दिया। इसके परिणामस्वरूप अनेक यूरोपीय और अमरीकी मिशनरी भारत आए। इन मिशनरियों का मुख्य लक्ष्य भारतीयों को ईसाई बनाना था। उन्होंने हिंदू धर्म की अनेक धार्मिक प्रथाओं का विशेष कर मूर्तिपूजा का खंडन किया। इसके साथ ही उन्होंने अपने धर्म के सिद्धांतों तथा रीति-रिवाजों की प्रशंसा की। ईसाई मिशनरियों को पिछड़ी जातियों तथा आदिवासी क्षेत्रों में विशेष सफलता प्राप्त हुई।

समाचार-पत्रों का प्रकाशन[7]

भारत में समाचार-पत्रों की कहानी यूरोपीयों के आने के साथ शुरू होती है। पुर्तगाली भारत में सबसे पहले प्रिंटिंग प्रेस लाए थे। यहां सबसे पहली पुस्तक 1557 में छपी थी। 1684 में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंबई में एक प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना की। प्रायः एक सदी तक कंपनी के राज्य क्षेत्र में किसी समाचार पत्र का प्रकाशन नहीं हुआ।

भारत में समाचार-पत्रों के प्रकाशन का पहला प्रयत्न ईस्ट इंडिया कंपनी के उन असंतुष्ट कर्मचारियों ने किया था जो निजी व्यापार की बुराईयों को जनता के सामने लाना चाहते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। 1780 में जेम्स आगस्टस हिकी ने **बंगाल गजट** या **कैलकटा जनरल एडवर्टाइज़र** का प्रकाशन आरंभ किया। इस पत्र में सरकार की तीव्र आलोचना की। 1782 में सरकार ने उसे बंद कर दिया। आगे कुछ वर्षों में भारत के विभिन्न भागों में निम्नलिखित पत्र प्रकाशित हुए : **द कैलकटा गजट** (1784), **द बंगाल जरनल** (1785), **द ओरिएंटल मैगजीन ऑफ कैलकटा या कैलकटा अम्यूज़मेंट** (1785), **द कैलकटा क्रानिकल** (1786), **द मद्रास कूरियर** (1788), **द बॉम्बे हेरल्ड** (1789)। इन पत्रों ने हिकी के कटु अनुभव से लाभ उठाया और सरकार की आलोचना नहीं की।

1799 में लार्ड वैलेजली ने समाचार-पत्रों पर सेंसरशिप लगा दी। समाचार-पत्रों के प्रकाशकों को सारी प्रकाश्य सामग्री सरकार के अवलोकन के लिए पेश करनी पड़ती थी। सरकार की स्वीकृति प्राप्त होने के बाद ही उस सामग्री को प्रकाशित किया जा सकता था। सेंसरशिप के नियमों का उल्लंघन होने पर समाचार-पत्रों के मालिक को देश निकाला दे दिया जाता था।

1818 में लार्ड हेस्टिंग्स ने सेंशरशिप के नियमों में कुछ ढिलाई दी।

1835 में लार्ड विलियम बैंटिक ने समाचार-पत्रों के प्रति उदार नीति अपनाई। चार्ल्स मेटकाफ और लार्ड मैकाले ने समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता का समर्थन किया।

1857 के विद्रोह के बाद सरकार ने समाचार-पत्रों के ऊपर फिर से प्रतिबंध लगा दिए। 1857 के बाद प्रांतीय भाषाओं में अनेक पत्रों का प्रकाशन आरंभ हुआ। अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित होने वाले पत्र प्रायः सरकार का समर्थन करते थे और देशी भाषाओं के पत्र जनता के दुखदर्द को व्यक्त करते थे। 1876 के दुर्भिक्ष तथा 1877 के दिल्ली दरबार की फिजूलखर्ची की देशी समाचार-पत्रों में खुल कर भर्त्सना हुई। 1878 के वर्नाकुलर प्रेस एक्ट ने देशी पत्रों पर सरकार का नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया। लार्ड रिपन ने 1882 में इस एक्ट को रद्द कर दिया।

लार्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीतियां

मई, 1876 में लार्ड लिटन ने भारत के गवर्नर-जनरल का पद संभाला। उन्होंने 1877 में दिल्ली में एक भव्य दरबार किया जिसमें महारानी विक्टोरिया को भारत-साम्राज्ञी घोषित किया गया।[8] दिल्ली दरबार के आयोजन में पैसे को पानी की तरह बहाया गया जबकि अकाल-निवारण के लिए उसकी सख्त ज़रूरत थी।[9] लार्ड लिटन के सैनिक अभियानों की वजह से सरकार का खर्च बहुत बढ़ गया और इसका बोझ जनता के ऊपर पड़ा।

लार्ड लिटन का शासन-काल भारतीय शस्त्र विधेयक जैसे काले कानून को पास करने के लिए भी बदनाम है। इस विधेयक के द्वारा भारतीयों को सरकार की अनुमति के बिना शस्त्र रखने से वंचित कर दिया गया। इस दिशा में यूरोपीय और भारतीयों के बीच भेद बरता गया। जहां भारतीयों के लिए तो शस्त्र रखना अपराध माना गया, वहां यूरोपीय लोग शस्त्र रख सकते थे। यह भेदभाव भारत के स्वाभिमान के ऊपर क्रूर आघात था। सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी के शब्दों में शस्त्र विधेयक ने हमारे माथे पर जातीय हीनता की छाप लगा दी। भारतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने ही देश में दूसरे दर्जे के नागरिक बन गए।

लार्ड लिटन के शासन-काल का एक अनुचित कार्य 1878 का वर्नाकुलर प्रेस विधेयक था। 1864 में देश में 644 पत्र प्रकाशित हो रहे थे। इनमें लगभग 400 पत्र देशी भाषाओं के थे। देशी भाषाओं के पत्र ब्रिटिश शासन की प्रक्रियावादी नीतियों की खुल कर आलोचना करते थे और जनता के बीच राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ावा देते थे। 1878 के वर्नाकुलर प्रेस विधेयक ने देशी समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता के ऊपर अनेक प्रतिबंध लगा दिए। इस विधेयक के विरोध में देश में प्रबल आंदोलन हुआ और 1882 में सरकार को वह रद्द करना पड़ा।

लार्ड लिटन ने कपास की बनी वस्तुओं पर से आयात कर हटा कर भारत के वस्त्रोद्योग को नुकसान पहुंचाने की कोशिश की। सरकार ने यह कार्य लंकाशायर और मैनचेस्टर के व्यापारियों के दबाव से किया था।[10]

अकाल[11]

प्राचीन भारत तथा मध्यकालीन भारत दोनों को अकालों का सामना करना पड़ा था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अकालों के समय राज्य की ओर से किए जाने वाले राहत कार्यों का विस्तृत विवरण दिया है। मध्यकाल में मोहम्मद तुगलक, अकबर, शाहजहां और औरंगज़ेब के समय में देश को भीषण अकालों का सामना करना पड़ा था जिनमें लोगों की भारी संख्या में मृत्यु हुई।

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन में भारत को अनेक अकालों का सामना करना पड़ा। पहला भीषण अकाल 1769-70 में बंगाल में पड़ा जिसमें प्रांत की तिहाई आबादी को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। सरकार ने राहत के लिए कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। 1781 और 1782 में मद्रास में अकाल पड़ा। 1784 में समूचे उत्तर भारत में भयंकर अकाल पड़ा। 1880 के अकाल आयोग ने यह माना था कि अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत तक ब्रिटिश सरकार अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए सक्षम न थी।

1803 में उत्तर पश्चिमी प्रांत और अवध (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में अकाल पड़ा। इस आपदा के अवसर पर सरकार ने अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए कुछ राहत कार्य किए। 1866 में उड़ीसा में 1868 में उत्तर और मध्य भारत में तथा 1876-78 में मद्रास, बंबई, उत्तर प्रदेश और पंजाब में अकाल पड़े। इन अकालों में एक साल में ही करीब 50 लाख लोगों की जानें गईं। 1880 में स्ट्रैची कमीशन ने भारत सरकार की अकाल नीति के बारे में व्यापक रूप से विचार किया और सरकार द्वारा किए जाने वाले राहत कार्यों के बारे में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। 1883 में अकाल संहिता (Famine Code) का निर्माण हुआ।

1896-97 और 1899-1900 में देश में फिर भयंकर अकाल पड़े। सरकार ने अपनी ओर से राहत कार्य किए, पर वे संतोषजनक सिद्ध नहीं हुए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थिक विघटन

18वीं सदी में मुगल साम्राज्य के विघटन के फलस्वरूप देश का आर्थिक संगठन भी चरमरा गया। भारतीय रजवाड़ों में आपस में प्रतिस्पर्धा थी और वे एक दूसरे से लड़ते रहते थे। इससे आर्थिक कार्य-कलापों में बाधा पड़ती थी। मार्ग निरापद नहीं रहे थे। चुंगी की दरें बहुत ज्यादा थीं जिससे तिजारत में रुकावट पड़ती थी। यूरोप की व्यापारिक कंपनियों ने राजनीति में हस्तक्षेप किया और तत्कालीन प्रशासनिक तथा राजनीतिक अस्त-व्यस्तता से लाभ उठाया।

आत्मनिर्भर गांव

भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था की सबसे प्रमुख विशेषता उसका आत्मनिर्भर स्वरूप था। भारत के गांव अपने आप में एक अलग दुनिया थे। बाहर के संसार से उनका बहुत कम नाता था। नमक और लोहे जैसी कुछ चीजों को छोड़कर गांव अपनी आवश्यकता की सारी चीजें स्वयं पैदा कर लेते थे। गांव जीवन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता थी खेती और दस्तकारियों का घनिष्ठ संबंध। किसान का परिवार खेती से छुट्टी मिलने पर कताई और बुनाई करता था और अपनी ज़रूरत के लायक कपड़ा तैयार कर लेता था। लुहार, सुनार, धोबी, बढ़ई, कुम्हार, तैलिए जैसे कारीगर गांव के लोगों की अन्य आर्थिक आवश्यकताएं पूरी करते थे। ये कारीगर गांव के सेवक होते थे। उन्हें अपनी सेवाओं के बदले में गांव की पैदावार का एक हिस्सा मिलता था। गांव की जमीन पर किसानों का अधिकार होता था। हर परिवार के पास कुछ निश्चित जमीन होती थी। जमीन का क्रय-विक्रय नहीं होता था। कार्ल मार्क्स ने इसे भारतीय साम्यवाद कहा है।

गांव की पंचायतें गांव का प्रशासन करती थीं। वे गांव वालों के आपसी विवादों को तय करती थीं। गांव का प्रमुख पंचायत का प्रधान होता था। सरकार की ओर से नियुक्त स्थानीय हाकिम या दूरस्थ सूबेदार गांव के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता था। उसका गांव की उपज के एक हिस्से पर जो छठे हिस्से से आधी तक होती थी, दावा होता था।

गांवों की स्थिरता और एकांतता का एक काला पहलू भी था। गांवों की आत्मनिर्भरता के कारण भारतीय दस्ताकरियों के लिए कोई बड़ा बाजार नहीं बन सका। जाति-व्यवस्था में सीमित मज़दूरों में रोज़ी-रोटी की तलाश में गांवों से बाहर जाने की प्रवृत्ति नहीं थी। इससे गांवों के लोगों की मानसिक उर्वरता नष्ट हो गई। उनकी स्थिति कुएं के मेंढक जैसी हो गई। अपने गांवों से बाहर की दुनिया से बेखबर होने के कारण लोगों में अखिल भारतीय भावना का उदय न हो सका।[12]

कार्ल मार्क्स के भारत-विषयक विचार

1853 में कार्ल मार्क्स ने **न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून** के लिए भारत के बारे में एक लेखमाला लिखी थी। मार्क्स ने भारत में इंगलैंड की दोहरी भूमिका का उल्लेख किया है—एक विनाशक और दूसरी रचनात्मक। उसने लिखा है कि अंग्रेजों के आगमन से पहले भारत की अर्थव्यवस्था में जड़ता थी। मार्क्स का विचार था कि एशियाई समाज अपने आप प्रगति नहीं कर सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह स्थिति यूरोपीय समाज की स्थिति से भिन्न थी। यूरोपीय समाज में कुछ अपने अंतर्विरोध थे जिनके कारण वह प्रगति के पथ पर अग्रसर था। इंगलैंड की भारत में विनाशक भूमिका यह थी कि उसने गांवों के आर्थिक आधार को नष्ट कर दिया। इससे भारत में व्यापक सामाजिक क्रांति हुई। मार्क्स के विचार से भारत में परंपरागत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का विनाश आधुनिकता के उदय और विकास के लिए आवश्यक था।

भारत में इंगलैंड का रचनात्मक पक्ष यह था कि उसने देश को राजनीतिक एकता दी, देशी सेना का निर्माण किया, परिवहन और संचार के साधनों का विकास किया, भूमि में संपत्ति-अधिकारों की शुरुआत की, समाचार-पत्रों को स्वतंत्रता दी और यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान में निष्णांत एक नए शिक्षित वर्ग को तैयार किया। मार्क्स समझता था कि इंगलैंड ने अपनी इन नीतियों के कारण भारतीय समाज में गतिशीलता पैदा कर दी है।

आर्थिक शोषण के तीन चरण

मार्क्सवादी विचारक रजनीपाम दत्त ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के तीन चरण माने हैं।

(1) व्यापारी-पूंजीवाद (Mercantilism) का समय। यह समय 1757 से 18वीं शताब्दी के अंत तक का है।

(2) औद्योगिक पूंजीवाद का समय। यह समय उन्नीसवीं शताब्दी का है।

(3) वित्तीय पूंजीवाद का समय। यह समय उन्नीसवीं शताब्दी से 1947 तक चला।

व्यापारी पूंजीवाद का समय

1757 में प्लासी की लड़ाई में विजय पाने के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल की तिजारत अपने हाथ में ले ली और लूट-खसोट का काम शुरू कर दिया। उस समय की प्रमुख आर्थिक विचारधारा व्यापारी पूंजीवाद की थी। यह विचारधारा पुरानी औपनिवेशिक विचारधारा का अभिन्न अंग थी। यह आक्रामक राष्ट्रवाद का आर्थिक पक्ष थी। इस विचारधारा का बुनियादी तत्त्व यह था कि सारे आर्थिक क्रिया-कलापों का लक्ष्य यह होना चाहिए कि राष्ट्र मजबूत बने। विदेशी व्यापार का प्रयोजन यह था कि स्वदेश में बनी वस्तुओं का निर्यात विदेशों में निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा अधिक हो तथा विदेशों की धन-दौलत खींच-खींच कर स्वदेश लाई जाए। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सरकार ने व्यापारिक कंपनियां स्थापित कीं। इन कंपनियों ने व्यापार के ऊपर एकाधिकार स्थापित किया और अपने सभी प्रतियोगियों को समाप्त कर दिया। उन्होंने कच्चे साज-सामान को सस्ते दामों पर खरीदा और तैयार माल ऊंची कीमतों पर बेचा।

औपनिवेशिक लूटपाट

1757 के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी का स्वरूप बदल गया। अब वह सिर्फ व्यापारिक कंपनी नहीं रही। उसके हाथ में सैनिक और राजनीतिक सत्ता भी आ गई थी। वह बंगाल के नवाबों की नियंता थी। वह जिसे चाहती बंगाल का नवाब बना सकती थी और जिसे चाहती गद्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उतार सकती थी। बंगाल के गवर्नर और उसकी परिषद् ने 1757, 1760 और 1764 में बंगाल के नवाबों को बदला। इसका कारण यह था कि हर नए नवाब ने कंपनी के सैनिक और असैनिक अधिकारियों को भारी रकमें दीं। कंपनी के अधिकारी जल्दी से जल्दी अमीर हो जाना चाहते थे। उन्होंने कारीगरों पर भी अत्याचार किए तथा उन्हें विवश किया कि वे अपना माल सस्ती दरों पर कंपनी को बेचें। कंपनी के एजेंटों ने कच्चे माल पर भी अपना एकाधिकार स्थापित कर रखा था। वे यह माल कारीगरों को ऊंची कीमतों पर बेचते थे।

धन की निकासी

ईस्ट इंडिया कंपनी की नीतियों के फलस्वरूप भारत का बहुत-सा धन इंगलैंड पहुंचता रहा। इससे भारत को कोई आर्थिक, वाणिज्यिक और भौतिक लाभ नहीं था। भारतीय राष्ट्रवादियों ने इस संघटना को 'धन की निकासी' कहा है। दादाभाई नौरोजी ने धन की इस निकासी को भारत की गरीबी का सबसे प्रमुख कारण ठहराया था।

आधुनिक उद्योगों का उदय

ब्रिटिश शासक भारत में आधुनिक उद्योग-धंधों की स्थापना करना नहीं चाहते थे। उलटे उन्होंने भारत के उद्योग-धंधों को नष्ट किया और भारत को औद्योगिक ब्रिटेन का कृषि क्षेत्र बना दिया। ब्रिटेन ने भारत में रेलों और सड़कों आदि का विकास भारत के औद्योगिक विकास के लिए नहीं प्रत्युत अपनी प्रशासनिक सुविधा के लिए किया था। भारत में उद्योग धंधों का विकास उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में आरंभ हुआ। इस दिशा में सबसे पहले गुजरात में सूती वस्त्रोद्योग की स्थापना हुई। 1907 में जमशेदपुर में टाटा आयरन एंड स्टील इंडस्ट्री की नींव पड़ी। भारत में चाय, कॉफी और रबड़ उद्योग भी पनपा।

सामाजिक दशा

अट्ठारहवीं सदी के भारत में अनेक सामाजिक बुराइयां पाई जाती थीं। तेरहवीं सदी के बाद से हिंदू समाज में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं हुआ था। हिंदू अनेक देवी-देवताओं में आस्था रखते थे। उनके बीच मूर्तिपूजा का रिवाज था। खान-पान पर अनेक नियंत्रण थे। जात-पांत के नियम कठोर थे। हिंदू समाज पतन के कगार पर था। लोगों का मानसिक दृष्टिकोण संकीर्ण था। राजस्थान में कन्याओं को जन्म के समय ही मार दिया जाता था। स्त्रियों को परदे के भीतर रहना पड़ता था। बाहरी दुनिया में क्या परिवर्तन हो रहे हैं इसकी लोगों को जानकारी नहीं थी। बंगाल में सती-प्रथा का व्यापक प्रचार था। कलकत्ता और उसके आस-पास सती के 1815 में 253, 1816 में 289 और 1817 में 441 मामले हुए थे। जब राजा राममोहन राय के प्रयत्नों से इस प्रथा को कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया तब भी इस कानून के विरोध में सरकार की सेवा में एक ज्ञापन भेजा गया था। इस आवेदन पर हस्ताक्षर करने वालों की संख्या 1146 थी जिनमें 120 पंडित तथा अनेक प्रसिद्ध नेता थे। सती प्रथा के पक्ष में समाचार पत्रों में भी अनेक लेख तथा पत्र प्रकाशित हुए थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंगाली समाज की एक अन्य सामाजिक बुराई कुलीन ब्राह्मणों के विवाह से संबंधित थी। पुराने रीति-रिवाजों के कारण बंगाल में कुछ ब्राह्मण परिवार कुलीन अर्थात् ऊंची जाति के माने जाते थे। कुछ परिवारों की कन्याओं के लिए कुलीन ब्राह्मण परिवारों के लड़के ही योग्य वर माने जाते थे। परिणामस्वरूप कुलीन परिवारों के लड़के एक ही समय में कई-कई लड़कियों से शादी कर लेते थे। कभी-कभी तो यह संख्या पचास, साठ अथवा इससे भी अधिक हो जाती थी। अनेक लड़कियों की शादी बूढ़े, कुलीन ब्राह्मणों से होती थी। अधिकांश स्थितियों में कन्याएं विवाह के बाद अपने मायके में रहती थीं।

मुस्लिम समाज

उन्नीसवीं सदी के शुरू में मुस्लिम समाज की भी सारी प्राणशक्ति नष्ट हो गई थी। स्थानीय मुस्लिम कुलीन वर्ग के अभाव में बंगाल की स्थिति सबसे पिछड़ी हुई थी।

अराजकता

ब्रिटिश शासन शुरू होने के समय भारत के अनेक भागों में अराजकता फैली हुई थी। देशी शासकों द्वारा शासित प्रदेशों तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा शासित प्रदेशों की राजनीतिक स्थिति में काफी अंतर था। मराठों ने देश में लूटमार मचा रखी थी। ब्रिटिश शासित प्रदेशों में लोगों के जान माल की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। हिंदुओं ने मुस्लिम शासकों की तुलना में ब्रिटिश शासकों को ज्यादा योग्य और उदार पाया। हिंदुओं को पूजा और उपासना की स्वतंत्रता मिल गई। उन्हें इस बात का भय नहीं रहा कि हाकिम उनके मंदिरों को गिराएंगे तथा उनके देवी-देवताओं की मूर्तियां नष्ट करेंगे।

सारांश

अट्ठारहवीं सदी के भारत में राजनीतिक अस्थिरता थी लेकिन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां परंपरा के अनुरूप बनी रहीं। इस समय हिंदुओं में जाति-प्रथा पाई जाती थी। हिंदू समाज अधिकतर पितृसत्तात्मक था। समाज में स्त्री को उचित स्थान प्राप्त नहीं था। उत्तर प्रदेश और बंगाल में बहु-पत्नी प्रथा थी। विधवाओं का पुनर्विवाह प्रायः नहीं होता था। बंगाल, मध्य भारत और राजपूताना की उच्च जातियों में सतीप्रथा पाई जाती थी। इसके अंतर्गत स्त्रियां अपने मृत पति के शव के साथ चिता में जल जाती थीं।

अट्ठारहवीं सदी के भारत में दासप्रथा पाई जाती थी। दासों की दो श्रेणियां थीं : घरेलू दास और कृषक दास। भारत में दासों के साथ यूरोप और अमरीका के दासों की अपेक्षा अच्छा व्यवहार किया जाता था। भारत में यूरोपीय जातियों के आने पर दास-दासियों का क्रय-विक्रय होने लगा था।

नाडिया, काशी, मिथिला और उड़ीसा उच्च संस्कृत शिक्षा के केंद्र थे। पूर्वी भारत में पटना फारसी शिक्षा का प्रतिष्ठित केंद्र था। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों जातियों में प्राथमिक शिक्षा का अच्छा प्रचार था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल्ली के बादशाहों की यह स्थिति नहीं रही थी कि वे कलाकारों को संरक्षण दे सकें। इसलिए कलाकार हैदराबाद, लखनऊ, मुर्शिदाबाद और जयपुर जैसी नवस्थापित राज्य-राजधानियों में चले गए थे।

अट्ठारहवीं शताब्दी में प्रादेशिक भाषाओं का उत्कर्ष हुआ। इसी काल में ईसाई मिशनरियों ने प्रिंटिंग प्रेसों की स्थापना की और बाइबिल के अनुवादों, व्याकरण-ग्रंथों तथा कोश-ग्रंथों का प्रकाशन किया।

अट्ठारहवीं सदी के शुरू में भारतीय अर्थव्यवस्था की बुनियादी इकाई गांव था। गांव आत्मनिर्भर थे और वे स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी साज-सामान पैदा कर लेते थे। भारत की दस्ताकरियां सारे विश्व में प्रसिद्ध थीं।

1765 में ईस्ट इंडिया कंपनी बंगाल की शासक बन गई। शुरू में उसने शिक्षा के मामले में कोई हस्तक्षेप नहीं किया और उसे निजी क्षेत्र में ही रहने दिया। लेकिन आगे चल कर उसने धीरे-धीरे अपनी नीति बदली। वारेन हेस्टिंग्स ने 1781 में फारसी और अरबी की पढ़ाई के लिए कलकत्ते में एक मदरसे की स्थापना की। 1791 में बनारस में संस्कृत कालेज की स्थापना की गई।

लार्ड वेलेजली ने 1800 में कंपनी के अधिकारियों को भारत की भाषाओं तथा रीति-रिवाजों की शिक्षा देने के लिए कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। लार्ड डलहौजी ने 1854 में इस कालेज को बंद कर दिया।

1823 में राजा राममोहन राय ने तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड एम्सहर्ट को अंग्रेजी शिक्षा के समर्थन में अपना पत्र लिखा।

बंगाल के पुनर्जागरण में हिंदू कालेज का योगदान उल्लेखनीय है। हेनरी डेजारियो जैसे अध्यापकों ने छात्रों को स्वतंत्र चिंतन की प्रेरणा दी।

लार्ड मैकाले के प्रभाव से भारत में आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की नींव पड़ी। 1854 में सर चार्ल्स वुड ने भारत को भावी शिक्षा योजना के बारे में एक विस्तृत रूपरेखा तैयार की। कंपनी सरकार ने चार्ल्स वुड की सिफारिशों पर अमल किया और आगे के पचास वर्षों तक भारतीय शिक्षा उसी के आदर्श पर चलती रही।

1882 में सरकार ने डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर की अध्यक्षता में एक शिक्षा आयोग नियुक्त किया। आयोग का कहना था कि शिक्षा के क्षेत्र में गैर-सरकारी उद्यम को भी प्रोत्साहन दिया जाए।

अंग्रेजों के प्रशासनिक और आर्थिक सुधारों ने भारत में एक नए वर्ग—मध्य वर्ग—को जन्म दिया।

उन्नीसवीं सदी में पश्चिम के अनेक विद्वानों ने प्राचीन भारत के इतिहास, साहित्य और संस्कृति की खोज कर भारत की समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा संसार के सामने रखी।

यूरोप तथा दक्षिणी अमरीका के राष्ट्रवादी आंदोलनों ने भारत के ऊपर प्रभाव डाला।

अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में ब्रिटिश संसद ने भारतीय शासन में सुधार करने के लिए अनेक अधिनियम पास किए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लार्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीतियों, अकाल और आर्थिक विघटन ने स्वतंत्रता-आंदोलन का बीज-वमन किया।

अट्ठारहवीं सदी के भारत में सती-प्रथा, अस्पृश्यता और जात-पांत जैसी अनेक सामाजिक बुराइयां पाई जाती थीं जिनकी ओर समाज-सुधारकों का ध्यान गया।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में मुस्लिम समाज की प्राणशक्ति नष्ट हो गई थी।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. "Kulinism was the Practice by which it was socially possible for when a hundred women to be given in marriage to one Brahmin by reason of his kul (high status) Many members of the four highest class in Bengal mode a profession of marriage selling themselves as husbands to a number of whom few of when ever lived with their husbands or even saw them after marriage, except when they climbed the funeral pyre." S. Natarajain A Century of Social Rerform in India, 1959, pp. 23-24.
2. In addition to religious tests the curriculum consisted of literature, with its ancillary studies, law and logic, these were valuable for imparting knowledge of religion and customs in orthodox principles such as were in vogue hundreds of years ago, that were hardly of any value either in practical life or for widening the hounds of knowledge. While the world outside had made rapid progress in different branches of secular learning during the preceeding two hundred years. India practically stood still where if was since hundred years ago. R.C. Majumdar, *History of the Freedom Movement in India*, Volume I. Calcutta, 1962, p-38.
3. विश्व प्रकाश गुप्त और मोहिनी गुप्त, *राजा राममोहन राय : व्यक्ति और विचार*, राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1996, पृ. 98-99।
4. 1813 में ईस्ट इंडिया कंपनी के चार्टर के नवीकरण के बाद के वर्षों में भारत की शिक्षा-विषयक नीति के बारे में सबसे पहली बार एक बहुत बड़ा वाद-विवाद हुआ। इस वाद-विवाद में दो प्रकार की विचारधाराएं कार्य कर रही थीं। एक प्राच्य विचारधारा कहलाई और दूसरी अंग्रेजी भाषा की समर्थक। सामान्यतः जहां प्राच्य विचारधारा के पक्षपाती भारत के प्राचीन ज्ञान और साहित्य को पुनर्जीवित करके उसकी उन्नति करना चाहते थे। वहां अंग्रेजी के पक्षपाती या आधुनिकतावादी अंग्रेजी भाषा द्वारा ही आधुनिक विज्ञान की शिक्षा देने के पक्ष में थे। राजा राममोहन राय अंग्रेजी के कट्टर पक्षपाती थे और शासनाधिकारियें में लार्ड मैकाले अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनवाने के लिए सबसे अधिक उत्सुक थे। उन्होंने इस बारे में अपनी एक प्रसिद्ध टिप्पणी लिखी, जिसके बाद 1835 में गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने एक प्रस्ताव पारित किया कि भविष्य में शिक्षा के लिए नियत सारी धन-राशि भारतीयों को अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान का ज्ञान देने में ही व्यय़ की जाएगी। उसके बाद कई दशाब्दियों तक उपर्युक्त नीति और शिक्षा-संबंधी नति के उस वक्तव्य के आधार पर ही, जिसे 'चार्ल्स वुड का 1854 का पत्र' नाम दिया गया है, भारत की शिक्षा नीति निर्धारित होती रही।
5. भारत के सांविधानिक विकास के संबंध में निम्नलिखित ग्रंथ देखिए : A.C. Banerjee, **Indian Constitutional. Documents**; C. Ilbert **The Government of India** (1922); A.B. Keith, Constitutional History of India. A. B. Keith, **Speeches and Documents on Indian Policy**; P. Mukerjee, **Indian constitutional Documents**; and G.N. Singh

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Land maps of Indian Constitutional and Development.

6. सेंट टामस ईसा के 12 शिष्यों में थे। न्यू टेस्टामेंट में उनका उल्लेख हुआ है। उन्होंने दक्षिण भारत में ईसाई धर्म का प्रचार किया था।
7. भारत में समाचार-पत्रों के विकास के लिए देखिए : Margarita Barns, **The Indian Press** (1940); H.P. Ghose, The Newspaper in India (1952); Pat Lovatt, **Journalism in India** (1928); **Report of the Press Commission.** 3 parts.
8. लाला लाजपत राय ने दिल्ली दरबार के बारे में लिखा है : "The darbar reduced the chiefs India from the position of allies to that of fendatories. But it quite inconsciously and against the instructions of its author raised in theory the status of the Indian subjects of the Queen to that of citizens of the British Empire...The darbar marked the beginning of the movement which filled the educated Indian with the idea of obtaining the rightful place in the Empire". Rajpat Rai, Young India, p-124.
9. 1876-78 में भारत में भयंकर अकाल पड़ा था। रोमेश दत्त ने अनुमान लगाया है कि अकाल के एक वर्ष में 50 लाख व्यक्ति मर गए थे। Romesh Dutt, **The History of India, Vol. II** (1960 ed.) p. 319
10. इतिहासकार एस. गोपाल ने लिटन का मूल्यांकन करते हुए लिखा है : "Yet on the whole Lytton's domestic policy was irrelevant. He believed in symbol and ceremony, enelted the feudal princes and sought to terrorieze the middle classes of Bengal when in fact the area of political sensitivity were Bombay and the Western Deccan. It was his adventurism in foreign policy which turned the viceroyelty to ashes."
British Policy in India p-127-28.
12. ब्रिटिश शासन में भारत की आर्थिक दुरवस्था के लिए देखिए D.R. Gadgil, The Industrial Evolution of India in Recent India, Dharma Kumar (ed.) Camibridge Economic History of India, Vol. II, D.
Morris (ed.) India Economy in the Ninetenth Century, V.I. Pavelov, The Indian Capitalistic Class : A. Historical Study, V.B. Singh (ed.), Economic History of India, 1857-1956, B.R. tomlinson, the political Economy of the Raj, 1914-47.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 5

साहित्यिक जागरण

भारतीय साहित्य का विकास

भारतीय नवजागरण के उदय और विकास में साहित्य का भी अपना योगदान रहा है। भारत की विभिन्न भाषाओं में ऐसे अनेक साहित्यकार हुए हैं जिनकी रचनाओं में भारतीय नवजागरण की भावना को पुष्ट किया है। देश की कुछ प्रमुख भाषाओं के विशिष्ट रचनाकारों की सूचियां नीचे दी जा रही हैं :

बंगला : बंकिम चन्द्र चटर्जी, माइकेल मधुसूदन दत्त, द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्र टेगौर, जतीन्द्र मोहन बागची, प्रमथ चौधरी, सत्येन्द्रनाथ दत्त, मोहित लाल मजूमदार, नजरुल इस्लाम, शरत चन्द्र, प्रभात कुमार मुखोपाध्याय, प्रेमेन्द्र मित्र, विभूति-भूषण बंद्योपाध्याय और ताराशंकर बंद्योपाध्याय।

असमिया : हेमचन्द्र गोस्वामी, रजनीकांत बारदोली, सत्यनाथ वोरा, कमलकांत भट्टाचार्य, हितेश्वर बरुआ और नबकांत बरुआ।

उड़िया : फकीरमोहन सेनापति, राधानाथ राय, मधुसूदन राव, अश्विनी कुमार घोष, चन्द्रशेखर पाणी, काल्ीचरण पट्टनायक, कालिन्दीचरण पाणिग्रही, बैकुंठनाथ पटनायक, हरिहर महान्ति, विश्वनाथ कार और चिन्तामणि महान्ति।

हिन्दी : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकुमुन्द गुप्त, प्रताप नारायण मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द्र राहुल सांस्कृत्यायन, महादेवी वर्मा सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और सुमित्रानंदन पंत।

पंजाबी : भाई वीर सिंह, भाई पूरनसिंह, कृपाल सिंह, धनीराम चत्रिक, मोहनसिंह, अमृता प्रीतम, संतासिंह सेखो, गोपाल सिंह दर्दी, कर्त्तार सिंह दुग्गल और नानक सिंह।

गुजराती : नंदलाल कवि, आनंदशंकर ध्रुव, कन्हैयालाल मुंशी, रमणलाल देसाई, धूमकेतु, जावेरचन्द मेधानी, उमाशंकर जोशी, महात्मा गांधी, काका साहेब कालेलकर और महादेव भाई देसाई।

मराठी : लोकमान्य तिलक, शिवाराम पंत परांजपे, एन. सी. केलकर, श्रीपाद कृष्ण कोल्हादकर, सी. वी. जोशी, पी. के. अत्रे, प्रो. एन. सी. फड़के, वी. एस. खांडेकर, इरावती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्वे, श्रीनिवास कुलकर्णी, पी. वाई. देशपांडे, विश्राम बाडेकर, एस. एन. पेंडसे, के.पी. खांडिलकर, मामासाहेब वरेरकर, हरिनारायण आप्टे, लक्ष्मण राव सरदेसाई और कुसुमावती देशपांडे।

तमिल : सुब्रह्मण्यम भारती, भारती दसर, नामक्कल रामलिंगम पिल्लई, स्वामी शुद्धानंद भारती, टी.डी. मीनाक्षी सुंदरम, सोमसुंदर पुलावर, कोथामंगलम सुभू, सी. एन. अन्नतदुरै, जे. आर. शंकरम, पी. एम. कन्नन, के. राजवेलु, टी. एन. कुमारस्वामी, वी.वी. एस. अय्यर, राजगोपालाचारी, के. वी. जगन्नाथन और टी. वी. कल्याण सुंदर मुदालियर।

तेलुगू : जे. वी. राममूर्ति पांतुलू, तिरुपति वैंकटेश्वर, गुरुजद अपर्वा, नंदूरिवैंकट सुब्बाराव, विश्वनाथ सत्यनारायण, देवुलापल्ली कृष्णशास्त्री, रायप्रोलु सुब्बाराय, कृष्णमूर्ति शास्त्री, तल्लावज्जुला शिवशंकर शास्त्री, नारायणचार्लू बासवराजू अप्पाराव, डी. आर. रेड्डी, श्रीरंगम श्रीनिवास राव, श्रीनारायण रेड्डी, गुडिपति वैंकटाचलम, के. कुटुम्ब राव, वेलूरि, श्रीनिवास शास्त्री, डॉ. सी. आर. रेड्डी और टी. प्रकाशन।

कन्नड़ : डी. एम. श्रीकान्तरया, डी.वी. गुणप्पा, के. वी. पुटप्पा, पी. टी. नरसिंहाचार, गोरूर रामस्वामी, कृष्णकुमार, बी. वैंकटाचार, ए. एन. कृष्णराव, टी. पी. कैलाशम, ए. एन. कृष्णराव, एल. जे. बेन्द्रे और ए. एन. मूर्तिराव।

मलयालम : चंदू मेनन, रगण पिल्लई, नारायण कुरुक्कल, सी. एस. एस. पोट्टी, कप्पन कृष्णमेनन, सरदार के. एम. पाणिक्कर, सी. कुंजराम मेनन, ई. वी. कृष्णपिल्लई सी. वी. रमण पिल्लई, वल्लतोल नारायण मेनन, उल्लूर एस. परमेश्वर अय्यर, सी. शकर कुरुप, करूर नीलकांत पिल्लई, सी. जे. टामस और के. दामोदरन।

उर्दू : गालिब, जौक, मीर, अनीस, इकबाल, अकबर इलाहाबादी, मुहम्मद हुसैन अस्करी, जोश मलीहाबादी, जिगर मुरादाबादी, फिराक गोरखपुरी, फैज अहमद फैज, सरदार अली जाफरी, सज्जाद जहीर, ख्वाजा अहमद अब्बास, सागर निजामी, 'मज़ाज', साहिर लुधियानवी, मजरूह सुल्तानपुरी, कृष्ण चन्दर और राजेन्द्र सिंह बेदी।

पुस्तकों का प्रकाशन

भारतीय नवजागरण का एक प्रमुख पहलू भारत की सभी भाषाओं में पुस्तकों का प्रकाशन है। मिल्टन के शब्दों में "सद्ग्रंथ महान आत्मा का मूल्यवान जीवन-रक्त है जिसे ध्येयस्वरूप आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित और संचित रखा गया है।" एक अन्य लेखक के अनुसार "ग्रंथ समय के महासमुद्र में प्रकाशगृह की तरह खड़े हुए हैं।"

भारत में पुस्तक-प्रकाशन का इतिहास प्रायः दो-सौ साल पुराना है। इस बीच भारत की सभी भाषाओं का विकास हुआ है और उनमें पुस्तक-प्रकाशन में विविधता आई है। भारत की विभिन्न भाषाओं में जिनमें अंग्रेजी भी शामिल हैं, आरंभिक पुस्तक-प्रकाशन पर, दृष्टि डालना उपयोगी होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजी

अंग्रेजी शासकों ने अपने 200 साल के शासन के बाद 15 अगस्त, 1947 को भारत से विदा लेते समय भारत के लिए जो विरासत छोड़ी, उसमें एक महत्त्वपूर्ण रिक्थ अंग्रेजी भाषा और साहित्य का था। भारतीय पुस्तक उद्योग के विकास में और उसे अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर प्रतिष्ठित करने में अंग्रेजी का विशेष हाथ रहा है। इस समय भारत में अंग्रेजी में 12,000 पुस्तकें प्रति वर्ष प्रकाशित हो रही हैं। इन पुस्तकों का संसार के 80 देशों में निर्यात होता है।

भारत में पहली पुस्तक पुर्तगालियों ने 1557 में पुर्तगाली भाषा में प्रकाशित की थी। बंबई में 1674 में, मद्रास में 1772 में और हुगली (बंगाल) में 1778 में मुद्रण यंत्रों की स्थापना हुई। देश के अन्य केंद्रों में भी साहित्यिक और सांस्कृतिक पुस्तकों का प्रकाशन जड़ जमाने लगा। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक भारत में अधिकतर धार्मिक पुस्तकें ही प्रकाशित होती रहीं।

अठारहवीं सदी में अंग्रेजी भाषा में गंभीर पुस्तकों के प्रकाशन की परंपरा पड़ी। इसका श्रेय लार्ड मैकाले की शिक्षा-नीति (1835) को था। 1844 में अंग्रेजी भारत सरकार की राजभाषा बनी। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारतीयों का पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से परिचय हुआ। 1857 में बंबई, मद्रास और कलकत्ता में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और नई शिक्षा-व्यवस्था के लिए अंग्रेजी पुस्तकों की भारी संख्या में आवश्यकता महसूस होने लगी। पाश्चात्य विचारों के फलस्वरूप उन्नीसवीं सदी में भारतीय नवजागरण की लहर पैदा हुई। इसी समय भारत में मध्यवर्ग का उदय हुआ। यह वर्ग अंग्रेजी में पुस्तकें लिखता था और इसे अपने ज्ञान-वर्धन के लिए अंग्रेजी पुस्तकों की आवश्यकता भी थी। उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के आरंभ तक शैक्षिक पुस्तकों का प्रकाशन कुछ ब्रिटिश प्रकाशनों के हाथों में केंद्रित रहा। ये प्रकाशक थे : ब्लेकी एंड संस, लोंगमैन, मैकमिलन और ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। इस क्षेत्र में जो कुछ भारतीय प्रकाशक उभरे वे थे : मद्रास के जी. ए. नटेसन और बंबई के पद्मा पब्लिकेशन्स तथा हिंद किताब। इन प्रकाशकों ने सिद्ध कर दिया कि भारतीय भी अंग्रेजी भाषा में श्रेष्ठ पुस्तकों की रचना कर सकते हैं और इन पुस्तकों को प्रकाशित भी किया जा सकता है। शुरू में पुस्तकें कुछ अव्यवस्थित रीति से बिकती थीं। पुस्तकों के मुद्रक ही प्रकाशक बन गए थे और वही पुस्तकें बेचते भी थे। शीघ्र ही देश के विभिन्न भागों में पुस्तक-विक्रेताओं का एक जाल बिछ गया। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने 1830 में कलकत्ता में पुस्तकों की एक दुकान खोली।

अधिकांश पुस्तक-विक्रेता ब्रिटेन से आयात की गई पुस्तकें और पत्रिकाएं बेचकर अपनी जीविका चलाते थे। विदेशी सरकार स्वदेशी प्रकाशन को प्रोत्साहन नहीं देना चाहती थी। स्वंतत्रता आंदोलन ने भारतीय प्रकाशन को तीव्र गति दी। अनेक प्रकाशकों ने स्वतंत्रता आंदोलन में आगे बढ़कर भाग लिया और सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित कीं। इन प्रकाशनों का उद्देश्य पैसा कमाना नहीं था। आरंभिक प्रकाशकों ने पुस्तकों का प्रकाशन देश सेवा की भावना से किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असमिया

असमिया भाषा में प्रकाशन उन्नीसवीं सदी के मध्य में आरंभ हुआ। इस समय शिवसागर से *अरुणोदय* नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हुई। 1867-68 में इस पत्रिका के 700 ग्राहक थे। आनेदोराम धीकई फुल्कन और हेमचन्द्र बरुआ जैसे प्रतिष्ठित रचनाकार इस पत्रिका में लेख लिखते थे। हेमचन्द्र बरुआ ने *हेमकोश* नामक असमिया कोश का निर्माण किया था जो 1859 में प्रकाशित हुआ था। 1890 के बाद असमिया काव्य संग्रह प्रकाशित होने लगे। इसी काल में *असम बंधु* नामक पत्रिका का भी प्रकाशन आरंभ हुआ। 1897 में रफीउद्दीन अहमद हजारिका की *ज्ञान मालिनी* पुस्तक प्रकाशित हुई। 1890 के बाद *जानकी और आह्वान* जैसी पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं। यद्यपि इस अवधि में अधिकांशतः काव्य पुस्तकें ही प्रकाशित हुईं लेकिन कुछ उपन्यास भी प्रकाशित हुए। लक्ष्मीकांत बरुआ, रजनीकांत बारदोली, चंद्रकुमार अग्रवाल, लम्बोदर बोरा, हेमतचन्द्र गोस्वामी, सत्यनाथ बोरा, पद्मनाथ गोहेन बरुआ स्वतंत्रता पूर्व काल में असमिया के प्रमुख साहित्यकार थे।

उड़िया

उड़िया का पहला मुद्रण यंत्र 1837 में कटक में स्थापित हुआ। इसने उड़िया में बच्चों की पाठ्य-पुस्तकें, व्याकरण-पुस्तकें और कोश ग्रंथ प्रकाशित किए। इस युग में कुछ पत्रिकाएं भी प्रकाशित होने लगीं जिनमें मुख्य थीं : *ज्ञानरुण* (1849), *प्रबोधचन्द्रिका* (1856) और *अरुणोदय* (1861), इन पत्रिकाओं का उद्देश्य धार्मिक सुधारों को बढ़ावा देना था।

उड़ीसा के लोगों ने अपना पहला प्रेस 1866 में चालू किया। इस प्रेस की स्थापना गौरी शंकर राम (1838-1917) ने कटक में की थी। उन्होंने *उड़िया-दीपिका* नामक एक साप्ताहिक उड़िया पत्रिका भी निकालनी आरंभ की। वे अपनी मृत्युपर्यंत इस पत्रिका का संपादन करने रहे। धीरे-धीरे उड़ीसा के सभी प्रमुख नगरों में प्रिंटिंग प्रेस स्थापित हो गए। उन्नीसवीं सदी के अंत में उड़ीसा में पंद्रह प्रिंटिंग प्रेस थे। उड़ीसा के अनेक राजाओं और जमींदारों ने पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों के प्रकाशन को प्रोत्साहन दिया। इस प्रसंग में बामंदा के महाराज वासुदेव सुघलदेव, मयूरभंज के महाराज श्री रामचन्द्र भंज और बालासोर के राजा बैंकुंठनाथ डे के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस काल में जो पत्रिकाएं निकलीं उनमें मुख्य थीं : *बोधदामन ओ बालेश्वर सम्वाद वाहिका* (1869), *उत्कल पुत्र* (1873) *उत्कल दर्पण* (1873), *सेवक* (1883), *संस्कार* (1883) और *उत्कल साहित्य* (1893)।

1870 के बाद उड़ीसा में राजा राममोहन राय के ब्रह्म समाज का प्रभाव पड़ने लगा। 1869 में कटक में उत्कल ब्रह्म समाज का गठन हुआ। 1881 और 1890 दशक में कटक और पुरी नगरों में अनेक सामाजिक संस्थाओं और संगठनों की नींव पड़ी। इन संगठनों ने शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ पुस्तक-प्रकाशन को भी प्रोत्साहन दिया। मधु सूदन राव (1853-1912) और विश्वनाथ कार (1864-1934) उड़िया के आरंभिक महान् लेखक थे। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में उड़ीसा में उपन्यास, कहानी, नाटक, जीवनी और यात्रा-वृत्तांतों के प्रकाशन हुए। जगमोहन लाल, फकीरमोहन सेनापति और उमेश चन्द्र सरकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरंभिक युग के प्रसिद्ध लेखक थे। उत्कल साहित्य प्रेस (कटक, 1897) उन्नीसवीं सदी के अंत में उड़ीसा का लब्धप्रतिष्ठ प्रकाशन गृह था।

उर्दू

उर्दू भारत की एकमात्र भाषा है जो किसी एक राज्य तक सीमित नहीं है बल्कि जिसके बोलने वाले सारे देश में पाए जाते हैं। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों को उर्दू भाषा के विकास का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है।

1801 में बंगाल में फारसी लिपि की चार प्रिंटिंग प्रेस थीं। इन प्रेसों ने *गुलिस्ताने सादी* और *तोता कहानी* जैसी पुस्तकें या बच्चों के लिए पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित कीं। उर्दू का पहला प्रेस लखनऊ में 1814-19 में स्थापित हुआ। इसकी स्थापना का श्रेय गाजीउद्दीन हैदर को है। उन्होंने *लुगातहफ्त किज़ूम, जादुल माल, ताजुल लुगात, फवायदे हैदरी* और *मानाकिब* हैदरी जैसी पुस्तकें प्रकाशित कीं। 1835 में लखनऊ में दो नई प्रेस खुलीं : मतबा हरमें शरी फैन और मतबाए मुस्तफाई। 1839 में *मालाबुद सिन्हा* नामक पुस्तक का प्रकाशत हुआ जिसमें इस्लामी विधिशास्त्र का विवेचन था। उपर्युक्त दोनों प्रेसों ने उर्दू और फारसी में अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं।

उन्नीसवीं सदी के चौथे, पांचवें और छठे दशकों में लखनऊ के अतिरिक्त दिल्ली, कलकत्ता, लाहौर, आगरा, बंबई, हैदराबाद, कानपुर, बनारस, इलाहाबाद, अमृतसर, बरेली, मद्रास, मुरादाबाद और मेरठ में उर्दू के अनेक प्रेस चालू हुए। उन्नीसवीं सदी के अंत में सारे देश में उर्दू के प्रायः 1,000 प्रेस थे। उनका विभाजन इस प्रकार था : लखनऊ (197), दिल्ली (119), कलकत्ता (86), लाहौर (87), आगरा (72), बंबई (54), हैदराबाद (39), कानपुर (33), वाराणसी (31), इलाहाबाद (35), अमृतसर (17), बरेली (15), मद्रास (32), मुरादाबाद (26) और मेरठ (43)।

इस सूची से अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्नीसदीं सदी में उत्तर भारत में उर्दू ओर फारसी पुस्तकों का प्रकाशन बड़े पैमाने पर हो रहा था।

कन्नड़

1956 में भाषागत राज्यों के निर्माण से पहले कन्नड़ भाषी लोग बंबई प्रांत हैदराबाद राज्य, मद्रास प्रांत और मैसूर राज्य में बंटे हुए थे। स्वतंत्रता आंदोलन के साथ ही कन्नड़भाषी लोगों के एकीकरण की मुहिम चलती रही थी जो 1956 में वर्तमान कर्नाटक राज्य के निर्माण के साथ पूरी हुई।

1838 में श्री रंगपट्टनम के श्रीकृष्णमार्चा ने श्री गलडनुडीगन्नड पुस्तक का प्रकाशन किया था। यह किसी स्थानीय व्यक्ति द्वारा आयोजित कन्नड़ का पहला प्रकाशन था। बीसवीं सदी के आरंभ में डॉ. एफ. किट्टर ने कन्नड़-कन्नड़-अंग्रेजी कोश का प्रकाशन किया। इसी काल में बंगलौर में वेसल्यान प्रेस और मंगलौर में बासेल मिशन प्रेस की स्थापना हुई। इन प्रेसों ने अनेक पत्र-पत्रिकाएं और पुस्तकें प्रकाशित कीं। इनमें से अनेक रचनाएं कन्नड़ से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतर भाषाओं में थी। 1844 में बेलारी में कन्नड़ की पहली प्रेस चालू हुई। इस प्रेस ने कन्नड़ भाषा में सभी विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित कीं। उसके द्वारा प्रकाशित पुस्तकों में बालोपयोगी शैक्षिक, सामान्य और छात्रोपयोगी पुस्तकें थीं। उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के आरंभ में कन्नड़ प्रकाशन ने एक नए दौर में प्रवेश किया। यह दौर स्वतंत्रता संग्राम का समकालिक था। इस काल में *तैयान्डू प्रजावाणी* और *विशाल कर्नाटक* जैसे पत्रों ने राष्ट्रीयता के संदेश को घर-घर तक पहुंचाया।

इस दौर के अग्रणी लेखक-पत्रकार थे : टी. टी. शर्मा, केसर वासुदेवाचार्य, आलू वैंकटराव, पंजे मंगेशराव, रामकृष्ण कारंथ शिवराम कारंथ। कर्नाटक विद्या वर्धाक संघ धारवाड़ ने *वाग्भूषण* का और केसर वासुदेवाचार्य ने *सचित्र भारतीय* नामक प्रत्रिकाओं का प्रकाशन किया।

कश्मीरी

कश्मीरी भाषा का उत्कर्ष 14वीं शताब्दी में हुआ। शुरू में संस्कृत और बाद में फारसी ने उसे आगे नहीं बढ़ने दिया। उन्नीसवीं सदी में महमूद गामी जैसे साहित्यकारों ने कश्मीरी भाषा को अपने पैरों पर खड़े होने में मदद दी। गुलाम मोहम्मद नूर और एस. आर. गुंज ने कश्मीरी भाषा की पुस्तकें प्रकाशित करना आरंभ किया।

कोंकणी

कोंकणी भाषा का जन्म दसवीं शताब्दी में हुआ। संत नामदेव के अभंगों में कोंकणी के चिह्न मिलते हैं। संत ज्ञानेश्वर की ज्ञानेश्वरी में भी कोंकणी की छाया है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में ईसाई मिशनरियों ने कोंकणी में धार्मिक साहित्य प्रकाशित किया। कोंकणी के आरंभिक लेखकों में श्रीवामन वर्दे वालूलिकर का नाम महत्त्वपूर्ण है।

गुजराती

महात्मा गांधी द्वारा अहमदाबाद में स्थापित गुजराती विद्यापीठ के पुस्तकालय के कापीराइट विभाग में 6,000 पुस्तकें हैं जो गुजराती भाषा में उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकाशित हुई थीं। इन पुस्तकों में उपन्यास, कहानी, यात्रा-वृत्त, कविता, नाटक और भूगोल की पुस्तकें हैं। विद्यापीठ के पुस्तकालय में सबसे पुरानी पुस्तक 1840 में दमण में प्रकाशित *विद्या संग्रह पोथी* है।

यह पुस्तक कई पाठ्य पुस्तकों का संग्रह है और स्कूली बच्चों के लिए है। सूरत से 1866 में एक गाइड बुक प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक का नाम *गुजराती न्निजी चांपड़ी ना अर्थ* है।

गुजराती में पहली मुद्रित पुस्तक थी *इलस्ट्रेशन्स ऑफ द ग्रामेटिकल पार्ट्स ऑफ द गुजराती, मराठा एंड इंग्लिश लैंग्वेजेज*। यह पुस्तक 1808 में बंबई की कूरियर प्रेस से प्रकाशित हुई थी। इस समय भारतीय जीवन में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे थे और प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना के बाद कई लेखकों ने अपनी रचनाएं स्वयं प्रकाशित कीं। इन लेखकों में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे इच्छाराम देसाई जिन्होंने 1848 में *हिंद आने ब्रितानिया (भारत और ब्रिटेन)* नामक पुस्तक प्रकाशित की। देसाई की अन्य रचनाएं थीं : तीन भागों में *चंद्रकांता* नामक उपन्यास, नौ खंडों में *बूबत काव्य दोहन* और *महाभारत* का गुजराती भाषा में अनुवाद। देसाई ने अपने सीमित साधनों के बावजूद एक बड़े प्रकाशन गृह की स्थापना की।

अंग्रेजों की भारत-विजय ने गुजरात में भारी उथल-पुथल पैदा की। पूर्व और पश्चिम का संपर्क दोनों संस्कृतियों के लिए बदलाव का कारण बना। दलपतराम (1820-1898) ने दोनों संस्कृतियों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। 1845 में उन्होंने बापानी पिपार नामक कविता प्रकाशित की। इस कविता को आधुनिक गुजराती साहित्य की पहली कविता माना जाता है। 1846 में गुजरात विद्या सभा की स्थापना हुई। इसका प्रधान कार्यालय अहमदाबाद में था। इस संस्था ने 30 सालों में 41 पुस्तकें प्रकाशित कीं। ये पुस्तकें सामाजिक सुधारों, शिक्षा, स्वास्थ्य, औषधि और साहित्य जैसे विषयों पर थीं। इस संस्था ने गुजराती कविताओं का एक संकलन प्रकाशित किया। जिसकी अल्पकाल में ही 3,000 प्रतियां बिक गईं।

सूरत में दुर्गाराम मेहता ने पुस्तकों के प्रसार के लिए पुस्तक प्रसारक मंडली नामक संस्था की स्थापना की। उन्होंने 1830 में एक प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना के लिए सरकार से अनुमति मांगी। दलपत राम के समसामयिक नर्मद (1833-1886) थे। उन्होंने *मेरी हकीकत* नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। उन्होंने *डंडियों* नामक एक पत्रिका का प्रकाशन भी किया। इस पत्रिका के माध्यम से उन्होंने सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया। नर्मद को आधुनिक गुजराती साहित्य का जनक कहा जाता है।

उन्नीसवीं सदी में गुजराती में पहले आधुनिक उपन्यास का प्रकाशन हुआ। इस उपन्यास का नाम था *कर्नागबेलो।*

उन्नीसवीं सदी में बंबई, कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इन विश्वविद्यालयों ने शिक्षा का प्रसार किया और गुजरात में मानवधर्म सभा तथा बुद्धिवर्धक सभा की स्थापना हुई। इन संस्थाओं के साथ ही प्रिंटिंग प्रेसों की संख्या भी बढ़ी।

गोवर्धनराम (1855-1907) ने चार भागों में *सरस्वती चंद्र* उपन्यास का प्रकाशन किया। इस उपन्यास का पहला भाग 1887 में, दूसरा 1892 में, तीसरा 1898 में और चौथा 1901 में प्रकाशित हुआ। इस काल में नरसिंह राव दिवेतिया (1859-1937) और कांत (1867-1923) ने अपनी विभिन्न रचनाओं द्वारा गुजराती साहित्य को समृद्ध किया।

पुस्तक समीक्षाएं पुस्तक-प्रकाशन का एक अभिन्न अंग रही हैं। नवलराम (1836-1888) ने *गुजरात शालपत्र* नामक पत्रिका में अनेक गुजराती पुस्तकों की समीक्षाएं प्रकाशित कीं। *सुंदरी सुबोध* नामक पत्रिका ने गुजराती कहानियों की रचना को प्रोत्साहन दिया।

1909 में गांधी जी का *हिंद स्वराज* प्रकाशित हुआ। 1919 में *नवजीवन, यंग इंडिया* और *हरिजन* प्रकाशित होने आरंभ हुए। नवजीवन-प्रकाशन मंदिर ने गुजराती में सस्ती और लोकहितकारी पुस्तकों के प्रकाशन में सराहनीय योग दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डोगरी

अमीर खुसरो ने 14वीं सदी में अपनी रचनाओं में डोगरी भाषा का उल्लेख किया है। डोगरी के आरंभिक साहित्यकारों में शिवराम (1755-1830), रघवीर दास (1750-1820), लक्खू (1750-1840), हकीम जट्ट (1807-1937), गंगाराम (1823-93) और रुद्रदत्त (1860-90) के नाम लिए जा सकते हैं। 1810-25 में डोगरी में तीन अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हुईं। ये पुस्तकें थीं—*राजावली धर्मपुस्तक* और *बचावे वाला कोका अई राजावली* फारसी की पुस्तक थी जिसके मूल लेखक बलिराम थे। इसका डोगरी में अनुवाद ताइल दल ने किया था। *धर्मपुस्तक न्यू टेस्टामेंट* का डोगरी भाषा में अनुवाद है। यह श्रीरामपुर मिशन की प्रेरणा से 1825 में प्रकाशित हुआ था। यह डोगरी की पहली मुद्रित पुस्तक है *बचावे वाला कोका अई* सेंट ल्यूक के गोस्पेल का डोगरी अनुवाद है। इन सभी पुस्तकों में देवनागरी लिपि का प्रयोग हुआ है। 1857-85 में जम्मू और कश्मीर के महाराज रणबीर सिंह ने डोगरी लिपि में सुधार किया। उन्होंने डोगरी में कुछ साहित्येतर पुस्तकें प्रकाशित कीं जिनमें भास्कराचार्य द्वारा गणित विषय पर संस्कृत में लिखित *लीलावती* का डोगरी अनुवाद प्रमुख है।

जम्मू और कश्मीर की राजभाषा उर्दू थी। इसलिए राज्य में स्थापित प्रिंटिंग प्रेस उर्दू लिपि में ही पुस्तकें प्रकाशित करती थी। डोगरी का पहला समाचार-पत्र *डोगरी मित्तर* था जो 1890 में प्रकाशित हुआ। जम्मू और कश्मीर में 1819 में सरकारी प्रेस की स्थापना हुई। इस प्रेस ने अंग्रेजी में गजट प्रकाशित किया लेकिन उसमें विज्ञापन डोगरी भाषा में दिए गए थे।

बीसवीं सदी के पहले 25 वर्षों में डोगरी के कुछ प्रमुख साहित्यकार थे : रामधन मेहता, मथुरादास तथा राम प्रसन्न शास्त्री।

तमिल

तमिल और संस्कृत भारत की सबसे प्राचीन भाषाएं हैं। भारत में पहली पुस्तक तमिल में 1557 में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक का नाम था : *थम्बुटन वांक्कम।* तमिल में पहले प्रेसों की स्थापना 1578 में काइलोन (केरल) और पुनाइकायल (तमिलनाडु) में हुई थी। 1712 में तरंगुबा (तमिलनाडु) में एक और तमिल प्रेस की स्थापना हुई। इस प्रेस ने 1715 में *न्यू टेस्टामेंट* का तमिल में अनुवाद प्रकाशित किया। इस प्रेस से तमिल व्याकरण और तमिल लैटिन कोश भी प्रकाशित हुए। 1779 में एक अन्य प्रेस से तमिल-अंग्रेजी कोश भी प्रकाशित हुआ।

1835 से भारतीयों ने तमिल भाषा में पुस्तकें प्रकाशित करनी आरंभ कीं। सरकार ने इन प्रकाशनों पर अपनी कड़ी नजर रखी। देशभक्तिपूर्ण साहित्य के प्रकाशन पर पाबंदी थी। इस काल में पांडिचेरी के मुट्टस्वामी पिल्लई ने ताड़पत्रों पर लिखी हुई तमिल पांडुलिपियों को एकत्रित किया और उनके प्रकाशन की व्यवस्था की। इनमें से कुछ मुख्य पुस्तकें थीं : *या पहंगला कारीगई* (1851), *भागवत गीता* (1832), *मलादियार* (1855)। डॉ. सामिनाथ अय्यर (1855-1942) ने तमिलनाडु के विभिन्न भागों से ताड़पत्रों पर लिखी हुई पांडुलिपियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को एकत्रित किया है। इनके द्वारा प्रकाशित प्रमुख ग्रंथ हैं : *सिविका सिन्थमबानी* (1887), *पाथ्रम पातु* (1886), *सिलपाथिकरम* (1892), *पूरनानून* (1894), *मानिमेकलाइ* (1898), *इन्युह, नूरू* (1903), *पाथित्रुप पाथू* (1904) और *पारिपाडल* (1913)।

तमिल भाषा में पहला उपन्यास *प्रदाप मदालियार चरितमुअम* था जो 1879 में प्रकाशित हुआ। इसकी रचना मायूराम वेदान्यगम पिल्लई ने की थी। सुब्रमण्य भारती (1882-1921) एक क्रांतिकारी कवि थे और उन्होंने स्त्रियों की स्वतंत्रता का समर्थन किया और एक आदर्श समाजवादी समाज के स्वप्न देखे।

सुब्रमण्य स्वामी जब 39 वर्ष के थे, तभी उनकी मृत्यु हो गई। भारती-दासन (1891-1962) ने अपनी रचनाओं के द्वारा समाज में फैली कुरीतियों तथा अंधविश्वासों पर प्रहार किया। तमिल गद्य के विकास में थिरू विका की देन महत्त्वपूर्ण है। तमिल नाटक में पम्माल संबंद मुदालियर का योगदान सराहनीय है। उन्होंने 60 से अधिक नाटक लिखे हैं। इस काल में शैक्सपीयर के अनेक नाटकों के भी तमिल में अनुवाद प्रकाशित हुए। वेणुगोपाल चारियर ने शैक्सपीयर के *मर्चेन्ट ऑफ वेनिस* का तमिल में अनुवाद प्रकाशित किया। फ्रांसीसी नाटककार मार्ले के नाटक *मादजर,* सोफोक्लीज के कुछ यूनानी नाटकों तथा कालिदास के संस्कृत नाटक *शाकुंतलम्* के भी तमिल में अनुवाद प्रकाशित हुए।

1891 में जान मुडरोच ने क्रिश्चियन लिटरेचर सोसायटी की स्थापना की। इस संस्था ने ईसाई साहित्य के प्रसार में योग दिया है। 1908 में एलायंस एंड कं. की स्थापना हुई। इस संस्था ने अनेक सृजनात्मक और अनूदित पुस्तकें प्रकाशित कीं।

तेलुगु

तेलुगु में प्रकाशन का कार्य उन्नीसवीं सदी के मध्य में शुरू हुआ। कहते हैं तेलुगु की पहली मुद्रित पुस्तक नूरू *ज्ञान वचनात्* थी जिसे जर्मनी में बेंजामिन शुल्ज ने प्रकाशित किया था। तेलुगु की पहली प्रिंटिंग प्रेस 1812 में मद्रास में स्थापित हुई थी। इस प्रेस में इसी साल *तेलुगु बाइबिल* (न्यू टेस्टामेंट) का प्रकाशन किया। 1800-1900 के बीच तेलुगु में निम्नलिखित मुख्य रचनाएं प्रकाशित हुईं : क्वेरी की *तेलुगु व्याकरण* (1812), विलियम ब्राउन का कोश, *आंध्रनाम संग्रबामू* (1818), *डंकन कैम्पबेल डिक्शनरी* (1821), *स्टोरीज़ ऑफ पंचतंत्र* (1834), *कासीयात्रा चरित्र* (1838), *तेलुगु व्याकरणनाम* (1840) *नलचरित्र* (1841), *चार्ल्स फिलिप ब्राउन्स डिक्शनरी* (1852) *नीति चंद्रिका* (1853), *बाल व्याकरणाम्* (1858), *श्रीमदविश्वकर्माप्राणाम् बैंकटाचारीड* (1889), *गयोपारवीनाम्* (1890), *चित्रानालीयान्* (1894), *प्रतापर्तुद्रियाम्* (1897)।

इस काल में राजाओं, जमींदारों तथा धार्मिक संस्थाओं ने मुद्रण-कार्य के लिए वित्तीय सहायता दी। इसका कारण यह था कि अधिकतर जो पुस्तकें प्रकाशित होती थीं, वे धार्मिक पुस्तकें होती थीं। साहित्यिक पुस्तकों के प्रकाशन का श्रीगणेश वाबीला रामस्वामी सास्त्रूलू एंड संस (मद्रास) तथा वेदम वैंकटरामय्या शास्त्री एंड संस (मद्रास) में किया। ये प्रकाशन गृह प्रायः 100 साल तक चलते रहे और उन्होंने 1,000 साहित्यिक तथा वरेण्य पुस्तकें प्रकाशित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कीं। बीसवीं सदी के आरंभिक काल के कुछ अन्य उल्लेखनीय प्रकाशन-गृह थे : विज्ञान चंद्रिका ग्रंथ मंडली (मद्रास) खारूरु त्यागराय चेट्टी (मद्रास), वैंकटाराम एंड कं. (एलूरू), रामा एंड कं. (मद्रास) सी. वी. कृष्णा बुक डिपो (मद्रास)। वैंकट राम एंड कं. तथा रामा एंड कं. ने विद्यालय स्तर की पाठ्य पुस्तकें भी प्रकाशित कीं।

पंजाबी

बीसवीं सदी के आरंभ में पंजाबी में केवल धार्मिक पुस्तकें प्रकाशित होती थीं 1936 में सरदार गुरबख्श सिंह प्रीतलड़ी ने प्रीतलड़ी प्रकाशन आरंभ किया। पंजाब के मूर्धन्य साहित्यकार भाई वीरासिंह ने अपने प्रकाशनों के लिए बजीरहिंद प्रेस स्थापित किया। प्रीतलड़ी प्रकाशन के बाद लाहौर बुक शॉप, सिख पब्लिशिंग हाउस, पंज दरिया पब्लिकेशन, नेशनल बुक शॉप और सिंह ब्रदर्स ने पंजाबी में प्रकाशन कार्य आगे बढ़ाया।

बंगाली

बंगाल में अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में सरकारी प्रिंटिंग प्रेस स्थापित हुई। 1800 में फोर्ट विलियम कालिज और श्रीरामपुर बाप्टिस्ट मिशन प्रेस स्थापित हुए। उन दोनों ने बंगाली पुस्तकों के मुद्रण तथा प्रकाशन को बढ़ावा दिया। 1817 में स्कूल बुक सोसाइटी की स्थापना के फलस्वरूप बंगाली में प्रकाशन कार्य तेजी से आगे बढ़ा।

गंगाकिशोर भट्टाचार्य पहले बंगाली प्रकाशक थे। वे श्रीरामपुर प्रेस में काम कर चुके थे। उन्होंने 1816 में एक प्रेस की स्थापना की और *बंगाली गजट* नामक पत्र निकालना आरंभ किया। इसके अलावा भट्टाचार्य ने *विद्यासुंदर, आनंद मंगल और बेताल* जैसी पुस्तकें भी प्रकाशित कीं। हरचन्द्रराय, विश्वनाथ देव और महेंद्रलाल जैसे व्यक्तियों ने कलकत्ते में प्रिंटिंग प्रेस स्थापित की। ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने अपने संस्कृत प्रेस की स्थापना की और पुस्तकों की एक दुकान भी खोली। पंचानन करमाकर ने बंगाली टाइप फोंट बनाए। शुरू में बंगाली पुस्तकें अरबी, देवनागरी, उड़िया और रोमन लिपियों में प्रकाशित होती थीं। 1820-30 के बीच में बंगाल में कम से कम बीस प्रेस काम कर रहे थे।

बंगाली लिपि में प्रकाशित होने वाली पहली पुस्तक *बंगाली व्याकरण* पर थी। इस पुस्तक की रचना नाथनियल ब्रेसी हालहेड ने की थी। इसका मुद्रण श्रीराम प्रेस में हुआ था। इसके बाद बंगाली लिपि में संस्कृत की कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इस काल में बंगाली में कुछ पत्र-पत्रिकाएं भी प्रकाशित होने लगीं। इनमें मुख्य थीं : *दिग्दर्शन, समाचार दर्शन, हरकारा, तत्त्वबोधिनी, सम्वाद भास्कर, सम्बाद प्रभाकर, बंगादर्श, संजीवनी, भारतवर्ष, प्रवासी, बासुमती, बिचित्र,* आदि।

1852 में आयरलैंड के मिशनरी जेम्स लोंग ने बंगाली भाषा में प्रकाशित पुस्तकों की एक सूची निकाली। इस सूची में 1,084 पुस्तकों का विषयवार विवरण था। लोंग ने 1853 और 1959 में इस प्रकार की दो ग्रंथ-सूचियां और प्रकाशित कीं। 1819 में श्रीरामपुर प्रेस ने *समाचार दर्पण* नामक पत्र का प्रकाशन शुरू किया। उन्नीसवीं सदी के मध्य में बंगाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में पुस्तक-व्यवसाय तेज़ी से आगे बढ़ने लगा था।

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में बंगाली में विधिशास्त्र पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। 1801 में ओल्ड टेस्टामेंट का और 1802 में न्यू टेस्टामेंट का बंगाली अनुवाद प्रकाशित हुआ। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, सत्येन्द्रनाथ दत्त, ज्योतिन्द्रनाथ टैगोर और दिनेन्द्र कुमार राय ने दूसरी भाषाओं से बंगाली में पुस्तकों के अनुवाद किए। इस काल के गद्य लेखकों में कुछ उल्लेखनीय नाम थे : देवेन्द्रनाथ टैगोर, ईश्वर गुप्ता, अक्षय दत्त, राजनारायण बसु, द्विजेन्द्रनाथ टैगोर और मीर मुसरा हुसैन। *बंगदर्शन* ने बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय, हरप्रसाद शास्त्री रामदास सेन अक्षय सरकार और राजकृष्ण मुखोपाध्याय जैसे साहित्यकारों की रचनाएं प्रकाशित कीं।

1860 के बाद बंगाली में अनेक साहित्यिक पत्रिकाएं आरंभ हुईं जिनमें *बांधव* मासिक पत्रिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस पत्रिका को काली प्रसन्न घोष ने ढाका से शुरू किया था। *बामाबोधिनी पत्रिका* पहली महिला पत्रिका थी जिसने स्त्रियों में जागृति लाने का कार्य किया।

मराठी

मराठी में पहली पुस्तक सत्रहवीं शताब्दी में रोमन लिपि में शिवाजी के समय में प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक *कृष्टा-पुराण* थी और इसे गोआ के ईसाई मिशनरियों ने प्रकाशित किया था। महाराष्ट्र में प्रिंटिंग प्रेस स्थापित करने का हल्का प्रयत्न किया गया था। लेकिन मराठा शासकों ने इसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्नीसवीं सदी में कलकत्ता के निकट स्थापित श्रीरामपुर के मिशनरियों ने देवनागरी लिपि में मराठी पुस्तकों का प्रकाशन आरंभ किया। उन्नीसवीं सदी में महाराष्ट्र में मुख्य रूप से धर्म और सामाजिक सुधारों संबंधी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इस दिशा में न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे की देन महत्त्वपूर्ण है। शुरू के दौर में निर्णय सागर प्रेस के जाबजी दादाजी और रानोजी आरु ने मराठी फोंटों के निर्माण का कार्य किया और संस्कृत में अनेक पुस्तकें छापीं। लोकमान्य तिलक के समय में आर्य भूषण, चित्रशाला और नवीन किताबखाना जैसे प्रेसों ने मराठी प्रकाशनों की नींव रखी। ऑक्सफोर्ड, लोंगमैन और मैकमिलन जैसे ब्रिटिश प्रकाशन-गृहों ने अन्य भारतीय भाषाओं के साथ-साथ मराठी भाषा में भी कुछ पुस्तकें प्रकाशित कीं। मराठी के कुछ आरंभिक प्रकाशन गृह थे : मंगेशराव कुलकर्णी, केशव भीखाजी, धावाले देशमुख एंड कं., कन्टीनेन्टल प्रकाशन, वीनस प्रकाशन (पूना) और वीणा प्रकाशन (नागपुर)।

मलयालम

भारत में मलयालम की पहली प्रकाशित पुस्तक न्यू टेस्टामेंट का मलयाली अनुवाद था। इसे 1811 में बंबई के कूरियर प्रेस ने छापा था। इस समय मलयालम में कुछ व्याकरण-ग्रंथ और कोश भी प्रकाशित हुए। बेंजामिन बैली ने 1821 में कोट्टायम में सी.एम.एस. प्रेस की स्थापना की। इस प्रेस से प्रकाशित होने वाली पहली मलयालम पुस्तक थी *चेस्ट पैंथंगल।* यह बच्चों की पुस्तक थी। इस प्रेस ने 1846 और 1849 में मलयालम-अंग्रेजी और अंग्रेजी-मलयालम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोश प्रकाशित किए। सी.एम.एस. प्रेस ने मलयालम में कुछ अन्य पुस्तकें प्रकाशित कीं, वे थीं : जार्ज माथेन द्वारा लिखित मलयालम भाषा का व्याकरण (1863) और रिचर्ड कोलिन्स द्वारा संपादित मलयालम-मलयालम कोश (1865)।

जर्मनी के एक मिशनरी डॉ. हरमन गुंडर्ट ने मलयालम-अंग्रेजी कोश और व्याकरण के अलावा मलयालम में 50 पुस्तकों की रचना की। इन सभी पुस्तकों का मुद्रण और प्रकाशन मंगलौर और तेलीचेरी में स्थापित वेसेल मिशन प्रेस ने किया। उनका व्याकरण ग्रंथ 1851 में प्रकाशित हुआ था और मलयालम अंग्रेजी कोश 1872 में।

इस काल में कुछ और प्रिंटिंग प्रेस भी स्थापित हुए। त्रावणकोर के महाराजा थिरूनाल राम वर्मा (1813-1846) ने 1835-36 में तिरुवांतपुरम में सरकारी प्रेस की स्थापना की। इसी तरह के एक प्रेस की स्थापना 1845-46 में कोचीन के महाराजा ने की। कोट्टायम के निकट मन्नानाम में 1844 में छावरा कुरियाकोस एलिआस (1805-1871) सेंट जोजेफ प्रेस की स्थापना की।

ईश्वरपिल्लै द्वारा 1852 में थिरवंतपुरम् में स्थापित केरलविलासम प्रेस केरल का पहला प्रिंटिंग और प्रकाशन गृह था जो व्यावसायिक दृष्टि से सफल हुआ। इस प्रकाशन गृह ने अनेक साहित्यिक पुस्तकें प्रकाशित कीं। इस काल में कुछ और प्रतिष्ठित प्रकाशन गृह थे विद्याविलासम प्रेस, सेंट थामस प्रेस और वेस्टर्न स्टार। विद्याविलासम प्रेस की स्थापना 1860 में कालीकट और मंजेरी में हुई थी। इसके संस्थापक कलाहस्ति अप्पा मुदालियर थे। सेंट थामस प्रेस की स्थापना 1862 में पारामेल इट्टोप ने कोचीन में की थी। वेस्टर्न स्टार प्रेस के संस्थापक एक यूरोपीय थे—पाल मेलविनवाकर। उन्होंने इस प्रेस की स्थापना 1862 में कोचीन में की थी। इन प्रकाशन गृहों ने रामायण, महाभारत तथा अन्य साहित्यिक ग्रंथों का प्रकाशन और विक्रय किया। वेस्टर्न स्टार प्रेस ने 1864 में वेस्टर्न स्टार नाम का एक समाचार-पत्र भी प्रकाशित करना आरंभ किया।

1866 में एक गुजराती सज्जन देवजी भीमजी ने कोचीन में केरलामित्रम प्रेस स्थापित किया। इस प्रेस के फलस्वरूप मलयालम प्रकाशन उद्योग को बढ़ावा मिला। 1881 में इस प्रेस ने श्री कंदाथिल वर्गीज मापिलई के संपादकत्व में *केरलमित्रम* नामक साप्ताहिक पत्र निकालना आरंभ किया। इस प्रेस ने देवनागरी लिपि में संस्कृत के भी कुछ ग्रंथ प्रकाशित किए। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में केरल में दो प्रकाशन-गृहों ने विशेष ख्याति अर्जित की। ये प्रकाशन-गृह थे : विद्यारत्न प्रभा प्रेस, कुन्नाकुलम (1879) और केरल कल्पद्रुमम प्रेस, थ्रिसूर (1886)। इन प्रकाशन-गृहों ने प्राचीन गौरव ग्रंथों के मूल संस्करण प्रकाशित किए और उन्हें कम से कम मूल्यों पर पाठकों को सुलभ किया। एस. टी. रेड्डियार ने 1866 में काइलोन (कोल्लम) में विद्यानिवार्धिनी प्रेस की स्थापना की और अपने मलयाली साहित्यिक प्रकाशन द्वारा मलयाली प्रकाशन के क्षेत्र में क्रांति ला दी।

कांदार्थल वर्गीज मैपिलई ने 1888 में मलयालम मनोरमा की स्थापना की। मलयालम मनोरम कंपनी ने शुरू से ही मलयाली प्रकाशन उद्योग की उन्नति में सराहनीय योग दिया। महाकवि वल्लतोल और बोधेश्वरन की देशभक्तिपूर्ण रचनाओं ने स्वतंत्रता आंदोलन को गति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी। श्रीकुलानकुनथ रामन मेनन ने 1902 में तिरुवंतपुरम में बी. वी. बुक डिपो और कमलालय प्रेस की स्थापना की। इस प्रकाशन गृह ने केरल वर्मा वेलिया कोइथमपूरन ए. आर. राजाराम वर्मा और सी. वी. रामन पिल्लै आदि जाने-माने लेखकों की रचनाएं प्रकाशित कीं।

श्री मालियामाबू कुंजीवरीद ने 1904 में ब्रिसूट (त्रिचूर) में भारतविलासम प्रेस की स्थापना की। यह स्वतत्रंता-पूर्व काल का एक प्रमुख प्रकाशन गृह था। श्री कुंजूवरीद को पुस्तक प्रकाशन का गहरा अनुभव था।

काइकुलंगार रामा वेरिया, टी.सी. परमेश्वरन और अन्तौर कृष्ण पिशार्दी जैसे लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने इस प्रकाशन गृह में संपादकों की हैसियत से काम किया।

संस्कृत

संस्कृत भारत की अधिकांश भाषाओं की स्रोत है। हिंदुओं का अधिकार धार्मिक और दार्शनिक साहित्य संस्कृत में रचा गया था।

वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण, स्मृति-ग्रंथ में हिंदू चिंतन के आधार-तत्त्व मिलते हैं। संस्कृत भाषा और साहित्य की जानकारी के बिना भारतीय मानस को नहीं समझा जा सकता।

अंग्रेजी शासकों ने संस्कृत के महत्त्व को समझा था और उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में कलकत्ता में अरबी, फारसी और संस्कृत में पुस्तकों के प्रकाशन के लिए एक प्रेस की स्थापना की गई थी। कई अंग्रेज विद्वानों ने संस्कृत की प्राचीन पुस्तकों के अंग्रेजी अनुवाद किए। एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल बोम्बे लिटरेटी सोसायटी (1804) और मद्रास लिटरेटी सोसायटी (1834) ने संस्कृत पांडुलिपियों की खोज तथा उनके संपादन और मुद्रण का कार्य योजनाबद्ध रीति से किया। *बिब्लियोथेका इंडिका* (कलकत्ता, 1849), *काव्यमाला* (बंबई, 1886) द बोम्बे गवर्नमेंट संस्कृत एंड प्राकृत सिरीज (1891), *द बिब्लिओथेका संस्कृतिया* (मैसूर 1893), त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज (1905) और गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज (1916) के तत्त्वावधान में संस्कृत की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुईं। सर विलियम जोन्स (1746-1794) ने संस्कृत के अध्ययन में विशेष रुचि ली। उन्होंने 1784 में कलकत्ते में एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की। इस संस्था ने प्राचीन भारत की खोज की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने 1853-71 की अवधि में कलकत्ते से *रघुवंश, कुमार संभव, मेघदूत, अभिज्ञान शाकुंतल, उत्तर रामचरित* और *सर्वदर्शन संग्रह* जैसे ग्रंथों के संपादित संस्करण प्रकाशित किए। जीवानंद विद्यासागर ने 1880 में कलकत्ते से संस्कृत पुस्तकें प्रकाशित करना आरंभ किया। 1884 में तारकनाथ तर्कवाचस्पति ने संस्कृत का महत्त्वपूर्ण *कोश वाचस्पत्यम्* प्रकाशित किया। 1885 में बंबई में निर्णय सागर प्रेस की स्थापना हुई। 1886 में वाराणसी के गवर्नमेंट संस्कृत कालेज से *पंडित* नामक मासिक पत्रिका निकलने लगी। 1892 में हरिदास गुप्ता ने वाराणसी में चौखंभा प्रेस की स्थापना की। इस प्रकाशन-गृह ने संस्कृत के सभी क्षेत्रों में प्रकाशन किए हैं। चौखम्मा के ढंग पर ही निर्णय सागर प्रेस, बंबई, आनंदाश्रम प्रेस, पूना, जीवानंद विद्यासागर, कलकत्ता, वाणी विहार प्रेस श्रीरंगम्, वैंकटेश्वर प्रेस, बंबई, मेहरचंद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लछमनदास, लाहौर और मोतीलाल बनारसीदास ने संस्कृत प्रकाशन के क्षेत्र में बहुमूल्य सेवाएं की हैं।

सिंधी

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सिंधी भाषा में तीन प्रकार के प्रकाशक कार्यरत थे : सामान्य प्रकाशक, संस्थागत प्रकाशक और लेखक-प्रकाशक।

सामान्य प्रकाशकों में सुक्कुर के हरीसिंह दिंगोमल और शिकारपुर के पोकरदास थनवरदास मुख्य थे। संस्थागत प्रकाशकों में कुछ सरकारी प्रकाशक थे और कुछ गैर सरकारी। हैदराबाद का सिंधी अरबी बोर्ड शिक्षा विभाग के अंतर्गत सरकारी प्रकाशन गृह था। कराची की सनातन धर्म प्रचार सभा गैर-सरकारी संस्थागत प्रकाशन गृह के रूप में कार्य करता था। लेखक-प्रकाशकों में हैदराबाद के आडवाणी ब्रदर्स का नाम उल्लेखनीय है। इस काल में सिंधी में जो पुस्तकें प्रकाशित होती थीं उनमें फारसी-अरबी लिपि, गुरुमुखी लिपि और देवनागरी लिपि तीनों का प्रयोग होता था।

1843 में सिंध पर अंग्रेजों का कब्जा हुआ और इसके बाद 1853 में अंग्रेजों ने सिंधी के लिए फारसी-अरबी लिपि का प्रयोग शुरू किया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सिंधी के चार प्रमुख निबंधकार थे : कारोमल चंदनमल खिलानी (1844-1914) मिरजा किलाचबेग (1853-1979), दयाराम गिदूमल (1857-1927) और परमानंद मेवाराम (1865-1938), इन लेखकों ने मौलिक ग्रंथों की रचना करने के साथ-साथ संस्कृत, हिंदी, फारसी और अंग्रेजी से पुस्तकों के अनुवाद अथवा रूपांतर भी किए। कारोमल चंदनमल ने 1905 में *आर्य नारी चरित्र* का प्रकाशन किया। मिर्जा कालिच बेग ने 300 से अधिक पुस्तकों के प्रकाशन द्वारा सिंध के सांस्कृतिक जीवन को उन्नत करने का प्रयास किया। परमानंद मेवाराम ने *जोत* नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित की।

हिंदी

अन्य भारतीय भाषाओं की भांति ही हिंदी में प्रकाशन का कोई क्रमबद्ध विवरण नहीं मिलता। इसका अध्ययन करने के लिए जिन विषयों पर सामग्री चाहिए वे हैं : प्रकाशकों का दृष्टिकोण, लेखक-प्रकाशक के संबंध, पुस्तक-प्रकाशन की प्रक्रिया, मुद्रण-सुविधाएं, पुस्तक की साज-सज्जा, बाइडिंग, पुस्तक की बिक्री, प्रोन्नति के उपाय, वितरण-प्रणाली, निर्यात-व्यवस्था, पुस्तकों के प्रकार आदि। इन विषयों के बारे में कहीं कोई आधारभूत सामग्री नहीं हैं। इसलिए यत्र-तत्र बिखरे हुए सूत्रों के आधार पर कुछ मोटे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

हिंदी में प्रकाशन की कहानी प्रायः दो-सौ साल पुरानी है। हिंदी प्रकाशन को प्रोत्साहन देने वाले तत्त्व रहे हैं : सरकार का संरक्षण, शैक्षिक सुविधाएं, बौद्धिक जागृति, मुद्रण की सुविधाएं और लेखकों का बाहुल्य।

हिंदी प्रकाशन सबसे पहले कलकत्ता में शुरू हुआ क्योंकि वहां ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्यालय था। समूचे बंगाल में पाश्चात्य शिक्षा की ज्योति सबसे पहले जगी और राजा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राममोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, बंकिम चंद्र चटर्जी जैसे लोकनायकों ने सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक और साहित्यिक जागृति का शंखनाद किया। ईस्ट इंडिया कंपनी को अपना शासन चलाने के लिए ऐसे लोगों की आवश्यकता थी जो भारतीय भाषाओं और रीति-रिवाजों से परिचित हों। इसलिए उन्होंने हिंदी शिक्षा का विशेष प्रबंध किया और पुस्तकें लिखवाईं। इसके अतिरिक्त ईसाई मिशनरियों ने ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए अपने धार्मिक साहित्य का हिंदी में अनुवाद किया और उसका प्रचार किया।

यदि लेखन पुस्तक-व्यवसाय का प्राण है, तो उसका प्राण है मुद्रण। भारत में मुद्रण कला प्रारंभिक युग में ईसाई मिशनरियों के हाथों में थी। ईसाई मिशनरियों ने फोर्ट विलियम कालिज और श्रीरामपुर के मिशन केंद्र में अनेक विषयों पर पुस्तकें मुद्रित कीं। फोर्ट विलियम कालिज में 50 से अधिक पंडित, मौलवी और मुंशी कार्य करते थे। कालिज में हिंदुस्तानी विभाग के अध्यक्ष कैप्टेन विलियम प्राइस की एक उल्लेखनीय पुस्तक *हिंदुस्तानी सलैक्शंस* है जो दो खंडों में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक का प्रकाशन-काल 1826-1830 है।

इस काल में जिन प्रकाशन-संस्थाओं ने हिंदी में ग्रंथ छापे उनमें तीन संस्थाएं मुख्य हैं : नार्थ इंडिया ट्रैक एंड बुक सोसायटी, कलकत्ता बुक सोसायटी और बंगाल एशियाटिक सोसायटी। इन संस्थाओं के अतिरिक्त अमरीकी प्रेसबिटीरियन मिशन, बेपरिस्ट मिशनरी सोसायटी, चर्च मिशनरी सोसायटी, सोसायटी फॉर द प्रोपेगेशन ऑफ द गास्पल, लंदन मिशनरी सोसायटी, अमरीकी इवैन्जलिकल मिशन, मेथोडिस्ट एपिस्कोपल चर्च तथा स्वीडिश मिशन ने भी हिंदी की अनेक पुस्तकें छापीं। डॉ. विलियम केरी, हेन मार्टिन, डॉ. गिलक्राइस्ट, गार्सा द तासी, डॉ. ग्रियर्सन और ग्रीफ्स ने भाषा इतिहास के क्षेत्र में, केटलेया हेडले, स्टीबर्ट, याट्स, चैयमेन, जान शेक्सपीयर, डन्कन फार्ब्स, डॉ. मोनियर विलियम्स, एथरिंगटन, विलियम, हूपर और बीम्स आदि ने व्याकरण के क्षेत्र में तथा तुरी ने किन्सस, फार्गुसन, हेरिस, हंटर, विलिकंस, विल्सन, इलियट, ग्रांट, यूले प्लाट्स आदि ने कोश-निर्माण के क्षेत्र में आरंभिक कार्य किया। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक लेखक और समीक्षक हुए जिन्होंने हिंदी साहित्य के विविध विषयों पर कार्य किया और अपनी रचनाएं प्रकाशित कीं। उनमें टेसीटरी, हिल, एटकिन्स, वाकर, राइट्स, होलींग्स जैसे विद्वानों के नाम स्मरणीय हैं।

इस काल में जिन ग्रंथों की रचना और मुद्रण हुआ, उनके पाठकों की निर्दिष्ट संख्या अधिक न थी। ये कार्य हिंदी भाषा की निर्व्याज भाव से सेवा करने के उद्देश्य से संपन्न नहीं हुए थे। इन प्रकाशनों का लक्ष्य अंग्रेज शासकों के मन में यह योग्यता उत्पन्न करना था कि वे भारतीय समाज और उसकी मनीषा को समझ सकें तथा अंग्रेजी शासन की जड़ को मजबूत करने में योग दें। फिर भी, इन प्रयत्नों ने हिंदी भाषा में प्रकाशन का बीज रोपा जो कालांतर में बट-वृक्ष के रूप में पल्लवित हो सका।

कलकत्ता जैसे महानगर में साहित्य प्रेमी संपन्न व्यक्तियों ने पुस्तकालय स्थापित किए जो हिंदी ग्रंथों के लिए सबसे अधिक समृद्ध हैं।

कलकत्ते में हिंदी के जो भी प्रकाशन हुए वे मूलतः ईस्ट इंडिया कंपनी की अपनी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए थे। उनका साधारण पाठकों के लिए कोई महत्त्व न था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां साहित्यिक कृतियों की न रचना हुई और न प्रकाशन। यह कार्य अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर काशी में आरंभ हुआ। काशी भारत की सबसे प्राचीन नगरी होने के साथ ही देश की सांस्कृतिक और धार्मिक आस्थाओं की प्रतीक थी और स्वभावतः वहां साहित्य-सृजन के प्रेरणा-स्रोत विद्यमान थे।

काशी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मंडल के अन्य सहयोगियों ने हिंदी में अनेक ग्रंथों की रचना की। आचार्य श्याम सुंदर दास ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की जिसने हिंदी के विकास के लिए चतुर्मुखी कार्य किया। काशी में जिन प्रकाशन संस्थाओं ने हिंदी में ग्रंथ प्रकाशित किए और जिनमें से कुछ अब तक चल रही हैं उनमें से प्रमुख हैं : ज्ञानमंडल, चौखंभा, भार्गव बुक डिपो, लहरी बुक डिपो, हिंदी प्रचारक संस्थान, नंदकिशोर, आदि।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने *हिंदी शब्द सागर* का निर्माण कर एक अभूतपूर्व कार्य किया। इसके अतिरिक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने *हिंदी साहित्य का इतिहास* लिखा जिसने हिंदी में साहित्य के इतिहास-लेखन की परंपरा आरंभ की।

सारांश

भारतीय नवजागरण के उदय और विकास में साहित्य का भी अपना योगदान रहा है। भारत की विभिन्न भाषाओं में ऐसे अनेक साहित्यकार हुए हैं जिनकी रचनाओं ने भारतीय नवजागरण की भावना को पुष्ट किया है। भारतीय नवजागरण का एक पहलू भारत की सभी भाषाओं में पुस्तकों का प्रकाशन है।

भारत को अंग्रेजी ब्रिटिश शासन की देन है। भारतीय पुस्तक उद्योग के विकास में और उसे अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर प्रतिष्ठित करने में अंग्रेजी का विशेष हाथ रहा है।

असमिया भाषा में प्रकाशन उन्नीसवीं सदी के मध्य में आरंभ हुआ। हेमचंद्र बरुआ ने *हेमकोश* नामक असमिया कोश का निर्माण किया जो 1859 में प्रकाशित हुआ। लक्ष्मीकांत बरुआ, रजनीकांत बारदोली, चंद्रकुमार अग्रवाल, लंबोदर बोरा, हेमचन्द्र गोस्वामी और सत्यनाथ बोरा स्वतंत्रता पूर्वकाल में असमिया के प्रमुख साहित्यकार थे।

उड़िया का पहला मुद्रण यंत्र 1837 में कटक में स्थापित हुआ। उड़ीसा के अनेक राजाओं और जमींदारों ने पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन को प्रोत्साहन दिया। उड़ीसा के कुछ प्रमुख लेखक थे : मधुसूदन राव, विश्वनाथ कार, जगमोहन लाल, फकीर मोहन सेनापति और उमेशचंद्र सरकार।

उर्दू भारत की ऐसी भाषा है जो किसी एक राज्य तक सीमित नहीं है। इस भाषा के बोलने वाले सारे देश में पाए जाते हैं। उर्दू का पहला प्रेस लखनऊ में 1814 में स्थापित हुआ। उन्नीसवीं सदी के अंत में सारे देश में उर्दू के प्रायः 1000 प्रेस थे।

1838 में श्री रंगपट्टनम् के श्री कृष्ण मार्चा ने श्री *गलडनुडीगन्नड़* नामक पुस्तक का प्रकाशन किया। बीसवीं सदी के आरंभ में डॉ. एफ. किट्टर ने कन्नड़-कन्नड़-अंग्रेजी कोश का प्रकाशन किया। कन्नड़ के आरंभिक दौर के प्रसिद्ध लेखक थे : टी. टी. शर्मा, केसर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वासुदेवाचार्य, आलू वैंकटराव, पंजे मंगेशराव और रामकृष्ण कारंथ।

कश्मीरी भाषा का उत्कर्ष 14वीं शताब्दी में हुआ। उन्नीसवीं सदी में महमूद गामी जैसे साहित्यकारों ने कश्मीरी भाषा को समृद्ध किया। गुलाम मोहम्मद नूर और एस. आर. गुंज ने कश्मीरी भाषा की पुस्तकें प्रकाशित करना आरंभ किया।

कोंकणी भाषा का जन्म दसवीं शताब्दी में हुआ। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में ईसाई मिशनरियों ने कोंकणी में धार्मिक साहित्य प्रकाशित किया।

गुजराती भाषा में पहली मुद्रित पुस्तक थी *इलस्ट्रेशन्स ऑफ द ग्रामेटिकल पार्ट्स ऑफ द गुजराती, मराठा एंड इंग्लिश लैंग्वेजेज* जो बंबई की कूरियर प्रेस से 1808 में प्रकाशित हुई थी। 1848 में इच्छाराम देसाई ने *हिंद आने ब्रितानिया* (भारत और ब्रिटेन) नामक पुस्तक प्रकाशित की। गुजराती के कुछ प्रसिद्ध लेखक थे : दलपतराम, नर्मद, गोवर्धनराम और नरसिंह राव।

डोगरी के आरंभिक लेखकों में शिवराम, रघवीर दास, लक्खू, हकीम जट्ट, गंगाराम और रुद्रदत्त के नाम लिए जा सकते हैं। डोगरी का पहला समाचार-पत्र *डोगरी मित्तर* था जो 1890 में प्रकाशित हुआ।

तमिल और संस्कृत भारत की सबसे प्राचीन भाषाएं हैं। भारत में पहली पुस्तक तमिल में 1557 में प्रकाशित हुई थी। 1715 में तमिल में *न्यू टेस्टामेंट* का अनुवाद प्रकाशित हुआ। 1855 में भारतीयों ने तमिल भाषा में पुस्तकें प्रकाशित करनी आरंभ की। पांडिचेरी के मुट्टस्वामी पिल्लई ने ताड़पत्रों पर लिखी हुई तमिल पांडुलिपियों को एकत्रित किया और उनके प्रकाशन की व्यवस्था की। सुब्रमण्य भारती (1882-1921) क्रांतिकारी कवि थे जिन्होंने स्त्रियों की स्वतंत्रता का समर्थन किया। 1891 में जान मुडरोच ने क्रिश्चियन लिटरेचर सोसायटी की स्थापना की। इस संस्था ने ईसाई साहित्य के प्रसार में योग दिया।

तेलुगु में प्रकाशन का कार्य उन्नीसवीं सदी के मध्य में आरंभ हुआ। कहा जाता है तेलुगु की, पहली मुद्रित पुस्तक *नूरू ज्ञान वचनात्* थी जिसे जर्मनी में बेंजामिन शुल्ज ने प्रकाशित किया था। तेलुगु की पहली प्रिंटिंग प्रेस 1812 में स्थापित हुई थी। 1800-1900 के बीच तेलुगु में व्याकरण, कोश, कथा तथा नीतिशास्त्र पर अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए। तेलुगु में साहित्यिक प्रकाशनों का श्रीगणेश वाबीला रामस्वामी सास्त्रूलू एंड संस तथा वेदम वैंकटरामय्या शास्त्री एंड संस ने किया। ये प्रकाशन गृह 100 साल तक चले और उन्होंने 1,000 के लगभग साहित्यिक तथा वरेण्य पुस्तकें प्रकाशित कीं।

बीसवीं सदी के आरंभ में पंजाबी में केवल धार्मिक पुस्तकें प्रकाशित होती थीं। प्रीतलड़ी प्रकाशन ने पंजाबी में पुस्तक प्रकाशन को प्रोत्साहन दिया है।

बंगाल में अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में सरकारी प्रिंटिंग प्रेस स्थापित हुई 1800 में फोर्ट विलियम कालिज और श्रीरामपुर बाप्टिस्ट मिशन प्रेस स्थापित हुए। 1817 में स्कूल बुक सोसाइटी की स्थापना के फलस्वरूप बंगाली भाषा में प्रकाशन कार्य तेजी से आगे बढ़ा। बंगाली लिपि में प्रकाशित होने वाली पहली पुस्तक *बंगाली व्याकरण* पर थी। बंगाली भाषा में प्रकाशित होने वाले कुछ आरंभिक पत्र थे : *दिग्दर्शन, समाचार दर्शन, हरकारा, तत्त्वबोधिनी,*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्वाद भास्कर, सम्बाद प्रभाकर, बंगादर्श, संजीवनी, प्रवासी, बासुमती, आदि।

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में बंगाली में विधिशास्त्र पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, सत्येन्द्रनाथ दत्त, ज्योतिन्द्रनाथ टैगोर जैसे साहित्यकारों ने दूसरी भाषाओं से बंगाली में पुस्तकों के अनुवाद किए।

मराठी भाषा में पहली पुस्तक सत्रहवीं शताब्दी में रोमन लिपि में शिवाजी के समय में प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक *कृष्टा-पुराण* थी और इसे गोआ के ईसाई मिशनरियों ने प्रकाशित किया था। उन्नीसवीं सदी में महाराष्ट्र में मुख्य रूप से धर्म और सामाजिक सुधारों संबंधी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इस दिशा में न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे की देन महत्त्वपूर्ण है। मराठी के कुछ आरंभिक प्रकाशन गृह थे : मंगेशराव कुलकर्णी, केशव भीखाजी, धावाले देशमुख एंड कं., कन्टीनेन्टल प्रकाशन, वीनस प्रकाशन और वीणा प्रकाशन।

भारत में मलयालम की पहली प्रकाशित पुस्तक न्यू टेस्टामेंट का मलयाली अनुवाद था। इसे 1811 में बंबई के कूरियर प्रेस ने छापा था। जर्मनी के एक मिशनरी डॉ. हरमन गुंडर्ट ने मलयालम-अंग्रेजी कोश और व्याकरण के अलावा मलयालम में 50 पुस्तकों की रचना की।

त्रावणकोर के महाराजा थिरूनाल राम वर्मा (1813-1846) ने 1835-36 में तिरुवंतपुरम में सरकारी प्रेस की स्थापना की। इसी तरह के एक प्रेस की स्थापना 1845-46 में कोचीन के महाराजा ने की।

ईश्वरपिल्लै द्वारा 1852 में थिरवंतपुरम् में स्थापित केरलविलासम प्रेस केरल का पहला प्रिंटिंग और प्रकाशन गृह था जो व्यावसायिक दृष्टि से सफल हुआ। 1866 में एक गुजराती सज्जन देवजी भीमजी ने कोचीन में केरलामित्रम प्रेस स्थापित किया। इस प्रेस के फलस्वरूप मलयालम प्रकाशन उद्योग को बढ़ावा मिला।

संस्कृत भारत की अधिकांश भाषाओं की स्रोत है। हिंदुओं का अधिकतर धार्मिक और दार्शनिक साहित्य संस्कृत में रचा गया था।

अंग्रेजी शासकों ने संस्कृत के महत्त्व को समझा था और उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में कलकत्ता में अरबी, फारसी और संस्कृत में पुस्तकों के प्रकाशन के लिए एक प्रेस की स्थापना की गई थी। एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, बोम्बे लिटरेटी सोसायटी और मद्रास लिटरेटी सोसायटी ने संस्कृत पांडुलिपियों की खोज तथा उनके संपादन और मुद्रण का कार्य योजनाबद्ध रीति से किया। कलकत्ता, बंबई, मैसूर, त्रिवेन्द्रम और बड़ौदा से संस्कृत की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकमालाएं प्रकाशित हुईं। सर विलियम जोन्स (1746-1794) ने 1784 में कलकत्ते में एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की। इस संस्था ने प्राचीन भारत की खोज की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 1884 में तारकनाथ तर्कवाचस्पति ने 1884 में संस्कृत का महत्त्वपूर्ण *कोश वाचस्पत्यम्* प्रकाशित किया। 1892 में हरिदास गुप्ता ने वाराणसी में चौखंभा प्रेस की स्थापना की। चौखम्मा के ढंग पर अन्य अनेक प्रकाशन गृहों ने संस्कृत के प्रकाशन में अग्रणी भूमिका निभाई है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सिंधी भाषा में तीन प्रकार के प्रकाशक कार्यरत थे। सामान्य प्रकाशक, संस्थागत प्रकाशक और लेखक-प्रकाशक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1843 में सिंध पर अंग्रेजों का कब्जा हुआ। 1853 में अंग्रेजों ने सिंधी के लिए फारसी-अरबी लिपि का प्रयोग शुरू किया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सिंधी के चार प्रमुख निबंधकार थे : कारोमल चंदनमल खिलानी, मिरजा किलाचबेग, दयाराम गिदूमल और परमानंद मेवाराम।

हिंदी में प्रकाशन की कहानी दो-सौ साल पुरानी है। हिंदी प्रकाशन को प्रोत्साहन देने वाले तत्त्व रहे हैं : सरकार का संरक्षण, शैक्षिक प्रगीत, बौद्धिक जागृति, मुद्रण की सुविधाएं और लेखकों का बाहुल्य।

हिंदी प्रकाशन सबसे पहले कलकत्ता में शुरू हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी ने हिंदी शिक्षा का विशेष प्रबंध किया और पुस्तकें लिखवाई। ईसाई मिशनरियों ने ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए अपने धार्मिक साहित्य का हिंदी में अनुवाद किया।

ईसाई विद्वानों ने भाषा, इतिहास, व्याकरण और कोश-निर्माण के क्षेत्रों में उल्लेखनीय सफलताएं प्राप्त कीं।

काशी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मंडल के अन्य सहयोगियों ने हिंदी में अनेक ग्रंथों की रचना की। आचार्य श्याम सुंदर दास ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की जिसने हिंदी के विकास के लिए चतुर्मुखी कार्य किया।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

इस अध्याय की अधिकांश सामग्री तीन ग्रंथों से ली गई है :

1. V.P. Gupta/Mohini Gupta, *An Encylopaedia. The twentieth Century* Volume one : India, Radha Publications, New Delhi, 2002, pp. 99 and 111;
2. Sahitya Academy, New Delhi, *An Encylopaedia of Indian Litrature 6 Vols.*, and
3. D.N. Malhotra (ed.) *50 years Book Publishing in Indian Scince, Independence*, New Delhi, 1998.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 6

सुधार आंदोलन

पाश्चात्य शिक्षा, साहित्य, पुस्तकों और समाचार-पत्रों ने भारत में राष्ट्रीयता का बीज-वपन किया। उन्नीसवीं सदी के समाज-सुधार आंदोलनों, ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी नीतियों तथा देश के आर्थिक ह्रास ने राष्ट्रीयता के बीज को अंकुरित होने में सहायता दी।

सुधार आंदोलन

अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारतीयों का पाश्चात्य विचारों और संस्थाओं से संपर्क स्थापित हुआ। उन्हें पता चला कि सभ्यता की दौड़ में उनका अपना देश कितना पिछड़ गया है। इस वैचारिक क्रांति के फलस्वरूप भारत में समाज-सुधार के अनेक आंदोलनों ने जन्म लिया। इनमें से मुख्य आंदोलन निम्नलिखित थे :

1. ब्रह्म समाज
2. प्रार्थना समाज
3. रामकृष्ण मिशन
4. आर्य समाज
5. थियोसोफी
6. बहावी आंदोलन
7. अलीगढ़ आंदोलन
8. देवबंद आंदोलन
9. सिख सुधार आंदोलन, और
10. पारसी सुधार आंदोलन

1. ब्रह्म समाज[1]

ब्रह्म समाज आंदोलन के प्रवर्तक राजा राममोहन राय थे। उनका जन्म 1772 में हुआ और मृत्यु 1832 में। राजा राममोहन राय ने 60 वर्ष का जीवन पाया था। अपने 60 वर्ष के जीवन में उन्होंने देश के सार्वजनिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया, तत्कालीन यूरोप की बौद्धिक गतिविधियों से अपने आपको परिचित रखा, सामाजिक कुरीतियों से युद्ध किया, पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को लागू करने में सहायता दी। समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता का समर्थन किया और ब्रह्म समाज की नींव रखी। जिसने देश के विभिन्न भागों में सामाजिक और सांस्कृतिक नवजागरण की लहर पैदा की। राजा राममोहन राय ने [illegible] में ऐसी अनेक प्रवृत्तियों को जन्म दिया जिनके फलस्वरूप भारतीय समाज मध्य युग की सीमाओं को पार कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिकता के दौर में आ गया। इसीलिए राजा राममोहन राय को आधुनिक भारत का जनक कहा जाता है।

राजा राममोहन राय के समय तक भारत मध्ययुगीन तंद्रा में सोया हुआ था। राजा राममोहन राय ने जीवन के हर क्षेत्र में मध्ययुगीन विचारों और विश्वासों पर प्रहार किया। उन्होंने हिंदू शास्त्रों और परंपराओं का त्याग नहीं किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि इन शास्त्रों और परंपराओं का बदलती हुई परिस्थितियों के आलोक में मूल्यांकन होना चाहिए। राममोहन राय के विचार से हिंदू धर्म का मूल एकेश्वरवाद, वेदांत का था। बाद में हिंदू धर्म में अनेक देवी-देवताओं का, मूर्ति-पूजा का तथा निरर्थक कर्मकांड का समावेश हो गया। सामाजिक कुरीतियों को, उदाहरण के लिए सती-प्रथा को धर्म का समर्थन मिलने लगा। राममोहन राय पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिंदू धर्म के कुछ प्रमुख ग्रंथों का बंगला में अनुवाद किया था। आधुनिक भारत में धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की परंपरा राजा राममोहन राय से ही आरंभ होती है। राममोहन राय ने संसार के तीन महान धर्मों—हिंदू धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म का तुलनात्मक अध्ययन किया और उनके बीच समन्वय के सूत्र खोजे।

राजा राममोहन राय के धार्मिक चिंतन का आधार उपनिषद और ब्रह्मसूत्र थे। वे धर्म तत्त्व को समझने के लिए मनुष्य की विवेक-शक्ति को आवश्यक समझते थे।

अपने आरंभिक वर्षों में राममोहन राय अरब के दो एकश्वरवादी विचारकों—वसील बी. अता और अमीर बी. उमैद से प्रभावित हुए थे। ये दोनों विचारक मानते थे कि आत्मज्ञान के लिए किसी ईश्वरीय ग्रंथ की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य अपने कर्तव्यों का उचित रीति से पालन करके आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। राममोहन राय का विचार है कि मनुष्य को अपनी विवेकशक्ति द्वारा धार्मिक विश्वासों तथा अनुभवों का विश्लेषण करना चाहिए। संसार के सभी धर्मों में कुछ अच्छी बातें हैं और कुछ निन्दनीय। सभी धर्मों के श्रेष्ठ तत्त्वों को ग्रहण कर लेना चाहिए। अंधविश्वास अज्ञान से पैदा होते हैं। चमत्कारों में विश्वास नहीं करना चाहिए। मनुष्य अपनी अंतश्चेतना के द्वारा ईश्वर का संदेश समझ सकता है। राममोहन राय अवतारों तथा पैगंबरों के विरुद्ध थे।

राममोहन राय समझते थे कि धर्म के वास्तविक तत्त्व को समझने के लिए सुशिक्षित मानस की आवश्यकता है। वे देश की परंपरागत संस्कृत शिक्षा के विरुद्ध थे। उनका मानना था कि इस शिक्षा से लोगों को व्याकरण का ज्ञान हो जाता है और उनमें शास्त्रार्थ करने की योग्यता आ जाती है। लेकिन इस शिक्षा से ज्ञान का विस्तार नहीं होता। भारत की शैक्षिक और बौद्धिक अधोगति का एक प्रमुख कारण भारत की पुरानी शिक्षा-पद्धति है।

धर्म और शिक्षा राममोहन राय के कार्यक्रम के दो प्रधान अंग थे। इसके अलावा उन्होंने बंगाली भाषा और साहित्य, सामाजिक, आर्थिक, न्यायिक तथा राजनीतिक सुधारों की दिशा में पहल की। भारत में सती-प्रथा के विरुद्ध जनमत जागृत करने का श्रेय राममोहन राय को है। उन्होंने भारत में वैधानिक आंदोलन का श्रीगणेश किया। राजा राममोहन राय समाचार पत्रों की स्वतंत्रता के पक्षधर थे। उन्होंने स्वयं कई समाचार-पत्रों का संपादन और प्रकाशन किया। भारत में आगे चलकर सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सुधारों के क्षेत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
में जो भी काम हुआ, उसके प्रेरणा स्रोत राममोहन राय थे।

राजा राममोहन राय की जीवंत साधना का अमृतफल था—ब्रह्मसमाज की बैठकों में उपनिषदों का अध्ययन होता था।

ब्रह्म समाज की स्थापना के कुछ समय बाद ही उसका प्रभाव बढ़ने लगा। शिक्षित मध्य वर्ग के लोग उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए।

23 जनवरी, 1830 को राजा राममोहन राय ने ब्रह्म मंदिर का उद्घाटन किया और उसके संचालन के लिए एक ट्रस्ट की स्थापना की। ट्रस्ट के घोषणा-पत्र में कहा गया था कि जो भी सृष्टि के निर्माता और पालनकर्ता एक ईश्वर में विश्वास रखता है, वह पूजा-उपासना के लिए इस मंदिर का उपयोग कर सकता है। मंदिर में किसी चित्र या मूर्ति की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती थी। राजा राममोहन राय इस मंदिर को किसी एक विशेष संप्रदाय की संपत्ति नहीं बनाना चाहते थे। राममोहन राय का लक्ष्य भारत में वेदांत की शिक्षाओं के आधार पर एकेश्वरवाद का पुनरुत्थान करना था।

1833 में इंगलैंड में राजा राममोहन राय की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के बाद ब्रह्म समाज संकट में पड़ गया। द्वारकानाथ टैगोर तथा पंडित रामचन्द्र विद्यावागीश किसी न किसी प्रकार ब्रह्म समाज की दीपशिखा को जगाए रखने में सफल हुए। द्वारकानाथ टैगोर ने उसे आर्थिक सहायता दी और पंडित रामचंद्र विद्यावागीश ब्रह्म समाज के अनुयाइयों का आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन करते रहे।

द्वारकानाथ टैगोर के सबसे बड़े पुत्र देवेन्द्रनाथ टैगोर का राममोहन राय से संपर्क रहा था। 1838 में वे ब्रह्म समाज में सम्मिलित हुए और उन्होंने तत्त्वबोधिनी सभा की स्थापना की। तत्त्वबोधिनी सभा में अनेक धनी-मानी और प्रभावशाली व्यक्ति सम्मिलित हुए। देवेन्द्रनाथ टैगोर को ब्रह्म समाज की स्थिति देखकर दुःख हुआ। समाज के अधिकांश सदस्य घर पर मूर्तिपूजा करते थे और उनकी अवतारवाद में आस्था थी। समाज का कोई संगठन नहीं था, कोई संविधान नहीं था, कोई सदस्य संख्या नहीं थी, कोई प्रतिज्ञापत्र नहीं था। देवेन्द्रनाथ टैगोर ने मंदिर के लिए एक प्रतिज्ञापत्र की रचना की और प्रत्येक अनुयायी के लिए यह आवश्यक कर दिया कि वह वेदांत की शिक्षाओं के अनुसार अपने जीवन को ढाले तथा नित्यप्रति गायत्री मंत्र का पाठ करे। 1843 में देवेन्द्रनाथ ने बीस सहयोगियों के साथ रामचन्द्र विद्यावागीश के हाथों ब्रह्म समाज की दीक्षा ली और प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किए। यह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसके परिणामस्वरूप ब्रह्म समाज आध्यात्मिक बिरादरी बन गया।

देवेन्द्रनाथ टैगोर के नेतृत्व में ब्रह्म समाज की उन्नति होने लगी। राममोहन राय की रचनाओं का दुबारा प्रकाशन हुआ और *तत्त्वबोधिनी* नामक एक मासिक पत्रिका प्रकाशित होने लगी। इस पत्रिका के संपादक अक्षय कुमार दत्त थे। देश के विभिन्न भागों में समाज की शाखाएं खुलीं और प्रचारकों का एक जत्था तैयार किया गया। नौजवानों को धार्मिक शिक्षा देने के लिए एक विद्यालय की भी स्थापना की गई।

1845 में ब्रह्म समाज के नेताओं का ईसाई मिशनरियों से धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद हुआ। इस वाद-विवाद में ब्रह्म नेताओं ने वेदों को अपने धर्म का आधार बनाया। उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस धर्म का नाम वेदांत रखा। वेदों को अपौरुषेय भी कहा गया। *तत्त्वबोधिनी पत्रिका* के संपादक अक्षय कुमार दत्त को यह नीति पसंद नहीं आई। वे बुद्धिवादी व्यक्ति थे। इन मतभेदों को दूर करने के लिए ब्रह्म समाज ने चार युवकों को 1845 में ही वेदों का अध्ययन करने के लिए बनारस भेजा। देवेन्द्रनाथ टैगोर स्वयं भी वेदों की शिक्षाओं के बारे में सही जानकारी पाने के लिए बनारस गए। इस अध्ययन और अनुसंधान के फलस्वरूप ब्रह्म समाज ने वेदों की अपौरुषेयता का सिद्धांत त्याग दिया। लेकिन देवेन्द्रनाथ ब्रह्म समाज आंदोलन को पुराने ढर्रे पर ही चलाते रहे। हिंदुओं के प्राचीन धर्मशास्त्रों के प्रति, उनकी श्रद्धा पहले जैसी बनी रही। उन्होंने उपनिषदों के कुछ उदाहरण संकलित किए जिनमें एकेश्वरवाद का प्रतिपादन था।

1850 और 1856 के बीच ब्रह्म समाज की गतिविधियों का क्षेत्र व्यापक हुआ उसके नेता स्त्री-शिक्षा, विधवा-पुनर्विवाह, मद्यनिषेध और बहु-विवाह विरोध जैसे कार्यक्रमों का प्रतिपादन करने लगे। ब्रह्म समाज की इस लहर के प्रतिनिधि प्रवक्ता केशवचन्द्र सेन थे। वे समाज में 1857 में एक पूर्णकालिक प्रचारक के रूप में सम्मिलित हुए थे। 1862 में वे समाज के आचार्य अथवा मुख्य धार्मिक पदाधिकारी बन गए। उन्होंने ब्रह्म समाज में एक नई चेतना का संचार किया और अंतर्जातीय विवाहों पर जोर दिया। केशवचन्द्र सेन के व्यक्तित्व के फलस्वरूप ब्रह्म समाज के प्रभाव में वृद्धि हुई। पुरानी पीढ़ी के लोगों को विधवा पुनर्विवाह, अंतर्जातीय विवाह और स्त्रियों के बीच पर्दा-प्रथा का अंत जैसे सक्रिय समाज सुधार के कार्यक्रम पसंद नहीं थे। फलतः पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के लोगों के बीच फूट पड़ गई। नई पीढ़ी यह नहीं चाहती थी कि जनेऊ पहनने वाले ब्राह्मण प्रवचन दें। केशवचन्द्र सेन परंपरागत ब्रह्म समाज से अलग हो गए और उन्होंने भारतीय ब्रह्म समाज नाम से अपना एक अलग संगठन खड़ा किया। पुराने ब्रह्म समाज का नाम आदि ब्रह्म समाज रहा। इस विभाजन के कुछ ही समय बाद देवेन्द्रनाथ टैगोर ब्रह्म समाज से हट गए और उनके स्थान पर राजनारायण बोस आदि ब्रह्म समाज के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। ब्रह्म समाज के इस विभाजन के दो मुद्दे थे। देवेन्द्रनाथ टैगोर मानते थे कि ब्राह्मण धर्म ही हिंदू धर्म है। इसके विपरीत केशवचन्द्र सेन की मान्यता थी कि ब्रह्म धर्म व्यापक और सार्वभौम है। केशवचन्द्र सेन मूर्तिपूजा की भांति ही जाति-प्रथा को भी निंदनीय मानते थे।

केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज के सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए 1864-68 में बंबई, मद्रास और उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों की यात्राएं कीं। उनके प्रयत्नों से भारत के अनेक नगरों में ब्रह्म समाज की शाखाएं स्थापित हुईं। केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज आंदोलन को अखिल भारतीय रूप दे दिया। उनका आंदोलन व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक समानता के सिद्धांत पर आधारित था। केशवचन्द्र सेन और उनके अनुयायी राजनीति से दूर रहे और ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति की घोषणा करते रहे। ब्रिटिश सरकार ने भी केशवचन्द्र सेन की भारत और इंगलैंड दोनों देशों में सराहना की। उनकी सिफारिश पर ब्रिटिश सरकार ने 1872 में सिविल मैरिज एक्ट पास किया। इस अधिनियम के अनुसार कन्या की न्यूनतम विवाह योग्य आयु चौदह वर्ष और वर की अठारह वर्ष निर्धारित की गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1870 में केशवचन्द्र ने भारतीय सुधार संघ अथवा इंडियन रिफार्म्स एसोसिएशन की स्थापना की। इस संघ के पांच विभाग थे : 1. स्त्री-शिक्षा, 2. श्रमिकों की शिक्षा, 3. सस्ता साहित्य, 4. मद्यनिषेध और 5. परोपकार।

1872 में केशवचन्द्र सेन ने अपनी पुत्री का विवाह कूचबिहार के अवयस्क राजा से तय किया। वर और कन्या दोनों की आयु विवाह योग्य निर्धारित आयु से कम थी। यह विवाह भी ब्रह्म समाज के नियमों के अनुसार न होकर हिंदू विधि से संपन्न हुआ। ब्रह्म समाज के नौजवानों ने केशवचन्द्र सेन की इस कार्यवाही का विरोध किया और 15 मई, 1878 को ब्रह्म समाज में फिर विभाजन हुआ। शिवनाथ शास्त्री और आनन्दमोहन बोस नए वर्ग के नेता थे और उन्होंने साधारण समाज की स्थापना की।

हिंदू धर्म की ईसाई मिशनरियों के हमलों से रक्षा करने तथा सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों को दूर करने में ब्रह्म समाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उसके बाद हिंदू धर्म और समाज में सुधार करने के लिए अनेक आंदोलन उठे।

2. प्रार्थना समाज

महाराष्ट्र में ब्रह्म समाज प्रार्थना समाज के रूप में उभरा। इसकी स्थापना 1867 में केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा से हुई थी। प्रार्थना समाज के अनुयायी अपने आप को हिंदू धर्म का अविभाज्य अंग मानते थे। प्रार्थना समाज का मुख्य आग्रह धार्मिक विश्वासों पर नहीं बल्कि समाज-सुधार के कार्यक्रमों पर था। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में उन्होंने चार मुद्दों पर विशेष ध्यान दिया : 1. जाति-प्रथा का विरोध, 2. स्त्रियों और पुरुषों दोनों के लिए विवाह-योग्य आयु में वृद्धि, 3. विधवा पुनर्विवाह और 4. स्त्री-शिक्षा। प्रार्थना समाज के प्रमुख नेता थे न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे (1842-1901) आर. जी. भंडारकर (1837-1925) और एन. जी. चंद्रावरकर।

महाराष्ट्र में दलित वर्ग मिशन (द डिप्रेस्ड क्लासेज मिशन), सामाजिक सेवा संघ (सोशल सर्विस लीग) और दकन एजूकेशन सोसायटी ने सामाजिक और शैक्षिक सुधारों के संबंध में उल्लेखनीय कार्य किया है।

3. रामकृष्ण मिशन[2]

स्वामी रामकृष्ण परमहंस उन्नीसवीं सदी के भारत के सबसे बड़े संत और आध्यात्मिक पुरुष थे। ब्रह्म समाज बंगाल के बुद्धिजीवी वर्ग को रास आया था लेकिन वहां की अधिकांश जनता चैतन्य महाप्रभु की भक्ति मे प्रभावित थी। स्वामी रामकृष्ण परमहंस भक्ति के साक्षात् अवतार थे। वे पढ़े-लिखे नहीं थे, धार्मिक तर्क-वितर्क से कोसों दूर थे लेकिन उनकी आध्यात्मिक अनुभूति और साधना गहरी थी। स्वामी रामकृष्ण का जन्म 1834 में हुआ और मृत्यु केवल 52 वर्ष की अवस्था में 1886 में। वे कलकत्ते के निकट दक्षिणेश्वर के काली मंदिर में पुजारी थे और उनका अधिकांश जीवन इस मंदिर में व्यतीत हुआ था। उनके लिए भारतीय चिंतन, संस्कृति और साधना अध्ययन की नहीं, अनुभव की वस्तु थी। उनकी दृष्टि में राम, कृष्ण, ईसा, अल्लाह एक ही परमात्मा के विभिन्न नाम थे। रामकृष्ण ने सभी धर्मों को सच्चा माना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने इन धर्मों द्वारा प्रतिपादित साधना-पद्धतियों का उपयोग कर अंतिम सत्य का साक्षात्कार किया। उनकी दृष्टि में धर्म के प्रतीकों अथवा बाहरी आडंबरों का महत्त्व न था। वे मन की पवित्रता और निश्छलता को धर्म का सच्चा तत्त्व समझते थे। उन्होंने ब्रह्म समाज और आर्य समाज की भांति मूर्ति पूजा का बहिष्कार नहीं किया। उनका विचार था कि यदि सच्चे मन से मूर्ति पूजा की जाए तो वह ईश्वर-भक्ति में सहायक हो सकती है। रामकृष्ण परमहंस निस्वार्थ भाव से ईश्वर की उपासना पर जोर देते थे। उनके विचार से दुखी और अभावग्रस्त मानवता की सेवा करना भी ईश्वर की ही सेवा करना था।

रामकृष्ण परमहंस के विचारों को उनके मेधावी शिष्य विवेकानन्द ने कार्यरूप में परिणत किया। उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना द्वारा समाज सेवा का आदर्श प्रस्तुत किया।

स्वामी विवेकानंद का जन्म 12 जनवरी, 1863 ई. को मकर संक्रांति के दिन कलकत्ते के दत्त परिवार में हुआ था। उनका असली नाम नरेन्द्रनाथ था। उनके पिता विश्वनाथ दत्त बंगाल के जाने-माने वकील थे और माता भुवनेश्वरी देवी धर्मपरायण साध्वी महिला थी। स्वामी विवेकानंद के दादा दुर्गाचरण दत्त साधु-प्रकृति के व्यक्ति थे और स्वामी विवेकानंद को आध्यात्मिक प्रवृत्ति विरासत में अपने दादा जी से प्राप्त हुई थी। स्वामीजी की बचपन से ही पूजा-पाठ में रुचि थी और धार्मिक तथा आध्यात्मिक प्रश्न उनको बेचैन किया करते थे। स्वामी विवेकानंद ने आरंभिक शिक्षा घर पर तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थापित मैट्रोपोलिटन कालेज में प्राप्त की। उन्होंने कालेज की शिक्षा प्रेसीडेंसी कालेज तथा स्काट्स जनरल मिशनरी बोर्ड द्वारा स्थापित जनरल असेंबली इंस्टीट्यूशन में प्राप्त की। उनके प्रधानाचार्य डब्ल्यू. डब्ल्यू. हेस्टे ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर कहा था कि मैंने उनके जैसा योग्य छात्र अपने जीवन में कभी नहीं देखा। मुझे विश्वास है कि वे जीवन में नाम कमाएंगे।

स्वामीजी ने कालेज के पाठ्य विषयों के अतिरिक्त साहित्य, दर्शन, धर्म और प्राचीन एवं आधुनिक इतिहास का भी अध्ययन किया। स्वामीजी ने 1884 में बी.ए. पास कर लिया। इसी वर्ष उनके पिता चल बसे। परिवार के भरण-पोषण का भार स्वामीजी के कंधों पर आ पड़ा और उनकी आगे की पढ़ाई समाप्त हो गई।

स्वामीजी आरंभ से ही जिज्ञासु युवक थे। उनके ऊपर ब्रह्म समाज का काफी प्रभाव पड़ा था। लेकिन ब्रह्म समाज उनकी आध्यात्मिक जिज्ञासा को शांत न कर सका। उन्होंने अनेक धार्मिक और आध्यात्मिक व्यक्तियों से भेंट की, पर उनकी आध्यात्मिक भूख शांत न हो सकी।

1881 में स्वामी विवेकानंद ने दक्षिणेश्वर जाकर स्वामी रामकृष्ण परमहंस के दर्शन किए। स्वामी रामकृष्ण ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल पर नरेन्द्र (स्वामी विवेकानंद) की भावी संभावनाओं को भांप लिया। कहते हैं नरेन्द्र ने स्वामी रामकृष्ण से प्रश्न किया, "क्या आपने ईश्वर को देखा है।" स्वामी रामकृष्ण ने सहज भाव से उत्तर दिया, "हां, मैंने ईश्वर को देखा है, उसी तरह जैसे कि मैं तुम्हें देख रहा हूं।"

रामकृष्ण और नरेन्द्र में तत्काल ही गुरु-शिष्य का संबंध स्थापित हो गया। नरेन्द्र अक्सर दक्षिणेश्वर जाने लगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक बार श्री रामकृष्ण ने नरेन्द्र को स्नेह से पुकारा और अपने पास बैठाया। उन्होंने अपना हाथ नरेन्द्र के सर पर रख दिया। तब नरेन्द्र को लगा—"उनके स्पर्श ने तत्क्षण मेरे भीतर एक अभिनव अनुभूति को जन्म दिया। अपनी खुली आंखों से मैंने देखा कि कमरे की दीवारें और सारी चीज़ें जोरों से चक्कर मारती हुई शून्य में विलीन हो गईं और सारा विश्व मेरे अहं को लेकर एक रहस्यमय सर्वव्यापी शून्यता में लीन होने ही जा रहा है। मैं बुरी तरह डर गया और मैंने सोचा, कि बस अब मैं मरने ही जा रहा हूं। मैं अपने को रोक न सका और चिल्ला उठा, अजी यह तुम मेरे साथ क्या कर रहे हो। घर में मेरे माता-पिता हैं। यह सुन कर वह जोरों से हंसे और छाती को सहलाते हुए बोले, ठीक है। अभी रहने दो। समय से सब होगा। आश्चर्य, ज्यों ही उन्होंने यह कहा त्यों ही सारा विचित्र अनुभव गायब हो गया।"

रामकृष्ण के प्रभाव से नरेन्द्र ने विवाह नहीं किया। पिता की मृत्यु के बाद नरेन्द्र ने रामकृष्ण परमहंस से प्रार्थना की कि उनके परिवार के भरण-पोषण का प्रबंध हो जाए। रामकृष्ण ने नरेन्द्र को सलाह दी कि वे स्वयं ही मां काली से अपने कष्ट निवारण की प्रार्थना करें। नरेन्द्र ने मां काली से कई बार इस प्रकार का अनुरोध करने का प्रयत्न किया लेकिन वे मां से किसी भौतिक वस्तु की मांग न कर सके। वे मां से सिर्फ यही कह सके, "मां मुझे विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान दो। मां, तुम्हारी कृपा से मैं सदा ही तुम्हें देख सकूं।"

1885 में स्वामी रामकृष्ण परमहंस को गले का कैंसर हो गया और 1886 में उनका शरीर शांत हो गया। मृत्यु से तीन दिन पहले स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने नरेन्द्र को 'शक्तिपात' द्वारा अपनी संपूर्ण शक्तियां प्रदान कीं और कहा, "आज तुझे सर्वस्व देकर मैं फकीर बन गया।" स्पर्श के साथ ही नरेन्द्र को निर्विकल्प समाधि के आनंद की अनुभूति हुई। यह वह लोकोत्तर अनुभूति थी जिसे नरेन्द्र इस जीवन में प्राप्त करना चाहते थे। अब वे नरेन्द्र न रहकर स्वामी विवेकानंद हो गए और उनके जीवन में भक्ति, कर्म और ज्ञान की त्रिवेणी प्रवाहित होने लगी।

1888 में स्वामी विवेकानंद ने सारे भारत की यात्रा की। इस यात्रा में स्वामीजी ने भारत के विभिन्न प्रांतों के रीति-रिवाजों तथा आचार-विचारों का परिचय प्राप्त किया। स्वामीजी जनता की गरीबी और अशिक्षा देखकर बहुत व्यथित हुए।

1893 में स्वामीजी ने अमरीका के शिकागो शहर में आयोजित विश्वधर्म सम्मेलन में भाग लिया। शिकागो धर्म सम्मेलन में स्वामीजी ने अपना भाषण 'अमरीका के भाईयो और बहिनो' से आरंभ किया था। स्वामीजी के इन आरंभिक शब्दों ने ही श्रोताओं के मन पर बिजली का-सा असर डाला और सभा कक्ष दो मिनट तक तालियों से गूंजता रहा। धर्म सभा में स्वामीजी का भाषण हिंदू धर्म के आधारभूत सिद्धांतों के ऊपर हुआ था। स्वामीजी ने अपनी ओजस्वी वाणी और तर्क-युक्त शैली में यह सिद्ध किया कि हिंदू धर्म में सांप्रदायिकता, संकीर्णता और धर्मांधता के लिए कोई स्थान नहीं है। हिंदू धर्म वास्तव में विश्वधर्म है। हिंदू धर्म यह नहीं चाहता कि दूसरे धर्म के लोग अपना धर्म त्याग कर उसकी शरण में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आएं। हिंदू धर्म सिर्फ यह चाहता है कि सभी धर्मों के मानने वाले अपने-अपने धर्मों का सच्चे मन से पालन करें।

धर्म सभा में स्वामीजी के भाषण का सारी अमरीकी जनता पर प्रभाव पड़ा। स्वामीजी को अमरीका की विभिन्न संस्थाओं और नगरों से व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया। स्वामीजी ने अनेक स्थानों पर भाषण दिए और अमरीकावासियों के मन में भारत और हिंदू धर्म के प्रति प्रबल आकर्षण पैदा किया।

अगस्त, 1895 में स्वामी विवेकानंद इंगलैंड गए। स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों द्वारा इंगलैंड में भी ख्याति अर्जित की। यहीं उनकी भेंट मार्गरेट ई. नोबल से हुई जो स्वामीजी की शिष्या बन गई तथा सिस्टर निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुई।

दिसंबर, 1895 में स्वामी विवेकानंद को इंगलैंड से पुनः अमरीका जाना पड़ा। कुछ महीनों तक अमरीका में दूसरी बार रह कर तथा वहां हिंदू धर्म का प्रचार करने के उपरांत स्वामीजी अप्रैल, 1896 में दूसरी बार इंगलैंड आए। इस बार इंगलैंड में स्वामीजी ने प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर से भेंट की और मैक्समूलर को स्वामी रामकृष्ण परमहंस के बारे में सामग्री उपलब्ध कराई। प्रो. मैक्समूलर ने इस सामग्री के आधार पर रामकृष्ण परमहंस की जीवनी लिखी। इस यात्रा में स्वामीजी स्विट्जरलैंड तथा जर्मनी भी गए। जर्मनी में उन्होंने सुप्रसिद्ध संस्कृत दार्शनिक पाल डायसन से भेंट की।

स्वामी विवेकानंद पश्चिमी देशों में भारतीय दर्शन का प्रचार कर दिसंबर, 1900 के आरंभ में भारत लौट आए। भारत में उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। स्वदेश वापस आने पर उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इस समय रामकृष्ण मिशन की 118 शाखाएं हैं। मिशन का प्रधान कार्य वेदांत की शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप देना है। मिशन के अपने औषधालय, विद्यालय, छात्रावास, पुस्तकालय, वाचनालय, अनाथालय और प्रकाशन केंद्र हैं।

भारत आने पर स्वामी अस्वस्थ रहने लगे। उन्हें मधुमेह का रोग था। 4 जुलाई, 1902 को उनका देहांत हो गया।

स्वामी विवेकानंद के व्यक्तित्व के अनेक पहलू हैं। वे दार्शनिक, समाज-सुधारक धर्माचार्य, राष्ट्रवादी और शिक्षक थे।

दर्शन के क्षेत्र में स्वामी विवेकानंद अद्वैतवादी थे। अद्वैत वेदांत का प्रमुख तत्त्व यह है कि ब्रह्म अथवा आत्मा ही एकमात्र सत्य है। जगत मिथ्या है। जीव और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं है। जगत माया है। वह स्वप्न के समान है। ब्रह्मज्ञान होने पर जगत और जीवन का उसी प्रकार निराकरण हो जाता है जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान होने पर सर्प का निराकरण हो जाता है। ज्ञान ही मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। मानव मन निरपेक्ष सत्ता की जो उच्चतम धारणा कर सकता है, वही ईश्वर है। सृष्टि अनादि है। उसी प्रकार ईश्वर भी अनादि है। स्वामीजी ने अपनी रचनाओं और भाषणों में प्रकृति, माया, आत्मा, आत्मानुभूति, ज्ञान, जीवन का लक्ष्य, मोक्ष, योग, ध्यान, पुनर्जन्म, मनोविज्ञान, शिक्षा आदि विषयों पर विचार किया है। स्वामीजी ने जात-पात का विरोध किया। वे स्वाधीनता के पक्षपाती थे। उन्होंने लोकतंत्र और समाजवाद का समर्थन किया है। स्वामीजी स्त्री-शिक्षा के हिमायती थे। उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनसमूह की शिक्षा पर बल दिया है। स्वामीजी को हिंदू धर्म की मुख्य विशेषता उसकी सार्वभौमिकता में दिखाई देती थी। उन्होंने अंधविश्वासों की कठोर आलोचना की। वे देश में विज्ञान की शिक्षा का प्रसार आवश्यक मानते थे। उनकी दृष्टि में धर्म और विज्ञान का समन्वय मानवता के कल्याण के लिए आवश्यक था। विवेकानंद की सबसे बड़ी देन है कि उन्होंने पराधीन भारतीयों को अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति गर्व करना सिखाया। उन्होंने भारतीयों को आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाया और देश की सोती हुई चेतना को प्रबुद्ध किया। जहां वे भारत की आध्यात्मिक महानता और सांस्कृतिक गरिमा के प्रशंसक थे वहीं वे पश्चिम की व्यावहारिकता तथा संगठन शक्ति के भी पोषक थे। वे इन दोनों तत्त्वों—भारत की आत्मा तथा पश्चिम की काया—का समन्वय कर एक नूतन मानवता की सृष्टि करना चाहते थे।

4. आर्य समाज[3]

आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानंद ने 1875 में की थी। आर्य समाज की विचारधारा स्वामी दयानंद की विचारधारा है। प्रस्तुत ग्रंथ में स्वामी दयानंद के जीवन और कार्यों का अध्ययन करने के साथ ही आर्य समाज का भी अध्ययन किया गया है। स्वामी दयानंद और आर्य समाज का मुख्य ध्येय हिंदू धर्म की विकृतियों का निवारण था।[4]

5. थियोसोफी

थियोसोफी का अर्थ वह धार्मिक अथवा दार्शनिक पद्धति है जो अंतःप्रेरणा पर आधारित हो। इस शब्द का प्रयोग थियोसोफिकल सोसायटी की विचारधारा के लिए किया जाता है जिसकी स्थापना 1875 में मैडेम ब्लावात्स्की तथा एच. एस. आल्काट ने संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यूयार्क शहर में की थी।

यह विचारधारा हिंदू धर्म के कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धांतों पर आधारित थी। भारत में इस विचारधारा के प्रचार का श्रेय श्रीमती एनी बीसेंट (1847-1933) को है।

श्रीमती एनी बीसेंट एक आयरिश महिला थीं जिनका जन्म इंगलैंड में हुआ था। उनका वैवाहिक जीवन 1873 में समाप्त हो गया। ईसाई धर्म के प्रति उनके मन में अनेक आशंकाएं थीं तथा वे हिंदू धर्म के प्रति आकृष्ट हुईं। 1889 में थियोसोफिकल, सोसायटी की सदस्या बनीं। 1891 में मैडम ब्लावात्स्की की मृत्यु के बाद उन्होंने अपने आपको थियोसोफी के प्रचार में लगादिया।

1893 में उन्होंने शिकागो के धर्म सम्मेलन में भाग लिया था जहां उनकी स्वामी विवेकानंद से भेंट हुई थी। इसी वर्ष वे भारत आ गईं और अपने जीवंत व्यक्तित्व तथा असाधारण भाषण-कला के कारण शिक्षित भारतीयों में लोकप्रिय हो गईं।[5]

श्रीमती बीसेंट ने 1898 में बनारस में सेंट्रल हिंदू स्कूल की स्थापना की जो आगे चल कर काशी हिंदू विश्वविद्यालय बना। 1907 में आल्काट की मृत्यु के बाद वे थियोसोफिकल सोसायटी की अध्यक्ष निर्वाचित हुईं। 1914 में उन्होंने द *कामनवील* और *न्यू इंडिया* नामक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो पत्र प्रकाशित करना आरंभ किया। 1914 में श्रीमती बीसेंट ने लंदन में होमरूल की स्थापना की। 1916 में उन्होंने मद्रास में अखिल भारतीय होमरूल लीग का उद्घाटन किया। श्रीमती बीसेंट ने लोकमान्य तिलक के सहयोग से भारत में होमरूल आंदोलन चलाया।

होमरूल आंदोलन एक वैधानिक आंदोलन था और उसका लक्ष्य भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना था। श्रीमती बीसेंट चाहती थीं कि इंगलैंड और भारत एक दूसरे के निकट आएं। वे समझती थीं कि ब्रिटिश साम्राज्य का भाग्य भारत के साथ जुड़ा हुआ है और भारत को होमरूल देकर संतुष्ट कर देना ब्रिटिश शासकों के लिए बुद्धिमानी की बात है। श्रीमती बीसेंट का होमरूल आंदोलन आयरलैंड के होमरूल आंदोलन से प्रभावित था। 1917 में भारतमंत्री मांटेग्यू की भारत में उत्तरदायी शासन के शनैः शनैः विकास की घोषणा के बाद होमरूल आंदोलन मुरझा गया। एनी बीसेंट का यश इस समय अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुंच गया और उन्हें 1917 के कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षा निर्वाचित किया गया। जब 1920 में कांग्रेस में गांधी-युग आरंभ हुआ, श्रीमती बीसेंट कांग्रेस से हट गईं।

श्रीमती बीसेंट ने शिक्षा, धर्म, दर्शन और राजनीति पर अनेक पुस्तकों की रचना की। उनकी मुख्य पुस्तकें हैं—*इंडिया बाउंड आर फ्री, हाउ इंडिया फौट फोर फ्रीडम, इंडियन आइडियल्स, इंडिया—ए नेशन, इन डिफेन्स ऑफ हिंदूज्म।* श्रीमती बीसेंट ने गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। उन्होंने हिंदू धर्म के प्रायः सभी पहलुओं पर कुछ न कुछ लिखा है। उन्होंने अपनी रचनाओं में हिंदू धर्म का गौरव गान किया है।

श्रीमती बीसेंट मानती थीं कि मानव जाति के विकास की एक ईश्वरीय योजना है। उनके विचार से धर्म और विज्ञान में कोई विरोध नही है। दोनों का लक्ष्य मानव का कल्याण करना है। श्रीमती बीसेंट की पुनर्जन्म तथा एकेश्वरवाद में आस्था थी। वे आत्मा को परमात्मा का एक अंश मानती थीं। श्रीमती बीसेंट स्वतंत्र विचारक थीं। उन्होंने स्वतंत्र चिंतन पर बल दिया है।

श्रीमती बीसेंट भारत को अपनी मातृभूमि मानती थीं। उन्हें भारत से सच्चा प्रेम था। उनकी दृष्टि में भारत के पतन का मुख्य कारण था—भारत की आध्यात्मिक अवनति।

श्रीमती बीसेंट ने भारतीय राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक आधार दिया। उनके अनुसार राष्ट्रीयता का उपयोग है अपनी विशेषताओं के अनुसार संसार की सेवा करना। वे मानती थीं कि यदि अनेक आपदाओं के बावजूद भारत आज भी जीवित है, तो इसका कारण उसकी आध्यात्मिकता है।

श्रीमती बीसेंट ने भारतीय नारियों को जागृत करने का प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने वीमेंस इंडियन एसोसिएशन की स्थापना की।

श्रीमती बीसेंट ने धर्म, दर्शन, शिक्षा, समाज, राजनीति इन सभी क्षेत्रों में काम किया और अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ी। भारत के राष्ट्रीय विकास में उनका योग कभी भुलाया नहीं जा सकता।[6]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. वहाबी आंदोलन

भारतीय नवजागरण के प्रभाव से मुसलमान भी अछूते नहीं रहे और उनमें भी सुधार की भावना जागृत हुई। सैयद अहमद बरेलवी ने अरब के वहाबी आंदोलन का संदेश भारत में प्रसारित किया। उन्होंने ईश्वर की एकता पर बल दिया और कहा कि कुरान की व्याख्या करने का सबको अधिकार है। वहाबी आंदोलन की भावना अत्यंत कट्टर और प्रतिक्रियावादी थी। 1830 से 1860 तक वहाबी आंदोलन ब्रिटिश शासकों के लिए एक सिरदर्द बना रहा। 1857 के स्वाधीनता संग्राम में वहाबियों ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया था और लोगों के मन में ब्रिटिश विरोधी भावनाएं जागृत की थीं। वहाबी आंदोलन मुख्य रूप से मुसलमानों का आंदोलन था और वह भारत में मुस्लिम राज की स्थापना करना चाहता था। यह आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन का रूप न ले सका।

7. अलीगढ़ आंदोलन[7]

मुस्लिम समाज सुधारकों में सर सैयद अहमद खां का नाम शीर्ष पर है। उन्होंने अलीगढ़ आंदोलन चलाया और मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा व संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया। वे पर्दा-प्रथा के विरोधी और स्त्री-शिक्षा के समर्थक थे। उन्होंने 1857 में मुहम्मडन एंग्लो-ओरिएंटल कालिज की नींव डाली। जिसने बाद में अलीगढ़ विश्वविद्यालय का रूप धारण किया।

सर सैयद अहमद खां के जीवन के दो पक्ष हैं। शुरू में वे राष्ट्रवादी थे। आगे चलकर वे घोर संप्रदायवादी बन गए और उन्होंने हिंदू-मुस्लिम पृथक्कता का वह बीज बो दिया जो आगे चलकर द्विराष्ट्र सिद्धांत के रूप में उभरा और जिसके फलस्वरूप भारत का विभाजन हुआ। अपनी इस विभाजनकारी नीति के फलस्वरूप वे ब्रिटिश साम्राज्य के निर्माता के रूप में प्रतिष्ठित हो गए थे।

सर सैयद के पूर्वज ईरानी थे और मुगल दरबार में उनकी प्रतिष्ठा थी। 1857 की क्रांति में सर सैयद ने अंग्रेजों का साथ दिया था। उन्होंने अंग्रेजों को यह समझाने की कोशिश की कि क्रांति के लिए मुसलमान उत्तरदायी नहीं हैं। सर सैयद ने इस्लाम को ईसाई धर्म के निकट सिद्ध करने के लिए कई लेख प्रकाशित किए तथा मुसलमानों और ब्रिटिश शासकों की मैत्री को दोनों के लिए शुभ बताया।

सर सैयद अहमद खां ने 1858 में उर्दू में भारतीय विद्रोह के कारण विषय पर पुस्तक लिखी थी जो बाद में अंग्रेजी में भी अनूदित हुई। इस पुस्तक में सर सैयद ने बताया कि 1857 के विद्रोह का मुख्य कारण यह था कि ब्रिटिश शासकों और जनता के बीच भेद की खाई बहुत चौड़ी हो गई थी। जनता को विधि-निर्माण के कार्य से दूर रखा गया था। शासकों और शासितों के बीच विचारों का कोई आदान-प्रदान नहीं होता था। इस दूरी के परिणामस्वरूप लोग अंग्रेजों को धीमा जहर, बालू की रस्सी और आग की चिंगारी समझने लगे थे। सरकार ने ऐसे अनेक कानून और नियम बनाए थे जो जनता की आकांक्षाओं और परंपराओं के प्रतिकूल थे। सरकार जनता की वास्तविक स्थिति और इच्छाओं से अनभिज्ञ थी। ब्रिटिश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार ने देश के सुशासन की ओर ध्यान नहीं दिया। सेना का प्रशासन संतोषजनक नहीं था जिससे सैनिकों में असंतोष फैल गया।

सर सैयद ने 1886 में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन की स्थापना की जिसका उद्देश्य भारतीयों तथा ब्रिटिश शासकों के बीच संपर्क की वृद्धि करना था।

सर सैयद ने इंडियन नेशनल कांग्रेस का विरोध किया और मुसलमानों को उससे अलग रहने की सलाह दी।

सर सैयद अहमद खां को राष्ट्रवादी से राजभक्त बनाने में अलीगढ़ कालेज के प्रिंसिपल थियोडोर बेक का विशेष हाथ था।

8. देवबंद आंदोलन[8]

देवबंद आंदोलन मुसलमानों का पुनरुत्थानवादी आंदोलन था। इस आंदोलन के दो लक्ष्य थे : 1. मुसलमानों में कुरान तथा हदीस की शिक्षाओं का प्रचार, और 2. विदेशी शासकों के विरुद्ध जिहाद की भावना को बनाए रखना।

मोहम्मद कासिम वानोतवी (1832-1880) तथा रशीद अहमद गंगोही (1828-1905) ने 1866 में उत्तर प्रदेश के जिला सहारनपुर के देवबंद नामक कस्बे में एक मुस्लिम विद्यालय की स्थापना की थी। इस विद्यालय का उद्देश्य मुस्लिम समाज के लिए धार्मिक नेताओं को तैयार करना था। यह विद्यालय अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति के विरुद्ध था। देवबंद विद्यालय में भारत के विभिन्न भागों के ही नहीं अनेक मुस्लिम देशों के विद्यार्थी भी शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे।

देवबंद के उलेमाओं ने 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना का स्वागत किया। ये लोग सर सैयद अहमद खां के सुधारवादी प्रयत्नों के विरुद्ध थे।

देवबंद स्कूल के एक नेता महमूद उल-हसन (1851-1920) ने इस्लामी सिद्धांतों और राष्ट्रीय आकांक्षाओं के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।

9. सिख सुधार आंदोलन[9]

उन्नीसवीं सदी के बुद्धिजीवी और प्रगतिशील विचारों का सिखों के ऊपर प्रभाव पड़ा। 1873 में अमृतसर में सिंह सभा आंदोलन की नींव पड़ी। इस आंदोलन के दो मुख्य उद्देश्य थे। 1. यह आंदोलन सिख समाज में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार करना चाहता था। 2. यह आंदोलन ईसाई प्रचारकों से सिख धर्म की रक्षा करने के लिए कृतसंकल्प था।

अकाली आंदोलन सिंह सभा आंदोलन की ही उपज था। इस आंदोलन ने सिख गुरुद्वारों को भ्रष्टाचार में लिप्त महंतों के चंगुल से आजाद किया।

10. पारसी सुधार आंदोलन

नवजागरण की जो लहर सारे भारत में उठ रही थी, उसकी लपेट में पारसी समुदाय भी आया। 1851 में पारसियों का धार्मिक सुधार संघ बना जिसका लक्ष्य था पारसियों की सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति में सुधार करना और जरथुश्त धर्म को उसके शुद्ध रूप में प्रतिष्ठित करना। नोरोजी फर्दून जी, दादाभाई नौरोजी और के. आर. कामा इस आंदोलन के अग्रदूत थे। पारसियों के रीति-रिवाजों में सुधार किया गया और स्त्रियों की दशा सुधारने के प्रयत्न किए गए। कालोत्तर में पारसी समाज पर पाश्चात्य संस्कृति का सबसे तीखा रंग चढ़ा।

सुधार आंदोलनों का प्रभाव[10]

उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलनों में राष्ट्रीय जागृति के यज्ञ में महत्त्वपूर्ण आहुति दी। विदेशी शासन में भारत तीव्र गति से अधःपतन की ओर बढ़ रहा था। धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आंदोलनों ने इस प्रवृत्ति को रोका। सदियों से परतंत्रता की चक्की में पिसते-पिसते भारतवासियों में जो मानसिक और आध्यात्मिक दुर्बलता आ गई थी, सुधार आंदोलनों ने उन्हें इस दुर्बलता से उबारा।

सुधार आंदोलनों ने भारत की सामाजिक कुरीतियों को दूर किया, जनता के अंधविश्वासों को तोड़ा और उसमें जांच-पड़ताल करने की भावना भर दी। इन आंदोलनों ने भारतीयों को बताया कि उनके धर्म में कौन-सी बातें अच्छी हैं जिन्हें वे स्वीकार करें और कौन-सी बातें बुरी हैं जिन्हें वे त्यागें। वह धार्मिक सुधार आंदोलनों का ही फल था कि भारत अंधविश्वासों के घने कुहरे से बाहर निकला और उसने जीवन और जगत की विभिन्न समस्याओं को तर्क, विज्ञान और विवेक के प्रकाश में देखना आरंभ किया।

प्रायः सभी सुधार आंदोलनों ने भारत के भूतकालीन वैभव का चित्र उपस्थित किया। भारतीय जनता ने जब इस चित्र से अपनी वर्तमान स्थिति का मिलान किया तब उसे अपार वेदना हुई। कहां तो भूतकाल का जगद्गुरु भारतवर्ष और कहां वर्तमान काल का पराधीन, निर्धन और अशिक्षित भारतवर्ष। स्वाभाविक है कि धार्मिक आंदोलनों ने भारतीय जनता के मन में अपनी वर्तमान दयनीय अवस्था से छुटकारा पाने की अदम्य लालसा उत्पन्न कर दी। इस प्रकार धर्म-सुधार आंदोलनों ने राष्ट्रवाद की भावना को धार्मिक क्षेत्र में व्यक्त किया।

यह याद रखने योग्य है कि राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानंद और स्वामी विवेकानंद जैसे समाज सुधारक उच्च कोटि के राष्ट्रवादी और देशभक्त थे। उन्होंने अपने अनुयायियों को देशभक्ति का पुनीत पाठ पढ़ाया। राजा राममोहन राय को आधुनिक भारत का जनक कहा गया है। यद्यपि वे ब्रिटिश शासन के प्रशंसक थे, फिर भी वे यह बात अच्छी तरह से समझते थे कि अंग्रेज शासकों ने हिंदुस्तानियों के साथ क्या-क्या अन्याय किए हैं। स्वामी दयानंद के राष्ट्रप्रेम के बारे में तो किसी प्रकार का संदेह किया ही नहीं जा सकता। उन्होंने तो यहां तक कहा था कि विदेशियों का राज्य कितना भी अच्छा क्यों न हो, वह सुखदायक नहीं होता। स्वदेशी राज्य ही अच्छा होता है। स्वामी विवेकानंद की रचनाओं में भी स्वदेश-प्रेम की धारा छिपी पड़ी है। नवयुवकों के लिए उनका संदेश था, मेरे तरुण मित्रों बलवान बनो। तुम्हारे लिए मेरी यही सलाह है। तुम भगवद्गीता के स्वाध्याय की अपेक्षा फुटबाल खेलकर कहीं अधिक सुगमता से मुक्ति पा सकते हो। जब तुम्हारी रगें और पट्ठे अधिक दृढ़ होंगे, तब तुम भगवद्गीता के उपदेशों पर अधिक अच्छी तरह चल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकोगे। गीता का उपदेश कायरों को नहीं बल्कि अर्जुन को दिया गया था जो बड़ा शूर, पराक्रमी और क्षत्रिय-शिरोमणि था।

भारतीय नवजागरण का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है—सामाजिक सुधार। इतिहास के दौर में भारतीय समाज में अनेक सामाजिक कुरीतियां पैदा हो गई थीं जिन्होंने भारतीय समाज को अंदर से खोखला कर दिया। मुस्लिम आक्रमणकारियों के सम्मुख हिंदुओं की पराजय का एक प्रमुख कारण उनके सामाजिक संगठन की कमजोरियां थीं।

राजा राममोहन राय भारत में समाज सुधार के अग्रदूत थे। उनके समाज-दर्शन का मूलमंत्र था—लोकक्षेम अर्थात् जनता का कल्याण।

समाज-सुधार के क्षेत्र में राजा राममोहन राय का सबसे बड़ा काम सती प्रथा के विरोध में आंदोलन खड़ा करना और ब्रिटिश सरकार के सहयोग से उसे कानूनन समाप्त करना था।

सती का अर्थ है—पतिव्रता स्त्री, वह स्त्री जो पूरी तरह पति के प्रति समर्पित हो और जिसका चरित्र निष्कलंक हो। पति-समर्पण की गहरी भावना के कारण पति के शव के साथ जल जाने वाली स्त्री को सती कहा जाता था। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में सती-प्रथा के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

मुस्लिम शासकों, विशेषकर मुगल सम्राट अकबर ने सती प्रथा को बंद करने की कोशिश की थी लेकिन वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके थे।

ब्रिटिश शासकों की शुरू में यह नीति रही थी कि वे हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करें। इसीलिए उन्होंने अपने शासन के आरंभिक दिनों में सती के मामले में भी उदासीनता का रुख अपनाया। सती-प्रथा वीभत्स थी। जो स्त्रियां अपने पति के साथ सती नहीं होना चाहती थीं उन्हें जबरन पति के शव के साथ चिता में बैठा दिया जाता था। इस जघन्य प्रथा का एक कारण यह था कि विधवाएं अपने पति की संपत्ति में कोई हिस्सा न पा सकें।

1828 में लार्ड विलियम बैंटिक गवर्नर जनरल बन कर भारत आए। उन्होंने सती-प्रथा के सभी पहलुओं पर विचार करने के उपरांत 4 दिसंबर, 1829 को इसे गैर-कानूनी घोषित कर दिया। रूढ़िवादी दल ने सरकार के सती विरोधी कानून के विरोध में प्रिवी कौंसिल में अपील की। पर यह अपील रद्द कर दी गई।

राजा राममोहन राय ने बंगाल में सामाजिक सुधारों की जो लहर पैदा की थी, उसके फलस्वरूप आगे के कुछ वर्षों में भारत में अनेक सामाजिक सुधार हुए। इन सुधारों में मुख्य थे—कन्या वध का अंत, विधवाओं का पुनर्विवाह, बाल विवाह का अंत, स्त्रियों की शिक्षा, दासता का अंत, अस्पृश्यता निवारण, पर्दा-प्रथा का अंत, दलितों का उद्धार, देवदासी प्रथा का अंत। जिन संस्थाओं ने इस क्षेत्र में विशेष रूप से काम किया है, वे हैं : ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफी, राम कृष्ण मिशन, इंडियन नेशनल सोशल कान्फ्रेंस, कैलकटा फीमेल जुवेनाइल सोसायटी, बोम्बे सोशल रिफार्म एसोसिएशन, हिंदू एसोसिएशन, हरिजन सेवक संघ, आल इंडिया वूमेन कांफ्रेंस, आल इंडिया डिप्रेस्ड क्लासेस एसोसिएशन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज-सुधारों के क्षेत्र में अग्रणी व्यक्ति हैं : राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशव चन्द्र सेन, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, महादेव गोविंद रानाडे, श्रीमती एनी बीसेंट, स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद, वहराम जी मलबारी, महात्मा गांधी, बी. आर. अंबेडकर, प्रो. के कर्वे और वीरसालिंगम पांतुलु।

सारांश

पाश्चात्य संपर्क के फलस्वरूप भारत में समाज-सुधार के अनेक आंदोलनों ने जन्म लिया। इनमें से मुख्य आंदोलन निम्नलिखित थे : (1) ब्रह्म समाज; (2) प्रार्थना समाज; (3) रामकृष्ण मिशन; (4) आर्य समाज; (5) थियोसोफी; (6) वहाबी आंदोलन; (7) अलीगढ़ आंदोलन; (8) देवबंद आंदोलन; (9) सिख सुधार आंदोलन; और (10) पारसी सुधार आंदोलन।

ब्रह्म समाज की स्थापना राजा राममोहन राय ने की थी। उन्होंने देश में ऐसी अनेक प्रवृत्तियों को जन्म दिया था जिनके फलस्वरूप भारतीय समाज मध्य युग की सीमाओं को पार कर आधुनिकता के युग में आ गया। इसीलिए, राजा राममोहन राय को आधुनिक भारत का जनक कहा जाता है।

राजा राममोहन राय ने इस बात पर जोर दिया कि हिंदू शास्त्रों और परंपराओं का बदलती हुई परिस्थितियों के आलोक में मूल्यांकन होना चाहिए। उनके विचार से हिंदू धर्म का मूल रूप एकेश्वरवाद का, वेदांत का था।

राजा राममोहन राय पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिंदू धर्म के कुछ प्रमुख ग्रंथों का बंगला में अनुवाद किया था। आधुनिक भारत में धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की परंपरा राजा राममोहन राय से ही प्रारंभ होती है।

राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन किया, समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता पर जोर दिया और सती प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में मदद की।

राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद देवेन्द्रनाथ टैगोर और केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज के कार्य को आगे बढ़ाया। इन नेताओं ने स्त्री शिक्षा, विधवा पुनर्विवाह, मद्यनिषेध और बहुविवाह विरोध जैसे कार्यक्रमों का प्रतिपादन किया।

महाराष्ट्र में ब्रह्म समाज प्रार्थना समाज के रूप में उभरा। प्रार्थना समाज के प्रमुख नेता थे न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे, आर. जी. भंडारकर और एन. जी. चंद्रावरकर थे।

रामकृष्ण मिशन की स्थापना स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस के विचारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए की थी।

1813 में स्वामी विवेकानंद ने अमरीका के शिकागो शहर में आयोजित विश्वधर्म सम्मेलन में भाग लिया था। उन्होंने अपने भाषण में सिद्ध किया कि हिंदू धर्म में सांप्रदायिकता, संकीर्णता और धर्मान्धता के लिए कोई स्थान नहीं है। हिंदू धर्म वास्तव में विश्वधर्म है।

स्वामी विवेकानंद की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने पराधीन भारतीयों को अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति गर्व करना सिखाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानंद ने 1875 में की थी। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी दयानंद के जीवन और कार्यों का अध्ययन करने के साथ ही एक अध्याय आर्य समाज के ऊपर भी दिया गया है।

थियोसोफी की स्थापना मैडम बलावात्स्की तथा कर्नल आल्काट ने 1875 में संयुक्त राज्य अमरीका के न्यूयार्क शहर में की थी। भारत में थियोसोफी को लोकप्रिय बनाने का श्रेय श्रीमती एनी बीसेंट को है। थियोसोफी ने हिंदू धर्म के पुनरुत्थान पर ज़ोर दिया। श्रीमती बीसेंट का नाम होमरूल आंदोलन के साथ विशेष रूप से जुड़ा हुआ है।

सैयद अहमद बरेलवी ने अरब के वहाबी आंदोलन का संदेश भारत में प्रसारित किया। 1830 से 1840 तक वहाबी आंदोलन अंग्रेजों के लिए सिरदर्द बना रहा। यह आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन का रूप न ले सका।

मुस्लिम समाज सुधारकों में सर सैयद अहमद खां का नाम शीर्ष पर है। उन्होंने अलीगढ़ आंदोलन चलाया और मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा व संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया।

मोहम्मद कासिम वानोतवी तथा रशीद अहमद गंगोही ने 1866 में उत्तर प्रदेश के जिला सहारनपुर के देवबंद कस्बे में एक मुस्लिम विद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय का उद्देश्य मुस्लिम समाज के लिए धार्मिक नेता तैयार करना था। देवबंद के उलेमाओं ने इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना का स्वागत किया था।

उन्नीसवीं सदी के बुद्धिजीवी और प्रगतिशील विचारों का सिखों के ऊपर भी प्रभाव पड़ा। 1873 में अमृतसर में सिंह सभा आंदोलन की नींव पड़ी। अकाली आंदोलन सिंह सभा आंदोलन की ही उपज था।

नवजागरण की लपेट में पारसी आंदोलन भी आया। 1857 में पारसियों का धार्मिक सुधार संघ बना जिसका लक्ष्य पारसियों की सामाजिक स्थिति में सुधार करना था।

उन्नीसवीं सदी के धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलनों ने राष्ट्रीय जागृति में योग दिया और सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. ब्रह्मसमाज के विषय में विशेष जानकारी के लिए देखिए, Debajyoti Burman and Kalidas Nag, *English Works of Raja Rammohun Roy*, 7 vols., Calcutta, 1945-51; R.N. Chatterjee, *Rammohun Roy and Modern India.* Calcutta, 1911; P.K. Das, *Raja Rammohun Roy and Brahminism,* Calcutta, 1970, S.N. Shastri, *History of Brahm Samaj,* 2 vols., Calcutta, 1909-1912; विश्वप्रकाश और मोहिनी गुप्त, *राजा राममोहन राय : व्यक्ति और समाज,* दिल्ली, 1996।
2. स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण मिशन के कार्यकलापों पर हिंदी, अंग्रेजी और बंगला भाषाओं में प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। हिंदी और अंग्रेज़ी में प्रकाशित कुछ चुनी हुई पुस्तकों की सूची नीचे दी जा रही है।

   रोमा रोलां, *विवेकानंद का जीवन और सार्वभौम सिद्धांत,* रामकृष्ण मिशन, धन्तौली, नागपुर; टी. एस. अविनाशलिंगम, *शिक्षा (विवेकानन्द की)* रामकृष्ण आश्रम, धन्तौली, नागपुर 1971; सत्येन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाथ मजूमदार, *विवेकानन्द चरित्र*, रामकृष्ण आश्रम, धन्तौली, नागपुर, 1971; चक्रवर्ती शरतचन्द्र, *विवेकानन्द जी के संग में*, प्रभात प्रकाशन चावड़ी बाजार, दिल्ली; स्वामी तेजस्वानंद, रामकृष्ण संघ *आदर्श और इतिहास*, रामकृष्ण मठ, धन्तौली, नागपुर, 1974; स्वामी विवेकानन्द, *विवेकानन्द साहित्य* (संपूर्ण दस खंड) अद्वैत आश्रम मायावती, पिथौरागढ़, 1973; राजेन्द्र प्रकाश गुप्त, *स्वामी विवेकानन्द : व्यक्ति और विचार*, दिल्ली, 1997।

Vivekanand *Complere Works of Swami Vivekananda* (Eight Volumes) Advaita Ashrama, Calcutta; Arora, *The Social and Political Philosophy of Swami Vivekananda*, Calcutta, 1968; Swami Abhedananda, *Swami Vivekananda and his Works, 3rd ed*, Ramkrishna Vedanta Math, Calcutta 1950; T.S. Avinashlingam, *Vivekananda on Education*, Madras; Maric Louice Burke, *Swami Vivekananda* in America, Calcutta 1966; Trilochan Das, *Social Philosophy of Swami Vivekananda*, Calcutta, 1949; Bhupendranath, Swami Vivekanada, Patriot and Prophet, Calcutta, 1954; *Eastern and Western Disciples, Life of Swami Vivekananda*, Calcutta, 1961; Swami Gambhirananda, *Hisory of Ramkrishna Math and Mission*, Calcutta,; Swami Nikhilananda, *The Gospel of Shri Ramkrishna*, Madras; Swami Rangnathananda, *Swami Vivekananda—His Life and Mission*, Calcutta; Romain Rolland, *Swami Vivekananda*.

3. आर्य समाज के इतिहास और विचारधारा को समझने के लिए स्वामी दयानंद, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी तुलसीराम, पं. लेखराम, पं. भीमसेन शर्मा, स्वामी नित्यानंद, पं. गुरुदत्त, महात्मा हंसराज, लाल लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानंद, पं. क्षेमकरणदास, महात्मा नारायण स्वामी, पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय, पं. नरदेव शास्त्री, श्री पाद दामोदर सातवलेकर तथा डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के ग्रंथ उपयोगी हैं। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ने सात खंडों में आर्यसमाज का विस्तृत इतिहास लिखा है। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी दयानंद के जीवन और कार्यों का समग्र रूप से विवेचन है। पुस्तक में एक अध्याय आर्य समाज के ऊपर भी है।
4. "···उनका (दयानन्द का) जीवन आग्नेय था। उनका हृदय विशाल था। वे धृति के आकार के थे। उन्होंने खुले हृदय से संकल्प किया। वस्तुतः धर्मप्रचार का व्रत तो बीज रूप से वह उसी समय कर चुके थे जब घर से निकले। परंतु जब उनका लक्ष्य अधिक निश्चित हो गया।" गंगाप्रसाद उपाध्याय।
5. "She was comparatively speaking, a new figure in the political field but her activities as the head of the Theosophical Society has made her name quite familiar in India. She came to this country in 1893 and devoted herself to the cause of social and educational uplift with undaunted energy. Gradually, she came to realize that no real improvement could be effected without raising the political status of India. She was equally convinced that the Indian National Congress, under the guidance of its moderate leaders, was not likely to achieve much. With characterstic energy she pluged herself into the political struggle." R.C. Majumdar (Ed.) *The History and Culture of Indian People*, Vol. XI, *Struggle for Freedom*, p. 249.
6. "She was nothing, if not extraordinary, in whatever she took up, and her short period of political activity of less than five years was marked by an 'indomitable will, concentrated purposefulness, undaunted courage and indefatigable zeal'. Her superb oratory and matchless literary gifts enabled her to reach the foremost rank in politics

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

in an incredible short time." R.C. majumdar *Ibid.*, p. 251.

7. मुस्लिम राजनीति और पाकिस्तान के निर्माण से संबंधित सभी पुस्तकों में अलीगढ़ आंदोलन का विवेचन है। कुछ विशिष्ट पुस्तकें हैं :
   Lal Bahadur, *Muslim League*, Agra, 1954; M.S. Jain. *The Aligarh Movement, Its Origin and Development* (1858-1906), Agra, 1965; Ram Gopal, *Indian Muslims—A Political History* (1858-1947); London, 1959; A Richard Symond, *The Making of Pakistan*, London, 1950.
8. देवबंद स्कूल के लिए देखिए, Ziya-UI-Hasan Faruqi, the *Deoband School and the Demand for Pakistan*, Bombay, 1963.
9. सिख सुधार आंदोलन के बारे में देखिए : Gopal Singh (Ed.) *Punjab—Past, Present and Future;* Harbans Singh (Ed), *The Encyclopaedia of Sikhism*, Vol. I, 1992; Kailash Chander Gulati, *The Akali : Pat and Present* 1974; Mohinder Singh, *The Akali Movements*, Delhi, 1978; K..L. Tuteja, *Sikh Politics*, 1984, Ruchi Ram Sahni, *Struggle for Reform in Sikh Shrines;* Teja Singh, *Gurdwara Reform Movement and the Sikh Awakening*, 1922; Kushwant Singh, *A History of Sikhs, 2* Vols., 1966.
10. भारत में समाज-सुधारों की प्रगति के लिए देखिए : Aziz Ahmad, *Islamic Modernism in India and Pakistan;* C.H. Heimsath, *Indian Nationalism and Hindu Social Reform;* Kenneth Jones, *Arya Samaj : Hindu Consciousness in the 19th Century*, V.A. Narain, *Social History of India—The Nineteenth Century*, S. Natarajan, *A Century of Social Reforms in India*; Manilal Parekh, *Brahm Samaj*, M.G. Ranade, *Religious and Social Reforms*, Sumit Surkar, *Bibliographical Survey of Social Reform Movement in the 18th and 19th Centuries* (I.C.H.R. 1975): H.C.E. Zakaria, *Renaiscent India*.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 7

स्रोत-सामग्री

जीवन के पड़ाव

स्वामी दयानंद भारतीय नवजागरण के पुरोधा थे तथा आधुनिक भारत के मंत्रदृष्टा। उनका जन्म 1824 में हुआ था और तिरोभाव 1883 में। उन्हें कुल 59 वर्ष का जीवन मिला।

स्वामी दयानंद के जीवन-प्रवाह को चार मुख्य पड़ावों में विभक्त किया जा सकता है : (1) 1824 से 1846; (2) 1847 से 1864; (3) 1865 से 1875; और (4) 1876 से 1883।

पहला पड़ाव

स्वामीजी के जीवन का पहला पड़ाव 1824 में उनके जन्मकाल से लेकर 1846 में उनके गृहत्याग तक का काल है। यह 22 वर्षों का समय है। इस काल की मुख्य घटनाएं हैं : बाल्यकाल, प्रारंभिक शिक्षा, शिवरात्रि की पूजा के समय चूहे के शिवलिंग पर चढ़ने के कारण, मूर्तिपूजा के प्रति अविश्वास का जन्म, सहोदरा भगिनी और चाचा की मृत्यु, वैराग्य का उदय तथा सत्य और ज्ञान की खोज में गृह-त्याग।

दूसरा पड़ाव

स्वामीजी के जीवन का दूसरा पड़ाव 1847 से 1864 तक का है। यह 17 वर्ष का समय है। इस काल की प्रमुख घटनाएं हैं : सिद्धपुर मेले में पिताजी से अंतिम भेंट, नर्मदा तट और आबू पर्वत पर योग शिक्षा, संन्यास दीक्षा, उत्तराखंड की यात्रा और योगियों की खोज, शव की चीरफाड़ और नाड़ी-ग्रंथ की परीक्षा, गंगातटवर्ती स्थानों पर भ्रमण, नर्मदा स्रोत की विकट यात्रा, प्रज्ञाचक्षु गुरु विरजानंद के चरणों में बैठ कर तीन वर्षों तक वेदों का अध्ययन और 1863 के बाद दो वर्ष तक भावी जीवन की तैयारी के लिए आगरा में प्रवास। यह स्वामी दयानंद के जीवन का निर्माण-काल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीसरा पड़ाव

स्वामी दयानंद के जीवन का तीसरा पड़ाव 1865 से आरंभ होकर 1874 तक चलता है। यह काल स्वामीजी का उत्कर्ष-काल है। इसमें उन्होंने जयपुर, पुष्कर, अजमेर, मेरठ, हरिद्वार, कर्णवास, अनूप शहर, रावघाट, अतरौली, सोरो, फर्रुखाबाद, कन्नौज, कानपुर, रामनगर, काशी, प्रयाग, मिर्जापुर, पटना, मुंगेर, भागलपुर, कलकत्ता, पटना, वृंदावन, मथुरा, राजकोट, पूना तथा बंबई की यात्राएं कीं, धर्मप्रचार किया और शास्त्रार्थ किए। उनका ब्रह्मसमाज के नेताओं से संपर्क हुआ तथा उन्होंने बंबई में आर्य समाज की विधिवत् स्थापना की। इस काल में स्वामी दयानंद भारत के ही नहीं समूचे संसार के एक प्रमुख धर्माचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए।[1]

चौथा पड़ाव

स्वामीजी के जीवन का चौथा पड़ाव 1875 से 1883 में उनकी मृत्यु तक का है। इस काल में स्वामीजी ने अपने विचारों को आम जनता तक पहुंचाने के बीसियों ग्रंथों की रचना की, अपने ग्रंथों के प्रकाशन की समुचित व्यवस्था करने के लिए अजमेर में वैदिक मंत्रालय नामक प्रेस की स्थापना की तथा अपने विचारों का प्रचार करने के लिए दिल्ली, मेरठ, लुधियाना, लाहौर, अमृतसर, गुरुदासपुर, जालंधर, फिरोजपुर, रावलपिंडी, गुजरात (पंजाब), गुजरांवाला, मुलतान, रुड़की, अजमेर, रेवाड़ी, देहरादून, मुरादाबाद, बदायूं, बरेली, मैनपुरी, मुजफ्फरनगर, आगरा, अजमेर, जयपुर, बंबई, उदयपुर और जोधपुर की यात्राएं कीं। 26 सितंबर, 1883 को स्वामीजी जोधपुर में बीमार हुए और प्रायः एक महीने तक बीमारी से लड़ते हुए 30 अक्तूबर, 1883 को अजमेर में उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया।

स्वामीजी के जीवन और कार्यों के बारे में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने की उत्कंठा स्वामीजी के जीवन-काल में ही लोगों के मन में पैदा हो गई थी और इस दिशा में प्रयत्न शुरू हो गए थे।

1. पूना प्रवचन

स्वामीजी ने अपने जीवन के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन अपने पूना-प्रवचन में किया। उन्होंने यह भाषण 4 अगस्त, 1875 को दिया था और इसमें 1824 में अपने जन्म से लेकर 4 अगस्त, 1875 में दिए गए पूना-प्रवचन तक की आत्मकथा का विवरण दिया था। इस समय स्वामीजी ने अपनी आयु के 50 वर्ष पूरे कर लिए थे। पूना-प्रवचन में स्वामीजी के जीवन के प्रारंभिक 50 वर्षों की स्थूल रूपरेखा मिल ज़ाती है।[2]

2. थियोसोफिस्ट पत्रिका

स्वामी दयानंद ने थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापक कर्नल एच.एस. आल्काट (H.S. Olcott) के अनुरोध पर उनके पत्र *थियोसोफिस्ट* बंबई में छपने के लिए अपना जीवन-वृत्तांत भेजा था। यह वृत्तांत पत्र के अक्तूबर 1879, दिसंबर 1879 तथा नवंबर, 1880 के अंकों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रकाशित हुआ था। डॉ. भवानीलाल भारतीय ने यह वृत्तांत **महर्षि दयानंद सरस्वती की आत्मकथा** शीर्षक से वैदिक पुस्तकालय अजमेर से प्रकाशित किया है।

3. गोपालराव हरि

स्वामी दयानंद के जीवन-काल में ही तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश के शिक्षा अधिकारी पं. गोपाल राव हरि ने **दयानंद दिग्विजयार्क** नाम से एक ग्रंथ लिखा था। ग्रंथ के पहले दो खंड 1881 में तथा तीसरा और अंतिम खंड 1887 में प्रकाशित हुआ। डॉ. भवानीलाल भारतीय ने 1974 में इस ग्रंथ का संपादित संस्करण आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली से प्रकाशित किया है। पहले खंड में स्वामी दयानंद के संक्षिप्त जीवन-चरित्र के अतिरिक्त उनके कुछ शास्त्रार्थों का विवरण है। दूसरे खंड में स्वामीजी के कुछ ग्रंथों तथा उनके द्वारा किए गए वेद-प्रचार का वर्णन है।

तीसरे खंड में स्वामीजी के गोरक्षा संबंधी विचारों और थियोसोफिस्टों से उनके मतभेद का उल्लेख है। इसमें उनकी उदयपुर तथा जोधपुर यात्राओं तथा अजमेर में उनकी मृत्यु का भी वर्णन है। स्वामीजी के देहावसान पर अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने उन्हें जो श्रद्धांजलियां भेंट की थीं, उनका भी इस खंड में संकलन किया गया है।[3] स्वामीजी के परवर्ती जीवनीकारों ने इस ग्रंथ में दी गई सूचनाओं से लाभ उठाया है।[4]

4. पं. लेखराम

1 जुलाई, 1888 को आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब में पंडित लेखराम आर्यपथिक को स्वामीजी की प्रामाणिक जीवनी लिखने के लिए नियुक्त किया। नवंबर 1988 से पं. लेखराम ने स्वामीजी की जीवनी के बारे में आधारभूत सामग्री एकत्रित करने का कार्य आरंभ किया। उन्होंने देश के विभिन्न भागों में घूम कर उन लोगों से संपर्क स्थापित किया जिन्होंने स्वामीजी का प्रत्यक्ष दर्शन किया था। लेखराम जी ने ऐसे व्यक्तियों के वक्तव्यों को लिपिबद्ध कर लिया। यदि लेखराम जी स्वयं ही स्वामीजी का जीवन चरित लिख पाते, तो वह एक अद्वितीय ग्रंथ होता। लेकिन 16 मार्च, 1897 को लेखराम जी की हत्या कर दी गई। बाद में उनका यह काम पं. आत्माराम अमृतसरी ने पूरा किया। 25 अक्तूबर, 1897 को स्वामी श्रद्धानंद ने अपनी विस्तृत भूमिका के साथ स्वामीजी का यह जीवन चरित उर्दू में प्रकाशित किया। यह ग्रंथ हिंदी में 1971 में आर्य समाज, नया बांस, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इसका हिंदी अनुवाद कविराज रघुनंदन सिंह 'निर्मल' ने किया था। दयानंद शोध पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त प्रोफेसर तथा अध्यक्ष डॉ. भवानीलाल भारतीय ने इस ग्रंथ के हिंदी अनुवाद का संपादन कर 2000 में इसे आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली से प्रकाशित किया है। डॉ. भारतीय ने ग्रंथ में प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ने वाली अशुद्धियों को शुद्ध किया है और ग्रंथ के अंत में दो विशिष्ट परिशिष्ट दिए हैं। पहले परिशिष्ट में स्वामीजी के जीवन की घटनाओं को बतलाने वाले व्यक्तियों की स्थान-क्रम से तालिका दी गई है।[5] दूसरे परिशिष्ट में स्वामीजी के जीवन की घटनाओं को जिन सम-सामयिक पत्रों में उल्लिखित किया गया था, उन्हें तिथिक्रम से दर्शाया गया है।[6]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. लाला लाजपत राय

लाला लाजपत राय ने 1898 में पंडित लेखराम के जीवन चरित पर आधारित स्वामी दयानंद का जीवन चरित लिखा था। यह मूलतः उर्दू में था और इसका नाम था **महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती और उनका काम।**

6. चिम्मन लाल वैश्य

1902 में चिम्मनलाल वैश्य ने **सरस्वती चन्द्र जीवन चरित** नाम से हिंदी में स्वामीजी का जीवन चरित लिखा। यह जीवन चरित भी पं. लेखराम जी द्वारा संगृहीत सामग्री पर आधारित था।

7. रामविलास शारदा

रामविलास शारदा ने 1904 में **आर्य धमेन्द्र जीवन** नाम से स्वामीजी का हिंदी में जीवन चरित प्रकाशित किया।

8. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने 1896 ई. में स्वामी दयानंद के जीवन पर बंगला भाषा में एक पुस्तक प्रकाशित की। मेरठ निवासी पं. घासीराम ने 1912 में इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद भास्कर प्रेस, मेरठ से प्रकाशित कराया। मुखोपाध्याय ने अपनी दयानंदविषयक जीवनी में चरितनायक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा युगीन परिस्थितियों का अच्छा विश्लेषण किया है।

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय 1896 के बाद स्वामी दयानंद की जीवनी के बारे में सामग्री एकत्रित करने के लिए उन सभी स्थानों पर गए जहां-जहां स्वामी दयानंद गए थे। मुखोपाध्याय ने सामग्री-संकलन में प्रायः 15 वर्ष का समय लगाया। वे ग्रंथ की भूमिका तथा चार अध्याय ही लिख पाए थे कि 10 जनवरी, 1917 को उनका निधन हो गया। मुखोपाध्याय के अधूरे काम को पं. घासीराम ने पूरा किया। मुखोपाध्याय द्वारा संकलित सामग्री के आधार पर पं. घासीराम द्वारा लिखा गया स्वामी दयानंद का जीवन चरित दो भागों में 1933 में आर्य साहित्य मंडल, अजमेर द्वारा प्रकाशित किया गया।

9. स्वामी सत्यानंद

आर्य समाज के एक संन्यासी स्वामी सत्यानंद ने पांच वर्ष तक महर्षि-जीवन की विशेष सामग्री एकत्रित करने के बाद **श्री दयानंद प्रकाश** नामक स्वामी दयानंद सरस्वती का संपूर्ण जीवन चरित्र लिखा। इस ग्रंथ का आदि संस्करण आर्य पुस्तकालय, लाहौर से 1918 में प्रकाशित हुआ था। ग्रंथ गद्य काव्य की शैली में है। 1976 में दयानंद संस्थान, दिल्ली ने उसका एक नया संस्करण प्रकाशित किया है।

10. महेश प्रसाद मौलवी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पं. महेश प्रसाद मौलवी ने स्वामी दयानंद के जीवन के बारे में महत्त्वपूर्ण शोध किया। उनके ग्रंथ **महर्षि जीवन-दर्शक** में स्वामीजी के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं तथा तिथियों की छानबीन की गई है।

11. डॉ. भवानी लाल भारतीय

स्वामी दयानंद की सप्रमाण जीवनी लिखने का एक उल्लेखनीय प्रयत्न डॉ. भवानी लाल भारतीय ने किया है। उन्होंने **नवजागरण के पुरोधा दयानंद सरस्वती** नाम से स्वामीजी की एक अनुसंधानपरक जीवनी प्रस्तुत की है। यद्यपि दयानंद के जीवन का समग्र आलेखन करने के लिए लेखक पं. लेखराम तथा पं. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अन्वेषणों पर निर्भर रहा है तथापि विगत पचास वर्षों की अवधि में इस महापुरुष के जीवन से संबंधित अनेक नवीन तथ्य, घटनाएं तथा प्रसंग जब-जब और जिस-जिस प्रकार से उद्घाटित होते रहे हैं, उन सबका समावेश भी इस जीवन चरित में किया गया है। उदाहरणतः दयानंद की जन्मतिथि एवं माता के नाम आदि की विवेचना के साथ-साथ कर्णवास प्रसंग, कलकत्ता-प्रवास का हेमचंद्र चक्रवर्ती की दैनंदिनी के आधार पर चित्रण, आर्य समाज बंबई के साप्ताहिक अधिवेशनों में स्वामी दयानंद प्रदत्त प्रवचन आदि अनेक नूतन प्रसंगों की उद्भावना इस ग्रंथ की एक प्रमुख विशेषता समझी जा सकती है।[7] डॉ. भारतीय ने घटनाओं को भली प्रकार विश्लेषित कर उनसे कथानायक के व्यक्तित्व को प्रकाश में लाने का उपक्रम किया है। प्रत्येक अध्याय के अंत में दी गई विद्वत्तापूर्ण पाद-टिप्पणियां "दयानंद-विषयक प्रासंगिक जानकारी को अधिक प्रामाणिक, सर्वांगीण तथा सुनिश्चित बना कर प्रस्तुत करती हैं।"[8]

12. अन्य जीवनियां

उपर्युक्त जीवनियों के अतिरिक्त इंद्र विद्यावाचस्पति ने 1945 ई. में **महर्षि दयानंद** नाम से स्वामी दयानंद का जीवन चरित प्रकाशित किया। नेशनल बुक ट्रस्ट ने 1970 ई. में बी. के. सिंह द्वारा लिखित **स्वामी दयानंद** प्रकाशित किया। भारत सरकार के प्रकाशन विभाग ने आधुनिक भारत के निर्माता पुस्तकमाला के अंतर्गत धनपति पांडेय द्वारा प्रणीत **स्वामी दयानंद सरस्वती** नामक पुस्तक का 1992 में प्रकाशन किया।

13. अंग्रेजी में प्रकाशित जीवनियां

स्वामी दयानंद की अंग्रेजी भाषा में भी अनेक जीवनियां प्रकाशित हुई हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं।

1. दुर्गाप्रसाद, **महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती,** विरजानंद प्रेस, लाहौर, 1892।
2. बाबा अर्जुन सिंह, **दयानंद सरस्वती : फाउंडर ऑफ आर्य समाज (दयानंद सरस्वती : आर्य समाज के संस्थापक)** पंजाब प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर, 1901।
3. बाबा छाजूसिंह, **लाइफ एंड टीचिंग्स ऑफ स्वामी दयानंद (स्वामी दयानंद : जीवन और शिक्षाएं)** आदिसन प्रेस, लाहौर, 1903।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. गोकुलचंद नारंग, **द लूथर ऑफ इंडिया (भारत के लूथर)**, ईश्वर चंद्र आर्य ट्रैक्ट सोसायटी, लाहौर, 1913।
5. सूरजभान, **दयानंद : हिज लाइफ एंड वर्क्स। (दयानंद : जीवन और कृतित्त्व)**, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1934।
6. दीवानचंद शर्मा, **स्वामी दयानंद सरस्वती** मैकमिलन एंड कं., लंदन, 1935।
7. शिवनंदन प्रसाद कुलयार, **स्वामी दयानंद हिज़ लाइफ एंड टीचिंग्स (स्वामी दयानंद : जीवन और शिक्षाएं)**, आर्य प्रतिनिधि सभा, बिहार, पटना, 1938।
8. हरविलास सारदा, **लाइफ ऑफ दयानंद सरस्वती : वर्ल्ड टीचर (दयानंद सरस्वती की जीवनी : विश्व शिक्षक)**, वैदिक मंत्रालय, अजमेर, 1946।
9. जे. टी. एफ. जोर्डन्स, **दयानंद सरस्वती : हिज़ लाइफ एंड आइडियाज़ (दयानंद सरस्वती : जीवन और विचार)**, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978।
10. गंगा प्रसाद उपाध्याय, **द सेज ऑफ मार्डर्न इंडिया : स्वामी दयानंद (आधुनिक भारत के महर्षि स्वामी दयानंद)**, कला प्रेस, इलाहाबाद, प्रकाशन तिथि नहीं दी गई।

स्वामी दयानंद के संबंध में संस्कृत[9] और हिंदी[10] में अनेक काव्य ग्रंथ लिखे गए हैं। हिंदी और अंग्रेजी के अतिरिक्त भारत की अन्य भाषाओं—बंगला[11], उड़िया[12], मराठी,[13] गुजराती[14], तमिल[15], तेलुगु[16], कन्नड़[17], मलयालम[18], सिंधी[19], पंजाबी[20] तथा उर्दू[21] भाषाओं में स्वामीजी के अनेक जीवन चरित्रों की रचना हुई है। स्वामी श्रद्धानंद, भगवद्दत, और युधिष्ठिर मीमांसक ने स्वामीजी के पत्रों तथा विज्ञापनों के संग्रह प्रकाशित किए हैं। आर्य समाज, भारतीय नवजागरण और आधुनिक भारत के इतिहास-विषयक ग्रंथों में स्वामी दयानंद के जीवन तथा योगदान की चर्चा है।[22] जहां स्वामी दयानंद एक ओर ब्रिटेन के एडम स्मिथ, बेकन और गिल जैरो विचारकों की श्रेणी में आदर के साथ खड़े होते हैं, वहीं वे कणाद, गौतम और शंकराचार्य जैसे वेद-वेदांग पारंगत व धर्मसंस्थापकों के समकक्ष माने गए हैं।[23]

भारतीय नवजागरण के कुछ अन्य पुरोधाओं—राजा राममोहन राय, स्वामी रामकृष्ण, स्वामी विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविंद घोष तथा महात्मा गांधी से स्वामी दयानंद की तुलना की गई है। उन्नीसवीं सदी के अंत तथा बीसवीं सदी के आरंभ में स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह-निषेध, अस्पृश्यता-निवारण, अंधविश्वासों का उन्मूलन, धर्म-सुधार, राजनीतिक स्वतंत्रता, देशी भाषाओं का उत्कर्ष, अतीत की खोज आदि क्षेत्रों में जो आंदोलन आरंभ हुए, उनका बीज स्वामी दयानंद के विचारों में खोजा जा सकता है। स्वामी दयानंद ने भले ही सीधे राजनीति में भाग न लिया हो, लेकिन उन्होंने वह आधारभूमि तैयार की जिस पर नवजागृत राष्ट्र का भवन खड़ा किया जा सकता था। इसी दृष्टि से शिक्षा, समाज, राजनीति, धर्म और भाषा-साहित्य जैसे विभिन्न क्षेत्रों में स्वामीजी के विचारों पर शोध प्रबंध तैयार किए गए हैं। आशा है कि भविष्य में इस प्रकार के अध्ययनों का क्रम बढ़ता ही जाएगा।[24]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारांश

स्वामी दयानंद के जीवन को चार मुख्य पड़ावों में विभक्त किया जा सकता है।

स्वामीजी के जीवन का पहला पड़ाव 1824 में उनके जन्म से लेकर 1846 में उनके गृहत्याग तक का है। यह 22 वर्षों का समय है और इसे उनका बाल्यकाल कहा जा सकता है।

स्वामीजी के जीवन का दूसरा चरण 1847 से 1864 तक का 17 वर्षों का समय है। इस काल में स्वामी दयानंद ने गंगा तटवर्ती स्थानों तथा वन-प्रांतरों की यात्राएं कीं तथा तीन वर्ष तक स्वामी विरजानंद के चरणों में बैठ कर मथुरा में विद्याध्ययन किया।

स्वामी दयानंद के जीवन का तीसरा पड़ाव 1865 से 1874 तक का है। यह काल स्वामीजी का उत्कर्ष-काल है। इस काल में वे एक प्रमुख धर्माचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

स्वामीजी के जीवन का चौथा और अंतिम अवस्थान 1875 से 1883 में उनकी मृत्यु तक का है। इस काल में उन्होंने अपने विचारों को व्यवस्थित रूप देने के लिए बीसियों ग्रंथ लिखे और अनेक नगरों में आर्य समाज की स्थापना की।

स्वामीजी के जीवन और कार्यों के बारे में जानकारी प्राप्त करने की उत्कंठा 1870 से ही पैदा हो गई थी। समाचार-पत्रों में उनके बारे में सूचनाएं छपने लगी थीं।

स्वामीजी ने अपने जीवन के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन 4 अगस्त, 1975 को अपने पूना-प्रवचन में किया था। उन्होंने थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापक कर्नल एच. एस. आल्काट के अनुरोध पर उनके पत्र **थियोसोफिस्ट**, बंबई में छपने के लिए अपना जीवन-वृत्तांत भेजा था। यह वृत्तांत पत्र के 1879 और 1880 के अंकों में प्रकाशित हुआ था।

स्वामीजी के इन आत्मकथात्मक वृत्तांतों के अतिरिक्त गोपाल राव हरि, पं. लेखराम, लाला लाजपतराय, चिम्मनलाल वैश्य, रामविलास शारदा, देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, स्वामी सत्यानंद, महेश प्रसाद मौलवी और डॉ. भवानीलाल भारतीय ने स्वामीजी की जीवनियां लिखी हैं।

हिंदी और अंग्रेजी के अतिरिक्त भारत की प्रायः सभी भाषाओं में स्वामी दयानंद की जीवनियां प्रकाशित हुई हैं।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. सन् 1824 से 1875 तक स्वामीजी का यह *स्वकथित जीवन-चरित्र* पं. लेखराज कृत *महर्षि दयानंद सरस्वती का जीवन-चरित्र* (सं. डॉ. भवानीलाल भारतीय) में प्रकाशित हुआ है। पृ. 36-55
2. स्वामीजी का यह जीवन वृत्तांत पूना-प्रवचन में वर्णित घटनाओं से भी संबंधित है। यह स्वामीजी द्वारा किए गए नर्मदा नदी के स्रोत की खोज (1857) तक ही है। लेंकिन यह वृत्तांत लिखित रूप में उपलब्ध है। इसलिए इसका महत्त्व असंदिग्ध है।
3. डॉ. भवानीलाल भारतीय ने अपने *संपादकीय वक्तव्य* में स्वीकार किया है कि ‘‘लेखक ने जो सामग्री संचित की है वह उसकी फस्टहैंड नालेज पर आधारित है। स्वयं स्वामीजी के समकालीन होने तथा उनके विश्वासभाजन होने के कारण पं. गोपालराव हरि ने स्वामीजी के जीवनवृत्त, उनके कार्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा प्रवृत्तियों का जो विवरण उपलब्ध किया है, वह सर्वथा प्रामाणिक और विश्वसनीय है।' गोपालराव हरि, *दयानंद दिग्विजयार्क* (सं. डॉ. भवानीलाल भारतीय) आर्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1974 *संपादकीय वक्तव्य।*

4. स्वामी दयानंद की मृत्यु पर जिन पत्र-पत्रिकाओं ने श्रद्धांजलियां अर्पित की थीं और जिनका गोपालराव हरि ने अपनी पुस्तक में संकलन किया है, वे थीं :
हिंदी प्रदीप मासिक, प्रयाग; *भारत बंधु* साप्ताहिक, अलीगढ़; *शुभचिंतक* मासिक, शाहजहांपुर, *विलासपुर समाचार*, मध्यप्रदेश, *देशोपकारक* (उर्दू) लाहौर, *विक्टोरिया पेपर*, स्यालकोट, *आर्य समाचार* (उर्दू) मेरठ; *बदायूं समाचार, बंगाली*, कलकत्ता (3 नवंबर, 1883), *ट्रिब्यून* दैनिक, लाहौर, *हिंदू पेट्रियट*, कलकत्ता (8 नवंबर, 1883); *इंडियन क्रॉनिकल*, कलकत्ता; *इंडियन एम्पायर* कलकत्ता (4 नवंबर, 1883); *हिंदू आब्ज़र्वर*, मद्रास (18 नवंबर, 1883); *पंजाब टाइम्स*, रावलपिंडी (10 नवंबर, 1883); *गुजरात मित्र*, सूरत (11 नवंबर, 1883); *बंगाल पब्लिक ओपीनियन*, कलकत्ता (8 नवंबर, 1883); *लिबरल*, कलकत्ता (11 नवंबर, 1883); *इंडियन मैसेंजर*, कलकत्ता (11 नवंबर, 1883); *इंग्लिश क्रॉनिकल*, बांकीपुर, पटना (5 नवंबर, 1883); *इंडियन स्पीकर*, बंबई (18 नवंबर, 1883), *दीनबंधु*, बंबई (4 नवंबर, 1883) *रास्त गुफ्तार* (सत्यवक्ता), बंबई (4 नवंबर, 1883), *जाम जमशेद* दैनिक, बंबई (2 नवंबर, 1883), *अवध अखबार* (उर्दू दैनिक), लखनऊ (8 नवंबर, 1883)।
5. परिशिष्ट 1, 'पं. लेखराम को ऋषि दयानंद के जीवन-वृत्तांत बताने वाले पुरुषों की नामावली', *महर्षि दयानंद का जीवन चरित्र*, पृ. 928-935।
6. परिशिष्ट-2, 'समसामयिक पत्रों में ऋषि दयानंद विषयक संदर्भ', *उपर्युक्त*, पृ. 936-943।
7. डॉ. भवानीलाल भारतीय, *नवजागरण के पुरोधा दयानंद सरस्वती*' लेखक का वक्तव्य, पृ. 6।
8. *उपर्युक्त*, पृ. 4।
9. स्वामी दयानंद के संबंध में लिखित कुछ संस्कृत काव्य ग्रंथ है : ज्वालादत्त शर्मा, *महर्षि वियोग शोक*, सरस्वती प्रेस, इटावा, 1898; अखिलानंद शर्मा, *दयानंद दिग्विजयम्*, इंडियन प्रेस, प्रयाग, 1910; दिलीप दत्त रार्मोपाध्याय, *मुनिचरितामृतम्*, महाविद्यालय दर्शन प्रेस, ज्वालापुर, 1971; मेधाव्रताचार्य, *दयानंद लहरी*, दयानंद जन्म शताब्दी समिति, मथुरा, 1925; केवलानंद शर्मा, *यतीन्द्र शतकम्*, मऊनाथ भंजन, उत्तर प्रदेश, 1938।
10. स्वामी दयानंद के संबंध में प्रकाशित कुछ हिंदी काव्यग्रंथ हैं : कृष्ण अमृतसरी, *श्री स्वामी दयानंद सरस्वती का जीवन-चरित्र*, लाहौर, 1924; विद्यानंद विदेह, *दयानंद चरितामृत*, वेद संस्थान, अजमेर, 1983; लाल शंभूनाथ, *दयानंद दयाप्रकाश*, आगरा, 1924; टी. रामचंद्र भारती, *बोधरात्रि*, सरस्वती प्रकाशन मंडल, मांडले (बर्मा), 1939; लक्ष्मण शर्मा 'ललित', *महारथी*, आर्य समाज लहेरिया सराय (बिहार)।
11. बंगला भाषा में स्वामी दयानंद के प्रमुख जीवन चरित हैं : नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, *दयानंद सरस्वतीर संक्षिप्त जीवनी*, कलकत्ता, 1886; देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, *दयानंद चरित 1896 ई ; शंकरनाथ पंडित*, ऋषीन्द्र जीवन कलकत्ता, 1927।
12. यज्ञ प्रकाश दास ने उड़िया में स्वामी दयानंद की जीवनी लिखी है जो 1977 में प्रकाशित हुई है।
13. मराठी में हरि सुखाराम तुंगार (*महर्षि दयानंद यांचे चरित्र* व *कामगिरि*, अहमद नगर, 1920) तथा सत्यवीर शास्त्री (*स्वामी दयानंद चे चरित*, अमरावती, 1982) ने स्वामीजी की जीवनियां लिखी हैं।
14. गुजराती में स्वामीजी की मुख्य जीविनियां मिम्नलिखित हैं : बालाभाई जमनादास वैश्य, *महर्षि दयानंद सरस्वती नुं जीवन चरित*, अहमदाबाद, 1897; रत्नसिंह दीपसिंह परमार, *स्वामी दयानंद नुं. जीवन चरित*, 1916; रमणलाल वसंतलाल देसाई, *महर्षि दयानंद*, बड़ौदा, 1937; धनवंत ओझा, *दयानंद*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरस्वती, अहमदाबाद, 1962।

15. तमिल में स्वामी दयानंद के दो जीवन चरित उल्लेखनीय हैं। एक है कलघा द्वारा लिखित *मकरिषि स्वामी दयानंद सरस्वती यारिन वाजक्कैयूम।* इसे आर्य समाज, मद्रास ने 1934 में प्रकाशित किया था। तमिल भाषा में स्वामी दयानंद पर दूसरा जीवन चरित शुद्धानंद भारती ने लिखा जो 1947 में प्रकाशित हुआ।
16. तेलुगु भाषा में आर. सत्यनारायण द्वारा लिखित *दयानंद चरित* (1958) उल्लेखनीय है।
17. कन्नड़ भाषा में स्वामी दयानंद के दो प्रमुख जीवनी लेखक हैं : केशवय्य और सुधाकर चतुर्वेदी। केशवय्य का जीवनचरित है—*महर्षि दयानंद सरस्वती* (1943)। सुधाकर चतुर्वेदी ने *महर्षि दयानंद सरस्वती* नाम से स्वामीजी की जीवनी वैदिक साहित्य प्रचार समिति, उडुपि (कर्नाटक) से 1977 में प्रकाशित की है।
18. मलयालम भाषा में स्वामी दयानंद का एक ही जीवन चरित उपलब्ध होता है वह है नारायण दत्त द्वारा प्रणीत महर्षि दयानंद सरस्वती। यह ग्रंथ वैदिक साहित्य परिषद, चेंगनूर (केरल) से 1971 में प्रकाशित हुआ है।
19. सिंधि में माधवदास प्रेमचंद आर्य ने *महर्षि स्वामी दयानंद की मुख्तसर जीवनचरित* (अहमदाबाद, 1958) की रचना की है।
20. पंजाबी में पिंडीदास ज्ञानी और स्वामी स्वतंत्रतानंद ने स्वामी दयानंद के जीवन चरित्र लिखे थे।
21. पं. लेखराम तथा लाला लाजपतराय ने स्वामी दयानंद की जीवनियां मूल रूप से उर्दू में ही लिखी थीं।
22. वैसे तो आर्य समाज के छोटे-बड़े अनेक इतिहास प्रकाशित हुए हैं, लेकिन इस दिशा में सबसे सराहनीय प्रयत्न डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार का है। डॉ. सत्यकेतु भारतीय इतिहास के माने हुए विद्वान थे। उन्होंने 7 भागों में आर्य समाज का विस्तृत इतिहास लिखा है जो आर्य स्वाध्याय केंद्र, दिल्ली से 1982 में प्रकाशित हुआ है।
23. उद्धृत गोपाल राव हरि, *वही,* पृ. 292।
24. "ऋषि दयानंद के जीवन पर अनेक दृष्टियों से हमारे विद्वान् अब अध्ययन करने लगे हैं—भारत के गवेषक ही नहीं, बाहर के देशों के शोधछात्र और आचार्य भी। भारतीय विश्वविद्यालयों के अनेक विभागों में दयानंद संबंधी अध्ययन आरंभ हो गए हैं। इस प्रकार के अध्ययन का क्रम बढ़ता ही जाएगा। इस अध्ययन के साथ, आर्य समाज की गतिविधि की भी लोग विवेचना करेंगे।" "दयानंद के स्वप्नों की एक दुनिया थी—हम उन स्वप्नों के निकट पहुंच रहे हैं या उनसे दूर हट रहे हैं, इसकी आलोचनाएं समय-समय पर हमारे शोधछात्र स्वतंत्रतापूर्वक पूर्ण अधिकार से करेंगे। इन छात्रों में अनेक तो ऐसे होंगे, जो आर्य समाज के संगठन के अंग नहीं हैं—वे आर्य समाज की गतिविधि का तटस्थता से अध्ययन करेंगे। इनके अध्ययन के परिणामस्वरूप जो आलोचनाएं हमारे समक्ष आएंगी, वे हमारे लिए कल्याणकर होंगी, चाहे वे ऊपर से प्रिय हों या कटु। मैं दोनों प्रकार की आलोचनाओं का स्वागत करता हूं।" डॉ. सत्य प्रकाश सरस्वती, *द्वे वचसी,* डॉ. भवानीलाल भारतीय कृत पुस्तक *नवजागरण के पुरोधा दयानंद सरस्वती,* अजमेर, 1983 पृ. 4।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 8
बाल्यकाल और गृह-त्याग

गुजरात

दयानंद स्वामी गुजरात के देव हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में गुजरात ने देश को दो महापुरुष दिए—महात्मा गांधी और स्वामी दयानंद सरस्वती। दोनों ही गुजरात के काठियावाड़ प्रदेश के निवासी थे।

गुजरात का इतिहास प्रायः 5,000 साल पुराना है। लोगों का विश्वास है कि भगवान श्रीकृष्ण मथुरा छोड़ कर द्वारका में आ बसे थे। गुजरात पर मौर्यों, गुप्तों, प्रतिहारों तथा चालुक्यों का शासन रहा। चालुक्यों के शासन-काल में गुजरात ने चतुर्दिक उन्नति की। इस गौरवपूर्ण युग के बाद गुजरात पर मुसलमानों, मराठों तथा ब्रिटिश शासकों का अधिकार रहा।

गुजरात ने स्वतंत्रता आंदोलन में अग्रिम भूमिका निभाई। उसने देश को गांधी जी और वल्लभभाई पटेल जैसे नेता दिए। स्वतंत्रता से पहले गुजरात मुख्यतः दो भागों में बंटा हुआ था—ब्रिटिश गुजरात तथा देशी रजवाड़े। राज्यों का पुनर्गठन होने पर सौराष्ट्र राज्य संघ, कच्छ और पूर्वकालीन ब्रिटिश गुजरात द्विभाषी बंबई राज्य के भाग हो गए। 1 मई, 1960 को वर्तमान गुजरात राज्य का जन्म हुआ। इस समय गुजरात का क्षेत्रफल 1,96,024 वर्ग किलो मीटर है और जनसंख्या 4,13,09,582।

गुजरात भारत के पश्चिमी तट पर स्थित है। उसके पश्चिम में अरब सागर, उत्तर और पूर्व में क्रमशः पाकिस्तान तथा राजस्थान, दक्षिण-पूर्व में मध्य प्रदेश तथा दक्षिण में महाराष्ट्र है।

गुजरात के मुख्य तीर्थस्थल हैं—द्वारका, सोमनाथ, जूनागढ़, प्रभास, पत्तन, गिरनार और पालिताना।

सर्व-स्वीकृत जीवन-सूत्र

स्वामी दयानंद के पूर्वजों, वंश-परंपरा, जन्म-स्थान, जन्म तिथि, माता-पिता के नामों तथा स्वयं उनके संन्यास-पूर्व के नाम के बारे में जीवनी लेखकों के बीच मतभेद पाया जाता है। हम इन मतभेदों की गहराई में न जाकर कुछ सर्वस्वीकृत तथ्यों के आधार पर स्वामीजी के जीवन-सूत्र को समझना चाहेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वंश

दयानंद औदीच्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके पूर्वज लगभग एक हजार साल पहले मूलराज सोलेकी नामक गुजरात-नरेश के शासन-काल में उदीचि (उत्तर) दिशा से आकर गुजरात में बसे थे। 'उदीचि' दिशा से आने के कारण इन ब्राह्मणों को 'औदीच्य' कहा जाता था। इन ब्राह्मणों की एक शाखा काठियावाड़ स्थित मौर्वी रियासत के अंतर्गत टंकारा गांव में बस गई। स्वामी दयानंद टंकारा निवासी औदीच्य ब्राह्मण करसन जी लाल जी तिवारी के पुत्र थे। उनकी माता का नाम अमृत बेन (अमू बा) था। स्वामीजी का जन्म 1824 ई. में हुआ था। उनका संन्यास-पूर्व नाम मूलशंकर था। वे घर में सबसे बड़ी संतान थे। उनकी दो बहिनें—रत्न बा और प्रेम बा। उनके दो छोटे-छोटे भाई थे—वल्लभजी तथा नवलशंकर जी। स्वामी दयानंद के भाई-बहिनों में सिर्फ एक बहिन प्रेम बा जीवित रहीं और उन्हीं के वंशजों को अपने नाना की संपत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई।[1]

स्वामी दयानंद के परिवार में साहूकारी थी, अर्थात् लेन-देन का व्यवसाय होता था। भिक्षा की जीविका नहीं थी। परिवार में जमींदारी का पद पीढ़ियों से चला आया था। भूमिकर वसूल करने के लिए सरकार की ओर से कई सिपाही मिले हुए थे।

प्रारंभिक शिक्षा

स्वामी दयानंद ने पांच वर्ष का होने पर देवनागरी लिपि का अभ्यास आरंभ किया। उनके माता-पिता तथा अन्य बुजुर्गों ने उन्हें कुलधर्म की शिक्षा दी। दयानंद ने बहुत से स्रोत, मंत्र, श्लोक तथा उनकी टीकाएं भी कंठस्थ कीं। आठ वर्ष का होने पर स्वामी दयानंद का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। उन्हें संध्योपासन की विधि सिखाई गई और यजुर्वेद में उपलब्ध रुद्रदेवता विषयक मंत्र पढ़ाए गए।

इसके बाद स्वामी दयानंद के पिता ने अपने पुत्र को यजुर्वेद संहिता पढ़ानी शुरू की।

जब स्वामी दयानंद दस वर्ष के हुए उनके पिता ने उन्हें शिव की पार्थिव पूजा करने तथा विधिवत शिवरात्रि का व्रत रखने के लिए प्रेरित किया। दयानंद के पिता चाहते थे कि उनका पुत्र शिवरात्रि के अवसर पर नियमानुकूल उपवास रखे, शिव जी की कथा सुने और रात को जागरण करे। दयानंद जी की माता इसके विरोध में थीं। उनका कहना था कि बच्चा उपवास के योग्य नहीं है। इन विषयों को लेकर घर में कलह होता रहता था। पिता ने पुत्र को व्याकरण की भी किंचित् शिक्षा दी। वे उन्हें मंदिरों और मेलों में भी ले जाते थे। उनका मानना था कि शिव की उपासना सर्वश्रेष्ठ है। इसी खींचतान में स्वामी दयानंद की आयु 14 वर्ष की हो गई। तब तक उन्हें यजुर्वेद कंठस्थ हो गया था। उन्होंने व्याकरण के भी कुछ ग्रंथ पूरे कर लिए थे।

शिवरात्रि का ऐतिहासिक व्रत

1875 में चौदह वर्ष की आयु में अपनी इच्छा न होते हुए भी पिता के आग्रह के कारण स्वामी दयानंद ने शिवरात्रि का व्रत रखा। वे नगर के बाहर बड़े शिवालय में पहुंचे और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने पूजा की। रात के 12 बजे के बाद अधिकांश सो गए। दयानंद इस डर से कि कहीं उपवास निष्फल न हो जाए, नहीं सोए। वे आंखों पर पानी के छींटे मार कर जागते रहे। इतने में एक चूहा मंदिर के बिल से बाहर निकला और शिवलिंग के ऊपर चढ़ कर प्रसाद खाने लगा। बालक मूलशंकर के मन में प्रश्न उठा कि जिस महादेव की हमने कथा सुनी है, क्या यह वही है? क्या उसमें इतनी शक्ति नहीं कि वह चूहे को भगा सके। मूलशंकर ने अपने पिता को जगा कर यह शंका व्यक्त की। पिता ने उन्हें झिड़क दिया।[2]

मूलशंकर को अपने पिता के उपदेश से शांति न मिली। उन्हें लगा कि इसमें कुछ गड़बड़ है। मूलशंकर को अपने पिता की बातों में कुछ कपट और लाग-लपेट प्रतीत हुई। उन्होंने संकल्प किया कि मैं जब महादेव को प्रत्यक्ष देखूंगा तभी उनकी पूजा करूंगा।

थोड़े समय पश्चात् मूलशंकर को भूख लगी और वह अपने पिताजी से अनुमति लेकर घर आ गया। पिताजी ने आज्ञा दी कि भोजन कदाचित न करना। उन्होंने घर जाकर माताजी से कहा कि मुझे भूख लगी है। माता ने मूलशंकर को भोजन करा दिया। भोजन कर मूलशंकर सो गया। वह दूसरे दिन सुबह आठ बजे सोकर उठा। पिताजी ने जब रात की सारी कहानी सुनी, तो वे क्रुद्ध हुए। पुत्र ने पिता से स्पष्ट कह दिया, "वह मूर्ति कथा का महादेव नहीं था। मैं उसकी पूजा क्यों करूं"। रात की घटना के बाद मूलशंकर के मन में मूर्तिपूजा पर श्रद्धा नहीं रही। माता ने पिताजी को समझा-बुझा कर शांत किया। इसके बाद मूलशंकर ने अध्ययन में तीव्र गति से उन्नति की। उसने निघंटु, पूर्वमीमांसा तथा कर्मकांठ का गहन अध्ययन किया।

बहिन की मृत्यु

जब मूलशंकर की आयु 16 वर्ष की थी, उनसे उम्र में दो साल छोटी बहिन की हैजे से मृत्यु हो गई। मूलशंकर ने जन्म से लेकर इस समय तक पहली बार मनुष्य को मरते देखा था। इससे उनके हृदय को गहरा धक्का लगा। वे सोचने लगे सारे मनुष्य इसी प्रकार मरेंगे और ऐसे ही एक दिन मैं भी मर जाऊंगा। वे सोच-विचार में पड़ गए। उन्होंने निश्चय किया कि कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे जीव जन्म-मरण रूपी दुख से मुक्ति पा सके। उस समय से ही मूलशंकर के मन में वैराग्य की जड़ जम गई।[3]

चाचा की मृत्यु

जब मूलशंकर की आयु 19 वर्ष की थी, उनके प्रिय चाचा भी विशूचिका के शिकार हुए और उनकी मृत्यु हो गई। इससे मूलशंकर को पुनः गहरा आघात पहुंचा और उनके मन में वैराग्य का भाव दृढ़ हो गया। उन्होंने अपने मन की बात मित्रों से कह दी। मित्रों ने माता-पिता से। माता-पिता ने मूलशंकर के मन से वैराग्य का भाव निकालने के लिए उनका विवाह कर डालने का विचार किया। लेकिन मूलशंकर और उनके मित्रों के आग्रह पर पिता ने एक वर्ष के लिए विवाह का विचार टाल दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काशी-प्रवास का आग्रह

जब मूलशंकर की आयु 20 वर्ष की हुई, उन्होंने अपने पिता से कहना शुरू किया कि उन्हें विद्या अध्ययन के लिए काशी भेज दिया जाए। पिता इस बात के लिए सहमत न हुए। हां, उन्होंने अपने गांव से तीन कोस की दूरी पर स्थित एक गांव में एक विद्वान पंडित के पास मूलशंकर को पढ़ने के लिए भेजना स्वीकार कर लिया। मूलशंकर कुछ समय तक उस प्रशंसित पंडित के पास विद्या अध्ययन करते रहे। एक बार मूलशंकर ने बातों ही बातों में पंडित जी से कह दिया कि उन्हें विवाह से घोर घृणा है। पंडित जी ने यह बात पिताजी से कह दी। पिताजी ने बेटे को घर बुला लिया। इस समय मूलशंकर की आयु 21 वर्ष की पूरी हो गई थी।

गृह त्याग

जब मूलशंकर घर वापस लौटे, उन्होंने देखा कि उनके विवाह की ज़ोर-शोर से तैयारी हो रही हैं। मूलशंकर को लगा कि अब पिता न तो उनका विवाह किए बिना छोड़ेंगे और न उनको आगे अध्ययन का अवसर देंगे। ऐसी अवस्था में उन्होंने घर से भाग जाने का निश्चय किया और वे 1846 ई. में 22 वर्ष की आयु में अपने घर से भाग खड़े हुए। मूलशंकर का यह गृह-त्याग प्रायः 2500 साल पहले सिद्धार्थ के गृह-त्याग की याद दिला देता है। गोस्वामी तुलसीदास और शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास ने भी सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिए गृह-त्याग किया था।

ठगाई

मूलशंकर गृह-त्याग की पहली रात को अपने गांव से आठ मील दूर के एक गांव में रहे। दूसरे दिन वे तीस मील दूर और आगे पहुंचे। यहां उन्होंने एक गांव के हनुमान मंदिर में रात व्यतीत की। उन्हें यह पता लग गया था कि लोग उनकी तलाश में इधर-उधर घूम रहे हैं। इसलिए वे ऐसे रास्तों से गए जहां उन्हें कोई पहचान न सके। रास्ते में वे एक ठग वैरागी द्वारा ठगे गए। भिक्षुओं की एक टोली ने उनसे कहा कि तुमको पक्का वैराग्य तब होगा जब तुम अपने पास की सभी वस्तुएं दान में दे दोगे। मूलशंकर ने धोखे में आकर अपना सब कुछ साधुओं को दे दिया।

शुद्ध चैतन्य

साधुओं से ठगे जाने के बाद मूलशंकर जिला सुरेन्द्रनगर के सामला गांव में पहुंचे। वहां लाला भक्त योगी का आश्रम था। इस स्थान पर एक ब्रह्मचारी ने मूलशंकर को ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी और उनका नया नाम शुद्ध चैतन्य रखा। शुद्ध चैतन्य के पुराने वस्त्र उतरवा लिए गए और साधुओं के से गेरुए वस्त्र पहना दिए गए। शुद्ध चैतन्य साधुओं की टोली में सम्मिलित हो गए। उन्होंने तीन महीने अहमदाबाद के पास कोट कांगड़ा नामक स्थान पर बिताएं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धपुर मेला

चैतन्य स्वामी कोट कांगड़े के बाद सिद्धपुर मेले में पहुंचे। वहां उन्हें अपने गांव का एक साधु मिला जिसने उन्हें पहचान लिया और उनके पिता को सारी सूचना दे दी। पिता चार सिपाहियों को लेकर सिद्धपुर आ पहुंचे और उन्होंने एक शिवालय में मूलशंकर को पकड़ लिया। मूलशंकर ने पिता से क्षमा मांगी लेकिन अवसर मिलते ही वे फिर भाग निकले। यह उनकी अपने स्वजनों से अंतिम भेंट थी।[4]

सारांश

स्वामी दयानंद का जन्म औदीच्य ब्राह्मण कुल में गुजरात के काठियावाड़ प्रदेश के अंतर्गत मौरवी रियासत के टंकारा ग्राम में 1824 को हुआ था। उनके पिताजी का नाम करसन जी लाल जी तिवारी था और माता का अमृत बेन। स्वामीजी का संन्यास पूर्व नाम मूलशंकर था। वे अपने घर में सबसे बड़ी संतान थे। उनकी दो बहिनें तथा दो भाई थे।

मूलशंकर की आरंभिक शिक्षा घर पर हुई। आठ वर्ष का होने पर उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। जब वे दस वर्ष के हुए, उनके पिता ने उन्हें शैवमत की शिक्षा दी।

जब दयानंद 14 वर्ष के हुए उन्होंने अपने पिता के आग्रह से शिवरात्रि का व्रत रखा। रात में उन्होंने देखा कि एक चूहा शिवलिंग पर चढ़ कर प्रसाद खा रहा है। इस घटना को देखकर मूलशंकर का मन मूर्तिपूजा से फिर गया।

जब मूलशंकर की आयु 16 वर्ष की हुई, उनकी छोटी बहिन का और फिर इसके दो वर्ष बाद उनके चाचा का देहावसान हो गया। इन दोनों घटनाओं से उनके मन को गहरी चोट लगी और वे गृह-त्याग का विचार करने लगे।

मूलशंकर के माता-पिता ने उनकी वैराग्य-वृत्ति देखकर उनके विवाह का उपक्रम किया लेकिन दयानंद 22 वर्ष की आयु में एक दिन चुपचाप घर से निकल भागे।

कुछ महीनों बाद मूलशंकर के पिता को उनका पता चल गया और उन्होंने अपने बेटे को जा पकड़ा। लेकिन मूलशंकर उनकी आंखों में धूल झोंक कर फिर भाग निकले। यह उनकी अपने स्वजनों से अंतिम भेंट थीं।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. विस्तार के लिए देखिए : डॉ. भवानी लाल भारतीय, *नवजागरण के पुरोधा दयानंद सरस्वती*, पृ. 1-14।
2. स्वामी दयानंद के अपने ही शब्दों में पिता ने उन्हें समझाते हुए कहा था : "कैलाश पर्वत पर जो महादेव रहते हैं उनकी मूर्ति बना, आवाहन कर पूजन किया करते हैं। अब कलियुग में उनका साक्षात् दर्शन नहीं होता। इसलिए पाषाणादि की मूर्ति बना कर उसमें उन महादेव की भावना रख कर, पूजन करने से कैलाश का महादेव ऐसा प्रसन्न होता है कि मानो वह स्वयं ही इस स्थान पर विद्यमान हो और उसी की पूजा होती हो। तेरी तर्कबुद्धि बहुत बड़ी है, यह तो केवल देवता की मूर्ति है।" उद्धृत पं. लेखराम कृत *महर्षि दयानंद सरस्वती का जीवन-चरित्र*, पृ. 38।
3. स्वामी दयानंद ने उस समय की अपनी मनःस्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है : "जिस समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारा परिवार रो रहा था, मैं मूर्ति की भांति चुपचाप अलग खड़ा था। उस समय मुझको बहुत से मनुष्यों के जीवन, जो संसार में अनित्य हैं, नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प अतीव शोक के साथ उत्पन्न हुए और जान पड़ा कि संसार में कोई भी ऐसा नहीं जो निर्दयी मृत्यु के पंजे से बच जाए। निश्चय एक दिन उस मृत्यु का सामना करना पड़ेगा। उस समय मृत्यु के दुख निवारणार्थ औषधि कहां ढूंढ़ता फिरूंगा और मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त किस पर भरोसा करूंगा? कौन-सा उपाय इसके लिए उचित है। सारांश यह है कि उसी समय पूर्ण विचार कर लिया कि जिस प्रकार हो सके मुक्ति प्राप्त करूं जिसके द्वारा मृत्यु समय के समस्त दुखों से बचूं।" *उपर्युक्त*, पृ. 39।

4. स्वामी दयानंद ने अपनी आत्मकथा में कहा है कि "इसके पश्चात् एक बार प्रयाग में मेरे ग्राम के कुछ लोग मुझको मिले थे परंतु मैंने पहचान नहीं दी। उसके पश्चात् आज तक किसी से भेंट नहीं हुई।" पं. लेखराम, वही, पृ. 43।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 9

ज्ञान की खोज में

वेदांती संन्यासियों की संगति

सिद्धपुर मेले से भाग कर शुद्ध चैतन्य (स्वामी दयानंद) अहमदाबाद गए और फिर वहां से बड़ौदा। बड़ौदा में वे चेतनमठ में ठहरे। यहां उनकी अनेक वेदांती संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों से भेंट हुई। वेदांतियों की संगति में शुद्ध चैतन्य पर वेदांत का रंग चढ़ गया और उन्हें भी लगने लगा कि जीव और ब्रह्म एक हैं।[1]

नर्मदा तट

बड़ौदा में शुद्ध चैतन्य ने सुना कि नर्मदा तट पर बड़े-बड़े विद्वानों की एक सभा होने वाली है। वे उस स्थान पर पहुंचे। यहां उनकी सच्चिदानंद परमहंस नामक साधु से भेंट हुई। परमहंस से उन्हें ज्ञात हुआ कि नर्मदा तट पर ही स्थित चाणोद कन्याली नामक स्थान पर उत्तम विद्वान ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों की एक मंडली रहती है। शुद्ध चैतन्य चाणोद कन्याली पहुंच गए। यहां उनका अनेक स्वामी संन्यासियों से वार्तालाप हुआ। इन संन्यासियों में एक चिराश्रम स्वामी भी थे। बाद में शुद्ध चैतन्य परमानंद नामक परमहंस के पास पढ़ने लगे। शुद्ध चैतन्य ने परमहंस के पास रहकर वेदांत का विशेष रूप से अध्ययन किया।

संन्यास-ग्रहण

शुद्ध चैतन्य इस समय तक ब्रह्मचारी थे। इसलिए उन्हें अपना खाना अपने हाथ से बनाना पड़ता था। इससे उनके अध्ययन में बाधा पड़ती थी। इस बखेड़े से छूटने के लिए उन्होंने संन्यास-ग्रहण का निश्चय किया। इसके अतिरिक्त शुद्ध चैतन्य को यह भय भी था कि वे अपने कुल की प्रसिद्धि के कारण घरवालों के हाथ पकड़े जा सकते हैं। संन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर वे पूरी तरह निश्चिंत हो सकते थे।

शुद्ध चैतन्य को पूर्णानंद सरस्वती नाम से एक विद्वान संन्यासी ने संन्यास आश्रम की दीक्षा दी। इस समय शुद्ध चैतन्य की अवस्था 24 वर्ष की थी। स्वामी पूर्णानंद ने अपने नए शिष्य का नाम स्वामी दयानंद सरस्वती रखा। दयानंद को संन्यास देने के कुछ काल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चात् स्वामी पूर्णानंद द्वारका की ओर चले गए। दयानंद कुछ समय तक चाणोद कन्याली में ठहरे रहे।

योग की शिक्षा

संन्यास आश्रम ग्रहण करने के पश्चात् स्वामी दयानंद ने योगानंद, कृष्णशास्त्री चितपावन, ज्वालानंद पुरी और शिवानंद गिरि नामक योगियों से योगविद्या का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया। स्वामी ज्वालानंद पुरी और शिवानंद गिरि के प्रति स्वामी दयानंद आजीवन आभारी रहे। स्वामी दयानंद ने राजस्थान में आबू पर्वत की चोटियों पर अनेक योगियों से भेंट की तथा उनसे योग साधन के सूक्ष्म तत्त्वों को प्राप्त किया।[2]

उत्तराखंड की यात्रा

1848 से 1854 तक अर्थात् छह वर्ष तक स्वामी दयानंद भिन्न-भिन्न स्थानों में फिरकर महात्माओं, विद्वानों और योगीजनों से मिलकर आत्मिक उन्नति और मानसिक शांति के उपाय प्राप्त करते रहे। इस बीच विद्यार्थी बने रहकर उन्होंने अनेक लोगों से विद्योपार्जन किया। अब उनकी अवस्था 30 वर्ष की हो गई थी। 11 अप्रैल, 1853 को हरिद्वार में कुंभ मेला पड़ा। स्वामीजी हरिद्वार और फिर वहां से ऋषिकेश गए। यहां उनकी बड़े-बड़े महात्माओं, संन्यासियों तथा योगियों से भेंट हुई जिनसे उन्होंने योग की रीतियां सीखीं।[3]

ऋषिकेश से स्वामीजी टिहरी गए। यहां उन्होंने तंत्र-ग्रंथों का अध्ययन किया। तंत्र की पुस्तकें पढ़ने पर स्वामीजी के मन में तंत्र के प्रति घोर घृणा पैदा हो गई।[4]

टिहरी से स्वामीजी श्रीनगर, केशरघाट, रुद्रप्रयाग, गुप्तकाशी, गौरीकुंड, भीमगुफा, तुंगनाथ तथा ओखीमठ गए। ओखीमठ के महंत ने उन्हें अपना चेला बनाने का विचार प्रकट किया कि हमारी गद्दी के तुम स्वामी होगे और लाखों रुपए की पूंजी तुम्हारे पास होगी। स्वामीजी ने महंत का यह प्रस्ताव निस्पृह भाव से ठुकरा दिया।

ओखीमठ से चलकर स्वामीजी ने जोशीमठ तथा बद्रीनारायण की यात्रा की। बद्रीनारायण में उन्होंने वहां के सबसे बड़े महंत रावल जी का सत्संग किया। इस यात्रा में स्वामीजी घोर कष्ट सहकर अलखनंदा के उद्‌गम तक जा पहुंचे। उत्तराखंड से वापस आते हुए स्वामीजी काशीपुर, मुरादाबाद, संभल और गढ़मुक्तेश्वर गए।

शव की चीरफाड़

स्वामीजी ने योग की पुस्तकों में मनुष्य के शरीर में पाए जाने वाले नाड़ी-चक्र के बारे में पढ़ा था। उन्होंने एक शव को चीर-फाड़ कर नाड़ी-चक्र की जांच की और पाया की पुस्तकों में दिए गए विवरण तथा शव में कोई समानता नहीं है। उन्होंने पुस्तकों को फाड़कर शव के साथ ही नदी में फेंक दिया। धीरे-धीरे स्वामीजी उसी समय से इस परिणाम पर पहुंचने लगे कि वेदों, उपनिषदों, पातंजल योग और सांख्य दर्शन के अतिरिक्त विज्ञान और योग विद्या पर लिखी गई समस्त पुस्तकें निरर्थक और अशुद्ध हैं।[5]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंगा तटवर्ती स्थानों का भ्रमण

स्वामीजी ने गंगातटवर्ती स्थानों पर लंबे समय तक भ्रमण किया। वे फर्रुखाबाद, कानपुर और इलाहाबाद होते हुए अक्तूबर 1856 में बनारस पहुंचे। बनारस में स्वामीजी को भांग-सेवन की आदत पड़ गई जिससे उन्होंने मुश्किल से छुटकारा पाया।

नर्मदा के स्रोत की यात्रा

मार्च, 1857 में स्वामीजी ने योगियों की खोज में नर्मदा के स्रोत की ओर प्रस्थान किया। इस यात्रा में उनका सामना एक बड़े काले रीछ से हुआ। स्वामीजी डरे नहीं। जैसे ही उन्होंने अपने सोटे को उसकी ओर उठाया, वह डर कर उल्टे पांच लौट गया। स्वामीजी ने नर्मदा तट पर तीन वर्ष तक भ्रमण किया।

1857 का स्वतंत्रता-संग्राम

मई, 1857 में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सिपाहियों का विद्रोह हुआ। इसे भारत का पहला स्वतंत्रता-संग्राम भी कहा गया है। दिल्ली का मुगल सम्राट बहादुरशाह 'जफर', झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और कानपुर के नाना साहब इस क्रांति के प्रमुख नेता थे। कुछ विद्वानों का मानना है कि स्वामी दयानंद ने इस आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई थी। पर यह बात पूरी तरह से प्रमाणित नहीं हो सकी है।

स्वामी विरजानंद

1860 में स्वामी दयानंद मथुरा पहुंचे और उन्होंने 81 वर्षीय प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानंद के चरणों में बैठकर तीन वर्ष तक विद्याध्ययन किया।

स्वामी दयानंद के जीवन और भावी कार्यक्रम पर स्वामी विरजानंद का गहरा प्रभाव पड़ा। विरजानंद पंजाब के जालंधर जिले के कर्तारपुर कस्बे के निकट गंगापुर गांव के रहने वाले थे। उनका जन्म 1778 ई. में हुआ था। बाल्यकाल में ही शीतला रोग के कारण उनकी आंखों की ज्योति जाती रही थी। माता-पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई तथा भावज ने विरजानंद के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। निराश होकर उन्होंने किशोरवय में ही घर त्याग दिया और 1796 ई. में संन्यास की दीक्षा ले ली। संन्यास ग्रहण के बाद विरजानंद जी ने गंगासागर, कलकत्ता, काशी और सोरों की यात्रा की। उन्होंने तीन वर्ष तक अलवर-नरेश को संस्कृत भाषा की शिक्षा दी। इसके बाद उन्होंने मथुरा में आकर अपने एक विद्यालय की स्थापना की। स्वामी विरजानंद पाणिनी की अष्टाध्यायी तथा पातंजल के महाभाष्य को ही व्याकरण के प्रामाणिक ग्रंथ मानते थे। उन्होंने काफी तर्क-वितर्क के बाद स्वामी दयानंद को अपना शिष्य बनाना स्वीकार किया। स्वामी दयानंद ने उनके बारे में अपने पूना-प्रवचन में कहा था :

''मथुरा में एक संन्यासी सत्पुरुष मुझे मिले। उनका नाम विरजानंद स्वामी है। वे पहले अलवर में थे। उस समय उनकी आयु 81 वर्ष की थी। उनकी वेद से लेकर आर्ष शास्त्रों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अत्याधिक रुचि थी, वह दोनों चक्षुहीन थे। उनके उदर में सदा शूल की पीड़ा रहती थी। उनकी आधुनिक कौमुदी, शेखर आदि ग्रंथों में बड़ी अश्रद्धा थी। भागवत आदि पुराणों का तो बहुत ही तिरस्कार करते थे। समस्त आर्ष ग्रंथों पर उनकी अत्यंत भक्ति थी। आगे जब उनका परिचय हुआ, तो 'तीन वर्ष में व्याकरण आता है' उनके ऐसा कहने पर मैंने उनसे पढ़ने का निश्चय किया।''[6]

अमरलाल जोशी का उपकार

जिन दिनों स्वामी दयानंद मथुरा में स्वामी विरजानंद के पास विद्या-अध्ययन कर रहे थे, उन दिनों दयानंद के ही सजातीय औदीच्य ब्राह्मण अमरलाल जोशी ने उनके खाने-पीने की व्यवस्था अपने घर पर कर दी। स्वामीजी उसके उपकार को कभी नहीं भूले। उन्होंने अपनी आत्मकथा में उसके बारे में कहा था :

''मथुरा में एक भद्रपुरुष अमरलाल नाम का था। उसने भी, जब मैं विद्याध्ययन करता था, उस समय जो मेरे पर उपकार किए हैं, उनको मैं कभी न भूलूंगा। पुस्तकों की सामग्री, खाने-पीने का प्रबंध उसने बहुत ही उत्तम कर दिया। उसे जब कहीं बाहर रोटी खाने को जाना होता तो प्रथम मुझको घर में बना कर खिलाता फिर आप बाहर जाता। इस प्रकार वह पुरुष बहुत ही उदारचित्त था।''[7]

गुरु-सेवा

स्वामी दयानंद ने विरजानंद जी के पास विद्या अध्ययन करते समय अपूर्व गुरु-भक्ति का परिचय दिया। वे अपने गुरु के स्नान के लिए 15 या 20 घड़े जल यमुना से प्रतिदिन लाते थे। वे दंडी जी (स्वामी विरजानंद) के पीने के लिए अत्यंत श्रेष्ठ शुद्ध जल यमुना के बीच में से जाकर लाया करते थे। एक बार दंडी जी ने स्वामी दयानंद को लाठी से मारा। इससे दंडी जी का हाथ दर्द करने लगा। तब दयानंद जी ने कहा, ''महाराजा आप मुझे न मारा करें क्योंकि मेरा शरीर वज्र के समान कठोर है। उस पर प्रहार करने से आपके कोमल हाथों को दुख होगा।'' उस चोट का चिह्न स्वामीजी के हाथ पर अंतकाल तक रहा। चोट का निशान देखकर स्वामी दयानंद दंडी जी का स्मरण किया करते थे। उनकी विद्या तथा उपकार का हृदय से धन्यवाद करते थे।

शास्त्र चर्चा और उपदेश

स्वामी दयानंद विरजानंद जी के पास अध्ययन करने के साथ ही अपने निवास स्थान लक्ष्मीनारायण के मंदिर में अपने सहपाठियों के साथ शास्त्र चर्चा किया करते थे और उन्हें संध्या, उपासना तथा अग्निहोत्र का उपदेश देते थे। वे मूर्तिपूजा, कंठी, तिलक, छाप आदि को निषिद्ध मानने लगे थे लेकिन अभी उन्होंने इन प्रथाओं का खुलेआम खंडन आरंभ नहीं किया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु दक्षिणा

1863 में दयानंद का विद्या अध्ययन पूरा हो गया। उन्होंने गुरु दक्षिणा के रूप में विरजानंद की सेवा में आध सेर लौंग भेंट की। दंडी जी इस गुरु दक्षिणा से संतुष्ट नहीं हुए और उन्होंने दयानंद से गुरु दक्षिणा के रूप में चार वचन चाहे : (1) देश का उपकार, (2) सत्य शास्त्रों का उद्धार करो, (3) मत-मतांतरों की अविद्या को मिटाओ, और (4) वैदिक धर्म का प्रचार करो। आज्ञाकारी शिष्य ने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य किया और उनसे विदा ली। इस समय उनकी आयु 39 वर्ष की हो गई थी।

सारांश

सिद्धपुर मेले से भाग कर शुद्ध चैतन्य अहमदाबाद और फिर वहां से बड़ौदा गए। यहां उनका अनेक वेदांती साधुओं से संपर्क हुआ और उन पर वेदांत का रंग चढ़ा।

बड़ौदा से शुद्ध चैतन्य नर्मदा तट पर पहुंचे। यहां उन्होंने पूर्णानंद सरस्वती नामक संन्यासी से संन्यास की दीक्षा ली। उनके गुरु ने उनका नाम दयानंद सरस्वती रखा।

संन्यास ग्रहण करने के बाद स्वामी दयानंद ने अनेक योगियों और संन्यासियों से योग की शिक्षा ग्रहण की।

1848 से 1854 तक स्वामी दयानंद ने सच्चे योगियों की खोज में उत्तराखंड की यात्रा की। टिहरी में उन्होंने तंत्र का विकृत रूप देखा। वे श्रीनगर, केदारघाट, रुद्रप्रयाग, गुप्त काशी, गौरी कुंड, भीम गुफा, तुंगनाथ और ओखीमठ गए। ओखी मठ के महंत ने उन्हें प्रलोभन दिया कि यदि वे उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लें तो उसकी गद्दी के उत्तराधिकारी बन सकते हैं। स्वामी दयानंद ने महंत के प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

ओखीमठ से चलकर स्वामीजी जोशीमठ तथा बद्रीनारायण गए। स्वामीजी ने योग की पुस्तकों में वर्णित मनुष्य शरीर में पाए जाने वाले नाड़ी-चक्र की सत्यता की परीक्षा करने के विचार से शव की चीरफाड़ की। उन्होंने पाया कि पुस्तकों में दिए गए विवरण तथा शव में कोई समानता नहीं है।

स्वामीजी ने गंगा तटवर्ती स्थानों पर लंबे समय तक भ्रमण किया और नर्मदा के स्रोत तक जा पहुंचे। इन यात्राओं में स्वामीजी को अनेक बार प्राणलेवा संकटों का सामना करना पड़ा।

1857 में सिपाही विद्रोह की ज्वाला उठी। कुछ लोगों का मानना है कि स्वामी दयानंद ने इस क्रांति-यज्ञ में सक्रिय भूमिका निभाई थी। लेकिन यह बात पूरी तरह से प्रमाणित नहीं हो सकी है।

1860 में स्वामीजी मथुरा पहुंचे और उन्होंने तीन वर्ष तक प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानंद के चरणों में विद्या-अध्ययन किया। शिक्षा पूरी होने पर विरजानंद जी ने गुरु-दक्षिणा में उनसे यही वचन चाहा कि वे संसार में सच्चे वैदिक धर्म का प्रचार करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. पं. लेखराम, *महर्षि दयानंद सरस्वती का जीवन-चरित्र,* पृ. 43।
2. *उपर्युक्त,* पृ. 44।
3. टिहरी में स्वामीजी की एक मांसभक्षी पंडित से भेंट हुई। इसका उन्होंने अपनी आत्मकथा में विवरण दिया है : "....एक दिन एक पंडित ने अपने यहां मुझे निमंत्रण दिया और नियत समय पर एक मनुष्य भी बुलाने को भेजा। उसके साथ मैं और ब्रह्मचारी—दोनों उसके स्थान पर पहुंचे। परंतु मुझको वहां एक पंडित को मांस काटते और बनाते देखकर अत्यंत घृणा आई। आगे जाकर बहुत से पंडितों को मांस और अस्थियों के ढेर तथा पशुओं के भुने हुए सिरों पर काम करते देखा। इतने में ही गृहस्वामी ने प्रसन्नतापूर्वक अत्यंत सौहार्द से हमसे कहा कि भीतर चले आइए। मैंने कहा कि आप अपना काम किए जाइए, मेरे लिए कुछ कष्ट न कीजिए। यह कह कर झट वहां से निकल उलटे पांव अपने स्थान का मार्ग लिया। थोड़े समय पश्चात् वही मांसभक्षी पंडित मेरे पास आया और मुझसे निमंत्रण में चलने को कहा और साथ ही यह भी कहा कि यह मांसादि उत्तम भोजन केवल आप ही के लिए बनाए गए हैं। मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि यह सब वृथा और निष्फल है क्योंकि आप मांसभक्षी हैं। मेरे योग्य तो केवल फलादि हैं। मांस खाना तो दूर रहा, मुझे तो उसके देखने से ही रोग हो जाता है। यदि आपको मेरा न्यौता करना ही है तो कुछ अन्न और फलादि वस्तु भिजवा दीजिए। मेरा ब्रह्मचारी यहां पर भोजन बना लेगा। इन सब बातों को उक्त पंडित स्वीकार कर और लज्जित होकर अपने घर लौट गया।" *उपर्युक्त,* पृ. 45।
4. उनके (तंत्र की पुस्तकें) खोलते ही मेरी दृष्टि ऐसी अत्यंत अश्लील बातों, झूठे भाष्यों और बेहूदा वाक्यों पर पड़ी जिनको देख कर मेरा जी कांपने लगा। उसमें लिखा था कि मां, बहन, बेटी, चूढ़ी, चमारी आदि से भोग करने और उन्हें नग्न खड़ा करके पूजने और इसी प्रकार मद्य, मांस, मछली, मुद्रा, मैथुन और विविध जंतुओं का मांस खाने और ब्राह्मण से लेकर चंडालपर्यंत एक साथ भोजन करने इत्यादि बातों के लिए आज्ञा है और यह भी स्पष्ट लिखा था कि इन्हीं पांच शब्दों अर्थात् मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन आदि साधनों से जिनका नाम मकार से आरंभ होता है, मोक्ष प्राप्त हो सकता है। सारांश यह कि तंत्र की पुस्तकों के पढ़ने से जिनको वे धर्म समझते हैं, उनके लेखकों की धूर्तता और स्वार्थी दुष्ट कवियों द्वारा उनकी रचना का मुझको अच्छी तरह विश्वास हो गया। *उपर्युक्त।*
5. *उपर्युक्त* पृ. 50।
6. *उपर्युक्त* पृ. 53।
7. *उपर्युक्त*।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 10
सार्वजनिक जीवन

सार्वजनिक जीवन की तैयारी

अपने गुरु को दिए गए वचन के अनुसार स्वामी दयानंद ने 1863 के बाद से सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने की तैयार शुरू की। आगे के चार वर्ष अर्थात् 1863 से 1867 तक का समय उन्होंने सार्वजनिक जीवन की तैयारी में व्यतीत किया। 1846 में अपने गृह-त्याग से 1863 में स्वामी विरजानंद से विदा लेने का समय 17 वर्ष है। यह समय स्वामी दयानंद की व्यक्तिगत साधना का है। इस काल में उन्होंने व्यापक देशाटन किया, वे सैकड़ों योगियों तथा महात्माओं से मिले, उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया और भारतीय धर्म तथा समाज में व्याप्त कुरीतियों को निकट से देखा। सब कुछ देखने और समझने के बाद स्वामी दयानंद को लगा कि भारतीय समाज का पुनर्गठन मानव समाज के आदि ग्रंथ वेदों के आधार पर ही किया जा सकता है।

आगरा-प्रवास

स्वामी दयानंद 1863 में मथुरा से सीधे आगरा आए। वे यमुना के किनारे एक बाग में ठहरे। यहां पं. सुंदरलाल, पं. बालमुकुंद तथा प. दयाराम जैसे कुछ प्रतिष्ठित नागरिकों ने स्वामीजी से संपर्क किया। पं. सुंदरलाल ने स्वामीजी से **भगवद्गीता** तथा **अष्टाध्यायी** का अध्ययन आरंभ किया। उन्होंने स्वामीजी से कुछ यौगिक क्रियाएं भी सीखीं। अपने आगरा-प्रवास में स्वामीजी ने अपना योगाभ्यास जारी रखा। वे अठारह-अठारह घंटे तक एक ही आसन पर बैठे रहते थे।[1] उन्होंने नगर के कई पंडितों से शास्त्र चर्चा भी की। जब कभी उन्हें कोई शंका होती तब वे मथुरा जाकर अपने गुरु से मार्गदर्शन प्राप्त करते थे। स्वामी दयानंद ने अपने आगरा-प्रवास के काल में संध्या विषय पर एक छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित की जिसका मूल्य एक आना रखा गया था। स्वामीजी का यह आगरा-प्रवास प्रायः दो वर्ष का रहा।[2]

ग्वालियर

आगरा से स्वामीजी धौलपुर और फिर वहां से ग्वालियर गए। ग्वालियर के महाराजा सिंधिया ने भागवत पाठ बैठा रखा था। उन्होंने स्वामी दयानंद को समारोह में आमंत्रित किया लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी नहीं गए। वे भागवत आदि पौराणिक ग्रंथों के विरुद्ध थे। संयोगवश ग्वालियर में भागवत पाठ के दस दिन के बाद ही हैजा फैल गया और कुछ दिनों के बाद युवराज भी इस रोग के शिकार हो गए।

जयपुर

ग्वालियर से स्वामीजी करौली गए। वहां कुछ महीने रहने के बाद वे जयपुर पहुंचे। अपने जयपुर-आगमन तक स्वामीजी की शैवमत में आस्था थी। जयपुर-नरेश ने काशी के पंडितों से यह व्यवस्था ले ली थी कि शैवमत वेदविहित है और वैष्णवमत वेद-विरुद्ध। स्वामी दयानंद ने इस शैव-वैष्णव विवाद में प्रमुख भूमिका निबाही थी। उन्होंने अपने आत्म-वृत्तांत में लिखा है :

"वहां (जयपुर में) मैंने प्रथम वैष्णव मत का खंडन करके शैवमत की स्थापना की। जयपुर के महाराज रामसिंह ने भी शैवमत ग्रहण किया। इससे शैवमत का इतना विस्तार हुआ कि सहस्रों रुद्राक्ष मालाएं मैंने अपने हाथ से दीं। यहां शैवमत इतना दृढ़ हुआ कि हाथी घोड़े आदि सबके गले में रुद्राक्ष की माला पड़ गई।[3]

जयपुर में स्वामीजी ने व्याकरण के कुछ विद्वानों तथा जैनाचार्यों से शास्त्रार्थ किया था। स्वामीजी ने अपने जीवन में जो अनेक शास्त्रार्थ किए थे, उनमें यह पहला शास्त्रार्थ था।

पुष्कर

जयपुर में चार मास व्यतीत करने के पश्चात् स्वामीजी पुष्कर गए।[4] पुष्कर में स्वामीजी ने वैष्णव मत का तथा उसके धार्मिक चिह्नों का खंडन किया। वे पुष्कर में दो महीने रहे।

अजमेर

पुष्कर से स्वामी दयानंद अजमेर आए। यहां उनका ईसाई तथा मुस्लिम धर्माचार्यों से संपर्क हुआ। अजमेर में स्वामीजी का कुछ ईसाई पादरियों के साथ ईश्वर, जीव, सृष्टि क्रम आदि विषयों पर तीन दिन तक शास्त्रार्थ चलता रहा। अजमेर में स्वामीजी ने डिप्टी कमिश्नर मेजर ए. जी. डेविडसन तथा गवर्नर जनरल के एजेंट कर्नल ब्रुक से भी भेंट की।

गुरु से अंतिम भेंट

1866 के अंत में स्वामी दयानंद ने अपने गुरु विरजानंद से अंतिम भेंट की। उन्होंने अपने गुरु की सेवा में दो स्वर्ण मुद्राएं तथा एक मलमल का थान भेंट किया।[5]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिद्वार

स्वामी दयानंद 1 मार्च, 1867 को हरिद्वार पहुंचे। इस समय उनकी अवस्था 43 वर्ष की हो गई थी। हरिद्वार में कुंभ का महामेला लगा हुआ था। स्वामीजी ने हरिद्वार और ऋषिकेश के बीच सप्त सरोवर नामक स्थान पर अपना डेरा जमाया। अपनी कुटिया के बाहर एक पताका गाड़ कर उस पर 'पाखंड-खंडन' शब्द अंकित कर दिए। हरिद्वार में स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में हिंदूधर्म में व्याप्त अंधविश्वासों, पाखंडों, बाह्याडंबरों, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तिलक, कंठी, माला आदि का खंडन किया। हरिद्वार में स्वामी दयानंद की काशी के प्रसिद्ध विद्वान स्वामी विशुद्धानंद से भेंट हुई। हरिद्वार में ही स्वामी दयानंद ने 'सर्वमेध यज्ञ' करके अपनी सारी वस्तुएं-पुस्तकें, वस्त्र तथा अन्य पदार्थ लोगों में बांट दिए और शरीर पर कौपीन मात्र धारण की। स्वामीजी का कहना था कि बिना सर्वस्व त्याग किए वे अपने विचारों को लोगों के हृदय तक नहीं पहुंचा सकते।[6]

गंगातट का भ्रमण

हरिद्वार से स्वामीजी सहारनपुर मुजफ्फरनगर, बिजनौर, मेरठ, गढ़मुक्तेश्वर, कर्णवास, फर्रुखाबाद, सोरों, अनूप शहर आदि नगरों में गए। कर्णवास में स्वामीजी का पं. हीरा वल्लभ से 6 दिन तक मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में स्वामीजी विजयी हुए तथा कर्णवास के आस-पास के सैकड़ों लोगों ने मूर्तिपूजा त्याग दी। कर्णवास की एक उल्लेखनीय घटना राव कर्णसिंह के स्वामीजी के प्रति उद्दंड व्यवहार की है। राव ने क्रोध में भरकर तलवार निकाली और वह स्वामीजी को मारने के लिए उद्यत हुआ। स्वामीजी ने उसके हाथ से तलवार छीन ली और कहा कि क्या तू यह चाहता है कि मैं यह तलवार मेरे शरीर में ही घुसेड़ दूं। इसी समय स्वामीजी के एक भक्त ठाकुर किशनसिंह ने खड़े होकर राव की कटु शब्दों में भर्त्सना की। कर्णसिंह उपस्थित लोगों के कठोर रुख को देखकर वहां से चला गया।[7]

राव कर्णसिंह ने स्वामीजी के प्राण हरण की एक और चेष्टा की। उसने रात के दो बजे अपने तीन गुंडों को स्वामीजी को मार डालने के लिए भेजा। स्वामीजी को जब अपनी कुटिया के निकट हलचल सुनाई पड़ी तब उन्होंने प्रबल हुंकार की। स्वामीजी के इस प्रचंड गर्जन को सुनकर गुंडे भाग खड़े हुए।[8]

1868 में स्वामी दयानंद के गुरु विरजानंद का देहांत हो गया। अपने गुरु की मृत्यु का समाचार सुन कर दयानंद ने कहा था—"आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।"[9]

फर्रुखाबाद

1868 में स्वामीजी दूसरी बार फर्रुखाबाद आए। उन्होंने मार्च, 1869 में अनेक वैश्यों को यज्ञोपवीत की दीक्षा दी। उन्होंने फर्रुखाबाद में एक संस्कृत पाठशाला की भी स्थापना की।[10]

कानपुर

फर्रुखाबाद से चल कर स्वामीजी कन्नौज गए। वहां 7-8 दिन रहने के पश्चात् उनका कानपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आना हुआ जहां उन्होंने तीन मास तक प्रवास किया। कानपुर में कुछ बदमाशों ने स्वामीजी को मारने की कोशिश की। एक बदमाश ने स्वामीजी पर लाठी का वार करना चाहा। स्वामीजी ने आततायी को पकड़ कर गंगा के प्रवाह में धकेल दिया। वे पास के वृक्ष की शाखा को उखाड़ कर आक्रमणकारियों का मुकाबला करने के लिए तैयार हो गए। उन्होंने दुष्टों को ललकारा, "मुझे निरा साधु ही मत समझना। तुम्हारे जैसे अनेकों के लिए तो मैं अकेला ही काफी हूं।" स्वामीजी की गर्जना सुनकर उपद्रवी भाग गए।[11]

काशी शास्त्रार्थ

स्वामी दयानंद ने अपने जीवन में अनेक शास्त्रार्थ[12] किए थे। ये शास्त्रार्थ अधिकतर मूर्ति पूजा पर केंद्रित थे। शास्त्रार्थ के कुछ अन्य विषय थे : व्याकरण, अवतारवाद, अद्वैतवाद, मोक्ष, सृष्टि-उत्पत्ति, पुनर्जन्म, ईश्वर साकार है या निराकार आदि। स्वामीजी के शास्त्रार्थों में काशी का शास्त्रार्थ सबसे प्रसिद्ध है। यह शास्त्रार्थ 16 नवंबर, 1869 को हुआ था और इसका विषय मूर्तिपूजा था। इसमें प्रतिवादी स्वामी विशुद्धानंद आदि 40 प्रमुख पंडित थे।

स्वामी दयानंद 21 सितंबर, 1869 को रामनगर (काशी) पहुंचे। तत्कालीन काशी नरेश महाराजा ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह ने स्वामीजी को अपने यहां आने के लिए आमंत्रित किया लेकिन स्वामीजी नहीं आए। इस समय तक स्वामीजी के बारे में यह विख्यात हो गया था कि वे मूर्तिपूजा के घोर विरोधी हैं। काशी-नरेश पौराणिक मान्यताओं के मानने वाले थे। उन्होंने स्वामीजी को मूर्तिपूजा का खंडन छोड़ने के लिए अनेक प्रलोभन दिए लेकिन स्वामीजी ने उन सभी प्रलोभनों को ठुकरा दिया।

काशी नरेश ने 16 नवंबर, 1869 को आनंदबाग में स्वामी दयानंद तथा काशी के पंडितों के बीच मूर्तिपूजा विषय पर शास्त्रार्थ का आयोजन किया। दोनों पक्षों ने 21 शास्त्र प्रमाण कोटि में स्वीकार किए—चार वेद संहिताएं, चार उपवेद, वेदों के 6 अंग, 6 उपांग तथा प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़ कर मनुस्मृति। शास्त्रार्थ में लगभग 50,000 लोग उपस्थित थे। शास्त्रार्थ कई घंटे तक चला। काशी के पंडित समुदाय की ओर से मुख्य रूप से पं. ताराचरण तर्करत्न, स्वामी विशुद्धानंद तथा बालशास्त्री ने भाग लिया। काशी की विद्वान मंडली मूर्तिपूजा को वेदसम्मत सिद्ध करने में असफल रही। सभा में कुछ दुष्टों ने उपद्रव भी किया लेकिन शहर कोतवाल पं. रघुनाथ प्रसाद की सतर्कता के कारण स्वामी दयानंद को कोई चोट नहीं पहुंची। काशी शास्त्रार्थ का समाचार उस समय के अनेक पत्रों—**द क्रिश्चियन इंटेलिजेंसर, हिंदू पेट्रियट, पायोनियर, तत्त्वबोधिनी पत्रिका, रुहेलखंड समाचार** आदि में प्रकाशित हुआ था। शास्त्रार्थ की समृति में अमेठी नरेश राजा रणजयसिंह ने आनंदबाग में जहां शास्त्रार्थ हुआ था, एक शिलालेख स्थापित करा दिया है।[13]

लगभग चार मास तक काशी में रहकर स्वामी दयानंद ने 16 जनवरी, 1870 को प्रयाग के लिए प्रस्थान किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयाग

स्वामीजी 5 फरवरी, 1870 को प्रयाग पहुंचे। प्रयाग में उन दिनों माघी कुंभ का मेला लगा हुआ था। इस अवसर पर स्वामीजी की आदि ब्रह्मसमाज के नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर[14] से भेंट हुई। ठाकुर महोदय ने स्वामीजी को कलकत्ता आने का निमंत्रण दिया।

अनूपशहर

प्रयाग से चलकर स्वामीजी मिर्जापुर, काशी, कासगंज और अनूपशहर गए। अनूपशहर में एक ब्राह्मण पुजारी ने स्वामीजी को पान दिया जिसमें विष था। स्वामीजी ने योग की न्यौली क्रिया द्वारा विष के प्रभाव को निर्मूल कर दिया। जब पुजारी द्वारा विष देने की बात उजागर हुई, तहसीलदार सैयद मुहम्मद ने अपराधी को स्वामीजी के सामने प्रस्तुत कर दिया।

स्वामीजी ने अपराधी को क्षमा कर दिया और कहा, "मैं संसार के लोगों को कैद कराने नहीं, अपितु उन्हें अज्ञान, अविद्या तथा अंधविश्वासों की कारा से मुक्त कराने आया हूं। यदि दुष्ट आदमी अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता, तो सज्जन अपनी सज्जनता क्यों छोड़े?"[15]

कलकत्ता

स्वामी दयानंद 16 दिसंबर, 1872 को भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता पहुंचे। कलकत्ता में उनकी केशवचंद्र सेन[16], देवेन्द्रनाथ ठाकुर[17], हेमचंद्र चक्रवर्ती[18], अक्षय कुमार दत्त[19], राजनारायण वसु[20], ईश्वचन्द्र विद्यासागर[21], राजेन्द्र लाल मित्र[22], रमेश चन्द्र मित्र[23], डॉ. महेन्द्रलाल सरकार[24], प्रताप चंद्र मजूमदार[25], रामकृष्ण परमहंस[26] आदि समाज सुधारकों, इतिहासकारों तथा विद्वानों से भेंट हुई। केशव चन्द्र सेन ने स्वामीजी को दो सुझाव दिए। एक तो यह कि जब वे सभाओं में भाषण देने जाएं तो मात्र कौपीन ही धारण न करें, अपितु पूरे वस्त्र धारण करें। दूसरा यह कि स्वामीजी जनता के सम्मुख अपने भाषण संस्कृत भाषा में न देकर लोक भाषा हिंदी में दें। स्वामी दयानंद ने केशवचंद्र सेन के ये दोनों सुझाव स्वीकार कर लिए और उन पर अमल किया। कलकत्ते में स्वामी दयानंद ने ब्रह्म समाजियों के संगठन का अध्ययन किया और वे उसी की भांति एक संस्था की स्थापना करने के बारे में सोचने लगे।[27]

कानपुर

10 अक्तूबर, 1873 को स्वामीजी कलकत्ते से कानपुर आए। वे कानपुर से लखनऊ, फर्रुखाबाद, कासगंज, अलीगढ़, मथुरा और काशी गए। इन सभी स्थानों पर उनके व्याख्यान होते रहे। काशी में उन्होंने राजा जयकृष्ण दास की प्रेरणा से सत्यार्थप्रकाश की रचना आरंभ की। स्वामीजी ने यह ग्रंथ 12 जून, 1874 को लिखना आरंभ किया। करीब ढाई महीने में यह पूरा हो गया। 1875 में ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इन दिनों सर सैयद अहमद खां[28] काशी में सब-जज के पद पर नियुक्त थे। स्वामीजी ने उनके बंगले पर एक व्याख्यान भी दिया।[29]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंबई

26 अक्तूबर, 1874 को स्वामी दयानंद बंबई पहुंचे। बंबई में स्वामीजी ने वल्लभ संप्रदाय[30] की आलोचना की। इस महानगरी में उनका प्रार्थना समाज[31] के सदस्यों से भी परिचय हुआ। स्वामीजी ने *संस्कार विधि, पंचमहायज्ञ विधि* और *आर्याभिविनय* ग्रंथ अपने बंबई-प्रवास में ही लिखे थे।

गुजरात

दिसंबर 1874 में स्वामीजी ने अपनी जन्मभूमि गुजरात की यात्रा की। वे सूरत, भड़ौच, अहमदाबाद और राजकोट गए। राजकोट के प्रार्थना समाज की शाखा को आर्य समाज नाम दिया गया लेकिन यह संस्था अपने जन्म के कुछ समय बाद ही मृत्यु को प्राप्त हो गई। गुजरात में स्वामीनारायण[32] संप्रदाय का प्रचलन था। स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में इस संप्रदाय की आलोचना की। उन्होंने इस संप्रदाय के खंडन में *शिक्षापत्री ध्वान्ति नारायण* नामक ग्रंथ की रचना की।

आर्य समाज की स्थापना

29 जनवरी, 1875 को स्वामीजी का दूसरी बार बंबई आगमन हुआ। 26 फरवरी, 1875 को स्वामीजी का एक व्याख्यान खुले मैदान में मंडप बना कर आयोजित किया गया। इस समय तक उनके मन में आर्य समाज की विधिवत स्थापना का विचार दृढ़ता से बैठ गया था। स्वामीजी का कहना था कि उनका अपना कोई स्वतंत्र मत नहीं है। भारत में नाना प्रकार के मतमतांतर प्रचलित हैं। लेकिन वे सब वेदों को मानते हैं। इसलिए वेदों पर आधारित समाज की स्थापना करने से देश में धार्मिक एकता की स्थापना होगी।

10 अप्रैल, 1875 को बंबई के गिरिगांव मुहल्ले में एक सार्वजनिक सभा में आर्य समाज की स्थापना की गई। आर्य समाज की स्थापना स्वामीजी के जीवन का एक महत्वपूर्ण कार्य था। इसकी स्थापना के साथ ही उनके जीवन का तीसरा चरण पूरा हो गया।

सारांश

स्वामी दयानंद ने 1863 के बाद से सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने की तैयारी आरंभ कर दी। यह तैयारी 1867 तक चलत्ती रही। इन चार वर्षों में उन्होंने आगरा, ग्वालियर, जयपुर, पुष्कर, अजमेर और मथुरा में प्रवास किया।

स्वामी दयानंद 1 मार्च, 1867 को हरिद्वार पहुंचे। हरिद्वार में कुंभ का महामेला लगा हुआ था। उन्होंने अपनी कुटिया के बाहर एक पताका गाड़ कर उस पर 'पाखंड खंडन' शब्द अंकित कर दिए। हरिद्वार में स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में हिंदू धर्म में व्याप्त अंधविश्वासों तथा बाह्याडंबरों का खंडन किया। हरिद्वार में ही स्वामीजी ने अपनी सारी वस्तुएं त्याग कर शरीर पर कोपीन धारण की।

हरिद्वार से स्वामीजी ने सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, बिजनौर, मेरठ, गढ़मुक्तेश्वर, कर्णवास,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फर्रुखाबाद, सोरों और अनूपशहर आदि स्थानों का भ्रमण किया और अनेक शास्त्रार्थ किए। इस बीच उनके प्राण हरण की भी अनेक चेष्टाएं हुईं लेकिन वे सफल न हो सकीं।

16 नवंबर, 1869 को स्वामीजी का काशी में मूर्तिपूजा विषय पर प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ। काशी की विद्वानमंडली मूर्तिपूजा को वेदसम्मत सिद्ध करने में असफल रही। इस शास्त्रार्थ की उस समय के अनेक समाचार पत्रों ने अपनी टीका-टिप्पणियां प्रकाशित कीं।

16 दिसंबर, 1872 को स्वामी दयानंद भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता पहुंचे। कलकत्ते में स्वामीजी ने बंगाल के विशेष कर ब्रह्मसमाज के लब्धप्रतिष्ठित नेताओं से भेंट की। ब्रह्मसमाज के संगठन को देख कर उनके मन में अपने विचारों का प्रचार करने के लिए एक संस्था की स्थापना का विचार उठा। ब्रह्मसमाज के नेता केशवचंद्र सेन की प्रेरणा से स्वामीजी ने वस्त्र पहनकर तथा लोकभाषा हिंदी में भाषण देना आरंभ किया।

1874 में स्वामीजी बंबई पहुंचे जहां उन्होंने वल्लभ संप्रदाय की आलोचना की। बंबई में ही उनका प्रार्थना समाज के नेताओं से परिचय हुआ। गुजरात-यात्रा में स्वामीजी ने स्वामी नारायण संप्रदाय का खंडन किया।

10 अप्रैल, 1875 को स्वामीजी ने बंबई में आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज की स्थापना के साथ ही उनके जीवन का तीसरा चरण पूरा हो गया।

संदर्भ और पाद टिप्पणियां

1. "यह काल स्वामीजी के जीवन का वह युग था जब वे निर्धारित लक्ष्य की सिद्धि हेतु अपने को तैयार कर रहे थे। गुजरात के विभिन्न स्थानों तथा आबू पर्वत पर रह कर उन्होंने योग की जिन विभिन्न साधनाओं को सीखा था, अब सतत अभ्यास द्वारा वे उन्हें पुष्ट करते रहे। उनका अधिकांश समय प्राणायाम आदि योगांकों के अभ्यास और समाधि-सिद्धि में ही लगता था। अठारह घंटे की दीर्घावधि तक निरंतर एक आसन पर बैठे रह कर योगाभ्यास उनके लिए नितांत सहज था।" डॉ. भवानी लाल भारतीय, *नवजागरण के पुरोधा दयानंद सरस्वती,* पृ. 59।
2. आगरा में स्वामीजी सिले हुए वस्त्र नहीं पहनते थे। वे लोई ओढ़ते थे। उनके पांवों में जूता रहता था। वस्त्र धोने के लिए उनके पास एक अनपढ़ ब्राह्मण रहता था। वह योग के आसन जानता था और स्वामीजी मौज में आते तो उससे कौतूहल के रूप में आसन लगवाया करते थे। महाभाष्य और कुछ अन्य पुस्तकें उनके पास थीं। पं. लेखराम, *महर्षि दयानंद सरस्वती का जीवन चरित्र,* पृ. 62।
3. डॉ. भवानीलाल भारतीय द्वारा उद्धृत, *वही,* पृ. 66।
4. पुष्कर अजमेर से 10 किलोमीटर की दूरी पर उत्तर-पश्चिम में स्थित है। यहां इस समय 400 से अधिक मंदिर हैं जिनमें ब्रह्मा का मंदिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है।
5. पं. लेखराम, *वही,* पृ. 70।
6. डॉ. भवानीलाल भारतीय, *वही,* पृ. 80-81।
7. कर्णवास के राव कर्णसिंह से स्वामीजी का यह संघर्ष उनके जीवन की एक प्रमुख घटना है। पं. लेखराम ने अनेक प्रत्यक्षदर्शियों के आधार पर इस घटना का विवरण दिया है। देखिए, पं. लेखराम, *वही,* पृ. 87-88।
8. *उपर्युक्त,* पृ. 90-91।
9. भवानीलाल भारतीय, *वही,* पृ. 111।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. इस समय स्वामीजी की यह धारणा भी दृढ़ होती जा रही थी कि पुरातन संस्कृत विद्या का पुनः प्रचार हुए बिना आर्योचित आचार-व्यवहार तथा वैदिक रीति-नीति का प्रचलन होना संभव नहीं है। अतः वे ऐसी पाठशालाओं की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे, जिनमें वैदिक तथा आर्ष ग्रंथों की शिक्षा दी जा सके। फर्रुखाबाद में ही उनके इस मनोरथ को सर्वप्रथम सफलता मिली। *उपर्युक्त,* पृ. 121-122।
11. *उपर्युक्त,* पृ. 131।
12. 'शास्त्रार्थ' शब्द का अर्थ है शास्त्रों को आधार मान कर किसी विषय पर वाद-विवाद। आदि शंकराचार्य ने अपने विरोधियों से अनेक शास्त्रार्थ किए थे।
13. भवानीलाल भारतीय, *वही,* पृ. 137-154।
14. देवेन्द्रनाथ ठाकुर कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता थे।
15. भवानीलाल भारतीय, *वही,* पृ. 165-166।
16. स्वामी दयानंद ने केशवचंद्र सेन से अपनी भेंट का वर्णन करते हुए कहा था : "जब केशवचंद्र सेन मेरे पास आए और बातचीत होने लगी तो बातचीत की समाप्ति पर उन्होंने प्रश्न किया था कि आप केशवचन्द्र सेन से मिले हैं? स्वामीजी ने कहा कि हां, मिला हूं। पूछा कि वह तो कहीं बाहर गए हुए थे, आप उनसे कब मिले? स्वामीजी ने कहा कि मैं मिल चुका। दो-तीन बार हेर-फेर करने के पश्चात् स्वामीजी ने कहा कि तुम ही केशवचन्द्र सेन हो। पूछा कि आपने मुझे कैसे पहचाना? स्वामीजी ने कहा कि यह बातचीत दूसरे की हो ही नहीं सकती। उस दिन से उनकी परस्पर बहुत प्रीति हो गई और फिर बराबर नित्य प्रति आते रहे और घंटों धार्मिक वार्तालाप होता रहा। पं. लेखराम, *वही,* पृ. 222।
17. 21 फरवरी, 1935 को डी. ए. वी. कालेज, लाहौर के विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पुत्र रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था : "He (Tagore) had only heard that Dayanand was a great scholor who gave nonidolator's interpretation of the Vedas. He was anxious to see that great scholor. His brothers were constantly discussing with him the meaning of the Vedas and the deeper significance of the Aryan Culture. He sat at his own corner. He was very young. But the magnificient pressure of the great Dayanand produced a very deep effect upon his mind. Dayanand's was beaming with strength and intelligence. That was all that he (The poet) felt after knowing him fully. That memory, said the poet, is still cherished in our family and our hearts." The Tribune, Lahore, 23 February, 1935, p-16.
18. हेमचन्द्र चक्रवर्ती ब्रह्मसमाज के उपदेशक थे। पं. लेखराम ने स्वामी दयानंद के कलकत्ता प्रवास का विवरण हेमचन्द्र चक्रवर्ती से ही प्राप्त किया था। चक्रवर्ती ने स्वामीजी के कलकत्ता-प्रवास की डायरी तैयार की थी। यह डायरी मूल बंगला में 1954 में *दयानंद प्रसंग* नाम से प्रकाशित हुई थी। बंगाल के वैदिक प्रचारक दीनबंधु वेदशास्त्री ने कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले पत्र *आर्य संसार* में 'वेद, बंगाल और दयानंद' शीर्षक से एक लेखमाला प्रकाशित की थी।
19. अक्षय कुमार दत्त (1820-1886) ब्रह्म समाज की *तत्त्वबोधिनी पत्रिका* के संपादक थे।
20. राजनारायण वसु (1826-1899) ब्रह्मसमाज के नेता थे।
21. ईश्वरचंद्र विद्यासागर (1820-1896) बंगाल के समाज सुधारक और शिक्षा शास्त्री थे। उन्होंने विधवा-विवाह को शास्त्रानुमोदित सिद्ध किया था और इस संबंध में सरकार से एक कानून बनवाया था।
22. राजेन्द्रलाल मित्र (1824-1891) प्रसिद्ध इतिहासकार थे और रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के अध्यक्ष रहे थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

23. रमेशचंद्र मित्र (1840-1899) कलकत्ता हाईकोर्ट के वकील थे। वे बाद में उसके न्यायाधीश भी बने।
24. डॉ. महेन्द्रलाल सरकार कलकत्ता विश्वविद्यालय के फेलो थे।
25. प्रतापचन्द्र मजूमदार (1840-1905) ब्रह्मसमाज के नेता। उन्होंने शिकागो के विश्वधर्म सम्मेलन में ब्रह्मसमाज की ओर से भाग लिया था।
26. रामकृष्ण परमहंस (1836-1886) स्वामी विवेकानंद के गुरु थे। स्वामी विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन उन्हीं की स्मृति में स्थापित किया था।
27. "यह निश्चित है कि स्वामी दयानंद ने कालांतर में 'आर्य समाज' के रूप में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान, आर्य संस्कृति के पुर्नजागरण तथा भारत देश की सर्वतोमुखी उन्नति एवं प्रगति की सिद्धि के लिए जिस आंदोलन का सूत्रपात किया, उसकी रूपरेखा, संगठन का ढांचा, कार्यक्रम तथा प्रचार-प्रणाली को बहुत कुछ ब्रह्मसमाज के अनुकरण पर ही तैयार किया गया था।" डॉ. भवानीलाल भारतीय, *नवजागरण के पुरोधा दयानंद सरस्वती,* पृ. 187।
28. सर सैयद अहमद खां (1817-1889) मुस्लिम शिक्षाशास्त्री और समाज-सुधारक थे। वे अपने जीवन के आरंभिक दौर में हिंदू मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना की थी।
29. भवानी लाल भारतीय, *वही,* पृ. 212।
30. वल्लभ संप्रदाय की स्थापना तेलुगु ब्राह्मण वल्लभाचार्य (1479-1531) ने की थी। वे कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानते थे और कृष्ण की बाललीलाओं तथा रासलीलाओं का प्रदर्शन कराते थे। उनके शिष्य महाराज कहलाते हैं। मथुरा तथा पश्चिमी भारत विशेष कर गुजरात में उनके संप्रदाय का विशेष प्रचार है।
31. महाराष्ट्र में ब्रह्म समाज प्रार्थना समाज के रूप में उभरा। उसकी स्थापना 1867 में केशवचंद्र सेन की प्रेरणा से हुई थी। प्रार्थना समाज के अनुयायी अपने आपको हिंदू धर्म का अविभाज्य अंग मानते थे। इस समाज का मुख्य आग्रह धार्मिक विश्वासों पर नहीं बल्कि समाज-सुधार के कार्यक्रमों पर था। इसके मुख्य नेता थे : न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानाडे (1842-1901), आर. जी. भंडारकर (1837-1925) और एन. जी. चंद्रावरकर।
32. स्वामीनारायण मत का आरंभ उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में स्वामी सहजानंद द्वारा हुआ था। वल्लभ संप्रदाय के बहुत से अनुयाइयों ने स्वामीनारायण मत स्वीकार कर लिया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 11

"तेरी इच्छा पूर्ण हो"

पूना-प्रवचन

बंबई में आर्य समाज की स्थापना करने के पश्चात् स्वामी दयानंद अहमदाबाद चले गए और मई, 1875 के अंत तक वहीं रहे। जुलाई, 1875 में वे महादेव गोविंद रानाडे के निमंत्रण पर पूना पहुंचे। पूना में स्वामीजी ने लगभग पचास व्याख्यान दिए जिनमें से पंद्रह व्याख्यानों का विवरण उस समय के स्थानीय समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ था। बाद में इन व्याख्यानों को गुजराती और मराठी भाषाओं में प्रकाशित किया गया। हिंदी में ये भाषण *उपदेश मंजरी* नाम से प्रकाशित हुए हैं। स्वामीजी ने ये व्याख्यान मूलतः हिंदी में दिए थे और इनके कारण पूना के पौराणिक पंडित उद्विग्न हो उठे थे।

पूना में स्वामीजी ने आर्य समाज की भी स्थापना की। लेकिन वह अल्पजीवी सिद्ध हुआ और कुछ समय बाद ही बंद हो गया।[1]

पूना से स्वामीजी सतारा, बड़ौदा, भड़ौंच गए। बड़ौदा में वहां के प्रधानमंत्री सर टी. माधवराव ने स्वामीजी के राजधर्म विषयक विचारों की विशेष रूप से सराहना की।[2] मार्च, 1876 में स्वामीजी बंबई लौट आए और वहां दो महीने रहने के बाद मई, 1876 में फर्रुखाबाद चले गए।

उत्तर प्रदेश

मई, 1876 के बाद प्रायः एक वर्ष तक स्वामी दयानंद उत्तर प्रदेश के विभिन्न नगरों का दौरा करते रहे। उन्होंने काशी, जौनपुर, अयोध्या, लखनऊ, शाहजहांपुर, मुरादाबाद, कर्णवास, छलेसर, मेरठ और चांदपुर का भ्रमण किया। इस बीच स्वामीजी ने अंग्रेजी सीखने का भी उपक्रम किया लेकिन अपने अत्यधिक व्यस्त कार्यक्रम के कारण स्वामीजी इस ओर अधिक ध्यान नहीं दे सके।[3]

दिल्ली दरबार

जनवरी, 1877 में भारत के तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक दरबार आयोजित किया जिसमें देश के प्रमुख राजा-महाराजाओं तथा विभिन्न क्षेत्रों के अन्य गण्मान्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तियों को आमंत्रित किया। स्वामी दयानंद यह सोचकर कि इस अवसर पर वे देश के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों से संपर्क स्थापित कर सकेंगे, दिल्ली पहुंच गए। स्वामीजी ने दिल्ली में केशवचंद्र सेन, (ब्रह्म समाज, कलकत्ता), बाबू नवीनचंद्र राय (ब्रह्म समाज, लाहौर), सर सैयद अहमद खां (अलीगढ़), मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी (पंजाब), बाबू हरिश्चन्द्र चिंतामणि (आर्य समाज, बंबई) और मुंशी इंद्रमणि (मुरादाबाद) से भेंट की। स्वामीजी वेदों के आधार पर सभी संप्रदायों को एक मंच पर लाना चाहते थे, लेकिन इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।[4]

वेद भाष्य

स्वामीजी ने ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के भाष्य का कार्य 1874 में आरंभ कर दिया था। वे प्रतिदिन 50 से लेकर 100 श्लोकों का भाष्य प्रतिदिन तैयार करते थे।[5] इस काल में स्वामीजी ने *ऋग्वेदादि भाष्य* भूमिका भी तैयार की है जो संस्कृत और हिंदी दोनों भाषाओं में है। इस ग्रंथ का संस्कृत अंश स्वामीजी ने स्वयं लिखा या लिखवाया था। इसके हिंदी अंश का संस्कृत से अनुवाद पंडितों ने किया था।

स्वामीजी की इच्छा तो चारों वेदों का भाष्य तैयार करने की थी। लेकिन वे अपने जीवनकाल में यजुर्वेद का पूरा तथा ऋग्वेद का आंशिक अनुवाद ही पूरा कर सके। स्वामीजी ने वेदों की जानकारी सर्वसाधारण के लिए लोकभाषा हिंदी में प्रस्तुत की, यह उनकी बहुत बड़ी देन है।

चांदापुर शास्त्रार्थ

19 और 20 मार्च, 1877 ई. को चांदापुर (शाहजहांपुर, उत्तरप्रदेश) में स्वामीजी का कुछ मुस्लिम धर्माचार्यों तथा ईसाई पादरियों से शास्त्रार्थ हुआ। मुस्लिम धर्माचार्यों में देवबंद (जिला सहारनपुर) के मौलाना मुहम्मद कासिम, शाहजहांपुर के मौलवी मुहम्मद हफीजुल्ला खां और दिल्ली के सैयद अब्दुल मंसूर सम्मिलित थे। ईसाई धर्म का प्रतिनिधित्व बरेली के अमेरिकन मेथोडिस्ट चर्च के रेवरेन्ड टी. जी. स्काट, रेवरेंड ई. डब्ल्यू. पार्कर तथा मुंशी तोताराम ने किया। हिंदू विद्वानों में स्वामी दयानंद और मुंशी इंद्रमणि थे। शास्त्रार्थ का मुख्य विषय था सृष्टि रचना का प्रयोजन और मुक्ति का स्वरूप। स्वामी दयानंद ने अपने अकाट्य तर्कों से मुस्लिम और ईसाई विद्वानों को पराजित कर दिया। चांदापुर शास्त्रार्थ का पूरा विवरण हिंदी में भी उपलब्ध है।[6]

पंजाब

दिल्ली दरबार के अवसर पर स्वामी दयानंद की पंजाब के कुछ नेताओं से भेंट हुई थी। इन नेताओं में सरदार विक्रमसिंह अहलूवालिया, पंडित वनफूल, मुंशी हरसुखराय और कन्हैयालाल अलखधारी मुख्य थे। इन नेताओं के आमंत्रण पर स्वामीजी ने पंजाब जाने का निश्चय किया। चांदापुर मेले से निबट कर स्वामीजी 31 मार्च, 1877 को लुधियाना पहुंच गए। स्वामीजी प्रायः 1 साल 4 महीने तक पंजाब में घूमते रहे। उन्होंने प्रायः 4 महीने लाहौर और अमृतसर में व्यतीत किए तथा शेष समय उन्होंने रावलपिंडी, जालंधर, मुलतान, गुजरात,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुजरांवाला, जेहलम, गुरुदासपुर, फीरोजपुर और वजीराबाद में लगाए। स्वामीजी ने इन सब स्थानों पर आर्य समाजों की स्थापना की। इसमें कोई संदेह नहीं कि पंजाब में स्वामी दयानंद को अपने विचारों का प्रसार करने के लिए उर्वर भूमि प्राप्त हुई।[7] लाहौर में ही आर्य समाज के उन दस नियमों को अंतिम रूप दिया गया जो आज भी सभी आर्य समाजियों के लिए मान्य हैं। 6 नवंबर, 1877 को लाहौर आर्य समाज की अंतरंग सभा में स्वामी दयानंद की उपस्थिति में आर्य समाज के 34 उपनियम स्वीकार किए गए।[8]

वैदिक धर्म का प्रसार

पंजाब में वैदिक धर्म का प्रचार कर जुलाई, 1878 में स्वामी दयानंद उत्तर प्रदेश आ गए। इस बार करीब ढाई साल उत्तर प्रदेश उनका कार्यक्षेत्र रहा। इस समय तक स्वामीजी की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं जिन्हें पढ़ कर सुशिक्षित लोग स्वामीजी के प्रति आकृष्ट होने लगे थे। स्वामीजी द्वारा प्रणीत वेदभाष्य भी प्रतिमास प्रकाशित हो रहा था।

जुलाई, 1878 से मार्च, 1881 के बीच स्वामी दयानंद ने रुड़की, अलीगढ़, मेरठ, अजमेर, पुष्कर, जयपुर, रिवाड़ी, हरिद्वार, देहरादून, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मुरादाबाद, बदायूं, बरेली, शाहजहांपुर, लखनऊ, फर्रुखाबाद, कानपुर, प्रयाग, दानापुर, काशी और आगरा आदि स्थानों की यात्राएं कीं और वैदिक धर्म का प्रचार किया।

पंडिता रमाबाई

मेरठ में आर्य समाज की स्थापना 1878 में हुई थी। 1880 में स्वामी दयानंद छठी बार मेरठ आए। इस समय आर्य समाज, मेरठ एक कन्या पाठशाला भी चला रही थी। पाठशाला के लिए एक सुयोग्य अध्यापिका की आवश्यकता थी। स्वामी दयानंद ने पंडिता रमाबाई से विधिवत् पत्र-व्यवहार किया और उन्हें मेरठ बुलाया। मेरठ में रमाबाई के चार-पांच व्याख्यान हुए। स्वामीजी नारी जाति के उत्थान में रमाबाई का सहयोग चाहते थे। लेकिन रमाबाई ने स्वामीजी के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। बाद में उन्होंने ईसाई मत ग्रहण कर लिया।

थियोसोफिकल सोसायटी

आर्य समाज तथा थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना प्रायः एक ही समय में हुई थी। जब सोसायटी के संस्थापकों, कर्नल एच. एस. आल्काट तथा मैडम ब्लावाट्स्की को स्वामी दयानंद की विचारधारा का पता चला तो उन्होंने स्वामीजी से पत्र-व्यवहार किया और आर्य समाज से निकट संबंध स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की। वे स्वामीजी से व्यक्तिगत रूप से बात करने के लिए भारत आए। मई 1879 में मेरठ में चार दिन तक स्वामीजी के साथ रहे। इसके बाद दिसंबर, 1879 में बनारस में और फिर 1880 में मेरठ में उनकी स्वामीजी से भेंट हुई। स्वामीजी को पता चला कि कर्नल आल्काट तथा मैडम ब्लावाट्स्की आर्य समाज की लोकप्रियता का लाभ उठा कर थियोसोफी का प्रचार करना चाहती थीं। 28 मार्च, 1882 को बंबई की एक सार्वजनिक सभा में स्वामीजी ने थियोसोफिकल सोसायटी से संबंध तोड़ लिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजस्थान

स्वामीजी के जीवन के अंतिम दिन राजस्थान में बीते। हां, बीच में लगभग छः महीनों के लिए दिसंबर, 1881 से जून 1882 तक उन्हें बंबई रहना पड़ा था। 25 जुलाई, 1882 को स्वामीजी चित्तौड़ गढ़ पहुंचे। मेवाड़ के महाराणा सज्जनसिंह स्वामीजी के भक्त हो गए थे और उनके आमंत्रण पर अगस्त, 1882 में स्वामीजी उदयपुर चले गए। उदयपुर में स्वामीजी ने महाराणा को राजधर्म तथा चरित्र-निर्माण पर उपदेश दिए। उदयपुर में स्वामीजी का अधिकांश समय वेदभाष्य पूरा करने तथा **सत्यार्थ प्रकाश** का संशोधित संस्करण तैयार करने में व्यतीत हुआ।

स्वामीजी उदयपुर में फरवरी 1883 के अंत तक रहे। शाहपुरा राज्य के शासक राजा नाहरसिंह ने स्वामीजी को शाहपुरा आने का आमंत्रण दिया। स्वामीजी शाहपुरा गए और प्रायः दो महीने वहां रहे।

महाप्रस्थान

जब स्वामी दयानंद उदयपुर में थे, जोधपुर के प्रधानमंत्री महाराज प्रतापसिंह ने स्वामीजी से जोधपुर आने की प्रार्थना की थी। शाहपुरा से स्वामीजी जोधपुर गए।

जोधपुर में स्वामीजी ने पाया कि वहां का राजपरिवार सदाचार की मर्यादाओं का पालन नहीं कर रहा है। उन्होंने इसके लिए जोधपुर के महाराज जसवन्त सिंह की भर्त्सना की। राजघराने में स्वामीजी के प्रति विरोधाभाव बढ़ने लगा और नन्हीं भगतिन नामक एक वेश्या ने स्वामीजी को उनके रसोइए के द्वारा दूध के साथ विष दिलवा दिया।[9] स्वामीजी गंभीर रूप से बीमार हो गए। 16 अक्तूबर को उन्हें आबू ले जाया गया और इसके दस दिन बाद अजमेर। अजमेर में 30 अक्तूबर को सायंकाल छः बजे दीपावली के दिन उनका जीवन-दीप बुझ गया। उनके अंतिम शब्द थे : **"हे दयामय सर्वशक्तिमान परमेश्वर, तेरी यही इच्छा है, तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो, अहा तूने अच्छी लीला की।"**

31 अक्तूबर को अजमेर में ही स्वामी दयानंद का अंतिम संस्कार कर दिया गया। उनकी मृत्यु का समाचार देश के अनेक प्रमुख पत्रों में प्रकाशित हुआ था।

सारांश

जुलाई 1875 में स्वामी दयानंद पूना गए। वहां उनके द्वारा दिए गए 15 व्याख्यानों का विवरण **उपदेश-मंजरी** नामक पुस्तक में प्रकाशित हुआ है। पूना के बाद स्वामीजी बड़ौदा गए जहां के प्रधानमंत्री सर टी. माधवराव ने स्वामीजी के राजधर्म विषयक विचारों की विशेष रूप से सराहना की।

मई, 1876 के बाद स्वामीजी प्रायः एक वर्ष तक उत्तर प्रदेश के विभिन्न नगरों का दौरा करते रहे।

जनवरी, 1877 में स्वामीजी ने दिल्ली दरबार में भाग लिया। इस अवसर पर उन्होंने देश के अनेक गणमान्य व्यक्तियों से भेंट की।

इस बीच स्वामीजी वेदों का भाष्य तैयार करने में जुटे रहे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

19 और 20 मार्च, 1877 ई. को स्वामीजी ने चांदापुर में मुस्लिम और ईसाई धर्माचार्यों से शास्त्रार्थ किया और उन पर विजय प्राप्त की।

दिल्ली दरबार के अवसर पर स्वामीजी को पंजाब आने का निमंत्रण मिला था। चांदापुर मेले से निबट कर मार्च, 1877 के अंत में स्वामीजी पंजाब गए। पंजाब में स्वामीजी प्रायः 1 साल 4 महीने तक रहे। उन्होंने अनेक नगरों की यात्रा की और उन्हें अपने मिशन में अपूर्व सफलता मिली। जहां-जहां वे गए, उन्होंने सभी स्थानों पर आर्य समाज की स्थापना की। लाहौर में ही आर्य समाज के उन दस नियमों को अंतिम रूप दिया गया, जो आज सभी आर्यसमाजियों के लिए सर्वमान्य हैं।

पंजाब में वैदिक धर्म का प्रचार कर स्वामीजी उत्तर प्रदेश आ गए और करीब ढाई साल तक जुलाई, 1878 से 1881 के आरंभ तक उत्तर प्रदेश उनका कार्यक्षेत्र रहा। 1880 में स्वामीजी का पंडिता रमाबाई से संपर्क हुआ। स्वामीजी स्त्रियों के बीच शिक्षा के प्रचार में पंडिता रमाबाई का उपयोग करना चाहते थे लेकिन इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। इन्हीं दिनों स्वामीजी का थियोसोफी के संस्थापकों कर्नल एच. एस. आल्काट तथा मैडम ब्लावाट्स्की से परिचय हुआ। थियोसोफी के नेताओं ने आर्य समाज तथा थियोसोफी के बीच मेलमिलाप की बात स्वामीजी से की थी लेकिन वह शीघ्र ही टूट गई।

स्वामीजी के जीवन के अंतिम दिन राजस्थान में बीते। मेवाड़ के महाराणा सज्जनसिंह, शाहपुर नरेश नाहरसिंह तथा जोधपुर के शासक जसवंतसिंह ने स्वामीजी की शिक्षाओं में रुचि प्रकट की। स्वामीजी ने पाया कि जोधपुर का राजपरिवार सदाचार के रास्ते पर नहीं चल रहा। कहा जाता है जोधपुर में ही नन्हीं भगतिन नाम एक वैश्या ने स्वामीजी को उनके रसोइये के हाथों दूध के साथ विष दिलवा दिया जिससे 30 अक्तूबर, 1883 को अजमेर में स्वामीजी का निधन हो गया।

संदर्भ तथा पाद-टिप्पणियां

1. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, *आर्य समाज का इतिहास*, प्रथम भाग, आर्य स्वाध्याय केंद्र, नई दिल्ली, पृ. 253।
2. *उपर्युक्त*।
3. *उपर्युक्त*, पृ. 276।
4. *उपर्युक्त*, पृ. 278-282।
5. *उपर्युक्त*, पृ. 282-290।
6. *उपर्युक्त*, पृ. 277-278।
7. लाहौर में स्वामीजी ने दो मुस्लिम सज्जनों डॉ. रहीम खां और नवाब रजा अली खां की कोठियों पर निवास किया था। इससे सिद्ध होता है कि उस समय के मुसलमान स्वामीजी को अपना विरोधी नहीं मानते थे। *उपर्युक्त*, पृ. 293।
8. *उपर्युक्त*, पृ. 304-306।
9. डॉ. भवानी लाल भारतीय ने स्वामीजी को विष दिए जाने की पूरी जानकारी दी है तथा सारे उपलब्ध साक्ष्य का परीक्षण किया है। डॉ. भवानीलाल भारतीय, *नवजागरण के पुरोधा दयानंद सरस्वती*, पृ. 522-531।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 12

साहित्य-परिचय

स्वामी दयानंद वाणी के साथ ही लेखनी के भी धनी थे। उन्होंने अपने जीवन-काल में हजारों व्याख्यान दिए और सैकड़ों शास्त्रार्थ किए। ये सभी व्याख्यान और शास्त्रार्थ लिपिबद्ध नहीं किए गए। इस कमी के कारण मानवता एक बहुमूल्य धरोहर से वंचित रह गई है। फिर भी स्वामी दयानंद द्वारा रचित छोटे-बड़े प्रायः 25 ग्रंथों का विवरण प्राप्त होता है। इन ग्रंथों के मुद्रित पृष्ठों की संख्या 15000 आंकी गई है।[1]

इसके अतिरिक्त स्वामी दयानंद की प्रेरणा और निर्देश से तैयार किए गए कुछ ग्रंथों का उल्लेख मिलता है।[2] स्वामी दयानंद के कुछ शास्त्रार्थ ग्रंथ भी उपलब्ध हैं।[3] स्वामी दयानंद के पत्रों, विज्ञापनों और व्याख्यानों के भी कुछ संग्रह मिलते हैं।[4] किसी सुविचारित योजना के अनुसार स्वामी दयानंद की समस्त रचनाओं का संपादित संस्करण न मिलना खेद का विषय है। आगे के पन्नों में हम स्वामी दयानंद के छोटे-बड़े 25 ग्रंथों का परिचय दे रहे हैं। स्वामीजी के तीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों **सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका** तथा **संस्कार विधि** का विचार विश्लेषण पृथक् अध्यायों में किया जा रहा है।

1. संध्या[5]

स्वामी दयानंद लगभग 3 वर्ष (1860-1863 ई.) तक अपने गुरु स्वामी विरजानंद के चरणों में विद्याध्ययन करके 1863 ई. में आगरा आए थे। आगरा में उन्होंने दो वर्ष तक निवास किया। आगरा में ही स्वामी दयानंद ने **संध्या** नामक पुस्तक लिखी थी। पुस्तक के अंत में लक्ष्मी सूक्त दिया गया था। स्वामी दयानंद की प्रेरणा से सेठ रूपलाल ने इस पुस्तक की 30,000 प्रतियां छपवाई थीं। यह पुस्तक आगरे के ज्वाला प्रकाश प्रेस में छपी थी। स्वामी दयानंद के शोधकर्त्ताओं को यह पुस्तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। इसके आकार-प्रकार के बारे में कोई जानकारी नहीं है। स्वामीजी के दो आरंभिक जीवनी लेखकों पं. लेखराम और पं. महेश प्रसाद जी ने इसका हवाला दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. भागवत खंडन[6]

स्वामी दयानंद ने यह पुस्तक 1866 में लिखी थी। इस पुस्तक का एक अन्य नाम **वैष्णवमत खंडन** भी है। यह पुस्तक कहां लिखी गई, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। पुस्तक 18 × 22 के अठपेजी आकार में ज्वालाप्रकाश प्रेस, आगरा में छपी थी। पुस्तक में **भागवत पुराण** का खंडन किया गया है। पुस्तक संस्कृत में ही लिखी गई थी।

3. अद्वैतमत खंडन[7]

स्वामी दयानंद 1870 में दूसरी बार काशी आए थे। अपने इसी काशी-प्रवास में उन्होंने **अद्वैतमत खंडन** नामक पुस्तक का प्रणयन किया था। पुस्तक काशी के लाइट प्रेस में छपी थी। पं. लेखराम ने इसे ''नवीन वेदांत के किला को तोड़ने के लिए सेना से अधिक बलवान''[8] कहा है।

4. गर्दमपातिनी उपनिषद

स्वामीजी अपने भाषणों में यदा-कदा श्रोताओं का मनोरंजन किया करते थे। इस प्रयोजन के लिए उन्होंने **रामतापिनी, गोपालतापिनी** जैसी उपनिषदों के ढंग पर 1874 के आस-पास **गर्दमतापिनी उपनिषद** की रचना की थी। स्वामीजी के जीवनी लेखक देवेन्द्रनाथ ने इस रचना का उल्लेख किया है। इस रचना की कोई प्रतिलिपि उपलब्ध नहीं है।

5. सत्यार्थ प्रकाश[9]

सत्यार्थ प्रकाश स्वामीजी की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। इसका पहला संस्करण 1874 में तथा दूसरा संशोधित और परिमार्जित संस्करण आठ वर्ष बाद 1882 में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ के दो भाग हैं—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में 10 और उत्तरार्ध में 4 अध्याय हैं। पूर्वार्ध में वैदिक सिद्धांतों की विशद व्याख्या है और उत्तरार्ध में पौराणिक, बौद्ध-जैन, ईसाई तथा इस्लाम धर्मों की समीक्षा है। ग्रंथ के अंत में स्वामीजी ने **स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश** के अंतर्गत अपने द्वारा मान्य सिद्धांतों का सूत्ररूप में उल्लेख किया है।

6. संध्योपासनादि पंचमहायज्ञविधि[10]

इस पुस्तक में स्वामी दयानंद ने संध्या तथा पांच महायज्ञों—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवमइ यज्ञ तथा अतिथि यज्ञ का विवरण दिया है। स्वामी दयानंद इन यज्ञों को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे और उन्होंने इनका अपने दो अन्य ग्रंथों—**सत्यार्थ प्रकाश** तथा **संस्कारविधि** में भी वर्णन किया है। इस ग्रंथ का पहला संस्करण आर्य प्रेस, बंबई से 1874 में और दूसरा संशोधित संस्करण लाजरस प्रेस, बंबई से 1877 में प्रकाशित हुआ था।

7. वेदान्तिध्वांति निवारण[11]

यह पुस्तक ओरिएंटल प्रेस, बंबई से 1876 में प्रकाशित हुई थी। ग्रंथ के प्रथम संस्करण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की भाषा बहुत अशुद्ध थी। इसे बाद के संस्करणों में शुद्ध किया गया। जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है, इसमें वेदांत सिद्धांत की आलोचना की गई है।

8. वेदविरुद्ध मतखंडन[12]

यह पुस्तक निर्णय सागर प्रेस, बंबई से 1875 में छपी थी। इस पुस्तक का दूसरा नाम **वल्लभाचार्य-मत खंडन** है। पुस्तक में वल्लभ संप्रदाय के सिद्धांतों का खंडन किया गया है। इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद वल्लभ संप्रदाय के अनेक अनुयायी स्वामी दयानंद के प्राणों के ग्राहक बन गए थे। पुस्तक की मूल भाषा संस्कृत थी। इसका गुजराती अनुवाद स्वामीजी के एक प्रमुख शिष्य श्याम जी कृष्णवर्मा ने किया था। बाद में श्याम जी कृष्णवर्मा क्रांतिकारी बन गए और उन्होंने अपना समूचा जीवन यूरोप में व्यतीत किया। इस ग्रंथ का हिंदी में अनुवाद पं. भीमसेन ने किया था।

9. शिक्षापत्री ध्वान्तिनिवारण[13]

गुजरात में स्वामी नारायण मत का बहुत प्रचार था। इस मत का प्रवर्तन स्वामी सहजानंद ने किया था। उन्होंने अपनी **शिक्षापत्री** नामक पुस्तक में अपने सिद्धांतों का परिचय दिया था। स्वामी दयानंद ने **शिक्षापत्रीध्वान्ति निवारण** पुस्तक में स्वामी नारायण मत के सिद्धांतों का खंडन किया है। यह पुस्तक बंबई से 1875 में प्रकाशित हुई थी। इस ग्रंथ का दूसरा नाम **स्वामी नारायण मत खंडन** भी है।

10. आर्याभिविनय[14]

इस ग्रंथ में स्वामी दयानंद ने ऋग्वेद के 53 मंत्रों, यजुर्वेद के 54 मंत्रों तथा तैत्तिरीय आरण्यक के 1 मंत्र के पाठ तथा अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। ये मंत्र परमात्मा के प्रति स्तुतिपरक है। ग्रंथ का प्रथम संस्करण आर्य मंडल प्रेस, बंबई से 1876 में छपा था। स्वामी दयानंद ने ग्रंथ की **उपक्रमणिका** में ग्रंथ-रचना का लक्ष्य माना है–'ईश्वर का स्वरूप ज्ञान और भक्ति, धर्मनिष्ठा और व्यवहार शुद्धि।'

11. संस्कार विधि[15]

भारत के प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिए अनेक संस्कारों की योजना की है। गृह्यसूत्रों में गर्भाधान से मृत्युपर्यंत 16 से 48 तक संस्कार गिनाए हैं।

स्वामी दयानंद ने **संस्कार-विधि** ग्रंथ में गृह्यसूत्रों के आधार पर 16 संस्कारों की विधि का विवरण दिया है। यह स्वामीजी का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। इसका पहला संस्करण एशियाटिक प्रेस, बंबई से 1877 ई. में तथा दूसरा संस्करण वैदिक यंत्रालय, प्रयाग से 1884 ई. में प्रकाशित हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

12. वेदभाष्य का नमूना

सत्यार्थ प्रकाश की रचना के उपरांत स्वामी दयानंद का ध्यान वेदों का भाष्य लिखने की ओर गया। स्वामीजी के विचार से भारत की अधोगति का मुख्य कारण वैदिक शिक्षा का लोप और पौराणिक ज्ञान का प्रसार था। स्वामीजी के समय में सायण और महीधर आदि के जो वेदभाष्य उपलब्ध थे, उन पर पौराणिक मतों की छाप थी।[16] स्वामीजी ने प्राचीन आर्ष ग्रंथों का अध्ययन कर वेदों के नए भाष्य लिखने का कार्य अपने हाथ में लिया। स्वामीजी ने लाजरस प्रेस, बनारस से 1876 ई. में वेदभाष्य के नमूने का एक अंक छपवाया। यह अंक 20 × 26 अठपेजी आकार के 24 पत्रों में छपा था। नमूने के इस अंक में ऋग्वेद के पहले मंडल के पहले सूक्त और दूसरे सूक्त के पहले मंत्र का संस्कृत भाष्य है। इसमें प्रत्येक मंत्र के भौतिक और पारमार्थिक दो अर्थ दिए गए हैं।[17]

13. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका[18]

स्वामी दयानंद ने वेदभाष्य के प्रारंभ से पहले चारों वेदों की विषय-वस्तु का परिचय देने के लिए **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** का प्रणयन किया। उन्होंने अयोध्या में 20 अगस्त, 1876 को पुस्तक लिखनी आरंभ की। यह लाजरस प्रेस, बनारस और निर्णय सागर प्रेस, बंबई में 1877-78 में छप कर तैयार हुई। इस ग्रंथ का संस्कृत भाग स्वामीजी का किया हुआ था। भाषानुवाद पंडितों का किया हुआ है। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में स्वामीजी ने जिन विषयों की चर्चा की है, वे हैं : वेदों का महत्त्व, ब्रह्म विद्या, धर्म, सृष्टि का जन्म, आकर्षण-सिद्धांत, गणित विद्या, स्तुति-प्रार्थना, उपासना, योग, मुक्ति, वैद्यक शास्त्र, पुनर्जन्म, विवाह, नियोग, पुनर्जन्म, राजा-प्रजा धर्म, वर्णाश्रम, पंचमहायज्ञ आदि।[18]

14. ऋग्वेद भाष्य (7/62/2 तक)[19]

स्वामी दयानंद ने 1877 में ऋग्वेद भाष्य आरंभ किया था। वे अपनी मृत्युपर्यंत 7/62/2 तक का ही भाष्य पूरा कर सके थे जो धीरे-धीरे 1877 से ही निर्णय सागर प्रेस, बंबई तथा 1899 तक वैदिक यंत्रालय, काशी, प्रयाग और अजमेर में छपता रहा था। स्वामी दयानंद द्वारा लिखित संस्कृत भाष्य ही प्रामाणिक है।

15. यजुर्वेद भाष्य[20]

स्वामी दयानंद ने **यजुर्वेद भाष्य** का लेखन 1877 में आरंभ किया था और वह 1882 तक चलता रहा था। इस भाष्य की रचना में चार वर्ष और दस मास लगे थे। पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने 1945 में रामलाल कपूर ट्रस्ट से यजुर्वेद भाष्य के दस अध्यायों का एक परिशुद्ध संस्करण 1945 में प्रकाशित कराया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

16. आर्योद्देश्यरत्नमाला[21]

इस पुस्तक में आर्यों के 100 मुख्य सिद्धांतों का संग्रह है। स्वामीजी ने यह ग्रंथ 1877 में लिखा था। यह उसी साल चश्म-ए-नूर प्रेस, अमृतसर से छपा था।

17. भ्रांति निवारण[22]

संस्कृत कालेज, बनारस के प्रिंसिपल श्री महेशचन्द्र न्याय रत्न ने स्वामी दयानंद कृत वेदभाष्य के नमूने के अंक पर कुछ आक्षेप किए थे। स्वामीजी ने **भ्रांति-निवारण** पुस्तक इन आक्षेपों का उत्तर देने के लिए लिखी थी। पुस्तक आर्यभूषण प्रेस, शाहजहांपुर से 1880 ई. में प्रकाशित हुई थी।

18. अष्टाध्यायी भाष्य[23]

स्वामी दयानंद पाणिनि द्वारा रचित **अष्टाध्यायी** को व्याकरण की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मानते थे। उन्होंने इस ग्रंथ का 1878-79 में भाष्य तैयार किया था। यह भाष्य दो भागों में वैदिक यंत्रालय, अजमेर में छपा है। पहला भाग 1927 ई. में छपा था और दूसरा भाग 1940 में।

19. आत्मचरित्र[24]

स्वामी दयानंद ने पूना में 4 अगस्त, 1875 को अपनी जीवनी के बारे में एक व्याख्यान दिया था। इसी प्रकार थियोसोफिस्ट सोसाइटी के कर्नल आल्काट के आग्रह पर स्वामीजी ने अपना जीवन-चरित्र **थियोसोफिस्ट** नामक पत्र में छपने के लिए भेजा था। **थियोसोफिस्ट** में स्वामीजी का यह जीवन-चरित्र अक्तूबर 1879, दिसंबर 1879 तथा नवंबर, 1880 के अंकों में छपा था। स्वामीजी की इस आत्मकथा के हिंदी और अंग्रेजी में अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

20. संस्कृत वाक्य प्रबोध[25]

स्वामी दयानंद ने जनसाधारण में संस्कृत का प्रचार करने के लिए इस ग्रंथ की रचना की थी। पुस्तक में छोटे-बड़े 52 प्रकरण हैं, जिनमें नित्य प्रति व्यवहार में आने वाले सभी प्रकार के शब्दों और वाक्यों का संग्रह किया गया है। ग्रंथ वैदिक यंत्रालय, काशी से 1879 में छपा था।

21. व्यवहार भानु[26]

यह पुस्तक मुख्य रूप से बालकों के लिए लिखी गई है। इसमें शिक्षकों, मूर्खों, ब्रह्मचर्य, शूरवीर, शिक्षा, विद्यार्थियों, धर्म, अधर्म, पुरुषार्थ, दान, राजधर्म आदि विषयों पर, सूक्तियां एकत्रित की गई हैं और उन्हें दृष्टांतों द्वारा समझाया गया है। यह पुस्तक वैदिक यंत्रालय, काशी से 1879 ई. में प्रकाशित हुई थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

22. गौतम अहिल्या की कथा[27]

यह पुस्तक वैदिक यंत्रालय, काशी से 1879 ई. में छपी थी। स्वामी दयानंद के पत्रों और विज्ञापनों में इस पुस्तक का उल्लेख पाया जाता है। पुस्तक में स्वामी दयानंद ने गौतम और अहिल्या की कथा का वास्तविक रूप प्रकट किया है। स्वामीजी के अनुसार इंद्र सूर्य है, गौतम चंद्रमा और अहिल्या रात्रि। अहिल्यारूपी रात्रि और गौतम रूपी चंद्रमा आलंकारिक रूप से पति-पत्नी कहे गए हैं। सूर्य को अहिल्या का जार इसलिए कहा गया है क्योंकि सूर्य के उदित होने पर रात्रि नष्ट हो जाती है। स्वामी दयानंद ने **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** में भी इस कथा का उल्लेख किया है।

23. भ्रमोच्छेदन[28]

काशी के राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद ने स्वामी दयानंद के **ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका** ग्रंथ पर कुछ आक्षेप किए थे। स्वामी दयानंद ने राजा साहब के उन आक्षेपों का उत्तर देने के लिए ही **भ्रमोच्छेदन** पुस्तिका की रचना की थी। पुस्तक वैदिक यंत्रालय, काशी से 1880 ई. में प्रकाशित हुई थी।

24. गोकरुणानिधि[29]

स्वामी दयानंद गोरक्षा आंदोलन के पहले प्रवर्त्तकों में से थे। **गोकरुणानिधि** पुस्तक में स्वामीजी ने गौ आदि पशुओं की हत्या कर उनके मांस-भक्षण को अनुचित ठहराया है। यह पुस्तक वैदिक यंत्रालय, काशी से 1880 ई. में प्रकाशित हुई थी।

25. उपदेश मंजरी[30]

स्वामी दयानंद 20 जून, 1875 ई. को पूना पहुंचे थे। वहां उन्होंने 4 जुलाई, 1875 से 4 अगस्त, 1875 तक 15 व्याख्यान दिए थे जो **उपदेश मंजरी** नाम से पुस्तक में प्रकाशित हुए हैं। इन व्याख्यानों के विषय हैं—ईश्वर-सिद्धि, धर्म-अधर्म, वेद, पुनर्जन्म, यज्ञ और संस्कार, इतिहास, स्वकथित जीवन-चरित्र।

सारांश

स्वामी दयानंद वाणी के साथ ही लेखनी के भी धनी थे। उनका लिखित साहित्य प्रायः 15,000 मुद्रित पृष्ठों में समाहित हुआ है।

स्वामी दयानंद ने अपने जीवन में छोटे-बड़े प्रायः 25 ग्रंथ लिखे। उनके मुख्य गंथ हैं :

1. संध्या : इस पुस्तक की रचना 1863 में आगरे में की गई थी। यह **'संध्या'** के विषय में थी। इसकी 30,000 प्रतियां मुफ्त बांटी गई थीं।

2. भागवत खंडन : स्वामी दयानंद ने यह पुस्तक 1866 में लिखी थी और आगरा में छपी थी। पुस्तक में **भागवत पुराण** का खंडन किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. अद्वैतमत खंडन : यह पुस्तक 1870 में लिखी गई थी और वहीं से प्रकाशित हुई थी। इसमें अद्वैतमत का खंडन किया गया था।

4. गर्दभपातिनी उपनिषद : यह पुस्तक पाठकों-श्रोताओं का मनोरंजन करने के लिए 1874 में लिखी गई थी।

5. सत्यार्थ प्रकाश : यह स्वामीजी का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका पहला संस्करण 1874 में तथा दूसरा संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण 1882 में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ में स्वामीजी के सभी विचारों का सारांश आ गया है।

6. संध्योपासनादि पंचमहायज्ञविधि : इस पुस्तक में स्वामी दयानंद ने संध्या तथा पांच महायज्ञों—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ तथा अतिथि यज्ञ का विवरण दिया है। पहला संस्करण 1874 में बंबई से छपा था।

7. वेदान्तिध्वांति निवारण : पुस्तक में वेदांत-मत की आलोचना की गई है। यह बंबई से 1875 में प्रकाशित हुई थी।

8. वेदविरुद्ध मत खंडन : यह पुस्तक बंबई से 1875 में प्रकाशित हुई थी। इसमें वल्लभाचार्य संप्रदाय के सिद्धांतों का खंडन किया गया है।

9. शिक्षायत्री ध्वान्तिनिवारण : इस पुस्तक में गुजरात में प्रचलित स्वामी नारायण संप्रदाय के मत का खंडन किया गया है। यह 1875 में बंबई से प्रकाशित हुई थी।

10. आर्याभिविनय : इस पुस्तक में स्वामी दयानंद ने **ऋग्वेद** तथा **यजुर्वेद** के प्रायः 100 मंत्रों के अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। यह पुस्तक 1876 में बंबई से प्रकाशित हुई थी।

11. संस्कार विधि : इस पुस्तक में स्वामी दयानंद ने गर्भाधान से लेकर अंत्येष्टि तक मानव-जीवन के 16 महत्त्वपूर्ण संस्कारों की विधि निरूपित की है। इसका पहला संस्करण 1877 में बंबई से प्रकाशित हुआ था।

12. वेदभाष्य का नमूना : स्वामी दयानंद ने अपने प्रस्तावित वेदभाष्य का एक नमूना 1876 में बनारस से प्रकाशित कराया। इसमें ऋग्वेद के पहले सूक्त के मंत्रों का भाष्य है।

13. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका : स्वामी दयानंद चारों वेदों का भाष्य तैयार करना चाहते थे। **ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका** में स्वामीजी ने अपनी वेदभाष्य विषयक दृष्टि का उन्मूलन किया है। यह पुस्तक बनारस से 1877-78 में प्रकाशित हुई।

14. ऋग्वेद भाष्य : स्वामी दयानंद अपने जीवन-काल में ऋग्वेद का 7/62/2 तक ही अपना भाष्य पूरा कर सके। यह 1877 से छपना शुरू हुआ और 1899 में पूरा हुआ।

15. यजुर्वेद भाष्य : स्वामी दयानंद ने 1877 से 1882 तक **यजुर्वेद भाष्य** का लिखना पूरा किया। स्वामीजी के जीवन-काल में यह अंशतः ही छपा था। यह पूरा ग्रंथ उनकी मृत्यु के बाद 1889 ई. में प्रकाशित हुआ था।

16. आर्योद्देश्यरत्नमाला : इस पुस्तक में आर्यों के 100 मुख्य सिद्धांतों का विवरण है। यह ग्रंथ 1877 में छपा था।

17. भ्रांति निवारण : संस्कृत कालेज, बनारस के प्रिंसिपल श्री महेशचन्द्र न्यायरत्न ने स्वामी दयानंद कृत वेदभाष्य के नमूने के अंक पर कुछ आक्षेप किए थे। स्वामीजी ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पुस्तक में इन आक्षेपों का उत्तर दिया है। यह पुस्तक 1880 ई. में प्रकाशित हुई थी।

18. अष्टाध्यायी भाष्य : यह पुस्तक पाणिनिकृत व्याकरण पुस्तक अष्टाध्यायी पर स्वामी दयानंद की टीका है। यह दो भागों में है। जो क्रमशः 1927 ई. और 1940 में वैदिक यंत्रालय, अजमेर से प्रकाशित हुए थे।

19. आत्मचरित्र : स्वामी दयानंद ने 1875 में पूना में अपने जीवन के बारे में कुछ सूचनाएं दी थीं। 1880 में **थियोसोफिस्ट** पत्र के लिए दुहरा दीं। उनके ये दोनों वक्तव्य उनकी आत्मकथा के नाम से जाने जाते हैं। इस आत्मकथा के हिंदी और अंग्रेजी में अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

20. संस्कृत वाक्य प्रबोध : स्वामी दयानंद ने जनसाधारण में संस्कृत का प्रचार करने के लिए इस ग्रंथ की रचना की थी। यह 1870 में प्रकाशित हुआ था।

21. व्यवहारभानु : यह पुस्तक मुख्यतया बालकों के लिए लिखी गई है। और इसमें दृष्टांतों द्वारा बालकों को आत्म-निर्माण की शिक्षा दी गई है। यह पुस्तक 1879 में प्रकाशित हुई थी।

22. गौतम-अहिल्या की कथा : 1879 ई. में प्रकाशित इस पुस्तक में स्वामी दयानंद ने गौतम और अहिल्या की पौराणिक कथा की वास्तविकता प्रकट की है। इसका प्रकाशन काल 1879 ई. है।

23. भ्रमोच्छेदन : स्वामी दयानंद ने इस पुस्तक में राजा शिव प्रसाद सितारेहिंद द्वारा **ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका** के संदर्भ में उठाए गए आक्षेपों का उत्तर दिया है। पुस्तक 1880 ई. में प्रकाशित हुई थी।

24. गोकरुणानिधि : स्वामी दयानंद ने इस पुस्तक में गोरक्षा की पैरवी की है। इसका प्रकाशन काल 1880 ई. है।

25. उपदेश मंजरी : 1875 में पूना में दिए गए 15 व्याख्यानों का संकलन।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. युधिष्ठिर मीमांसक, *ऋषि दयानंद के ग्रंथों का इतिहास*, मीरा कार्यालय, अजमेर, 1949, पृ. 4-5।
2. *उपर्युक्त।*
3. स्वामी दयानंद के शास्त्रार्थ विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ निम्नलिखित हैं : *काशी शास्त्रार्थ*, वैदिक यंत्रालय, काशी, 1880 ई., *हुगली शास्त्रार्थ* (प्रतिमा पूजन विचार), लाइट प्रेस, बनारस, 1873 ई., *सत्य धर्म विचार* (मेला चांदपुर), वैदिक यंत्रालय, काशी, 1880 ई., *जालंधर शास्त्रार्थ*, पंजाबी प्रेस, लाहौर, 1877 ई. *सत्यासत्य विवेक* (बरेली शास्त्रार्थ) आर्यभूषण प्रेस, शाहजहांपुर 1879 ई. (उर्दू)।
4. स्वामी दयानंद के पत्रों और विज्ञापनों का विवरण इस प्रकार है : मुंशीराम जिज्ञासु, *ऋषि दयानंद का पत्र-व्यवहार*, जालंधर, 1909, भगवद्दत, *ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन*, अमृतसर, 1955, युधिष्ठिर मीमांसक, *ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापनों के परिशिष्ट*, अमृतसर 1957, युधिष्ठिर मीमांसक, *ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन*, (3 भाग), बहालगढ़, 1980।
5. युधिष्ठिर मीमांसक, *वही*, पृ. 9।
6. *उपर्युक्त*, पृ. 10-12।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. *उपर्युक्त*, पृ. 12-14।
8. *उपर्युक्त*, पृ. 13।
9. स्वामी दयानंद ने *सत्यार्थ प्रकाश* की रचना मुरादाबाद निवासी राजा जयकृष्णदास की प्रेरणा पर की थी। उस समय राजा साहब काशी के डिप्टी कलक्टर थे। राजाजी ने ग्रंथ के लिखवाने और छपवाने का सारा भार अपने ऊपर लिया। उन्होंने *सत्यार्थ प्रकाश* लिखने के लिए एक महाराष्ट्रीय पंडित चंद्रशेखर को नियत कर दिया। स्वामीजी बोलते जाते थे और पं. चंद्रशेखर लिखते जाते थे। *उपर्युक्त*, पृ. 17
10. *उपर्युक्त*, पृ. 46-59।
11. *उपर्युक्त*, पृ. 60-62।
12. *उपर्युक्त*, पृ. 62-65।
13. *उपर्युक्त*, पृ. 65-68।
14. *उपर्युक्त*, पृ. 69-79।
15. *उपर्युक्त*, पृ. 79-89।
16. *उपर्युक्त*, पृ. 90।
17. *उपर्युक्त*, पृ. 91-95।
18. *ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका* के प्रणयन में स्वामीजी का प्रयोजन 'परमार्थ' और 'स्वदेशोन्नति' था। उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था : "हमने केवल परमार्थ और स्वदेशोन्नति के कारण अपने समाधि और ब्रह्मानंद को छोड़ कर यह कार्य ग्रहण किया है। *उपर्युक्त*, पृ. 95।
19. *उपर्युक्त*, पृ. 101-103।
20. *उपर्युक्त*, पृ. 104-108।
21. *उपर्युक्त*, पृ. 109-110।
22. *उपर्युक्त*, पृ. 110-114।
23. *उपर्युक्त*, पृ. 114-120।
24. *उपर्युक्त*, पृ. 121-123।
25. *उपर्युक्त*, पृ. 124-127।
26. *उपर्युक्त*, पृ. 127-128।
27. *उपर्युक्त*, पृ. 128-129।
28. *उपर्युक्त*, पृ. 129-132।
29. *उपर्युक्त*, पृ. 135-140।
30. दयानंद सरस्वती, (सं. राजपाल सिंह शास्त्री), *उपदेश मंजरी*, दिल्ली, 1996।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 13

सत्यार्थ प्रकाश

सत्यार्थ प्रकाश की रचना का उद्देश्य

सत्यार्थ प्रकाश स्वामी दयानंद की सबसे प्रमुख पुस्तक है। इस ग्रंथ में उनके सभी मुख्य सिद्धांतों का समावेश है।[1]

स्वामीजी ने इस ग्रंथ की रचना का लक्ष्य सत्य के अर्थ का प्रकाश करना बताया है। स्वामीजी के अनुसार जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहलाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। स्वामीजी ने आप्त व्यक्तियों का यही मुख्य कर्त्तव्य माना है कि वे अपनी वाणी अथवा लेखनी द्वारा सत्य का निरूपण कर दें। लोग अपने हिताहित की दृष्टि से सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का त्याग कर सकते हैं। स्वामीजी ने अपने मत की पुष्टि में उपनिषद के इस सूत्र को प्रस्तुत किया है : सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। सत्य की सदा विजय होती है और असत्य की पराजय। सत्य से ही विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है।[2]

स्वामीजी ने अपनी युक्तियों के समर्थन में गीता के निम्नलिखित वचन को उद्धृत किया है :

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् इसका अभिप्राय यह है कि जो विद्या और धर्मप्राप्ति के कर्म हैं वे शुरू-शुरू में तो विष के तुल्य लगते हैं। लेकिन बाद में वे अमृत के सदृश हो जाते हैं।[3]

सत्यार्थ प्रकाश की विषय-वस्तु

सत्यार्थ प्रकाश में चौदह समुल्लास अथवा अध्याय हैं। पहले समुल्लास में ईश्वर के ओंकारादि नामों की व्याख्या।

दूसरे सम्मुल्लास में संतानों की शिक्षा।

तीसरे समुल्लास में ब्रह्मचर्य, पठन-पाठन-व्यवस्था, सत्यासत्य ग्रंथों के नाम और पढ़ने-पढ़ाने की रीति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौथे समुल्लास में विवाह और गृहाश्रम का व्यवहार।

पांचवें समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम की विधि।

छठे समुल्लास में राजधर्म।

सातवें समुल्लास में वेदेश्वर विषय।

आठवें समुल्लास में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय।

नवे समुल्लास में विद्या, अविद्या, बंध और मोक्ष की व्याख्या।

दसवें समुल्लास में आचार, अनाचार और भक्ष्यांभक्ष्य विषय।

ग्यारहवें समुल्लास में आर्यावर्त्तीय मतमतान्तर का खंडन-मंडन विषय।

बारहवें समुल्लास में चार्वाक, बौद्ध और जैनमत का विषय।

तेरहवें समुल्लास में ईसाई मत का विषय।

चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मत का विषय।

चौदहवें समुल्लासों के अंत में आर्यों के सनातन वेदविहित मत की व्याख्या जिसको स्वामी दयानंद भी मानते थे।

सत्यार्थ प्रकाश के दो खंड।

सत्यार्थ प्रकाश के 14 समुल्लास दो खंडों में विभक्त हैं। ग्रंथ के पहले दस समुल्लासों में ईश्वरनाम व्याख्या, बाल-शिक्षा, अध्ययन-अध्यापन विषय, गृहस्थ धर्म, वानप्रस्थ आश्रम विधि, संन्यास आश्रम विधि, राजधर्म, ईश्वर विषय, सृष्टि-उत्पत्ति विषय, विद्या-अविद्या, बंधमोक्ष और आचार-अनाचार आदि विषयों का विवेचन है। ग्रंथ के अंतिम चार समुल्लासों में क्रमशः आर्यावर्तीय मतमतांतरों, जैनियों, ईसाइयों और मुसलमानों के मतमतांतरों का खंडन-मंडन है। चौदहवें समुल्लास के अंत में स्वामीजी ने स्वमत का सारांश दिया है।

सत्यार्थ प्रकाश का पहला संस्करण।

स्वामी दयानंद ने जिस समय *सत्यार्थ प्रकाश* के पहले संस्करण की रचना की थी, उस समय उन्हें हिंदी भाषा का विशेष ज्ञान न था। इसलिए पहले संस्करण में अनेक अशुद्धियां रह गई थीं। बाद में उन्हें हिंदी भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया। अतः उन्होंने दूसरे संस्करण में भाषा की अशुद्धियों का परिष्कार किया अंत के दो समुल्लास तथा स्वसिद्धांत पहले संस्करण में नहीं छपे थे। उन्हें दूसरे संस्करण में छपा गया।[4]

सत्यार्थ प्रकाश का दूसरा संस्करण ही प्रामाणिक माना जाता है। बाद के सभी संस्करण इसी के आधार पर तैयार किए हैं।

पहला समुल्लास ईश्वर के विविधनाम

सत्यार्थ प्रकाश के पहले समुल्लास में ईश्वर के ओंकारादि नामों की व्याख्या दी गई है। स्वामीजी के विचार से ओंकार ईश्वर का सर्वोत्तम नाम है। स्वामीजी ने अपने कथन की पुष्टि में यजुर्वेद, छांदोग्य उपनिषद, मांडूक्य उपनिषद, कठोपनिषद, मनुस्मृति, कैवल्य उपनिषद, ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से उपयुक्त उद्धरण दिए हैं।[5] स्वामीजी ने ईश्वर के जिन अन्य नामों की व्युत्पत्ति दी है वे हैं 'अग्नि', 'मनु', 'प्रजापति', 'इंद्र', 'प्राण', 'ब्रह्म',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'विष्णु', 'ब्रह्मा', 'रुद्र', 'शिव', 'अक्षर', 'स्वराष्ट्र', 'कालाग्नि', 'सुपर्ण', 'मातरिश्वा', 'गरुत्मान', 'भूमि', 'विराट', 'विश्व', 'हिरण्यगर्भ', 'वायु', 'ईश्वर', 'आदित्य', 'प्राज्ञ', 'मित्र', 'वरुण', 'अर्यमा', 'बृहस्पति', 'उरुक्रम', 'सूर्य', 'परमात्मा', 'परमेश्वर', 'सविता', 'देव', 'कुबेर', 'पृथिवी', 'जल', 'आकाश', 'अन्न', 'अन्नाद', 'अत्ता', 'वसु', 'नारायण', 'चंद्र', 'मंगल', 'बुध', 'शुक्र', 'शनैश्चर', 'राहु', 'केतु', 'यज्ञ', 'होता', 'बंधु', 'पिता', 'पितामह', 'प्रपितामह', 'माता', 'आचार्य', 'गुरु', 'अज', 'सत्', 'ज्ञान', 'अनंत', 'अनादि', 'आनंद', 'चित्', 'सच्चिदानंद-स्वरूप', 'नित्य', 'शुद्ध', 'बुद्ध', 'मुक्त', 'निराकार', 'निरंजन', 'विश्वेश्वर', 'कूटस्थ', 'देवी', 'शक्ति', 'श्री', 'लक्ष्मी', 'सरस्वती', 'सर्वशक्तिमान', 'दयालु', 'अद्वैत', 'निर्गुण', 'सगुण', 'अंतर्यामी', 'धर्मराज', 'यम', 'भगवान', 'पुरुष', 'विश्वम्भर', 'काल', 'शेष', 'आप्त', 'शंकर', 'प्रिय', 'स्वयंभू', 'कवि'[6]।

स्वामीजी ने ईश्वर के सौ नामों का उल्लेख किया है। किंतु वे मानते हैं कि परमात्मा के असंख्य नाम हैं। जैसे परमात्मा के अनंत गुण, कर्म, स्वभाव हैं वैसे उनके अनंत नाम भी हैं। उनमें से प्रत्येक गुण, कर्म और स्वभाव का एक-एक नाम है।[7]

दूसरा समुल्लास : बाल शिक्षा

सत्यार्थ प्रकाश का दूसरा समुल्लास बाल-शिक्षा के विषय में है। यह समुल्लास आकार में सबसे छोटा है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य तो बालकों के तीन प्रधान गुरुओं—माता-पिता एवं आचार्य—की योग्यता का निरूपण है, तथापि इसमें प्रसंगानुसार अन्य अनेक विषयों का भी समावेश हो गया है। कुछ उदाहरण है :

1. गर्भाधान के पश्चात् पति-पत्नी को कठोर संयम से रहने का आदेश।
2. बालक को दूध पिलाने के लिए धायी का नियोजन।
3. भूतप्रेत के मिथ्यात्व का निरूपण।
4. भूत प्रेत आदि शब्दों का यथार्थ अर्थ।
5. फलित ज्योतिष का निराकरण।
6. जन्मपत्र बनाने का निषेध।
7. ब्रह्मचर्य धारण का आदेश।
8. ब्रह्मचर्य विरोधी व्यवहारों का निषेध।
9. भ्रांत धारणाओं के निवारण का उपदेश।
10. लाड़ करने से संतान के बिगड़ जाने की संभावना।
11. यंत्र, मंत्र, तंत्र, मारण, मोहन, उच्चाटन आदि तांत्रिक क्रियाओं का विरोध।
12. शिष्टाचार।

स्वामीजी ने *शतपथ ब्राह्मण* के आधार पर तीन उत्तम शिक्षक माने हैं—माता, पिता और आचार्य। स्वामीजी ने गर्भाधान से लेकर बालक की शिक्षा पूरी होने तक माता-पिता को अनुशासनबद्ध जीवन का उपदेश दिया है। जब बालक पांच वर्ष का हो, तब उसे अक्षराभ्यास कराना चाहिए और लोक-व्यवहार की शिक्षा देनी चाहिए, उसे बताना चाहिए कि वह माता-पिता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य, विद्वान, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बंधु, भगिनी और भृत्य आदि के साथ कैसा व्यवहार करे।[8]

स्वामीजी ने व्याकरण महाभाष्य के आधार पर माता, पिता और आचार्य को संदेश दिया है कि वे अपनी संतान और शिष्यों को लाड़-प्यार द्वारा भ्रष्ट न करें। समय-समय पर उनको डांटते-डपटते रहें। स्वामी का मानना है कि माता, पिता और आचार्य अपनी संतान और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें और उनसे यह भी कहें कि वे चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाह, मादक द्रव्य, मिथ्या भाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि दोषों से सदा बचें। किसी के लिए अभिमान करना योग्य नहीं। अभिमान शोभा और लक्ष्मी का नाश कर देता है। जो माता-पिता अपनी संतान को उचित शिक्षा नहीं देते, वे वास्तव में उनके शत्रु हैं। अशिक्षित बच्चे विद्वानों की सभा में वैसे ही तिरस्कृत होते हैं जैसे कि हंसों के बीच में बगुला।[9]

तीसरा समुल्लास : अध्ययन-अध्यापन

सत्यार्थ प्रकाश का तीसरा समुल्लास अध्ययन-अध्यापन विधि के प्रसंग में है। इसमें निम्नलिखित विषयों का भी विवेचन हुआ है :

1. यज्ञोपवीत संस्कार।
2. कन्याओं का यज्ञोपवीत।
3. स्त्री एवं शूद्र को वेदाधिकार।
4. गायत्री मंत्र का अर्थ।
5. संध्या आदि पांच महायज्ञ।
6. संध्या के प्रसंग में स्त्री-पुरुषों को प्राणायाम और योगाभ्यास का आदेश।
7. यज्ञ का लाभ।
8. यज्ञ में मंत्र पढ़ने का उपयोग।
9. पांच प्रकार की परीक्षा।
10. प्रत्यक्षादि प्रमाण।
11. दर्शनों के परस्पर विरोध का प्रतिकार।
12. तीन प्रकार के ब्रह्मचर्य का निरूपण।
13. शरीर की विविध दशाएं।
14. तप का अर्थ।
15. यमों का महत्त्व।
16. पठन-पाठन की विधि।
17. त्याज्य ग्रंथ।
18. आर्ष ग्रंथों का महत्त्व।
19. वेदाध्ययन की सही विधि।
20. न्यूनतम शिक्षा की आवश्यकता।
21. विद्या समाप्ति से पूर्व विवाह का निषेध।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

22. बालक-बालिकाओं को शिक्षा से वंचित रखने वाले माता-पिताओं को राज्य की ओर से दंड।
23. विद्यादान की श्रेष्ठता।[10]

स्वामीजी के विचार से जब लड़के और लड़कियां आठ वर्ष के हों, तब उन्हें पाठशाला में भेज देना चाहिए। स्वामीजी सह-शिक्षा के विरोधी हैं। उनका मंतव्य है: "स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक स्त्री व पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकांतसेवन, भाषण, विषय कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा के बलयुक्त होकर आनंद को नित्य बढ़ा सकें।[10]

स्वामीजी की मान्यता है कि पाठशालाएं नगर या ग्राम से चार कोस की दूरी पर होनी चाहिए। पाठशाला में अमीर-गरीब सभी विद्यार्थियों के साथ एक-सा व्यवहार होना चाहिए। विद्यार्थियों को अपने माता-पिता से मिलने या उनसे पत्र-व्यवहार करने की अनुमति नहीं होनी चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे अपना सारा ध्यान विद्या प्राप्ति में लगाएं।[11]

स्वामीजी ने बालक-बालिकाओं की अनिवार्य शिक्षा का समर्थन किया है। उन्होंने इसके लिए 'राजनियम' और 'जातिनियम' बनाने का सुझाव दिया है। जो माता-पिता बच्चों को पाठशाला में न भेजें, उन्हें दंड दिया जाना चाहिए।[12]

स्वामीजी की व्यवस्था है कि प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्य कुल में हो। माता-पिता और अध्यापकों के लिए उचित है कि वे अपने बच्चों को अर्थसहित गायंत्री मंत्र का उपदेश कर दें।

स्वामीजी ने विद्यार्थियों के लिए संध्या, प्राणायाम, यज्ञ और ब्रह्मचर्य का विधान किया है। स्वामीजी ने छात्रों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे पांच यमों तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान जैसे पांच नियमों की साधना पर भी जोर दिया है।[13]

स्वामीजी ने बालकों की शिक्षा के लिए पूरा पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया है जिसमें व्याकरण, निघंटु, निरुक्त, छंदोग्रंथ, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, षट्दर्शन, वैधक आदि विषयों के अध्ययन की व्यवस्था है। स्वामीजी ने स्त्रियों तथा शूद्रों को भी पुरुषों के समान ही विद्या प्राप्ति का अधिकार दिया है।[14]

मनुस्मृति के आधार पर स्वामीजी मानते हैं कि संसार में जितने दान हैं उनमें वेद विद्या का दान अतिश्रेष्ठ है। इसलिए जितना बन सके उतना प्रयत्न तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि में करना उचित है। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान् होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौथा समुल्लास : विवाह और गृहस्थाश्रम

सत्यार्थ प्रकाश का चौथा समुल्लास विवाह और गृहस्थाश्रम के बारे में है। इसमें निम्नलिखित विषयों का विवेचन है :

1. विवाह का समय।	16. ब्राह्मणों के कर्त्तव्य।
2. विवाह दूर देश में करना।	17. शिक्षकों के लक्षण।
3. विवाह में वर्जनीय कुल।	18. मूर्ख की पहचान।
4. बाल्यविवाह निषेध।	19. विद्यार्थी के लक्षण।
5. स्वयंवर।	20. वैश्यों के कर्त्तव्य।
6. वर्ण-व्यवस्था जन्म से नहीं अपितु गुणकर्म से।	21. शूद्रों के कर्त्तव्य।
	22. पति-पत्नी वियुक्त न रहें।
7. वर्णों के कर्त्तव्य।	23. बहु-विवाह-निषेध।
8. संतों का वर्ण-परिवर्तन।	24. असवर्ण विवाह निषेध।
9. विवाह-लक्षण।	25. नियोग।
10. ऋतुकाल के अनुसार संभोग।	26. द्विजों में पुनर्विवाह का निषेध।
11. स्त्रियों का सत्कार।	27. नियोग का समय।
12. पंचयज्ञ विधान।	28. संयम का आदेश।
13. अतिथि यज्ञ।	29. विवाह की आवश्यकता।
14. धर्म महिमा।	30. कल्पित ग्रंथ त्याज्य है।
15. पति-पत्नी का सहयोग।	31. गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता।[15]

ब्रह्मचर्याश्रम पूरा होने पर स्वामीजी ने स्त्री-पुरुषों को गृहाश्रम में प्रवेश करने की अनुमति दी है।[16] मनुस्मृति के आधार पर स्वामीजी की संस्तुति है कि जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो उस कन्या से विवाह करना उचित है।[17] स्वामीजी दूर देशस्थों के बीच विवाह के समर्थक हैं।[18] स्वामीजी के अनुसार सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेकर अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह करना उचित है।[19] स्वामीजी की सम्मति है कि विवाह में वर और कन्या की परस्पर स्वीकृति आवश्यक है।[20] स्वामीजी ने मनुस्मृति के आधार पर माना है कि "जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनंद, लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है और जहां विरोध तथा कलह होता है, वहां दुःख, दारिद्रय तथा निंदा निवास करती है।"[21]

स्वामीजी ने स्वयंवर की प्रथा को उत्तम माना है। उनका कथन है कि जब तक आर्य ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ कर विवाह करते थे तब तक देश उन्नति के पथ पर चलता रहा। जब से बाल्यावस्था में माता-पिता के अधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमशः आर्यावर्त देश की हानि होती चली आई है।[22]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामीजी ने मनुस्मृति में वर्णित आठ प्रकार के विवाहों (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पिशाच) की चर्चा की है और ब्राह्म विवाह को सर्वोत्कृष्ट माना है।[23] उन्होंने गृहिणी के कर्त्तव्यों की विस्तृत व्याख्या की है।[24] स्वामीजी ने मनुस्मृति के आधार पर गृहस्थ की दिनचर्या निर्धारित की है और उसे सदा सत्यमार्ग पर चलने की सलाह दी है।[25] स्वामीजी ने पाखंडियों के लक्षण गिनाए हैं और उनसे सदा सावधान रहने की चेतावनी दी है।[26] उन्होंने महाभारत के आधार पर शिक्षकों के लक्षणों का वर्णन किया है और कहा है कि जहां ऐसे पढ़ाने वाले स्त्री-पुरुष होते हैं वहां "विद्या धर्म और उत्तमाचार की वृद्धि होकर प्रतिदिन आनंद ही बढ़ता रहता है।"[27] स्वामीजी ने विद्यार्थियों के गुण-दोषों का भी उल्लेख किया है। उनका निष्कर्ष है : "सुख भोगने की इच्छा करने वाले को विद्या कहां? और विद्या पढ़ने वाले को सुख कहां?

विषयसुखार्ची विद्या को और विद्यार्थी विषय-सुख को छोड़ दे।[28]

स्वामीजी वर्ण-व्यवस्था को जन्म पर नहीं, गुण-कर्म पर आधारित मानते हैं। उन्होंने चारों वर्णों—ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के कार्यों का विवरण दिया है।[29]

स्वामीजी ने माना है कि स्त्री-पुरुष का वियोग कभी नहीं होना चाहिए।[30] स्वामीजी ने विशेष परिस्थितियों में स्त्रियों और पुरुषों दोनों को पुनर्विवाह की अनुमति दी है। उनके शब्दों में "जिस स्त्री और पुरुष का पाणिग्रहण संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ हो अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और असतवीर्य पुरुष हो उसका अन्य स्त्री व पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए। किंतु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह नहीं होना चाहिए।[31]

स्वामीजी ने कुछ स्थितियों में नियोग का समर्थन किया है।[32] उन्होंने ऋग्वेद के प्रमाण से विवाहित स्त्री को दस संतान तक उत्पन्न करने की अनुमति दी है। उनका कहना है कि "अधिक करने से संतान निर्बल, निर्बुद्धि, अल्पायु होते हैं और स्त्री-पुरुष भी निर्बल, अल्पायु और रोगी होकर वृद्धावस्था में बहुत से दुख पाते हैं।"[33]

स्वामीजी ने विवाह को एक आवश्यक संस्था माना है। उनका कहना है :

"यदि मनुष्यों में विवाह का नियम न रहे तो गृहस्थाश्रम के अच्छे-अच्छे व्यवहार सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाएं। कोई किसी की सेवा भी न करे और महाव्याभिचार बढ़ कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर शीघ्र-शीघ्र मर जाएं। कोई किसी से भय व लज्जा न करे। वृद्धावस्था में कोई किसी की सेवा भी नहीं करे और महाव्याभिचार बढ़ कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर कुलों के कुल नष्ट हो जाएं। कोई किसी के पदार्थों का स्वामी या दायभागी भी न हो सके और न किसी का किसी पदार्थ पर दीर्घकाल पर्यंत स्वत्व रहे। इत्यादि दोषों के निवारणार्थ विवाह ही होना सर्वथा योग्य है।"[34]

स्वामीजी ने गृहाश्रम को सबसे श्रेष्ठ आश्रम माना है क्योंकि—

"जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह आश्रम न होता तो संतानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहां से हो सकते? जो कोई गृहस्थाश्रम की निंदा करता है वही निंदनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। परंतु तभी गृहाश्रम में सुख होता है। जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसलिए गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और स्वयंवर विवाह है।"[35]

पांचवां समुल्लास : वानप्रस्थ और संन्यास

स्वामीजी ने पांचवें समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का वर्णन किया है। इस समुल्लास के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं :

1. वानप्रस्थ एवं संन्यास के ग्रहण का समय।
2. संन्यास का अधिकारी व्यक्ति।
3. मूर्खों के साथ का त्याग।
4. इच्छाओं का त्याग।
5. संन्यासी का धर्म।
6. धर्म के लक्षण।
7. संन्यास आश्रम की आवश्यकता।
8. कुछ प्रवादों का खंडन।
9. नैष्ठिक ब्रह्मचारी और संन्यास।
10. संन्यासी के कर्त्तव्य।[36]

स्वामीजी के विचार से अपना-आपा त्याग कर ईश्वर का निरंतर स्मरण करते हुए निरंतर घूम-घूम कर लोकोपकार के लिए उपदेश करने वाला व्यक्ति ही संन्यासी है।[37]

स्वामीजी के अनुसार मनुष्यों के लिए उचित है कि वे ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर गृहस्थ बनें तथा गृहस्थाश्रम को समाप्त कर वानप्रस्थ तथा अंत में संन्यास आश्रम ग्रहण करें।

जब व्यक्ति के सिर के बाल सफेद हो जाएं, त्वचा ढीली हो जाए और उसके पौत्र जन्म ले लें, तब उसे घर का त्याग कर वन में निवास करना चाहिए। वह स्त्री को घर में छोड़ सकता है, लेकिन यदि स्त्री को अपने साथ रखता है, तब उससे विषय-चेष्टा न करे। उसके लिए विधान है कि वह भूमि पर शयन करे और अपने आश्रितों तथा स्वकीय पदार्थों में ममता से दूर रहे। वानप्रस्थ के लिए वांछनीय है कि वह नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास और सुविचार से ज्ञान तथा पवित्रता प्राप्त करे।[38]

स्वामीजी का विचार है कि व्यक्ति को पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष तक वन में रहने के पश्चात् संन्यासी हो जाना चाहिए। स्वामीजी ने मनुस्मृति के आधार पर संन्यासियों के जीवन-व्यवहार का विस्तृत विवरण दिया है। जब संन्यासी मार्ग में चले तब इधर-उधर न देख कर नीचे पृथ्वी पर दृष्टि रख कर चले। वह निरंतर सत्य बोले। जब कभी कोई संन्यासी पर क्रोध करे, तब उसे उचित है कि वह क्रोध न करे और लोगों के कल्याणार्थ उपदेश करे। संन्यासी को सब प्राणियों के प्रति पक्षपातरहित होना चाहिए। संन्यासी को नियमपूर्वक प्राणायाम और ध्यानयोग का अभ्यास करना चाहिए।[39]

छठा समुल्लास : राजधर्म

सत्यार्थ प्रकाश का छठा समुल्लास राजधर्म अथवा राजनीति शास्त्र विषय पर केंद्रित है। स्वामी दयानंद ने यह अध्याय मुख्य रूप से मनुस्मृति के आधार पर लिखा है। इस समुल्लास के विवेच्य विषय हैं :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. तीन (राजार्य, विद्यार्य तथा धर्मार्य) सभाओं का आयोजन।
2. राजा स्वेच्छाचारी न हो।
3. राजा निर्वाचित होना चाहिए।
4. राज्यसभाओं के सभासदों की योग्यताएं।
5. सभापति के गुण।
6. दंड-व्यवस्था।
7. सभाओं के सभासद।
8. अष्टादश व्यसन।
9. मंत्री तथा राजपुरुष।
10. राजपुरुषों के कार्य।
11. युद्ध के नियम।
12. राजा और प्रजा की रक्षा के उपाय।
13. प्रशासन-विधि।
14. कर-प्रणाली।
15. मंत्रणाविधि।
16. षड्गुण।
17. अन्य राजाओं के साथ व्यवहार।
18. मैत्री-संबंध।
19. आदेय राजांश।
20. राजा-प्रजा संबंध।
21. विवाह और उनका समाधान।
22. न्याय-व्यवस्था।

स्वामी दयानंद मर्यादित राजतंत्र के समर्थक हैं। उनके विचार से क्षत्रिय का मुख्य कार्य राज्य करना है। स्वामीजी ने राजा में अनेक गुणों की कल्पना की है। उदाहरण के लिए राजा को योगाभ्यास करना चाहिए और जितेन्द्रिय होना चाहिए। उसे काम और क्रोध से उत्पन्न व्यसनों से दूर रहना चाहिए। स्वामी दयानंद ने मनु के हवाले से मंत्रियों, अमात्यों तथा दूतों की नियुक्ति का विधान किया है। राजा को प्रजा के प्रति वैसा ही व्यवहार रखना चाहिए जैसा कि पिता संतान के प्रति रखता है। राज्य के जो अधिकारी अपने कर्त्तव्यों का समुचित रीति से पालन करें, वे सत्कार के पात्र हैं। जो अधिकारी अपने कर्त्तव्यों के पालन में शिथिलता बरतें वे दंड के पात्र हैं। राजा को अपने शत्रु की सभी कमियों का ज्ञान होना चाहिए।

स्वामी दयानंद ने विकेंद्रित तथा सोपानबद्ध शासन-व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। उनके विचार से राजा को प्रजा से थोड़ा-सा ही कर लेना चाहिए। स्वामीजी अपराधियों को कठोर दंड देने के पक्ष में हैं।[40]

सातवां समुल्लास : ईश्वर-चर्चा

सत्यार्थ प्रकाश का सातवां समुल्लास ईश्वर के विषय में चर्चा करता है। इसमें ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का वर्णन है, अवतारवाद का निषेध है, जीव के स्वातंत्र्य तथा जीव और ईश्वर के भिन्नत्व तथा ईश्वर के सगुण-निर्गुण स्वरूप पर विचार किया है।

स्वामीजी ने ईश्वर की उपासना के लिए पातंजलि योग सूत्र के अनुसार यम और नियमों का पालन आवश्यक माना है और उपासना की विधि का निरूपण किया है। उनका कहना है कि "जब उपासना करना चाहें तब एकांत शुद्ध देश में जाकर आसन लगा, प्राणायाम कर बाह्य विषयों से इंद्रियों को रोक, मन को नाभिप्रदेश में व हृदय, कंठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थित कर अपनी आत्मा और परमात्मा का विवेचन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवें।"[41]

स्वामीजी का मानना है कि जब साधक इन साधनों को करता है, तब उसकी आत्मा और अंतःकरण पवित्र हो जाता है। वह नित्यप्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ा कर मुक्ति तक पहुंच जाता है। स्वामीजी के अनुसार जो व्यक्ति दिन में थोड़ी देर के लिए भी इस प्रकार ध्यान करता है, उसकी उन्नति होती है।[42]

स्वामीजी ने ईश्वरोपासना के फल गिनाते हुए कहा है कि जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है वैसे परमात्मा का ध्यान करने से सब दोष दुख छूट कर परमेश्वर के गुण, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिए।[43]

स्वामी दयानंद ने अवतारवाद का निषेध किया है। वे श्रीकृष्ण को ईश्वर नहीं, महापुरुष मानते हैं।[44]

स्वामीजी ने जीव-स्वातंत्र्य पर विचार करते समय कहा है कि जीव अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतंत्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतंत्र है।[45]

स्वामीजी का मत है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा इन ऋषियों की आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया। ब्रह्मा ने वेद का ज्ञान इन ऋषियों से ही प्राप्त किया। स्वामीजी ने वेदों को ईश्वरकृत माना है। जिस प्रकार ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्ध गुण, कर्म, स्वभाव न्यायकारी, दयालु आदि गुणवाला है, वैसे ही वेदों में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन है। स्वामीजी के अनुसार जैसे माता-पिता अपनी संतानों पर कृपादृष्टि कर उन्नति चाहते हैं वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा कर वेदों को प्रकाशित किया है। वेदों के ज्ञान से मनुष्य अविद्या के अंधकार से छूट कर विद्या का आनंद प्राप्त करता है।[46]

आठवां समुल्लास : सृष्टि-विचार

सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में सृष्टि के जन्म, ईश्वर से भिन्न प्रकृति के स्वरूप और नास्तिकता-विरोध पर विचार किया गया है।

स्वामीजी के अनुसार सृष्टि की रचना परमात्मा ने की है।

सृष्टि से पहले जगत अंधकार से आवृत्त था। परमात्मा जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था। उसने पृथ्वी से लेकर सूर्यपर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है। जिससे इस जगत का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है, वही ब्रह्म जानने योग्य है।[47]

स्वामी दयानंद ने ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को अनादि स्वीकार किया है। संसार वृक्षरूप है। जीव पाप-पुण्य रूप फलों का भोक्ता है। परमात्मा कर्मों के फलों का भोक्ता नहीं है। वह चारों ओर प्रकाशमान हो रहा है।[48]

स्वामी दयानंद ने प्रकृति का निर्माण सत्त्व, रज और तम के संघात से माना है।[49] उपनिषदों के अनुसार सृष्टि से पूर्व जगत्, सत्, असत्, आत्मा और ब्रह्म रूप था। वही परमात्मा अपनी इच्छा से बहुरूप हो गया है।[50]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा के न्याय, धारण, दया आदि गुण तभी सार्थक हो सकते हैं जब वह जगत् को बनाए। उसका अनंत सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने से ही सफल है। जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है, वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।[51]

स्वामी दयानंद ईश्वर को निराकार मानते हैं। उनके विचार से जो साकार अर्थात् शरीरयुक्त है वह ईश्वर ही नहीं। यदि ईश्वर साकार हो, तो वह देशकाल वस्तुओं में परिच्छिन्न होगा, वह क्षुधा, तृषा, छेदन, भेदन, शीतोष्ण, ज्वर, पीड़ा आदि का अनुभव करेगा।[52]

स्वामीजी का मत है कि मनुष्यों की आदि सृष्टि की रचना तिब्बत में हुई थी और सृष्टि के कुछ काल के उपरांत आर्य आर्यावर्त देश में आकर रहने लगे थे।[53] स्वामीजी ने मनुस्मृति के आधार पर आर्यावर्त का सीमांकन दिया है, उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विंध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र। सरस्वती नदी के पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में ब्रह्मपुत्र। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और रामेश्वरपर्यंत विंध्याचल के भीतर जितने देश हैं उन सबको आर्यावर्त इसलिए कहते हैं कि इस आर्यावर्त को विद्वानों ने बसाया और इसमें आर्यजनों का वास है। स्वामी दयानंद ने मनुस्मृति के आधार पर घोषणा की है कि जो आर्यावर्त से भिन्न देश हैं वे दस्युदेश और मलेच्छदेश कहलाते हैं।[54]

स्वामी दयानंद ने इस विषय पर खेद प्रकट किया है कि इस समय आर्यावर्त में भी आर्यों का अखंड, स्वतंत्र, स्वाधीन और निर्भय राज्य नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रांत हो रहा है। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुख भोगना पड़ता है। "कोई कितना ही करे, परंतु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतांतर के आग्रहरहित अपने और पराए का पक्षपातशून्य प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"[55]

नवां समुल्लास : विद्या-अविद्या

सत्यार्थ प्रकाश का नौवां समुल्लास विद्या-अविद्या तथा बंधन-मोक्ष पर केंद्रित है।

विद्या का अर्थ है परमात्मा, प्रकृति और जीव के संबंध में यथार्थ दृष्टि और अविद्या का अर्थ है इनके प्रति विपरीत दृष्टि।[56] मनुष्य बिना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु दुख से पार नहीं हो सकता।[57] मनुष्य पवित्र कर्म, पवित्र उपासना और पवित्र ज्ञान से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।[58] अधर्म और अज्ञान में फंसा हुआ जीव बद्ध होता है और बद्ध जीव को मुक्ति प्राप्त नहीं होती।[59] जीव सुख-दुख का भोक्ता है। मुक्ति और बंध किन-किन बातों से होता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वामीजी ने कहा है : "परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने; पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना, अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्षपातरहित न्याय धर्मानुसार ही करे। इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वर आज्ञा भंग करने आदि काम से बंध होता है।"[60]

स्वामीजी ने मुक्ति प्राप्त करने के चार साधनों विवेक, वैराग्य, धर्माचरण और मुमुक्षुत्व की विस्तृत व्याख्या की है और कहा है कि इन चार साधनों से युक्त पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी होता है।[61] स्वामीजी ने तमोगुण, रजोगुण और सत्त्व गुण का विवेचन किया है तथा साधकों को उपदेश दिया है कि वे तमोगुण तथा रजोगुण को छोड़ सत्त्व गुण का अभ्यास करें।[62] स्वामीजी ने यह माना है कि जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान, जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य और जो तमोगुणी होते हैं, वे नीच गति को प्राप्त होते हैं।[63] स्वामीजी ने पातंजलि के अनुसार चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग स्वीकार किया है। उन्होंने यह भी माना है कि जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सबके दृष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है।[64] स्वामीजी ने सांख्यशास्त्र के इस सूत्र का अनुमोदन किया है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुखों से मुक्ति पाना अत्यंत पुरुषार्थ का काम है।[65]

दसवां समुल्लास : आचार-शास्त्र

सत्यार्थ प्रकाश का दसवां समुल्लास आचार-अनाचार तथा भक्ष्याभक्ष्य विषय पर है। स्वामी दयानंद ने मनुष्यों के आचार-विचार का विवेचन **मनुस्मृति** के अध्याय 2 के आधार पर किया है। स्वामीजी ने **मनुस्मृति** के आधार पर माना है कि जिसका सेवन राग-द्वेष रहित विद्वान लोग नित्य करें, जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्य कर्त्तव्य जानें, वही धर्म माननीय और करणीय है। संसार में अत्यंत कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है। वेदार्थ ज्ञान और वेदोक्त कर्म ये सब कामना से ही सिद्ध होते हैं जो कोई कहे कि मैं निष्काम हूं या हो जाऊं तो वह ऐसा नहीं हो सकता। सारे काम संकल्प से ही होते हैं। जो जो हाथ, पैर, नेत्र, मन आदि चलाए जाते हैं, वे सब कामना ही से चलते हैं। जो इच्छा न हो तो आंख का खोलना और बंद करना भी नहीं हो सकता। इसलिए संपूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषि-प्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार और जिस-जिस कर्म में अपनी आत्मा प्रसन्न रहे उन कर्मों का करना उचित है। जब कोई मिथ्याभाषण, चोरी आदि की इच्छा करता है, तभी उसकी आत्मा में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है। इसलिए ये कर्म करने योग्य नहीं हैं। वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचार और अपनी आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण, ये चार धर्म के लक्षण हैं। जो द्रव्यों के लोभ और विषय-सेवा में फंसा हुआ नहीं होता, उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें. उनके लिए वेद ही परम प्रमाण हैं। मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इंद्रियां चित्त को हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, उनको रोकने का प्रयत्न करे। जैसे अग्नि में ईंधन और घी डालने से अग्नि बढ़ती जाती है, वैसे ही कामों के उपभोग से काम शांत नहीं होता वह बढ़ता ही जाता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह विषयासक्त कभी न हो।[66]

स्वामी दयानंद ने तैतिरीय उपनिषद के आधार पर माता-पिता, आचार्य और अतिथि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सेवा का संदेश दिया है।[67]

स्वामीजी का मानना है कि विदेश-यात्रा से आचार नष्ट नहीं होता। धर्म हमारे आत्मा और कर्त्तव्य के साथ है। जब हम अच्छे काम करते हैं तो हमको देश-देशांतर और द्वीप-द्वीपांतर जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं। स्वामीजी ने दुख के साथ कहा है कि "जब स्वदेश में ही परदेशी लोग व्यवहार और राज्य करें, तब बिना दुख और दारिद्रय के दूसरा कुछ नहीं हो सकता।"[68]

स्वामीजी ने मद्यमांस का निषेध किया है। उन्होंने खान-पान में स्वच्छता पर जोर दिया है। उन्हें शूद्रों के बनाए भोजन पर आपत्ति नहीं है लेकिन शर्त यह है कि वे शरीर, वस्त्र आदि से पवित्र रहें।[69]

सत्यार्थ प्रकाश का उत्तरार्ध

स्वामीजी ने **सत्यार्थ प्रकाश** के अंतिम चार समुल्लासों अर्थात् 11 से लेकर 14वें समुल्लास को 'उत्तरार्ध' कहा है। इनमें से प्रत्येक समुल्लास के शुरू में एक-एक अनुभूमिका है जिसमें उस समुल्लास का विशेष प्रतिपाद्य बताया गया है। स्वामीजी ने ग्यारहवें समुल्लास की अनुभूमिका में कहा है कि संसार में पांच सहस्र वर्षों से पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था। वे वेदों की अप्रवृत्ति होने का कारण महाभारत युद्ध को मानते हैं। स्वामीजी का अनुरोध है कि विद्वानों को, उनके कार्य को पक्षपातरहित होकर समीक्षा करनी चाहिए। उन्होंने घोषणा की है कि उनका तात्पर्य किसी की हानि या विरोध करने में नहीं किंतु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का है।[70]

ग्यारहवां समुल्लास : भारत के मत-मतांतर

सत्यार्थ प्रकाश का ग्यारहवां समुल्लास आर्यावर्तीय मतों के खंडन-मंडन पर है। स्वामीजी ने समुल्लास के आरंभ में आर्यावर्त की महिमा का गान किया है। उनका कहना है कि पांच हजार साल पहले आर्यों का उस समय के समस्त भूमंडल पर राज्य था। महाभारत युद्ध में भारत का सब कुछ नष्ट हो गया और उसके बाद ब्राह्मणों ने जनसाधारण में अंधविश्वासों का प्रचार किया जिससे भारत की क्रमशः अवनति होती गई।[71] स्वामीजी ने यूरोप में ईसाई धर्म के अंतर्गत प्रचलित अंधविश्वासों पर कटाक्ष किए हैं।[72] उन्होंने वाममार्ग और तंत्रमत को विकृति माना है और उसकी निंदा की है।[73]

स्वामीजी के मत से ब्राह्मणों के अनाचारों के कारण बौद्ध और जैन मतों का आविर्भाव हुआ।[74] जैनियों ने भारत में पाषाणादि मूर्तिपूजा का सूत्रपात किया। उन्होंने वेदों की निंदा की तथा जनता में अनेक अंधविश्वासों को प्रचारित किया।[75] स्वामीजी ने जैन और बौद्धमत के उन्मूलन में शंकराचार्य की भूमिका को सराहा है।[76]

स्वामी दयानंद ने शंकर के वेदांत मत का भी खंडन किया है। स्वामीजी ने न्यासकृत वेदांत सूत्र की अपनी विशिष्ट व्याख्या दी है और ब्रह्म तथा जीव के भेद को सिद्ध किया है।[77] स्वामीजी ने शैव मत की विशेषकर उसके अंतर्गत प्रचलित लिंगपूजा की भर्त्सना की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।[78] स्वामीजी के विचार से ब्राह्मणों ने ईश्वर के चौबीस अवतारों की कल्पना जैनियों के 24 तीर्थंकरों से ग्रहण की है।[79] उन्होंने अठारह पुराणों की रचना भी जैनियों के अनुकरण पर की।[80] स्वामीजी ने वैष्णव संप्रदाय में विद्यमान तिलक, छाप और माला को व्यर्थ माना है। स्वामीजी के अनुसार विष्णु, रुद्र, शिव आदि नाम "एक अद्वितीय, सर्वनियेता, सर्वान्तर्यामी, जगदीश्वर के अनेक गुण, कर्म, स्वभावयुक्त होने से उसी के वाचक हैं"[81] स्वामीजी ने मूर्तिपूजा तथा नामस्मरण मात्र को त्याज्य माना है। उनके विचार से नामस्मरण की वास्तविक पद्धति ईश्वर के गुणों का स्मरण तथा तदनुसार आचरण करना है। स्वामीजी ने परमेश्वर को भाव माना है और कहा है कि "जहां भाव करें वहां ही परमेश्वर सिद्ध होता है।"[82]

स्वामीजी ने परंपरा से चली आ रही पंचायतन पूजा का विरोध किया है। पंचायतन पूजा के अंतर्गत शिव, विष्णु, अंबिका, गणेश और सूर्य की मूर्ति बना कर पूजते हैं। स्वामीजी के अनुसार सच्ची वेदोक्त और वेदानुकूल पंचपूजा वह है जिसमें माता, पिता, आचार्य, अतिथि और स्त्री द्वारा पति तथा पति के द्वारा स्त्री की पूजा हो। स्वामीजी ने इनको 'पांच मूर्तिमान देव' कहा है जिनके संग से मनुष्य देह की उत्पत्ति, पालन, सत्यशिक्षा, विद्या और सत्योपदेश की प्राप्ति होती है। ये ही परमेश्वर को प्राप्त होने की सीढ़ियां हैं। इनकी सेवा न करके जो पाषाणादि मूर्ति पूजते हैं वे अतीव वेद-विरोधी हैं।"[83] स्वामीजी के मत से मूर्तिपूजा आदि बुरे कारणों से ही आर्यावर्त में निकम्मे पुजारी-भिक्षुक, आलसी और पुरुषार्थरहित करोड़ों मनुष्य हुए हैं।[84]

स्वामीजी ने गया, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, सोमनाथ, द्वारिका जी, ज्वालामुखी, अमृतसर, हरिद्वार, देवप्रयाग, गंगोत्तरी, गुप्तकाशी, केदार, बद्रीनाथ, कुरुक्षेत्र, अयोध्या, वृंदावन, गिरनार, आबू तथा पुष्कर आदि तीर्थस्थानों में पाई जाने वाली पोपलीलाओं की भर्त्सना की है और सच्चे तीर्थों की व्याख्या करते हुए कहा है : "वेदादि सत्य शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, विर्वैर, निष्कपट, सत्यभाषण, सत्य का मानना, सत्य करना, ब्रह्मचर्य, आचार्य, अतिथि, माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शांति, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि शुभ गुण कर्म दुखों से तारने वाले होने से तीर्थ हैं।"[85]

नामस्मरण के बारे में स्वामीजी का मंतव्य है कि परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर परमेश्वर के गुण स्वभाव के अनुकूल अपने गुण स्वभाव को करते जाना ही परमेश्वर का नाम स्मरण है।[86] स्वामीजी ने गुरु महात्म्य का खंडन किया है। उनके विचार से ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और परब्रह्म परमेश्वर के नाम हैं। उसके तुल्य गुरु कभी नहीं हो सकता। गुरु तो माता, पिता, आचार्य और अतिथि होते हैं। उनकी सेवा करनी, उनसे शिक्षा लेनी-देनी शिष्य और गुरु का काम है। जो गुरु लोभी, क्रोधी, मोही और कामी हो, उसको छोड़ देना उचित है।[87]

परंपरा के अनुसार अठारह पुराणों का लेखक व्यास जी को माना गया है। स्वामीजी पुराणों के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि यदि पुराणों के कर्त्ता व्यास जी होते, तो उनमें इतने गपोड़े न होते। व्यास जी बड़े विद्वान, सत्यवादी, धार्मिक योगी थे। स्वामीजी ने विविध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुराणों में परस्पर-विरोधी बातों का उल्लेख किया है और निष्कर्ष निकाला है कि जो ऐसे-ऐसे मिथ्या ग्रंथ बना लोगों को सत्य ग्रंथों से विमुख जाल में फंसा अपने प्रयोजन को साधते हैं, वे महापापी हैं।[88]

स्वामीजी ने ग्रह पूजा का खंडन किया है और गरुड पुराण की आलोचना की है।[89] उन्होंने यमलोक और यम के अस्तित्त्व से इन्कार किया है।[90] उन्होंने विस्तार से कुपात्रों तथा सुपात्रों के लक्षण गिनाए हैं और 'धनदा', 'कामदा', 'पुत्रदा' तथा 'निर्जला' आदि एकादशियों के व्रतों को व्यर्थ माना है।[91] स्वामीजी ने कबीर पंथ, नानकपंथ, दादूपंथ, रामस्नेही मत, वल्लभ मत, स्वामीनारायण मत, माधव संप्रदाय और लिंगायत मत की आलोचना की है और उनमें पाई जाने वाली अनेक कुरीतियों का उद्घाटन किया है।[92] स्वामीजी ने ब्रह्मसमाज तथा प्रार्थना समाज के गुण दोषों का कथन किया है। स्वामीजी का मानना है कि इन मतों ने बहुत से लोगों को ईसाई बनने से रोका और पाषाणादि मूर्तिपूजा को हटाया। लेकिन इन मतों में अनेक दोष हैं। इन मतों के मानने वालों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है। उन्होंने ईसाइयों के अनेक आचरण अपना लिए हैं। वे ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते।[93] स्वामीजी ने यूरोपीयों की अनेक विशेषताएं गिनाई हैं—बाल्यावस्था में विवाह न करना, लड़का-लड़की को सुशिक्षा देना, स्वयंवर विवाह होना, पाखंड से दूर रहना, परस्पर विचार और सभा से निश्चित कर कार्य करना, अनुशासन आदि।[94]

बारहवां समुल्लास : नास्तिक मत,

सत्यार्थ प्रकाश के बारहवें समुल्लास में नास्तिक मतों—चार्वाक, बौद्ध तथा जैन मतों का खंडन किया है। स्वामी दयानंद के जीवन काल में इन तीनों मतों के संबंध में मुद्रित साहित्य का अभाव था। स्वामीजी ने चार्वाक और बौद्ध मतों की समीक्षा के लिए सामण माधव कृत **सर्वदर्शन संग्रह** ग्रंथ को आधार बनाया है। जैन मत के ग्रंथ भी उस समय सुलभ न थे। जो थोड़े-से ग्रंथ स्वामीजी को मिले वे श्वेतांबर जैनों के थे। स्वामीजी ने जैनमत की समीक्षा के लिए **प्रकरण रत्नाकर** को अपना आधार बनाया था। **प्रकरण रत्नाकर** छोटे-बड़े उन्चास ग्रंथों का संग्रह है।

स्वामी दयानंद ने बारहवें समुल्लास की अनुभूमिका में जैन और बौद्ध मतों की समीक्षा के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने माना है कि जब आर्यावर्त में सत्यासत्य का यथावत निर्णय करने वाली वेदविद्या का लोप हो गया तब अविद्या के कारण मतमतांतर खड़े हो गए इन्हीं मतमतांतरों में से एक जैन मत था। **महाभारत** तथा **वाल्मीकीय रामायण** में ज़ैनियों का कोई उल्लेख नहीं है। इसलिए यह मत उनके बाद चला।[95]

स्वामीजी को इस बात पर आपत्ति है कि जैन और बौद्ध मत के अनुयायी अपनी पुस्तकों को किसी अन्य मत वालों को देखने, पढ़ने व लिखने को भी नहीं देते।[96]

चार्वाक दर्शन[97]

स्वामी दयानंद ने **सर्वदर्शन संग्रह** के आधार पर चार्वाक दर्शन की आलोचना की है। उन्होंने **सर्वदर्शन संग्रह** का यह श्लोक उद्धृत किया है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

मरना सबको है। जब तक शरीर में जीव रहे, सुख से रहो। मरने के पश्चात् शरीर भस्म हो जाता है। वह फिर इस संसार में नहीं आएगा। जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर शरीर के नाश के साथ आप भी नष्ट हो जाता है। फिर किसको पाप-पुण्य का फल होगा।

स्वामीजी ने चार्वाक मत का खंडन करते हुए कहा है कि सुख-दुख का वास्तविक भोक्ता जीव है। पशु मार कर होम करना वेदादि सत्यशास्त्रों में कहीं नहीं लिखा। देह भले ही नष्ट हो जाए, जीव नष्ट नहीं होता। ऋण आदि लेकर भोग करने का बुरा फल अगले जन्म में भोगना पड़ता है।

स्वामीजी का मानना है कि चार्वाक, बौद्धों तथा जैनियों ने वेदों का विधिवत अध्ययन नहीं किया। इसीलिए, वे उसकी निंदा करते हैं। इन मतावलंबियों के अनेक सिद्धांत वाममार्ग पर आधारित हैं।

स्वामीजी ने बौद्धों के चार प्रकार माने हैं—'माध्यामिक', 'योगाचार', 'सौत्रात्तिक' और 'वैभाषिक'। बौद्ध धर्म का एक प्रधान लक्षण दुखवाद है। स्वामी दयानंद संसार को संपूर्ण रूप से दुखस्वरूप नहीं मानते। उनके विचार से संसार में सुख-दुख दोनों हैं। संसार में धर्म, क्रिया, विद्या, सत्संग आदि श्रेष्ठ व्यवहार सुखकारक हैं।[98]

तेरहवां समुल्लास : ईसाई मत

सत्यार्थ प्रकाश के तेरहवें समुल्लास में ईसाई मत की समीक्षा है। स्वामीजी ने ईसाइयों के अंतर्गत यहूदियों को भी सम्मिलित किया है। स्वामीजी बाइबिल को ईश्वरोक्त तथा उसके ईश्वर को सर्वज्ञ नहीं मानते। उन्होंने बाइबिल के 130 उद्धरणों को लेकर उनकी आलोचना की है।[99]

चौदहवां समुल्लास : इस्लाम

सत्यार्थ प्रकाश का चौदहवां समुल्लास इस्लाम के बारे में है। स्वामीजी ने शाह रफीउद्दीन देहलवी के उर्दू अनुवाद का हिंदी में अनुवाद करा उसके आधार पर इस्लाम की समीक्षा की है। वे कुरान को ईश्वरकृत नहीं मानते।[100]

निष्कर्ष

चौदहवें समुल्लास के अंत में स्वामी दयानंद ने ईश्वर, वेद, धर्म, अधर्म, जीव, प्रकृति, सृष्टि, बंध, मुक्ति, अर्थ, काम, वर्णाश्रम, राजा, प्रजा, देव, शिक्षा, पुराण, तीर्थ, पुरुषार्थ, प्रारब्ध, संस्कार, यज्ञ, आर्य, दस्यु, शिष्य, गुरु, पुरोहित, शिष्टाचार, आप्त, परीक्षा, स्वर्ग, नरक, जन्म, मृत्यु, विवाह, प्रार्थना, उपासना आदि पारिभाषिक शब्दों की व्याख्याएं दी हैं। मतमतांतरों के विवाद स्वामीजी को पसंद न थे। वे सर्व सत्य का प्रचार कर सबको एकता के सूत्र में ग्रथित करना चाहते थे। ग्रंथ के अंत में स्वामीजी की घोषणा है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सर्वशक्तिमान परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से यह सिद्धांत सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनंदित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।"[101]

सारांश

स्वामी दयानंद द्वारा विरचित ग्रंथों में **सत्यार्थ प्रकाश** का सबसे ऊंचा स्थान है। इस ग्रंथ में स्वामीजी के सभी बुनियादी विचारों का समावेश हो गया है।

सत्यार्थ प्रकाश में कुल चौदह समुल्लास अथवा अध्याय हैं। यह ग्रंथ दो खंडों में विभक्त है। पहले खंड में एक से लेकर दस समुल्लास हैं। दूसरे खंड में ग्यारह से लेकर चौदह समुल्लास हैं। चौदहवें समुल्लास के अंत में स्वामी दयानंद ने अपने बुनियादी सिद्धांतों का आख्यान किया है।

सत्यार्थ प्रकाश का पहला संस्करण स्टार प्रेस, बनारस से 1875 में प्रकाशित हुआ था। इसका दूसरा संस्करण वैदिक यंत्रालय, प्रयाग से 1884 में छपा था। पहले संस्करण में भाषा-विषयक अनेक अशुद्धियां रह गई थीं। दूसरा संस्करण प्रामाणिक माना जाता है।

सत्यार्थ प्रकाश के पहले समुल्लास में ओंकार की व्यापक व्याख्या की गई है और ईश्वर के 100 नामों का विवेचन है। स्वामीजी ने ओंकार को ईश्वर का सर्वोत्तम नाम माना है।

सत्यार्थ प्रकाश का दूसरा समुल्लास बाल-शिक्षा के विषय में है। इसमें माता, पिता तथा आचार्य की योग्यता का वर्णन है, स्वामीजी ने गर्भाधान के पश्चात् पति-पत्नी को कठोर संयम से रहने का आदेश दिया है। उन्होंने भूत-प्रेतों, फलित ज्योतिष तथा जन्मपत्र बनाने का निवारण किया है और ब्रह्मचर्य धारण का महत्त्व समझाया है। उनकी दृष्टि में बालकों को शिष्टाचार की शिक्षा देना अत्यंत आवश्यक है।

सत्यार्थ प्रकाश का तीसरा समुल्लास अध्ययन-अध्यापन विधि के प्रसंग में है। इस समुल्लास में स्वामीजी के शिक्षा-संबंधी सभी बुनियादी विचार आ गए हैं। स्वामीजी स्त्रियों तथा शूद्रों को वेदों के अध्ययन का अधिकार प्रदान करते हैं। उन्होंने यम-नियम तथा पठन-पाठन की विधि का निरूपण किया है। स्वामीजी ने आर्ष ग्रंथों के महत्त्व का प्रतिपादन किया है और वेदाध्ययन की सही विधि निर्दिष्ट की है। उन्होंने यम-नियम तथा पठन-पाठन की विधि का निरूपण किया है। स्वामीजी ने आर्ष ग्रंथों के महत्त्व का प्रतिपादन किया है और वेदाध्ययन की सही विधि निर्दिष्ट की है। उन्होंने विद्या समाप्ति से पूर्व विवाह का निषेध किया है और बालक-बालिकाओं को शिक्षा से वंचित रखने वाले माता-पिताओं को राज्य की ओर से दंड की व्यवस्था की है। स्वामीजी ने विद्यादान को सर्वश्रेष्ठ दान माना है।

सत्यार्थ प्रकाश का चौथा समुल्लास विवाह और गृहस्थाश्रम के बारे में है। ब्रह्मचर्याश्रम पूरा होने पर स्वामीजी ने स्त्री-पुरुषों को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की अनुमति दी है। स्वामीजी दूर देशस्थों के बीच विवाह के समर्थक हैं। उनके विचार से सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेकर अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह करना उचित है। विवाह में वर और कन्या की परस्पर स्वीकृति आवश्यक है। पति और पत्नी के बीच प्रेम परिवार की उन्नति का आधार है। स्वामीजी ने **मनुस्मृति** के आधार पर गृहस्थ की दिनचर्या निर्धारित की है और उसे सदा सत्यमार्ग का अनुसरण करने की सलाह दी है। स्वामीजी ने विशेष परिस्थितियों में स्त्रियों और पुरुषों दोनों को पुनर्विवाह की अनुमति दी है। वे कुछ स्थितियों में नियोग को भी उचित ठहराते हैं और इस प्रसंग में उन्होंने युधिष्ठिर, पांडु, विदुर तथा पांचों पांडवों के जन्म का साक्ष्य दिया है। स्वामीजी वर्ण-व्यवस्था को जन्म पर नहीं, गुण-कर्म पर आधारित मानते हैं। उन्होंने चारों वर्णों—ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के कार्यों का विवरण दिया है। स्वामीजी की दृष्टि में गृहाश्रम जीवन का सर्वश्रेष्ठ आश्रम है।

स्वामीजी ने पांचवें समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का वर्णन किया है। स्वामीजी ने वानप्रस्थी तथा संन्यासी के कर्त्तव्यों का विवेचन किया है। उनके विचार से व्यक्ति को पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष तक वानप्रस्थी रहना चाहिए और पचहत्तर वर्ष का होने पर संन्यासी बन जाना चाहिए। स्वामीजी ने संन्यासी के जीवन-व्यवहार का विस्तृत विवरण दिया है।

सत्यार्थ प्रकाश का छठा समुल्लास राजधर्म अथवा राजनीति-शास्त्र विषय पर है। स्वामीजी ने तीन सभाओं—राजार्य, विद्यार्य और धर्मार्य—के आयोजन की संस्तुति की है और राजा के निर्वाचन का समर्थन किया है। उन्होंने राजा, मंत्रियों तथा अन्य राजपुरुषों के कर्त्तव्य गिनाए हैं तथा अन्य राजाओं के साथ व्यवहार की शिक्षा दी है। उनके विचार से राजा को प्रजा से थोड़ा ही कर लेना चाहिए। वे अपराधियों को कठोर दंड देने के पक्ष में हैं।

सत्यार्थ प्रकाश का सातवां समुल्लास ईश्वर के विषय में है। इसमें ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का वर्णन है, अवतारवाद का निषेध है, जीव के स्वातंत्र्य तथा जीव और ईश्वर के भिन्नत्व तथा ईश्वर के सगुण-निर्गुण स्वरूप पर विचार किया है।

सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में सृष्टि के जन्म, ईश्वर से भिन्न प्रकृति के स्वरूप और नास्तिकता-विरोध जैसे विषयों का विवेचन किया गया है। स्वामीजी के अनुसार सृष्टि की रचना परमात्मा ने की है। सृष्टि से जन्म, स्थिति और प्रलय का मूल कारण परमात्मा है। वही परमात्मा जानने योग्य है। स्वामी दयानंद ने ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को अनादि स्वीकार किया है। संसार वृक्षरूप है। जीव पाप-पुण्य रूपी फलों का भोक्ता है।

सत्यार्थ प्रकाश का नवां समुल्लास विद्या-अविद्या तथा बंधन-मोक्ष विषयों पर केंद्रित है। विद्या का अर्थ है परमात्मा, प्रकृति और जीव के संबंध में यथार्थ दृष्टि। विद्या या ज्ञान का अभाव अविद्या है। यह विपरीत ज्ञान है। मनुष्य बिना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु-दुख से पार नहीं हो सकता। वह पवित्र कर्म, पवित्र उपासना और पवित्र ज्ञान से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। स्वामीजी ने तीन प्रकार के दुख माने हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इन दुखों से मुक्ति पाना अत्यंत पुरुषार्थ का काम है।

सत्यार्थ प्रकाश का दसवां समुल्लास आचार-अनाचार तथा भक्ष्याभक्ष्य विषय पर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामीजी मानते हैं कि संसार में अत्यंत कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है। कोई मनुष्य सर्वथा निष्काम नहीं हो सकता। स्वामीजी ने धर्म के चार लक्षण माने हैं–(1) वेद, (2) स्मृति, (3) सत्पुरुषों का आचार, और (4) आत्मा के ज्ञान से सम्मत प्रिय आचरण। मनुष्य को चाहिए कि वह विषय-वासनाओं का दास कभी न बने। स्वामीजी का मानना है कि विदेश-यात्रा से आचार नष्ट नहीं होता। स्वामीजी ने खान-पान में स्वच्छता पर जोर दिया है। उन्हें शूद्रों के बनाए भोजन पर आपत्ति नहीं है लेकिन शर्त यह है कि वे शरीर, वस्त्र आदि से पवित्र रहें।

स्वामीजी ने **सत्यार्थ प्रकाश** के अंतिम चार समुल्लासों अर्थात् 11 से लेकर 14 समुल्लासों को अपने ग्रंथ में उत्तरार्ध किया है। इनमें से प्रत्येक समुल्लास के आरंभ में एक-एक अनुभूमिका है जिसमें उस समुल्लास का विशेष प्रतिपाद्य बताया गया है। स्वामीजी ने इन समुल्लासों में आर्यावर्तीय मतों के खंडन-मंडन के अतिरिक्त चार्वाक, जैन, बौद्ध, ईसाई तथा इस्लामी मतों, धर्मों की समीक्षा की है और चौदहवें समुल्लास की समाप्ति पर अपने मत का सूत्र रूप में उल्लेख किया है।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. "*सत्यार्थ प्रकाश* अपने आप में एक ऐसी अनूठी रचना है जिसमें समस्त समाज एवं मानव-मात्र के अभ्युदय-निःश्रेयस् के लिए अपेक्षित समस्त भावों का ऊहापोहपूर्वक विस्तृत वर्णन हैं। जहां यह ग्रंथ अपने नाम के अनुरूप सत्य अर्थों का प्रकाश करने वाला है, वहां ऐसा कोई अर्थ ग्रंथ में प्रस्तुत किए जाने से शेष नहीं रह गया है जो मानव जीवन की प्रत्येक दिशा को आलोकित करने में सहायक हो, और मानव के लिए आवश्यक व उपयुक्त हो। इस प्रकार, यह ग्रंथ सर्वोपयोगी ज्ञान का भंडार है।" संपादकीय, स्वामी वेदानंद तीर्थ, *सृट्टिपणः सत्यार्थ प्रकाशः*, द्वितीयावृत्ति, विरजानंद वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, संवत 2016, पृ. ग।
2. *उपर्युक्त*, पृ. 2।
3. *गीता*, 18/37।
4. स. प्र., *वही*, भूमिका पृ. 1।
5. *उपर्युक्त*, पृ. 8-9।
6. *उपर्युक्त*, पृ. 9-28।
7. *उपर्युक्त*, पृ. 26। स्वामीजी ने ईश्वर के नामों की व्याख्या करते समय अपनी सीमा स्वीकार की है और कहा है : "इसमें से मेरे लिखे नाम समुद्र के सामने बिंदुवत् हैं, क्योंकि वेदादि शास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण, कर्म, स्वभाव व्याख्यात किए हैं। उनके पढ़ने-पढ़ाने से बोध हो सकता है।" पृ. 27।
8. *उपर्युक्त*, पृ. 3।
9. *उपर्युक्त*, पृ. 29-37।
10. *उपर्युक्त*, पृ. 39।
11. *उपर्युक्त*।
12. *उपर्युक्त*।
13. *उपर्युक्त*, पृ. 39-51।
14. *उपर्युक्त*, पृ. 62-71।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

15. *उपर्युक्त*, पृ. 72।
16. *उपर्युक्त*, पृ. 1-2।
17. *उपर्युक्त*, पृ. 73।
18. *उपर्युक्त*।
19. स्वामीजी ने दूर विवाह के अनेक गुण बताए हैं : (1) जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं, परस्पर क्रीड़ा, लड़ाई और प्रेम करते हैं, एक-दूसरे के गुण, दोष, स्वभाव जानते हैं, उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम नहीं हो सकता। (2) जैसे पानी में पानी मिलने से विलक्षण गुण नहीं होता, वैसे ही एक गोत्र, पितृ वा मातृकुल में विवाह होने से धातुओं में अदल-बदल नहीं होती और वंश का उत्कर्ष रुक जाता है। (3) जैसे दूध में मिश्री या सोंठ के योग से उत्तमता आ जाती है, वैसे ही भिन्न गोत्र, मातृपितृ कुल से पृथक् कुल में, विवाह करना लाभदायक है। (4) एक देश का रोगी दूसरे देश में वायु और खानपान बदलने से रोगरहित हो जाता है। इसी प्रकार दूर देशस्थों के विवाह होने में लाभ है। (5) निकट संबंध करने में एक दूसरे के सुख-दुख का भान तथा विरोध होना संभव है। दूर-देशस्थों में इसकी कम संभावना है। (6) दूर देश में विवाह होने से दूर-दूर मिलने वाले पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है। कन्या का नाम दुहिता इस कारण है कि उसका विवाह दूर देश में होने से हितकर रहता है। (7) हो सकता है कि कन्या के पितृकुल में दरिद्रता हो। जब-जब कन्या पितृकुल में आएगी, तब-तब उसको कुछ न कुछ देना ही होगा। (8) निकट विवाह होने से एक दूसरे को अपने-अपने पितृकुल के सहाय का घमंड होगा। इससे एक-दूसरे की निंदा और विरोध की शंका रहेगी। *उपर्युक्त*, पृ. 73-74।
20. *उपर्युक्त*, पृ. 77।
21. *उपर्युक्त*।
22. *उपर्युक्त*।
23. *उपर्युक्त*, पृ. 78।
24. *उपर्युक्त*, पृ. 85।
25. *उपर्युक्त*, पृ. 89।
26. *उपर्युक्त*, पृ. 90।
27. *उपर्युक्त*, पृ. 96।
28. *उपर्युक्त*, पृ. 99।
29. *उपर्युक्त*, पृ. 100।
30. *उपर्युक्त*।
31. *उपर्युक्त*, पृ. 101।
32. *उपर्युक्त*, पृ. 102।
33. *उपर्युक्त*।
34. *उपर्युक्त*, पृ. 103।
35. *उपर्युक्त*, पृ. 108-109।
36. *उपर्युक्त*, पृ. 111।
37. *उपर्युक्त*, पृ. 2-3।
38. *उपर्युक्त*, पृ. 3।
39. *उपर्युक्त*, पृ. 112-113।
40. *उपर्युक्त*, पृ. 113-117।
41. *उपर्युक्त*, पृ. 125-151।
42. *उपर्युक्त*, पृ. 161।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

43. उपर्युक्त।
44. उपर्युक्त।
45. उपर्युक्त, पृ. 163-164।
46. उपर्युक्त, पृ. 164।
47. उपर्युक्त, पृ. 175-178।
48. उपर्युक्त, पृ. 179।
49. उपर्युक्त, पृ. 180।
50. उपर्युक्त।
51. उपर्युक्त, पृ. 180-181।
52. उपर्युक्त, पृ. 183-184।
53. उपर्युक्त, पृ. 184।
54. उपर्युक्त, पृ. 193।
55. उपर्युक्त, पृ. 193-194।
56. उपर्युक्त, पृ. 195।
57. उपर्युक्त, पृ. 200।
58. उपर्युक्त, पृ. 201।
59. उपर्युक्त।
60. उपर्युक्त।
61. उपर्युक्त, पृ. 204।
62. उपर्युक्त, पृ. 209-211।
63. उपर्युक्त, पृ. 211-212।
64. उपर्युक्त, पृ. 220।
65. उपर्युक्त, पृ. 221।
66. उपर्युक्त।
67. उपर्युक्त, पृ. 222-224।
68. उपर्युक्त, पृ. 225-227।
69. उपर्युक्त, पृ. 228।
70. उपर्युक्त, पृ. 235।
71. उपर्युक्त, पृ. 236-237।
72. उपर्युक्त, पृ. 241।
73. उपर्युक्त, पृ. 243-249।
74. उपर्युक्त, पृ. 249।
75. उपर्युक्त।
76. उपर्युक्त, पृ. 250-252।
77. उपर्युक्त, पृ. 252-253।
78. उपर्युक्त, पृ. 259-260।
79. उपर्युक्त, पृ. 262।
80. उपर्युक्त।
81. उपर्युक्त, पृ. 263।
82. उपर्युक्त, पृ. 270।
83. उपर्युक्त, पृ. 275-276।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

84. उपर्युक्त, पृ. 276।
85. उपर्युक्त, पृ. 277-287।
86. उपर्युक्त, पृ. 288।
87. उपर्युक्त, पृ. 288-289।
88. उपर्युक्त, पृ. 289।
89. उपर्युक्त, पृ. 303-305।
90. उपर्युक्त, पृ. 308-309।
91. उपर्युक्त, पृ. 312।
92. उपर्युक्त, पृ. 320-343।
93. उपर्युक्त, पृ. 343-344।
94. उपर्युक्त, पृ. 344-345।
95. उपर्युक्त, पृ. 367।
96. उपर्युक्त, पृ. 368।
97. उपर्युक्त, पृ. 369-371।
98. उपर्युक्त, पृ. 374-380।
99. देखिए *सत्यार्थ प्रकाश* का तेरहवां समुल्लास।
100. सत्यार्थ प्रकाश का चौदहवां समुल्लास।
101. *सत्यार्थ प्रकाश वही,* पृ. 582-588।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 14

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका

स्वामी दयानंद के जीवन और चिंतन की धुरी वेद हैं। उन्होंने अपना समूचा जीवन वैदिक ज्ञान के आख्यान और प्रसार में लगाया। वेदों की व्याख्या के बारे में उनकी अपनी एक दृष्टि थी जो एक ओर तो सायण और महीधर जैसे पूर्ववर्ती वैदिक भाष्यकारों से और दूसरी ओर मैक्समूलर तथा विलसन जैसे पाश्चात्य भाष्यकारों से भिन्न थी। वेद विषयक अपनी दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए स्वामी दयानंद ने **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** पुस्तक की रचना की। महत्त्व की दृष्टि से **सत्यार्थ प्रकाश** के बाद यह उनकी दूसरी पुस्तक मानी जाती है। स्वामी दयानंद ने संपूर्ण **यजुर्वेद** का तथा अधिकांश **ऋग्वेद** (7/62/2 तक) का भाष्य किया था। उनकी इच्छा चारों वेदों का भाष्य करने की थी लेकिन उनकी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। स्वामीजी ने अपने वेद भाष्य को ठीक से समझाने के लिए ही ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका का प्रणयन किया था। वेदों के पाठक इस पुस्तक के बिना स्वामीजी के वेदभाष्य को ठीक से नहीं समझ सकते। स्वामीजी ने वेदभाष्य के विज्ञापन में यह स्पष्ट कर दिया था कि "जो कोई भूमिका के बिना केवल वेद ही लिया चाहे सो नहीं मिल सकते।"[1]

स्वामी दयानंद ने अपने ग्रंथों **भ्रांति निवारण, पत्र और विज्ञापन** तथा **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** में अपने वेदभाष्य की विशेषताओं का वर्णन किया है[2] :

(1) "जब मेरा वेद-भाष्य पूर्ण हो जाएगा, तो यह पूर्णत या सिद्ध हो जाएगा कि मेरे सिद्धांत वेदानुकूल हैं"।

(2) "मैं वेदों में कोई बात युक्ति-विरुद्ध व दोष नहीं देखता और उन्हीं पर मेरे सिद्धांत वेदानुकूल हैं।"

(3) "परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देखने को मिला कि वेदभाष्य पूर्ण हो जाए तो निस्संदेह आर्यावर्त देश में सूर्य का-सा प्रकाश हो जाएगा कि जिसको मेटने और झांपने का किसी को सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं है कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके।"

(4) "इस वेदभाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है, वह सब सज्जन लोगों की आत्माओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में यथावत् प्रकाशित होगा तथा वेदों के ऊपर लोगों ने मिथ्या जो व्याख्यान दिए हैं, उनकी निवृत्ति भी इस भाष्य से अवश्य होगी।''

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों की चर्चा है :

(1) वेदों की उत्पत्ति।
(2) वेदों का नित्यत्व।
(3) वेदों के प्रतिपाद्य विषय।
(4) ब्रह्मविद्या।
(5) वेदोक्त धर्म।
(6) सृष्टि विद्या।
(7) प्रार्थना।
(8) उपासना।
(9) मुक्ति।
(10) पुनर्जन्म।
(11) विवाह।
(12) नियोग।
(13) राजा-प्रजाधर्म।
(14) वर्णाश्रम।
(15) पंचमहायज्ञ।
(16) ग्रंथ प्राभाण्य।
(17) मूर्तिपूजा निषेध।
(18) पठन-पाठन विधि।
(19) भाष्य के बारे में 'शंका' और उनका समाधान।
(20) अन्य विषय।

(1) वेदों की उत्पत्ति

स्वामी दयानंद वेदों को परमेश्वर-रचित मानते हैं। इस प्रसंग में उन्होंने यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा शतपथ ब्राह्मण के उद्धरण दिए हैं। स्वामीजी ने यजुर्वेद के आधार पर कहा है :

''सत जिसका कभी नाश नहीं होता, चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप है, जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता, आनंद जो सदा सुखस्वरूप और सबको सुख देने वाला है, इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों की उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है, उसी परब्रह्म ने (ऋच) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद और (छन्दासि) इस शब्द से अथर्व भी है, ये चारों वेद उत्पन्न किए हैं। इसलिए सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों को ग्रहण करें और वेदोक्त रीति से ही चलें''।[3]

स्वामीजी का मानना है कि ईश्वर में निराकार होने पर भी वेदों का प्रणयन किया है क्योंकि परमेश्वर सर्वशक्तिमान है। ईश्वर में मुख और प्राणादि साधनों के बिना भी मुख और प्राणादि के काम करने का अनंत सामर्थ्य है। यह दोष तो हम जीवों में आ सकता है कि मुखादि के बिना मुखादि का कार्य नहीं कर सकते हैं क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं।

स्वामीजी का मत है कि ईश्वर मनुष्यों के लिए माता-पिता के समान है। उसने मनुष्य के कल्याण के लिए वेदों का प्रकाश किया है।[4]

(2) वेदों का नित्यत्व

स्वामी दयानंद का विश्वास है कि चूंकि वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं। इसका एक कारण यह है कि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्यस्वरूप ही है। वेद ईश्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की विधा है और ईश्वर की विधा कभी अनित्य नहीं हो सकती। स्वामीजी ने वेदों की नित्यता के संबंध में पाणिनि, पतंजलि, गोतम, जैमिनी, कपिल, व्यास तथा शंकराचार्य के मतों को उद्धृत किया है।[5]

(3) वेदों के प्रतिवर्ण्य विषय

स्वामीजी के विचार से वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य ईश्वर है। ईश्वर से पृथक् जगत् वेदों का गौण विषय है।[6] ईश्वर की प्राप्ति के लिए कर्म, उपासना और ज्ञान की आवश्यकता है। वेदों में इनका भी विवेचन है।

स्वामीजी ने कर्मकांड के दो मुख्य भेद माने हैं—परमार्थ और लोक-व्यवहार। उन्होंने परमार्थ को परम पुरुषार्थ कहा है और उसके अंतर्गत ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना को सम्मिलित किया है। स्तुति का अर्थ यह है कि परमात्मा को सर्वशक्तिमान समझा जाए और उसके इस गुण का कीर्तन, उपदेश तथा श्रवण किया जाए। प्रार्थना ईश्वर से सहायता की इच्छा करना है। उपासना ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्य भाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना है। स्वामीजी की राय है कि परमेश्वर की उपासना—वेद और पातंजल योगशास्त्र की रीति से करनी चाहिए।[7]

स्वामीजी ने अग्निहोत्र को मनुष्य का आवश्यक कार्य माना है तथा उसकी विधि और लाभों का विस्तार से वर्णन किया है। स्वामीजी के अनुसार यज्ञ-क्रिया में 'देवता' शब्द मंत्रों का वाचक है। स्वामीजी ने ब्राह्मण ग्रंथों के आधार पर व्यवहार के निम्नलिखित तैंतीस देवता माने हैं : आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इंद्र और एक प्रजापति।[8]

आठ वसु ये हैं : अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चंद्रमा और नक्षत्र। इनका वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और ये ही सबके निवास करने के स्थान हैं।[9]

रुद्र ग्यारह हैं। शरीर में दस प्राण हैं और एक जीवात्मा है। दस प्राणों के नाम हैं : प्राण, अपान, ध्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय। जब प्राण शरीर से निकलते हैं तब सगे-संबंधी रोते हैं। सगे-संबंधियों को रुलाने के कारण ही प्राण रुद्र कहलाते हैं।

आदित्य बारह महीनों के नाम हैं। महीने सबकी आयु ग्रहण करते चले जाते हैं। इसीलिए आदित्य कहलाते हैं।

इंद्र बिजली का वाचक है। यज्ञ प्रजापति है क्योंकि वह वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा प्रजा का पालन करता है।

स्वामीजी ने इन तैंतीस देवों के अतिरिक्त सात देव और माने हैं। तीन देव स्थान, नाम और जन्म हैं। दो देव अन्न और प्राण हैं। सातवां देव वायु है जिसे अध्यर्थदेव कहते हैं।

स्वामीजी इन देवों को उपासना के योग्य नहीं मानते। मनुष्यों की उपासना के योग्य तो एक ही देव हैं—ब्रह्म। स्वामीजी के शब्दों में :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जो सब जगत का कर्त्ता, सर्वशक्तिमान, सबका इष्ट, सबकी उपासना के योग्य, सबका धारण करने वाला, सबमें व्यापक और सबका कारण है, जिसका आदि अंत नहीं और जो सच्चिदानंदस्वरूप है, जिसका जन्म कभी नहीं होता, और जो कभी अन्याय नहीं करता, इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों जिसका प्रतिपादन किया है, उसी को इष्ट देव मानना चाहिए और जो कोई इससे भिन्न को इष्टदेव मानता है उसको अनार्य अर्थात् अनाड़ी कहना चाहिए।"[10]

स्वामी दयानंद ने माता-पिता, आचार्य और अतिथि को मूर्तिमान देवता कहा है। उनकी दृष्टि में परब्रह्म अमूर्तिमान देव हैं।[11]

स्वामीजी का दृढ़ मत है कि आर्य लोग सृष्टि के आरंभ से आज पर्यंत इंद्र, वरुण और अग्नि आदि नामों के द्वारा वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते आए हैं।[12] स्वामीजी ने अपने मत की पुष्टि में वेदों तथा उपनिषदों से अनेक उद्धरण दिए हैं।

स्वामीजी के विचार से 'छंद', मंत्र', 'निगम' और 'श्रुति' वेदों के ही नाम हैं।[13]

(4) ब्रह्म विद्या

स्वामी दयानंद मानते हैं कि जितनी सत्यविद्या संसार में है, वह सब वेदों से निकली है।[14] विद्याओं में सबसे ऊंचा स्थान ब्रह्मविद्या का है। ब्रह्मविद्या अध्यात्म विद्या है। ब्रह्मविद्या का प्रतिपाद्य ईश्वर का ज्ञान है, यह ज्ञान है कि परमात्मा संपूर्ण जगत का निर्माणकर्त्ता है, वह हमारी रक्षा करे। ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। उसको जानकर ही मोक्ष सुख प्राप्त हो सकता है। ब्रह्म प्रलय के बाद भी निर्विकार रहता है। वह समूचे ब्रह्मांड का आधार है। वह एक ही है। उससे भिन्न कोई दूसरा, तीसरा या चौथा नहीं है। वह अपने काम में किसी की सहायता नहीं लेता क्योंकि वह सर्वशक्तिमान है।[15]

वेदोक्त धर्म

स्वामी दयानंद ने वेदों के आधार पर धर्म के जो लक्षण गिनाए हैं, उनमें सामाजिकता का तत्त्व प्रखर है। ऋग्वेद के आधार पर स्वामीजी का कहना है कि मनुष्यों को सत्य का आचरण करना चाहिए, उन्हें पारस्परिक विरोध को त्याग कर परस्पर सम्मति में रहना चाहिए।[16] इस मंत्र में मनुष्यों की मानसिक एकता पर जोर दिया गया है। स्वामीजी ने धर्म-ज्ञान के तीन उपाय बताए हैं—धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा और परमेश्वर द्वारा वर्णित वेदविद्या।[17]

ईश्वर ने मनुष्य को जितना सामर्थ्य दे रखा है, मनुष्य को उतना पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए। इसके उपरांत ही उसे ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिए। स्वामीजी के अनुसार "जैसे कोई मनुष्य आंख वाले पुरुष को ही किसी चीज को दिखला सकता है, अंधे को नहीं, इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव पुरुषार्थ से धर्म को करना चाहता है उस पर ईश्वर भी कृपा करता है, अन्य पर नहीं। ···ईश्वर ने धर्म करने के लिए बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रखे हैं। जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है। तब परमेश्वर भी अपने सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है, अन्य पर नहीं···सब जीव कर्म करने में स्वाधीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और पापों का फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं।"[18]

वेदों ने मनुष्य को दृढ़तापूर्वक सत्य का आचरण करने की शिक्षा दी है। सत्य के आचरण से मनुष्य को उत्तम फल प्राप्त होता है और उसे समाज में आदर-सम्मान मिलता है। मनुष्य की सत्य के आचरण में जितनी श्रद्धा बढ़ती जाती है, उतना ही उसका उत्कर्ष होता है।[19]

वेदों के अनुसार सबसे उत्तम विद्या और श्रेष्ठ काम करने वालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार मिलना चाहिए। उन लोगों का कार्य है विद्या का प्रचार करना। सब कामों में चतुरता, शौर्य-धैर्य और दुष्टों को दंड देने की सामर्थ्य रखने वाले लोगों को क्षत्रिय वर्ण का अधिकार देना उचित है। वैश्यों का काम व्यापार द्वारा राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाना है।[20]

वेदों ने वीर्य आदि धातुओं की शुद्धि की रक्षा पर जोर दिया है। व्यक्तियों को अत्यधिक विषय-सेवा से पृथक रह कर युक्तिपूर्वक भोजन और वस्त्र धारण करने चाहिए।[21]

स्वामी दयानंद ने तैत्तिरीय शाखा के आधार पर भी धर्म के लक्षणों की गणना की है और लोगों को उनका पालन करने की सलाह दी है। लोगों के लिए उचित है कि वे अपने ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म की उपासना करते रहें। इसके साथ ही वेदादि शास्त्रों के अध्ययन का क्रम भी निरंतर जारी रहना ज़रूरी है। मनुष्य को अपनी आंख आदि इंद्रियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ा कर धर्म में प्रवृत्त करना चाहिए। मनुष्य के लिए उचित है कि वह अपने सत्कार्यों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करे। माता, पिता और आचार्य आदि को अपनी संतानों तथा शिष्यों को यह उपदेश देना चाहिए कि हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं तुम लोग उन्हीं को ग्रहण करो, बुरे कामों को नहीं।[22]

तैत्तिरीय आरण्यक में तप की व्याख्या की गई है। उसमें सत्य, ज्ञानार्जन, संयम, दान और यज्ञ आदि सत्कर्मों को तप की संज्ञा दी गई है तथा उनके पालन को आवश्यक ठहराया गया है। तीनों लोकों में व्यापक ब्रह्म की उपासना भी तप है।[23]

स्वामी दयानंद ने वेदोक्त धर्म के विवेचन में मुंडकोपनिषद को भी उद्धृत किया है और कहा है कि जो मनुष्य सत्य का आचरण करने वाला है वही सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है। मिथ्या आचरण करने वाले की सदा पराजय होती है और उसे दुख झेलना पड़ता है। सत्य का आचरण और असत्य का त्याग सब मनुष्यों के लिए उचित है। वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि जिसके आचरण से संसार में अभ्युदय के साथ-साथ मोक्ष सुख की भी सिद्धि हो, वही धर्म है।[24]

(6) सृष्टि विधा

वेदों में सृष्टि विधान करने वाले मंत्र बहुत से हैं। स्वामी दयानंद ने प्रायः 25 मंत्रों के आधार पर सृष्टि विधा का विवेचन किया है। स्वामीजी ने अध्याय का आरंभ सुप्रसिद्ध नासदीय सूक्त से किया है। जब यह सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब संसार में दो ही तत्त्व थे—एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री। उस काल में आकाश का भी अस्तित्त्व नहीं था। जब जगत् नहीं था, तब मृत्यु भी नहीं थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह नाना प्रकार की सृष्टि परमेश्वर के प्रसाद का फल है। परमात्मा ही इस जगत् का स्वामी है। वही इसको धारणा करता है और वही उसके नाश का कारण है। हमें उस सुखस्वरूप परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिए।[25]

स्वामी दयानंद ने ईश्वर का एक नाम 'पुरुष' माना है। तीनों कालों में जितना संसार है, वह सब इस पुरुष की ही महिमा के कारण है। जगत् का जन्म और विनाश होता रहता है। पुरुष इनसे परे है। संसार के सारे पदार्थ उस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं। जो लोग ऐसे पुरुष की उपासना करते हैं, वे ही सुखी होते हैं। सारे श्रेष्ठ काम करने से पहले उसी पुरुष की उपासना करनी चाहिए।[26] इस पराक्रमी और सर्वव्यापक पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, पेट से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए हैं। सृष्टि के सारे पदार्थ सूर्य, चंद्र, आकाश, वायु, इंद्रियां, अग्नि, अंतरिक्ष, पृथ्वी, जल, दिशाएं, देव, ऋतुएं आदि भी कहना चाहिए समूचा ब्रह्मांड ही परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है।

चूंकि ईश्वर ने सारे विश्व की रचना की है, अतः उसका एक नाम 'विश्वकर्मा' है।[27]

स्वामीजी की दृष्टि में मनुष्य परमेश्वर को यथावत् जान कर ही ज्ञानी बनता है। उस परमात्मा का ज्ञान होने पर मनुष्य जन्म-मरण के क्लेशों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। व्यवहार और परमार्थ दोनों के सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना ही है, क्योंकि इसके बिना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता।[28]

(7) प्रार्थना

वेदों में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, याचना और उपासना के अनेक मंत्र हैं। ईश्वर सब गुणों और शक्तियों से परिपूर्ण है। मनुष्य को इन गुणों तथा शक्तियों की प्रार्थना ईश्वर से ही करनी चाहिए। मनुष्य को अपनी सारी चीजें ईश्वर की सेवा में समर्पित कर देनी चाहिए। जो मनुष्य ऐसा करता है, परमात्मा भी उसको सब प्रकार के सुख देता है। स्वामीजी ने मानव जाति को विश्वास दिलाया है कि ''सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करनी उचित है कि हे कृपानिधे। आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों, किंतु आप सबके साथ सदा पिता-पुत्र के समान प्रेम से बरतें।''[29]

स्वामीजी का मत है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है। उपासना के समय मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने मन को ईश्वर में ही स्थिर रखे। जब मनुष्य सच्चे मन से ईश्वर की उपासना करता है, तब ईश्वर भी मनुष्य को इसका फल देता है।

''जो मनुष्य सत्य, प्रेम, भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उन्हीं उपासकों को परम कृपामय अंतर्यामी परमेश्वर मोक्ष सुख देकर सदा के लिए आनंदयुक्त कर देगा।''[30]

वेदों में मनुष्यों को 'अमृत के पुत्र' (अमृतस्य पुत्राः) कहा गया है और उनसे कहा गया है कि ''है मोक्षमार्ग का पालन करने वाले मनुष्यो! तुम सब लोग सुनो। जो लोग पहले मोक्षसुखों को प्राप्त कर चुके हैं, उसी उपासना योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त करोगे। इसीलिए मैं तुम लोगों को उपासना योग में स्थित करता हूं।''[31]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(8) उपासना

स्वामीजी ने उपासना के संबंध में अनेक वैदिक मंत्रों को उद्धृत किया है। अथर्ववेद के कुछ मंत्र हैं :

"हे भगवन्। आप सबमें व्यापक, शांत स्वरूप और प्राण का भी प्राण हैं तथा ज्ञान-स्वरूप और ज्ञान को देने वाले हैं, आप सबके पूज्य, सबके बड़े और सबके सहन करने वाले हैं। इस प्रकार का आपको जान कर हम लोग आपकी उपासना करते हैं।"

"आप प्रकाशस्वरूप, सब दुखों का नाश करनें वाले तथा सब लोकों के ऐश्वर्य से युक्त और सहनशक्ति वाले हैं। इसलिए हम लोग आपकी निरंतर उपासना करते है।"

"प्रायः सब बलवाले अर्थात् आदि अंत रहित तथा सब पदार्थों में अच्छी प्रकार से वर्तमान और अवकाशस्वरूप से सबके निवास स्थान हैं। इसलिए हम लोग उपासना करके आपके ही आश्रित रहते हैं।"

"हे परमात्मन्। आप सब जगत में प्रसिद्ध और उत्तम हैं अर्थात् सब प्रकार से इस जगत् का धारण, पालन और वियोग करने वाले हैं। आप ही सब विद्वानों के जानने योग्य हैं। इसलिए हम आपकी उपासना करते हैं।"[32]

स्वामी दयानंद ने पातंजलि के आधार पर चित्रवृत्तियों के निरोध को योग माना है और योगसूत्र के अनुसार उपासना की विधि निर्दिष्ट की है। उन्होंने कहा है :

"जब-जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब-तब इच्छा के अनुकूल एकांत स्थान में बैठकर, अपने मन को शुद्ध तथा आत्मा को स्थिर करें तथा सब इंद्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले अंतर्यामी अर्थात् सबमें व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छी प्रकार से लगा कर सम्यक् चिंतन करके, उसमें अपनी आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को बारंबार करके अपनी आत्मा को भलीभांति से उसमें लगा दें।"[33]

स्वामी दयानंद ने पातंजलि के प्रमाण से ईश्वर के लक्षण गिनाए हैं और ईश्वर के ओंकार नाम को जपने का संदेश दिया है। इससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो जाता है। परमात्मा की कृपा से उपासक के अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है।

स्वामीजी ने पातंजलि द्वारा निर्दिष्ट यम-नियमों की व्याख्या की है और उनके पालन से प्राप्त होने वाले फलों का विवेचन किया है।[34]

(9) मुक्ति

स्वामी दयानंद के मत से मनुष्य ईश्वर की उपासना द्वारा अविद्या आदि क्लेशों और अधर्माचरण जैसे अवगुणों से छुटकारा पाता है और आत्मोन्नति द्वारा मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। स्वामीजी ने पातंजलीय योगशास्त्र के अनुसार चित्त की पांच वृत्तियां मानी हैं : (1) अविद्या, (2) अस्मिता, (3) राग, (4) द्वेष, और (5) अभिनिवेश।[35]

स्वामीजी के अनुसार अविद्या सभी दोषों की जननी है। वह मूर्ख जीवों को अज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अंधकार में फंसा कर जन्ममरण के दुखसागर में डुबो देती है। जब विद्वान और धर्मात्मा उपासकों की सत्य विद्या से अविद्या नष्ट होती है, तभी जीव मुक्ति को प्राप्त करता है।[36]

अविद्या के चार लक्षण हैं। वह नाशवान पदार्थों को अमर मानती है। वह शुद्ध व्यवहार और पदार्थों को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है। वह काम, क्रोध, मोह, लोभ, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकारों में सुख का अनुभव करती है। अविद्या जड़ में चेतन तथा चेतन में जड़ भावना रखती हैं। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, तब जीव बंधन से छुटकारा पाकर मुक्ति का भागी होता है।[37]

दूसरा क्लेश अस्मिता है। अस्मिता में मनुष्य अपने आपको अभिमान और अहंकारवश बड़ा समझने लगता है। मनुष्य सम्यक् ज्ञान से अभिमान का नाश कर गुणों की ओर आकृष्ट होता है।[39]

तीसरा क्लेश राग है। राग का ही एक नाम तृष्णा है। यह विषय भोग में आसक्ति है। जब मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो जाए कि वियोग के अंत में संयोग तथा संयोग के अंत में वियोग अथवा वृद्धि के अंत में क्षय और क्षय के अंत में वृद्धि अवश्यंभावी है, तब उसकी राग से निवृत्ति हो जाती है।[39]

चौथा क्लेश द्वेष है। दूसरों के प्रति क्रोधबुद्धि होना द्वेष है।[40]

पांचवां क्लेश अभिनिवेश है। अमिनिवेश मृत्यु का भय है।[41]

मनुष्य इन पांचों क्लेशों से छुटव..रा पाने पर मुक्ति पा सकता है।

स्वामी दयानंद ने मुक्ति के विषय में न्यायशास्त्र, वेदांत तथा उपनिषदों के मतों को भी उद्धृत किया है।[42]

(10) पुनर्जन्म

स्वामी दयानंद का पुनर्जन्म में विश्वास है और अपने सिद्धांत की पुष्टि में उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और निरुक्त के प्रमाण दिए हैं। ऋग्वेद के आधार पर स्वामी दयानंद ने परमात्मा से प्रार्थना की है कि आपके अनुग्रह से हमारे लिए पृथ्वी प्राण को, प्रकाश चक्षु को और अंतरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहें। पुनर्जन्म में सोम अर्थात् औषधियों का रस हमको उत्तम शरीर दे। पुष्टि करने वाला परमेश्वर कृपा कर सब जन्मों में हमारे दुखों का निवारण करता रहे और हमारा कल्याण करे।[43]

स्वामी दयानंद ने अथर्ववेद के आधार पर ईश्वर से प्रार्थना की है कि जब-जब हम जन्म लेवें, तब-तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और कान प्राप्त हों। जो विश्व में विराजमान ईश्वर है, वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे। सब पापों का नाश करने वाले आप हमको बुरे कामों और सब दुखों से पुनर्जन्म में अलग रखें।[44]

पूर्वजन्म के प्रसंग में एक प्रश्न यह उठता है कि यदि मनुष्य का पुनर्जन्म होता है, तो उसको पूर्व जन्म का स्मरण क्यों नहीं रहता। स्वामीजी ने इसका उत्तर यह दिया है कि हमें इस जन्म तक में पांच वर्ष से पहले की आयु की घटनाएं याद नहीं रहतीं। नींद में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हम जागृत जीवन की घटनाएं भूल जाते हैं। स्वामीजी के शब्दों में "जब हमको पुण्य पाप का कार्य सुख और दुख प्रत्यक्ष है, तब हमको ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप पुण्यों के बिना उत्तम, मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्धियादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते।"[45]

(11) विवाह

वेदों में विवाहविधायक अनेक मंत्र हैं। उनमें से कई मंत्र स्वामी दयानंद ने **संस्कार विधि** और **सत्यार्थ प्रकाश** में लिखे हैं। **ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका** में स्वामीजी ने ऋग्वेद के दो मंत्र ही उद्धृत किए हैं। इन मंत्रों में पति और पत्नी एक-दूसरे से प्रतिज्ञा करते हैं कि वे एक दूसरे का सदा ध्यान रखेंगे और धर्म का आचरण करेंगे।[46]

(12) नियोग

नियोग वह प्रथा थी जिसके अनुसार निस्संतान स्त्री पति के रोगी, नपुंसक या मृत होने की दशा में देवर या अन्य किसी गोत्र के व्यक्ति द्वारा संतान उत्पन्न करा सकती थी। स्वामी दयानंद ने वेदों के आधार पर इस प्रथा का अनुमोदन किया है।[47]

(13) राजा-प्रजा धर्म

स्वामी दयानंद के विचार से अंततः परमेश्वर ही संसार का राजा है। सारी सृष्टि उसकी प्रजा है।[48]

स्वामी दयानंद ने राज्य-संचालन के लिए तीन सभाओं का विधान किया है—राज्य प्रबंध के लिए आर्य राजसभा का, विद्याओं के प्रचार के लिए आर्य विद्या सभा का और धर्म का प्रचार करने के लिए आर्य धर्म सभा का। स्वामी दयानंद का कहना है कि जिस देश में उत्तम विद्वान ब्राह्मण, विद्या सभा और राजसभा, विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग, ये सब मिल कर राज्य कार्यों को सिद्ध करते हैं वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त होकर सुख को प्राप्त होता है। जिस देश में परमेश्वर की आज्ञा पालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाओं से वर्तमान विद्वान् होते हैं, वही देश सब उपद्रवों से रहित होकर अखंड राज्य को भोगता है।[49]

ईश्वर राज्य-व्यवस्था के संबंध में लोगों को आज्ञा देता है कि तुम राजधर्म का ज्ञान प्राप्त कर इस प्रकार शासन करो जिससे सब मनुष्यों की सुख वृद्धि हो।[50]

राजाओं की सेना और सभा में जो पुरुष हों, वे सब दुष्टों पर तेजधारी, श्रेष्ठों पर शांतरूप, सुख-दुख के सहन करने वाले और धन के लिए अत्यंत पुरुषार्थी हों। गुणी पुरुषों की सभा और सेना रख कर ही राज्य की श्रीवृद्धि की जा सकती है।[51]

स्वामीजी का विचार है कि भारत में युधिष्ठिर पर्यंत वैदिक सिद्धांतों के अनुसार ही राजकाज चलता रहा। महाभारत और मनुस्मृति में कुछ प्रक्षेपों को छोड़ कर राजधर्म का अच्छा वर्णन है और वह वेदों के अनुकूल है। आर्यों की एक बड़ी बात यह थी कि यदि राज्य में अव्यवस्था होती, तो इसका दोषी प्रजा नहीं राजा माना जाता था।[52]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(14) वर्णाश्रम

स्वामी दयानंद चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—का अस्तित्त्व मानते हैं। यह वर्ण भेद गुण-कर्मों पर आधारित है, जन्म पर नहीं।[53]

स्वामीजी ने जीवन के चार आश्रम स्वीकार किए हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।[54]

स्वामीजी पांच या आठ वर्ष की आयु से अड़तालीस वर्ष तक की आयु को ब्रह्मचर्य आश्रम का समय मानते हैं। यह आश्रम सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिए होता है। दूसरा आश्रम गृहस्थ आश्रम है। यह उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से संतानों की उत्पत्ति और उनको सुशिक्षित करने के लिए होता है। तीसरा वानप्रस्थ आश्रम है। इसमें ब्रह्म विधा का साधन करने के लिए एकांत में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा आश्रम संन्यास आश्रम है। इसमें मोक्ष सुख की प्राप्ति तथा सत्यापदेश से संसार का उपकार किया जाता है।[55]

ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करते हुए स्वामी दयानंद ने कहा है कि उसके सेवन से लोग मृत्यु तक को जीत लेते हैं और सारे संसार में प्रकाश फैलाते हैं।[55]

ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम आता है। विद्याध्ययन पूरा करने के बाद पुरुष को अपने तुल्य स्त्री से विवाह कर लेना चाहिए। मनुष्य के लिए उचित है कि वह सामाजिक नियमों के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। जो गृहस्थ विचारपूर्वक सबके हितकारी काम करते हैं, उनकी सदा उन्नति होती है।[57]

वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति अपने परिवार, घर और गांव को छोड़कर वन में जाकर रहता है। उसका प्रमुख उद्देश्य इंद्रियों को वश में करना होता है। वानप्रस्थी अपनी पत्नी को साथ रख सकता है।[58]

वानप्रस्थ के बाद व्यक्ति संन्यास आश्रम में प्रवेश करता है। व्यक्ति गृहस्थाश्रम से सीधा भी संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। संन्यासी किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता। उसका चरम लक्ष्य मोक्ष की साधना है।[59]

(15) पंच महायज्ञ

स्वामी दयानंद ने पांच महायज्ञों का उल्लेख किया है। वे यज्ञ हैं : (1) ब्रह्मयज्ञ, (2) देवयज्ञ, (3) बलिवैश्वदेव यज्ञ, (4) पितृ यज्ञ, और (5) अतिथि यज्ञ।

ब्रह्मयज्ञ स्वाध्याय है। इसमें वेदों का पढ़ना-पढ़ाना तथा प्रातः और सायंकाल संध्योपासना सम्मिलित है।[60]

देवयज्ञ अग्निहोत्र का वाचक है। इसमें वायु की शुद्धि के लिए घृतारिद शुद्ध वस्तुओं और आम या ढाक की लकड़ी का प्रयोग किया जाता है। स्वामीजी ने प्रातःकाल के अग्निहोत्र में निम्न चार आहुतियों की व्यवस्था दी है :

(1) जो चराचर का आत्मा, प्रकाशस्वरूप और सूर्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करने वाला है, उसकी प्रसन्नता के लिए हम लोग होम करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(2) सूर्य जो परमेश्वर है, वह हम लोगों को सब विद्याओं का देने वाला और हमसे उनका प्रचार कराने वाला है। उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं।

(3) जो आप प्रकाशमान और जगत को प्रकाश करने वाला सूर्य अर्थात् संसार का ईश्वर है, उसकी प्रसन्नता के लिए हम लोग होम करते हैं।

(4) जो परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त वायु और दिन के साथ संसार का परम हितकारक है, वह हम लोगों को विदित होकर हमारे लिए होम को ग्रहण करे।[61]

स्वामीजी ने सायंकाल की आहुति के निम्नलिखित मंत्र बताए हैं :

(1) अग्नि जो ज्योतिस्वरूप परमेश्वर है, उसकी आज्ञा से हम लोग परोपकार के लिए होम करते हैं।

(2) अग्निरूपी परमेश्वर सब विद्याओं का देने वाला। वह आरोग्यता तथा बुद्धि को बढ़ाने वाला है। इसलिए हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं।

(3) तीसरी आहुति मौन धारण कर पहले मंत्र से करनी चाहिए।

(4) जो अग्नि परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त वायु और रात्रि के साथ संसार का परम हितकारक है, वह हमको विदित होकर हमारे लिए होम का ग्रहण करे।[62]

138761

स्वामीजी के अनुसार देवताओं, ऋषियों और माता-पिता आदि की सेवा पितृयज्ञ है। उनके विचार से सत्यधारी विद्वान ही देव हैं। जो सब विद्याओं को पढ़ कर औरों को पढ़ाता है, वह ऋषि है। 'पितृ' शब्द से सबके रक्षक श्रेष्ठ स्वभाव वाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है। मनष्यों की जैसी रक्षा सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है, वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं। जो विद्वान लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उनके अविद्यारूपी अंधकार का नाश करते हैं, उन्हें 'पितर' कहते हैं। स्वामीजी ने ऐसे अनेक वैदिक मंत्रों को उद्धृत किया है जिनमें पितरों के प्रति आदर व्यक्त किया गया है। उदाहरण के लिए यजुर्वेद का एक मंत्र है :

"हे पितर लोगो! आप यहां हमारे स्थान में आनंद कीजिए। अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन, वस्त्रादि ग्रहण कीजिए। आप यहां विद्या के प्रचार से सबको आनंदयुक्त कीजिए। हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर अपनी प्रसन्नता के प्रकाश से हमको भी आनंदित कीजिए।"[63]

चौथा यज्ञ बलिवैश्वदेव यज्ञ है। इसका एक अन्य नाम भूतयज्ञ हैं। यह यज्ञ संसार के समस्त भूत प्राणियों के साथ मनुष्य की मैत्री का द्योतक है। मनुष्य के लिए उचित है कि वह सृष्टि के किसी प्राणी को दुख न दे और प्राणिमात्र के प्रति प्रीति का भाव रखे।[64]

पांचवां यज्ञ अतिथि यज्ञ है। स्वामीजी के अनुसार जो मनुष्य पूर्ण विद्वान, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छलकपट रहित और नित्य भ्रमण करके विद्याधर्म का प्रचार और अविद्याधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको 'अतिथि' कहते हैं। अतिथि का किसी के घर में आने-जाने की कोई तिथि या दिन निश्चित नहीं होता। गृहस्थों को ऐसे व्यक्तियों का सम्मान करना चाहिए।[65]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(15) ग्रंथ प्रामाण्य

स्वामी दयानंद ने चारों वेदों को स्वतः प्रमाण माना है। अन्य व्यक्तियों के बनाए ग्रंथ स्वतः प्रमाण नहीं हो सकते। वे वेदों के अनुकूल होने पर परतः प्रमाण हैं। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि वेद-विषय में जहां कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो, वहां वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणादि ग्रंथों में वेदों के अर्थ और इतिहास हैं। स्वामीजी ने उन्हें परतः प्रमाण माना है। यही स्थिति स्मृतियों, अष्टाध्यायी, निरुक्त और निघंटु जैसे व्याकरण-ग्रंथों, वेदों के छः उपांगों तथा उपनिषद आदि ग्रंथों की है।[66]

स्वामी दयानंद ने पुराणों तथा तंत्रशास्त्र के ग्रंथों को सर्वथा त्याज्य माना है। तंत्र ग्रंथों के बारे में उनका कहना है, "वे सब वेदादि शास्त्र, युक्ति प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने के योग्य नहीं है···मद्यादि सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती, परंतु ज्ञान का नाश और दुखरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है।"[67]

स्वामीजी ने पुराणों में वर्णित ऐसी अनेक कथाओं का उद्घाटन किया है जो शुरू में प्रतीकात्मक थीं पर पुराणकारों ने उन्हें विकृत रूप में चित्रित किया। इंद्र और अहिल्या[68], इंद्र और वृत्रासुर[69] तथा देवासुर संग्राम[70] की कथाएं ऐसी ही हैं।

(17) मूर्ति पूजा निषेध

स्वामी दयानंद ने मूर्ति पूर्जा का निषेध किया है। परमेश्वर किसी माता-पिता के संयोग से उत्पन्न नहीं होता। न वह शरीर धारण करके बालक, जवान और वृद्ध होता है। उसकी प्रतिमा नहीं बन सकती। वह मूर्तिरहित अनंत, सीमारहित और सबमें व्यापक है। इसलिए निराकार ही की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिए।[71]

(18) पठन-पाठन विधि

पठन-पाठन की विधि के अंतर्गत स्वामीजी ने बच्चों को सही उच्चारण सिखाने पर जोर दिया है। स्वामीजी का कहना है कि पाठ मात्र पढ़ने से कोई लाभ नहीं है। मनुष्य जो कुछ भी पढ़े, वह अर्थज्ञान सहित ही पढ़े। उनके शब्दों में :

"जो मनुष्य वेदों को पढ़ कर उनके अर्थ को नहीं जानता, वह उनके सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु अथवा वृक्ष के समान है, जो कि अपने फल-फूल डाली आदि को बिना गुणबोध के उठा रहे हैं। किंतु जैसे उनके सुख को भोगने वाला कोई दूसरा भाग्यवान मनुष्य होता है, वैसे ही पाठ के पढ़ने वाले भी परिणामस्वरूप भार को तो उठाते हैं, परंतु उनके अर्थज्ञान से आनंदरूप फल को नहीं भोग सकते। जो अर्थ का जानने वाला है, वह अधर्म से बच कर, धर्मात्मा होकर, जन्म-मरण रूप दुख का त्याग कर के, संपूर्ण सुख को प्राप्त होता है।···जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन किया करता है, उसका वह पढ़ना अंधकार रूप होता है। जैसे अग्नि के बिना सूखे ईंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता, वैसे ही अर्थज्ञान के बिना अध्ययन भी ज्ञान प्रकाशरहित रहता है। वह पढ़ना अविद्या रूप अंधकार का नाश कभी नहीं कर सकता।"[72]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(19) भाष्य के बारे में शंका और उनका समाधान

स्वामीजी ने रावण, उवट, सायण और महीधर जैसे पूर्ववर्ती भाष्यकारों के भाष्यों की आलोचना की है। उनका कहना है कि ये भाष्य मूलमंत्रों तथा ऋषिकृत व्याख्यानों के विरुद्ध हैं। स्वामीजी ने अपने वेदभाष्य के बारे में कहा है कि वह वेद, वेदांग, ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणादि ग्रंथों के अनुसार हैं। स्वामीजी ने आशा व्यक्त की है कि जिस समय चारों वेदों का भाष्य बन और छप कर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा तब सब किसी को उत्तम विद्या पुस्तक वेद का परमेश्वर रचित होना भूगोल भर में विदित हो जाएगा और यह भी प्रकट हो जाएगा कि ईश्वरकृत सत्य पुस्तक वेद ही है।[73]

(20) अन्य विषय

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में स्वामी दयानंद ने यह भी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि वेदों में विज्ञान, नौविभानादि विद्या, तारविद्या, वैधक शास्त्र आदि विषयों का विवेचन है। स्वामीजी ने इस ग्रंथ में वैदिक प्रयोगों, स्वर-व्यवस्था, व्याकरण नियमों तथा अलंकार भेदों पर भी प्रकाश डाला है।

सारांश

स्वामी दयानंद के जीवन और चिंतन की धुरी वेद हैं। वेदों के बारे में उनकी अपनी एक दृष्टि थी और उन्होंने **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** ग्रंथ में अपनी इस दृष्टि का उन्मोलन किया है। महत्त्व की दृष्टि से **सत्यार्थ प्रकाश** के बाद इसी पुस्तक का स्थान है। स्वामी दयानंद ने संपूर्ण **यजुर्वेद** तथा अधिकांश **ऋग्वेद** का भाष्य किया था। स्वामीजी कृत वेदभाष्य को समझने के लिए ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका का अध्ययन आवश्यक है।

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में अनेक विषयों का विवेचन है जिनमें मुख्य हैं : (1) वेदों की उत्पत्ति; (2) वेदों का नित्यत्व; (3) वेदों के प्रतिपाद्य विषय; (4) ब्रह्मविद्या; (5) वेदोक्त धर्म; (6) सृष्टि विद्या; (7) प्रार्थना; (8) उपासना; (9) मुक्ति; (10) पुनर्जन्म; (11) विवाह; (12) नियोग; (13) राजा-प्रजाधर्म; (14) वर्णाश्रम; (15) पंचमहायज्ञ; (16) ग्रंथ प्रामाण्य; (17) मूर्तिपूजा निषेध; (18) पठन-पाठन विधि; (19) भाष्य के बारे में 'शंका' और समाधान; (20) अन्य विषय।

स्वामीजी वेदों को परमेश्वर-रचित मानते हैं। इस प्रसंग में उन्होंने यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा शतपथ ब्राह्मण के उद्धरण दिए हैं। स्वामीजी का मत है कि ईश्वर मनुष्यों के लिए माता-पिता के समान है। उसने मनुष्य के कल्याण के लिए वेदों का प्रकाश किया है।

स्वामी दयानंद का विश्वास है कि चूंकि वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं इसलिए वे स्वतः नित्यस्वरूप हैं। वेद ईश्वर की विद्या है और ईश्वर की विद्या कभी अनित्य नहीं हो सकती। स्वामीजी ने वेदों की नित्यता के संबंध में पाणिनि, पतंजलि, गोतम, जैमिनी, कपिल, व्यास तथा शंकराचार्य के मतों को उद्धृत किया है।

स्वामी दयानंद के विचार से वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य ईश्वर है। ईश्वर से पृथक् जगत्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदों का गौण विषय है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए कर्म, उपासना और ज्ञान की आवश्यकता है। वेदों में इनका भी विवेचन है।

स्वामीजी ने कर्मकांड के दो भेद माने हैं—परमार्थ और लोक-व्यवहार। परमार्थ परम पुरुषार्थ है और उसके अंतर्गत ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना का समावेश होता है। स्वामीजी की राय है कि परमेश्वर की उपासना वेद तथा पतंजलि कृत योगशास्त्र की रीति से करनी चाहिए।

स्वामीजी ने अग्निहोत्र को मनुष्य का आवश्यक कर्त्तव्य माना है तथा उसकी विधि और लाभों का विस्तार से वर्णन किया है।

स्वामीजी के अनुसार व्यवहार के तैंतीस देवता मानते हैं : आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इंद्र और एक प्रजापति।

स्वामीजी के विचार से उपासना के योग्य तो एक ही देव हैं—ब्रह्म।

स्वामी दयानंद ने माता-पिता, आचार्य और अतिथि को मूर्तिमान देव माना है।

स्वामीजी का मत है कि आर्य लोग सृष्टि के आरंभ से इंद्र, वरुण और अग्नि आदि नाम से एक परमेश्वर की ही उपासना करते आए हैं।

स्वामी दयानंद मानते हैं कि विद्याओं में सबसे ऊंचा स्थान ब्रह्मविया का है। ब्रह्मविद्या अध्यात्म विद्या है। ब्रह्मविद्या का प्रतिपाद्य ईश्वर का ज्ञान है।

स्वामी दयानंद ने वेदों के आधार पर धर्म के जो लक्षण गिनाए हैं, उनमें सामाजिकता का तत्त्व प्रखर है। स्वामीजी ने धर्म-ज्ञान के तीन उपाय बताए हैं—धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा और परमेश्वर द्वारा वर्णित वेदविद्या। वेदों ने मनुष्य को दृढ़तापूर्वक सत्य का आचरण करने की शिक्षा दी है। मनुष्यों को अपने से बड़े लोगों के गुण ग्रहण करने चाहिए, दुर्गुण नहीं। स्वामी दयानंद ने वेदोक्त धर्म के विवेचन में मुंडकोपनिषद के इस मंत्र को उद्धृत किया है कि जो मनुष्य सत्य का आचरण करने वाला है, वही सदा विजय और सुख को प्राप्त करता है। मिथ्या आचरण करने वालों की सदा पराजय होती है।

वृदों में सृष्टि विधान करने वाले मंत्र बहुत से हैं। स्वामी दयानंद ने प्रायः 25 मंत्रों के आधार पर सृष्टि विद्या का विवेचन किया है। उन्होंने नासरीय सूक्त की विस्तृत व्याख्या की है। परमात्मा ही इस जगत् का स्वामी है। वही इसको धारण करता है और वहीं उसके नाश का कारण है। स्वामी दयानंद ने परमात्मा का एक नाम पुरुष माना है। संसार के सारे पदार्थ उस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं।

वेदों में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, याचना और उपासना के अनेक मंत्र हैं। स्वामी दयानंद ने मानव जाति को संदेश दिया कि सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करनी उचित है कि आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों। जब मनुष्य सच्चे मन से ईश्वर की उपासना करता है, तब ईश्वर भी मनुष्य को उसकी उपासना का उचित फल देता है। स्वामीजी ने पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट यम-नियमों का विवेचन किया है और उनके पालन से प्राप्त होने वाले फलों की गणना की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी दयानंद के मत से मनुष्य ईश्वर की उपासना द्वारा अविद्या आदि क्लेशों तथा अधर्माचरण जैसे अवगुणों से छुटकारा पाता है और आत्मोन्नति द्वारा मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

स्वामी दयानंद पुनर्जन्म में आस्था रखते हैं। मनुष्य वर्तमान शरीर पूर्व जन्म के पाप-पुण्यों के आधार पर ही प्राप्त करता है।

वेदों में विवाह विषयक अनेक मंत्र हैं। स्वामी दयानंद ने **संस्कार विधि** तथा **सत्यार्थ प्रकाश** में अनेक मंत्रों का विवरण दिया है। उन्होंने **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** में ऋग्वेद के दो मंत्रों का उल्लेख किया है जिनमें पति और पत्नी एक-दूसरे के प्रति सदा धर्माचरण की प्रतिज्ञा करते हैं।

स्वामी दयानंद ने वेदों के आधार पर नियोग प्रथा का समर्थन किया है। यह वह प्रथा थी जिसके अनुसार निस्संतान स्त्री पति के रोगी, नपुंसक या मृत होने की दशा में देवर या अन्य किसी गोत्र के व्यक्ति द्वारा संतान उत्पन्न करा सकती थी।

स्वामी दयानंद के विचार से परमेश्वर संसार का राजा है। सारी सृष्टि उसकी प्रजा है।

स्वामी दयानंद ने राज्य-संचालन के लिए तीन सभाओं का विधान किया है—राज्य प्रबंध के लिए आर्य राजसभा का, विद्याओं के प्रचार के लिए आर्य विद्या सभा का और धर्म प्रचार के लिए आर्य धर्म सभा का। राज्य का लक्ष्य सारी प्रजा की सुख साधना करना है।

स्वामीजी का विचार है कि भारत में युधिष्ठिरपर्यंत वैदिक सिद्धांतों के अनुसार ही राजकाज चलता रहा। प्राचीन भारत में राज्य की अव्यवस्था के लिए प्रजा नहीं, राजा दोषी माना जाता था।

स्वामी दयानंद चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का अस्तित्त्व मानते हैं। यह वर्ण भेद गुण-कर्मों पर आधारित है, जन्म पर नहीं।

स्वामीजी ने जीवन के चार आश्रम स्वीकार किए हैं—ब्रह्मचार्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

स्वामी दयानंद ने पांच महायज्ञों का उल्लेख किया है। वे यज्ञ हैं : (1) ब्रह्मयज्ञ, (2) देवयज्ञ, (3) बलिवैश्वदेव यज्ञ, (4) पितृ यज्ञ, और (5) अतिथि यज्ञ।

स्वामी दयानंद ने चारों वेदों को स्वतः प्रमाण माना है। अन्य व्यक्तियों के बनाए ग्रंथ वेदों के अनुकूल होने पर परतः प्रमाण हैं। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि वेद-विषय में जहां कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो, वहां वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। ऐतरेय और शतपथ आदि ग्रंथों में वेदों के अर्थ और इतिहास हैं। स्वामीजी ने उन्हें परतः प्रमाण माना है। स्वामी दयानंद ने पुराणों तथा तंत्रशास्त्र के ग्रंथों को सर्वथा त्याज्य माना है।

स्वामी दयानंद ने मूर्ति पूर्जा का निषेध किया है। और निराकार की उपासना पर जोर दिया है। पठन-पाठन में सही उच्चारण तथा अर्थ समझने की महती आवश्यकता है।

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में स्वामी दयानंद ने यह भी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि वेदों में विज्ञान, गुरुत्वाकर्षण, नौ-विमानादि विद्या, तार विद्या तथा वैधक शास्त्र का गूढ़ विवेचन है। स्वामीजी ने इस ग्रंथ में वैदिक प्रयोगों, स्वर-व्यवस्था, व्याकरण नियमों तथा अलंकार भेदों पर भी प्रकाश डाला है।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित *ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका,* दिल्ली, 1993 उपक्रमणिका, पृ. 2।
2. *उपक्रमणिका,* पृ. 11।
3. आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट द्वारा *ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका,* दिल्ली 1993, पृ. 8।
4. *उपर्युक्त,* पृ. 9।
5. *उपर्युक्त,* पृ. 20-30।
6. *उपर्युक्त,* पृ. 34।
7. *उपर्युक्त*।
8. *उपर्युक्त,* पृ. 35-38।
9. *उपर्युक्त।*
10. *उपर्युक्त।*
11. *उपर्युक्त,* पृ. 52।
12. *उपर्युक्त,* पृ. 53।
13. *उपर्युक्त,* पृ. 59।
14. *उपर्युक्त,* पृ. 66।
15. *उपर्युक्त,* पृ. 66-68।
16. सं गच्छध्वं सं वदध्वं
    सं वो मनांसि जानताम्।
    देवा भागं यथा पूर्वे
    संजानाना उपासते।।
17. *उपर्युक्त,* पृ. 69।
18. *उपर्युक्त,* पृ. 74।
19. *उपर्युक्त,* पृ. 75।
20. *उपर्युक्त,* पृ. 77।
21. *उपर्युक्त,* पृ. 78।
22. *उपर्युक्त,* पृ. 80-81।
23. *उपर्युक्त,* पृ. 81।
24. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसंसिद्धिः स धर्मः।
25. *उपर्युक्त,* पृ. 85-87।
26. *उपर्युक्त,* पृ. 87-92।
27. *उपर्युक्त,* पृ. 93-96।
28. *उपर्युक्त,* पृ. 96।
29. *उपर्युक्त,* पृ. 116।
30. *उपर्युक्त,* पृ. 118-119।
31. *उपर्युक्त,* पृ. 119।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

32. उपर्युक्त, पृ. 121-122।
33. उपर्युक्त, पृ. 124।
34. उपर्युक्त, पृ. 124-138।
35. उपर्युक्त, पृ. 139।
36. उपर्युक्त, पृ. 140।
37. उपर्युक्त।
38. उपर्युक्त।
39. उपर्युक्त।
40. उपर्युक्त।
41. उपर्युक्त, पृ. 140-141।
42. उपर्युक्त, पृ. 141-145।
43. उपर्युक्त, पृ. 157-158।
44. उपर्युक्त, पृ. 158-159।
45. उपर्युक्त, पृ. 162।
46. उपर्युक्त, पृ. 163-164।
47. उपर्युक्त, पृ. 165-168।
48. उपर्युक्त, पृ. 170।
49. उपर्युक्त।
50. उपर्युक्त, पृ. 174।
51. उपर्युक्त, पृ. 177।
52. उपर्युक्त, पृ. 181।
53. उपर्युक्त, पृ. 183।
54. उपर्युक्त।
55. उपर्युक्त, पृ. 184।
56. उपर्युक्त, पृ. 186।
57. उपर्युक्त, पृ. 186-188।
58. उपर्युक्त, पृ. 188-189।
59. उपर्युक्त, पृ. 190-191।
60. उपर्युक्त, पृ. 193।
61. उपर्युक्त, पृ. 194-195।
62. उपर्युक्त, पृ. 195।
63. उपर्युक्त, पृ. 196-208।
64. उपर्युक्त, पृ. 208-211।
65. उपर्युक्त, पृ. 211-212।
66. उपर्युक्त, पृ. 213-215।
67. उपर्युक्त, पृ. 217।
68. उपर्युक्त, पृ. 220।
69. उपर्युक्त, पृ. 221-223।
70. उपर्युक्त, पृ. 225-226।
71. उपर्युक्त, पृ. 235।
72. उपर्युक्त, पृ. 247।
73. उपर्युक्त, पृ. 262।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 15

संस्कार-विधि

प्राचीन भारतीय ऋषियों ने मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिए गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यंत अनेक संस्कारों का विधान किया था। गृह्यसूत्रों में इन संस्कारों की संख्या 16 से लेकर 48 तक मिलती है। स्वामी दयानंद ने विभिन्न गृह्यसूत्रों तथा मनुस्मृति के आधार पर 16 संस्कार चुने थे और अपनी **संस्कार विधि** पुस्तक में इन संस्कारों का विस्तार से वर्णन किया है।

स्वामी दयानंद ने **संस्कार-विधि** की भूमिका में सूचना दी है कि उन्होंने इस ग्रंथ की रचना संवत् 1932 में आरंभ की थी। इसका दूसरा संशोधित संस्करण सवंत् 1940 में प्रकाशित हुआ था।[1]

स्वामीजी ने **संस्कार-विधि** का आरंभ तैत्तिरीय आरण्यक के ''ओं सह नाववतु' मंत्र से किया है। इस मंत्र को उद्धृत करने के बाद स्वामीजी ने आगे के स्वरचित 11 श्लोकों में ग्रंथ-रचना का मंतव्य प्रस्तुत किया है।[2]

स्वामीजी ने विधिवत् ग्रंथ का आरंभ ईश्वर की स्तुति से किया है और आदेश दिया है कि किसी भी संस्कार को करने से पहले इन मंत्रों का पाठ और अर्थ किया जाए। ये कुल आठ मंत्र हैं जिनमें से सात यजुर्वेद के हैं और एक ऋग्वेद का है। स्तुति के पहले दो मंत्रों में कहा गया है :

''हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समस्त ऐश्वर्ययुक्त, शुद्ध स्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर। आप कृपा कर हमारे संपूर्ण दुर्गुण-दुर्व्यवसन और दुखों को दूर कर दीजिए। जो कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं, वह सब हमको दीजिए।[3]

''सृष्टि का नियंता स्वप्रकाशरूप परमेश्वर है। उसने सारी सृष्टि को उत्पन्न किया है और वह इसे संभाले हुए है। यह चेतनस्वरूप है। हमारे लिए उचित है कि हम उसी सुख-स्वरूप शुद्ध परमात्मा का चिंतन करें तथा योगाभ्यास द्वारा उसे पाने के लिए प्रयत्नशील हों।''[4]

स्तुति के बाद 'स्वस्ति वाचनम्' दिया गया है। इसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के कुल 31 मंत्र हैं। इन मंत्रों में परमात्मा के गुणों का गान किया गया है और उनसे प्रार्थना की गई है कि वह अपने भक्तों को सुख, समृद्धि तथा शांति दें।[5]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'स्वस्ति वाचन' के उपरांत 'शांतिकरणम्' विषय है। इसके अंतर्गत विभिन्न वेदों के 28 मंत्रों का संकलन है। इन मंत्रों में ईश्वर से समूची सृष्टि में शांति बनाए रखने की प्रार्थना की गई है।[6]

'सामान्य प्रकरणम्' के अंतर्गत स्वामी दयानंद ने उन कुछ प्रक्रियाओं का वर्णन किया है जिनका सभी संस्कारों में पालन करना चाहिए। स्वामीजी ने इस प्रकरण में यज्ञ के स्थान, यज्ञशाला, यज्ञकुंड के परिमाण, यज्ञ समिधा, होम के द्रव्य, होम के लिए पाक, यज्ञपात्र, ऋत्विजों का चयन और यज्ञ की विधि का वर्णन किया है।

पुस्तक का मूल प्रतिपाद्य 16 संस्कार हैं : (1) गर्भाधान, (2) पुंसवन, (3) सीमान्तोन्नयन, (4) जातकर्म, (5) नामकरण, (6) निष्क्रमण, (7) अन्नप्राशन, (8) चूड़ाकर्म, (9) कर्णवेध, (10) उपनयन/वेदारंभ, (11) समावर्तन, (12) विवाह, (13) गृहस्थाश्रम, (14) वानप्रस्थ, (15) संन्यास और (16) अंत्येष्टि।

(1) गर्भाधान

गर्भाधान का अर्थ है गर्भधारण अर्थात् गर्भाशय में वीर्य का स्थापन। स्वामी दयानंद का मत है कि जैसे बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ उत्तम पैदा होते हैं उसी प्रकार उत्तम बलवान् स्त्री-पुरुषों के संयोग से संतान भी उत्तम पैदा होती है। विवाह के समय कन्या की अवस्था कम से कम 16 वर्ष और वर की 25 वर्ष होनी चाहिए। 16 वर्ष सें पहले स्त्री के गर्भाशय में बालक के शरीर को यथावत् बढ़ने के लिए अवकाश नहीं होता। 25 वर्ष की आयु से पहले पुरुष का वीर्य भी उत्तम नहीं होता। स्वामीजी ने अपने मत की पुष्टि में सुश्रुत का प्रमाण दिया है।

स्वामी दयानंद की शिक्षा है कि पुरुष को ऋतुकाल में स्त्री का समागम करना चाहिए। स्त्रियों के लिए स्वाभाविक ऋतुकाल रजोदर्शन के बाद 16 रात्रियों का है। इनमें भी रजोदर्शन के बाद की पहली चार रात्रियों और ग्यारहवीं तथा तेरहवीं रात्रि छोड़ देनी चाहिए। इस प्रकार शेष दस रात्रियां ऋतुदान के लिए श्रेष्ठ होती हैं।[7]

(2) पुंसवन

पुंसवन संस्कार स्त्री के गर्भस्थिति का ज्ञान होने के दो-तीन महीने बाद किया जाता है। इस संस्कार का लक्ष्य ईश्वर से यह प्रार्थना करना है कि स्त्री के पुत्र ही उत्पन्न हो। इस संस्कार के अंतर्गत स्त्री से आशा की जाती है कि "वह सुनियम युक्ताहार विहार करे। खाने में संयम बरते। क्रोध, द्वेष, लोभादि में न फंसे। चित्त को सदा प्रसन्न रखे और शुभाचरण में प्रवृत्त हो।"[8]

(3) सीमन्तोन्नयन

सीमन्तोन्नयन संस्कार का उद्देश्य था गर्भवती स्त्री को संतुष्ट, प्रसन्न तथा स्वस्थ रखना जिससे गर्भ में प्रतिदिन पुष्टता आती जाए। यह संस्कार गर्भमास से चौथे महीने में शुक्लपक्ष में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जाता था। इस संस्कार के अवसर पर पति-पत्नी की मांग संवारता था और उसे चावल तथा मूंग की दाल की खिचड़ी घी डाल कर खाने के लिए देता था। इस संस्कार के द्वारा आशा की जाती थी कि पत्नी स्वस्थ तथा आनंदाचित्त रहकर वीर पुत्रों को जन्म दे।[9]

(4) जातकर्म

इस संस्कार के द्वारा पिता समाज को बालक के जन्म की सूचना देता था। समाज बालक को आशीर्वाद देता था कि वह सौ वर्ष तक धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करे। इस अवसर पर पिता बालक का स्पर्श करता था और बालक को घी तथा शहद चटाता था। माता अपने स्तनों से बालक को पहली बार दूध पिलाती थी।[10]

(5) नामकरण

नामकरण संस्कार में बालक के जन्म के 11वें, 101वें अथवा दूसरे वर्ष के आरंभ में जिस दिन जन्म हुआ हो उस दिन समाज के सम्मुख इष्ट-मित्र और हितैषी लोगों की उपस्थिति में बालक का नाम रखा जाता है। नामकरण से पहले ईश्वर की उपासना, स्वस्ति-वाचन, यज्ञ और शांति पाठ करना होता है। नाम वर्ण के गुणों के अनुरूप रखना चाहिए। उदाहरण के लिए ब्राह्मण का नाम देवशर्मा, क्षत्रिय का नाम देववर्मा, वैश्य का नाम देवगुप्त और शूद्र कां नाम देवदास रखना युक्तिसंगत है। अतिथि विदा लेते समय बालक को आशीर्वाद देते हैं कि, हे बालक! तू आयुष्मान, वर्चस्वी, तेजस्वी और श्रीमान् बने।[11]

(6) निष्क्रमण

निष्क्रमण संस्कार का अर्थ है बालक को घर से बाहर घुमाने के लिए ले जाने के उपलक्ष्य में किया जाने वाला संस्कार। यह संस्कार बालक के जन्म से चौथे महीने में किया जाता था।[12]

(7) अन्नप्राशन

यह संस्कार तभी किया जाता है जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य हो जाए। यह प्रायः बालक के जन्म के छठे महीने में किया जाता है। इस संस्कार के अवसर पर घी के साथ चावल अथवा दही और शहद से मिला हुआ अन्न बालक को खिलाया जाता है।[13]

(8) चूड़ाकर्म

चूड़ाकर्म का अर्थ है बालों का काटना। यह संस्कार बालक के जन्म के पहले वर्ष या तीसरे वर्ष में किया जाता था। इस संस्कार का उद्देश्य बालक को स्वच्छता का पाठ पढ़ाना था।[14]

(9) कर्णबेध

कर्णबेध का अर्थ है कानों में छेद करना। इस संस्कार के अंतर्गत दोनों कानों तथा नाक में छेद करने का विधान था। यह संस्कार बालक के जन्म से तीसरे या पांचवें वर्ष करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उचित माना जाता था। संस्कार के समय पिता ईश्वर से प्रार्थना करता है कि हम कानों से अच्छी बातें सुनें, आंखों से अच्छी चीजें देखें और हमारे शरीर के अंग सुदृढ़ हों।[15]

(10) उपनयन

उपनयन संस्कार का अर्थ है शिष्य को गुरु के पास ले जाना और उसका यज्ञोपवीत अथवा जनेऊ धारण कराने का संस्कार करना। उपनयन संस्कार के संबंध में विधान था कि ब्राह्मण का जन्म से आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष और वैश्य का बारहवें वर्ष में हो जाना चाहिए। यदि ब्राह्मण का सोलहवें वर्ष, क्षत्रिय का बाईसवें वर्ष और वैश्य का चौबीसवें वर्ष तक उपनयन संस्कार न हो, तो वे समाज की दृष्टि में पतित माने जाते थे। इस अवसर पर आचार्य शिष्य से प्रतिज्ञा करता था :

"हे शिष्य बालक। तेरे हृदय को मैं अपने अधीन करता हूं। तेरा चित्त सदा मेरे चित्त के अनुकूल रहे। तू एकाग्र भाव से मेरी वाणी को सुन कर उसके अर्थ का सेवन किया कर। आज से तू पूरी तरह मेरे प्रति समर्पित है।"

आचार्य की भांति ही शिष्य भी गुरु से प्रतिज्ञा करता था।

"मैं अपनी शैक्षिक उन्नति के लिए आपका अनुसरण करूंगा। आपका चित्त सदा मेरे चित्त के अनुकूल बना रहे। आपका ध्यान सदा मेरे उत्कर्ष में लगा रहे।"[16]

उपनयन संस्कार के तुरंत बाद ही अथवा उसके कुछ दिनों बाद वेदारंभ संस्कार किया जा सकता था। वेदारंभ में गायत्री मंत्र से लेकर सांगोपांग चारों वेदों के अध्ययन की व्यवस्था थी। इस अध्ययन में निम्नलिखित विषयों का समावेश था :

चार वेद : ऋक्, यजु, साम, अथर्व।

वेदांग : शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष।

वेदोपांग : पूर्व मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदांत।

उपवेद : आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद और अथर्ववेद अर्थात् शिल्प शास्त्र।

ब्राह्मण : ऐतरेय, शथपथ, साम और गोपथ।

वेदारंभ संस्कार में आचार्य का सबसे पहला काम शिष्य को गायत्री मंत्र की दीक्षा देना था। बालक का पिता बालक को ब्रह्मचर्य आश्रम के कर्त्तव्यों से अवगत कराता था। ये कर्त्तव्य थे :

1. नित्य संध्योपासन, भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन।
2. दुष्ट कर्मों का त्याग।
3. दिन में शयन का त्याग।
4. निष्ठापूर्वक वेदाध्ययन।
5. धर्माचरण।
6. क्रोध और मिथ्याभाषण का त्याग।
7. मैथुन का त्याग।
8. भूमि पर शयन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. गाने-बजाने और नृत्य से परहेज।
10. अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण का निषेध।
11. रात के चौथे पहर में जागना और नित्य कर्म तथा योगाभ्यास।
12. संतुलित आहार-विहार।

स्वामी दयानंद की सम्मति है कि बालक की कम-से-कम 25 तक तथा कन्या को 16 वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और इसके बाद ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए।[17]

(11) समावर्तन

स्वामी दयानंद के शब्दों में "समावर्तन संस्कार उसको कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्य व्रत, सांगोपांग, वेदविद्या, उत्तम शिक्षा और पदार्थ विज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होकर विवाह विधानपूर्वक गृहस्थाश्रम को ग्रहण करने के लिए विद्यालय को छोड़ कर घर की ओर आना।" समावर्तन संस्कार विद्या समाप्ति के अनंतर गुरुकुल से घर वापस आने पर किया जाता था। समावर्तन संस्कार के बाद ही विवाह का नियम था। इस संस्कार के अवसर पर ब्रह्मचारी अपनी मेखला और दंड को छोड़ देता था और स्नान तथा पूजन के बाद गृहस्थ जैसे वस्त्राभूषण धारण करता था। शिष्य आचार्य को दक्षिणा देता था और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता था।[18]

(12) विवाह

स्वामी दयानंद के अनुसार विवाह का प्रयोजन संतानोत्पत्ति तथा अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करना था।

विवाह से पहले वर और वधू की आयु, कुल, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए।

स्वामी दयानंद ने हिंदू शास्त्रों में वर्णित आठ प्रकार के विवाहों (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस तथा पैशाच) की चर्चा की है। इनमें से ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य अच्छे हैं तथा शेष चार आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच निंदित हैं। पहले चार विवाहों से उत्पन्न संतान तेजस्वी तथा उत्तम होती है और बाकी चार विवाहों से उत्पन्न संतान निकृष्ट होती है।

कन्या के माता-पिता को वर का चुनाव सावधानी से करना चाहिए। उन्हें गुणहीन असदृश दुष्ट पुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी नहीं करना चाहिए। स्वामीजी ने 16 वर्ष से कम आयु की कन्या तथा 25 वर्ष से कम आयु के पुरुष का विवाह वर्जित किया है। स्वामीजी मानते हैं कि कन्या का जितने दूर देश में विवाह होगा, उतना ही अच्छा है।

स्वामीजी अपने-अपने वर्ण में विवाह करने के पक्षपाती हैं लेकिन उनके अनुसार वर्ण-व्यवस्था गुण कर्मों के अनुसार है, जन्ममात्र से नहीं।

विवाह-संस्कार की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी 'सप्तपदी' है जिसमें वर और वधू द्वारा मंत्रोच्चार के साथ सात बार अग्नि की परिक्रमा की जाती है। वर और वधू दोनों आजीवन एक-दूसरे के प्रति निष्ठावान् रहने की शपथ लेते हैं।[19]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(13) गृहस्थाश्रम

स्वामीजी के अनुसार ''गृहाश्रम संस्कार उसको कहते हैं कि जो ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिए विवाह कर के अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियतकाल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृह कृत्य करना, सत्य धर्म में ही अपना तन-मन-धन लगाना तथा धर्मानुसार संतानों की उत्पत्ति करनी।'' गृहस्थाश्रम में पति और पत्नी से अपेक्षा की जाती है कि वे अपने परिवार की सेवा करें तथा अपने बच्चों को उत्तम शिक्षा दें। परिवार में भाई-बहिन के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार की शिक्षा दी गई है। स्वामीजी ने मनुस्मृति के आधार पर कहा है कि जिस कुल में भार्या से पति प्रसन्न रहता है और पति से भार्या प्रसन्न रहती है, उस कुल का निश्चित रूप से कल्याण होता है। जिस परिवार में पति-पत्नी एक दूसरे से प्रसन्न नहीं रहते, वहां कलह होता है।

स्वामी दयानंद ने सब आश्रमों के बीच गृहस्थाश्रम को ही सर्वश्रेष्ठ माना है क्योंकि यही आश्रम अन्य तीनों आश्रमों का पालन करता है।

स्वामी दयानंद ने गृहस्थों के लिए नैत्यिक कर्मों, संध्योपासन, अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेव तथा अतिथि यज्ञ का निरूपण किया है और चारों वर्णों के कर्त्तव्य गिनाए हैं।[20]

(14) वानप्रस्थ

जब गृहस्थ के पुत्र का विवाह हो जाए और उसके भी पुत्र हो जाए तब गृहस्थ को परिवार का त्याग कर वन में जाकर निवास करना चाहिए। वानप्रस्थी अपनी पत्नी को घर में पुत्रों के पास छोड़ सकता है और यदि पत्नी तैयार हो, तो उसे अपने साथ भी ले जा सकता है। वानप्रस्थी को अपना समय स्वाध्याय तथा आत्म-चिंतन में व्यतीत करने की सलाह दी गई है। वानप्रस्थ आश्रम करने का समय 50 वर्ष से 75 वर्ष माना गया है।[21]

(15) संन्यास

संन्यास संस्कार के अंतर्गत व्यक्ति सारे मोह तथा पक्षपात को छोड़ कर परोपकार के लिए पृथ्वी पर विचरण करता है। संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है। संन्यासी से अपेक्षा की गई है कि वह जीने में आनंद तथा मृत्यु में दुख न माने। जैसे क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है, वैसे ही संन्यासी काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे। संन्यासी सदा ईश्वर का स्मरण करते हैं और सत्यविद्या के प्रचार से लोगों को सुख पहुंचाते हैं। संन्यासी जगत् के सम्मान को विष समझता है और जगत् के अपमान को अमृत।[22]

(16) अंत्येष्टि

अंत्येष्टि शरीर के अंत का संस्कार है। इसके आगे शरीर के लिए कोई भी अन्य संस्कार नहीं हैं। इस संस्कार को नरमेध, पुरुषमेध, नरयाग और पुरुषयाग भी कहते हैं। स्वामीजी का कहना है कि जब किसी की मृत्यु हो जाए, तब यदि पुरुष हो तो पुरुष और स्त्री हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो स्त्रियां शव को स्नान कराएं। शव का चंदन से लेप करें तथा उसे नए वस्त्र पहनाएं। शव को श्मशान ले जाकर वेदी पर रख दें और वेदमंत्रों के साथ उसका अग्नि संस्कार कर दें। शरीर भस्म होने पर लोग अपने-अपने कपड़े धो लें और स्नान कर लें। शव दाह के तीसरे दिन मृतक का कोई संबंधी श्मशान में जाकर चिता से अस्थियां उठा कर श्मशान में कहीं पृथक रख दे। इसके आगे मृतक के लिए कुछ भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है।[23]

सारांश

स्वामी दयानंद ने विभिन्न गृह्यसूत्रों तथा मनुस्मृति के आधार पर मनुष्य के गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यंत 16 संस्कार चुने हैं और अपनी **संस्कार-विधि** पुस्तक में इन संस्कारों का विस्तार से वर्णन किया है। ये 16 संस्कार हैं :

(1) गर्भाधान : गर्भाधान का अर्थ है गर्भधारण अर्थात् गर्भाशय में वीर्य का स्थापन। स्वामी दयानंद का मत है कि जैसे बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ उत्तम पैदा होते हैं उसी प्रकार उत्तम बलवान् स्त्री-पुरुषों के संयोग से संतान भी उत्तम पैदा होती है। विवाह के समय कन्या की अवस्था 16 वर्ष और वर की 25 वर्ष होनी चाहिए।

(2) पुंसवन : पुंसवन संस्कार स्त्री के गर्भ स्थिति का ज्ञान होने के दो-तीन महीने बाद किया जाता है। इस संस्कार का लक्ष्य ईश्वर से यह प्रार्थना करना है कि स्त्री के पुत्र ही उत्पन्न हो।

(3) सीमन्तोन्नयन : सीमन्तोन्नयन संस्कार का लक्ष्य गर्भवती स्त्री को संतुष्ट, प्रसन्न तथा स्वस्थ रखना था जिससे गर्भ में प्रतिदिन पुष्टता आती जाए।

(4) जातकर्म : इस संस्कार के द्वारा पिता समाज को बालक के जन्म की सूचना देता था। समाज बालक को आशीर्वाद देता था कि वह सौ वर्ष तक धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करे।

(5) नामकरण : इस संस्कार के अंतर्गत इष्ट-मित्रों और हितैषी लोगों के सम्मुख बालक का नाम रखा जाता है। नाम वर्ण के गुणों के अनुरूप रखना चाहिए। उदाहरण के लिए ब्राह्मण का नाम देवशर्मा, क्षत्रिय का नाम देववर्मा, वैश्य का नाम देवगुप्त और शूद्र का नाम देवदास रखना युक्तिसंगत है।

(6) निष्क्रमण : यह संस्कार बालक को घर से बाहर घुमाने के लिए ले जाने के अवसर पर किया जाता था। यह प्रायः बालक के जन्म से चौथे महीने किया जाता था।

(7) अन्नप्राशन : यह संस्कार तभी किया जाता है जब बालक अन्न पचाने लायक हो जाए। इसका आयोजन बालक के जन्म के छठे महीने में किया जाता है।

(8) चूडाकर्म : चूडाकर्म का अर्थ है बालों का काटना। यह संस्कार बालक के जन्म के पहले वर्ष या तीसरे वर्ष में किया जाता था।

(9) कर्णबेध : कर्णबेध का अर्थ है कानों में छेद करना। यह संस्कार बालक के जन्म से तीसरे या पांचवें वर्ष करना उचित माना जाता था।

(10) उपनयन : उपनयन संस्कार के अंतर्गत शिष्य को गुरु के पास ले जाया जाता था और उसे जनेऊ पहनाया जाता था। वह संस्कार ब्राह्मण का आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में हो जाना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(11) **समावर्तन :** समावर्तन संस्कार का अर्थ था विद्या पूरी करने के बाद घर आना।

(12) **विवाह :** स्वामी दयानंद के अनुसार विवाह का प्रयोजन संतानोत्पत्ति तथा अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल धर्म का आचरण करना था।

(13) **गृहस्थाश्रम :** गृहस्थाश्रम में विवाह करके कुल धर्मानुसार परिवार का संचालन करना था। इसमें गृहस्थों को पंच महायज्ञ—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथि यज्ञ करने की आज्ञा दी गई है।

(14) **वानप्रस्थ :** वानप्रस्थ का अर्थ है पचास वर्ष की आयु होने पर परिवार का त्याग कर वन में जाकर रहना और अपना समय स्वाध्याय तथा आत्म-चिंतन में व्यतीत करना।

(15) **संन्यास :** संन्यास आश्रम के अंतर्गत व्यक्ति सारे मोह तथा पक्षपात छोड़ कर लोक-कल्याण के लिए पृथ्वी पर विचरण करता है।

(16) **अंत्येष्टि :** यह शरीर के अंत का संस्कार है। स्वामीजी ने मृतक के अग्नि-दाह का पोषण किया है। इस संस्कार के आगे मनुष्य के लिए और कोई संस्कार नहीं है।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. स्वामी दयानंद *संस्कार विधि,* रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, (सोनीपत-हरियाणा), 1986, भूमिक, पृ. 1।
2. *उपर्युक्त,* पृ. 5-6।
3. *उपर्युक्त,* पृ. 7।
4. *उपर्युक्त,* पृ. 7-8।
5. *उपर्युक्त,* पृ. 11-15।
6. *उपर्युक्त,* पृ. 16-19।
7. *उपर्युक्त,* पृ. 44-47।
8. *उपर्युक्त,* पृ. 47-50।
9. *उपर्युक्त,* पृ. 64-67।
10. *उपर्युक्त,* पृ. 68-74।
11. *उपर्युक्त,* पृ. 75-84।
12. *उपर्युक्त,* पृ. 85-89।
13. *उपर्युक्त,* पृ. 90-93।
14. *उपर्युक्त,* पृ. 94-97।
15. *उपर्युक्त,* पृ. 98-104।
16. *उपर्युक्त,* पृ. 105-106।
17. *उपर्युक्त,* पृ. 107-116।
18. *उपर्युक्त,* पृ. 117-145।
19. *उपर्युक्त,* पृ. 146-154।
20. *उपर्युक्त,* पृ. 155-216।
21. *उपर्युक्त,* पृ. 217-296।
22. *उपर्युक्त,* पृ. 297-304।
23. *उपर्युक्त,* पृ. 305-341।
24. *उपर्युक्त*।
25. *उपर्युक्त,* पृ. 342।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 16

दर्शन तथा धर्म

चिंतन की धुरी वेद

स्वामी दयानंद के चिंतन की धुरी वेद हैं। उनकी दृष्टि में वेद अपौरुषेय हैं और हैं ईश्वर प्रणीत। स्वामी जी के अनुसार वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है।[1] उन्होंने वैदिक धर्म की विकृतियों के विरुद्ध आवाज उठाई और शुद्ध वैदिक धर्म तथा संस्थाओं की स्थापना का प्रयास किया।

वेद-अध्ययन का अधिकार सबको

स्वामी जी से पहले वेद कुछ ब्राह्मणों की संपत्ति थे। स्वामी जी ने वेदों के पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार सबका माना। उन्होंने वेदों के प्रचार के लिए लोक भाषा हिंदी का सहारा लिया। स्वामी जी के बाद हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में विपुल वैदिक साहित्य का निर्माण हुआ है। इसका श्रेय स्वामी दयानंद को है।

वेदकालीन समाज : भारत का स्वर्ण-युग

स्वामी जी वेदकालीन भारत को भारतीयं इतिहास का स्वर्ण काल मानते हैं। उनका विचार है कि महाभारत के पश्चात् भारत की निरंतर अवनति हुई है। जब चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) का आधार गुण-कर्म नहीं प्रत्युत जन्म माना जाने लगा, तब समाज में ऊंच-नीच का भेद विकसित हो गया। गौतम बुद्ध तथा वर्धमान महावीर ने ऊंच-नीच के भेद को दूर करने का प्रयत्न किया लेकिन ये दोनों धर्म वेदों की प्रामाणिकता को तथा सृष्टि के उत्पादन-कर्त्ता, पालन-कर्त्ता और संहार-कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। कालांतर में बौद्ध धर्म का भारत से लोप हो गया लेकिन वह भारत के बाहर के अनेक देशों, लंका, बर्मा, जापान, चीन और तिब्बत में विद्यमान है। मध्ययुगीन भारत में भक्ति पर जोर दिया गया और लोगों का वैदिक ज्ञान शून्य के बराबर था। भारत में वेदों के पुनरुत्थान का सबसे प्रबल प्रयत्न स्वामी दयानंद ने किया।[2]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदों के भाष्य

वेदों के भाष्यों की परंपरा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इस समय मध्य युग के वेदभाष्य मिलते हैं जिनमें स्कंद स्वामी, महीधर, उब्बट और सायण के वेदभाष्य सबसे प्रसिद्ध हैं। सायण ने चारों वेदों पर भाष्य लिखे हैं और पंडित वर्ग में उनके भाष्यों का ही विशेष प्रचार है। उन्नीसवीं सदी में मैक्समूलर, ग्रिफिथ विल्सन आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान भी वेदों की ओर गया था तथा उन्होंने पाश्चात्य भाषाओं विशेष कर अंग्रेजी में वेदों के अनुवाद किए।[3] इन विद्वानों के वेद-अनुशीलन के आधार मुख्यतः महीधर और सायण के वेदभाष्य ही थे। पाश्चात्य विद्वानों की सोच थी कि वेदों की रचना उस समय हुई थी जबकि आर्य जाति सभ्यता की आदिम अवस्था में थी। उस समय के आर्य प्राकृतिक शक्तियों की पूजा किया करते थे। प्राकृतिक शक्तियों के कोप से बचने के लिए वे अनेक प्रकार के अनुष्ठानों में विश्वास रखते थे। इन अनुष्ठानों में यज्ञ प्रमुख थे। अंग्रेजों ने भारत में जिस शिक्षा-प्रणाली का सूत्रपात किया था, उसमें वेदों के विषय में इसी प्रकार के विचारों का समावेश था। फलतः अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय भी वेदों के संबंध में इसी प्रकार के विचार रखते थे।[4]

वैदिक भाष्य का आधार निरुक्ति

स्वामी दयानंद ने वैदिक शब्दों का अर्थ निरुक्त[5] के आधार पर किया है। उनके अनुसार एक-एक शब्द के अनेक अर्थ हैं। शब्द का वास्तविक अर्थ उसकी 'धातु' के आधार पर समझा जा सकता है। कहां क्या अर्थ अपेक्षित है यह प्रसंग पर निर्भर है। स्वामी दयानंद ने 'देव' शब्द की व्याख्या द्वारा अपने मंतव्य को स्पष्ट किया है। उन्होंने 'देव' शब्द के अनेक अर्थ निर्धारित किए हैं। जो दान दे, जो प्रकाशित करे, जो द्योतन करे और जो द्यु स्थान में रहे, उन सबका देव शब्द से बोध होता है। स्वामी दयानंद ने निरुक्त के मत को और अधिक स्पष्ट कर ईश्वर, विद्वान, सूर्य, माता, पिता, अतिथि आदि के लिए इस शब्द का प्रयोग सिद्ध किया है।

वेदों का प्रतिपाद्य विषय

स्वामी दयानंद के अनुसार वेदों में मुख्य रूप से चार विषयों का प्रतिपादन है : (1) विज्ञान, (2) कर्म, (2) उपासना, और (4) ज्ञान। स्वामीजी के मत से विज्ञान वह है जिसके द्वारा मनुष्य ईश्वर तथा विश्व के समस्त पदार्थों की सही-सही जानकारी प्राप्त करता है। वेदों का दूसरा विषय कर्म अथवा कर्मकांड है। इसका अर्थ है—धर्म का वास्तविक ज्ञान और उसका अनुष्ठान। अर्थ, काम और उनकी सिद्धि के लिए काम आने वाले सारे साधन भी कर्म के अंतर्गत ही आते हैं। वेदों के दो अन्य विषय उपासना और ज्ञान हैं। स्वामीजी के अनुसार ये विषय भी विज्ञान के अंतर्गत आ जाते हैं। स्वामीजी ने **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** में विद्युत, विमान विद्या, खगोल ज्ञान, भूगोल, गणित आदि के बीज ढूंढ निकाले हैं। उन्होंने अनेक वैदिक मंत्रों की व्याख्या में विज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन किया है।[6]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकेश्वरवाद

स्वामी दयानंद ने वेदों में एकेश्वरवाद का समर्थन किया है। वे मानते हैं कि ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम 'ओ३म्' है। इंद्र, वरुण, वायु, अग्नि, मित्र, सविता आदि विभिन्न देवता नहीं हैं वे ईश्वर की ही विविध शक्तियां हैं। स्वामी दयानंद ने **सत्यार्थ प्रकाश** के पहले समुल्लास में 'वायु', 'तेज', 'ईश्वर', 'आदित्य', 'प्राज्ञ', 'मित्र', 'वरुण' आदि ईश्वरवाचक 100 नामों की व्युत्पत्ति दी है।

ईश्वर निराकार

स्वामी दयानंद के अनुसार ईश्वर निराकार है। उसकी कोई आकृति नहीं होती। अतः उसकी कोई मूर्ति नहीं बनाई जा सकती। स्वामी दयानंद ने इसी आधार पर मूर्तिपूजा का विरोध किया है। वे मानते थे कि वेदों में मूर्तिपूजा का कोई उल्लेख नहीं है। स्वामीजी ने अनेक शास्त्रार्थ मूर्तिपूजा को लेकर किए थे। उनकी दृष्टि में मूर्तिपूजा हिंदुओं की अधोगति का एक प्रधान कारण था।

ईश्वर का स्वरूप

आर्य समाज के दूसरे नियम में ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है : "ईश्वर सच्चिदानंदस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वांतरयामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है।"

कर्ममय जीवन

स्वामीजी के अनुसार ईश्वर हमें असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलता है। ईश्वर मनुष्य की प्रार्थना सुनता है, लेकिन उससे पहले पुरुषार्थ आवश्यक है। स्वामीजी के मंतव्य से मनुष्य को कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए। सृष्टि के सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों में रत हैं। उनके शब्दों में, "जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथ्वी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि सदा बढ़ते-घटते रहते हैं वैसे यह दृष्टांत मनुष्यों को भी ग्रहण करने योग्य है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है।"

अवतारवाद

स्वामी दयानंद ने मूर्तिपूजा की भांति ही अवतारवाद का भी विरोध किया है। वे यह नहीं मानते कि संसार में अधर्म और अत्याचार का आधिक्य होने पर उसका नाश करने के लिए ईश्वर को अवतार लेने की आवश्यकता पड़ती है। स्वामी दयानंद ने श्रीकृष्ण को ईश्वर का अवतार नहीं, प्रत्युत एक महापुरुष माना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैतवाद

स्वामी दयानंद के दार्शनिक चिंतन में त्रैतवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि मानते हैं। वे तीनों अलग-अलग हैं।

छः दर्शनों में समन्वय

भारत के छः परंपरागत दार्शनिक संप्रदाय हैं : सांख्य, योग्य, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और वेदांत। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा अन्य अनेक आचार्यों का मत है कि इन दार्शनिक संप्रदायों में परस्पर विरोध है। स्वामी दयानंद ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि प्रत्येक दर्शन परमतत्त्व की व्याख्या अपने-अपने ढंग से करता है। इन सभी दर्शनों की पारिभाषिक शब्दावली भिन्न-भिन्न हो सकती है लेकिन उनका वास्तविक मंतव्य समान है। सांख्य का 'पुरुष' न्याय और वैशेषिक दर्शनों का 'आत्मा' है। स्वामी दयानंद के अनुसार छहों दर्शन आस्तिक हैं और वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं।[7]

यद्यपि स्वामी दयानंद पर एक अरसे तक अद्वैतवाद का प्रभाव रहा था, लेकिन चिंतन में प्रौढ़ता आने पर उन्हें अद्वैतवाद में अनेक त्रुटियां दिखाई देने लगी थीं। अद्वैतवाद के अनुसार जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। अद्वैतवाद के अंतर्गत ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य अनादि तत्त्व जीव या प्रकृति को स्वीकार नहीं किया जाता। स्वामी दयानंद ने **ब्रह्मसूत्र** के दस सूत्रों के आधार पर ब्रह्म और जीव के भेद को सिद्ध किया है। छहों दर्शनों के सिद्धांतों में समन्वय स्थापित कर स्वामी दयानंद ने वैदिक धर्म को ठोस आधार प्रदान किया है।

जीवात्मा

स्वामी दयानंद सरस्वती ईश्वर के समान जीव को भी अनादि तथा नित्य मानते हैं। उन्होंने ईश्वर तथा जीव का संबंध उपास्य-उपासक अथवा पिता-पुत्र का माना है। ईश्वर और जीव में समानता इस कारण है कि दोनों अनादि और नित्य हैं। उनमें असमानता का कारण यह है कि ईश्वर तो सुख-दुख से परे है और सर्वज्ञ है जबकि जीव सुख-दुख से युक्त तथा अल्पज्ञ है। स्वामी दयानंद की दृष्टि में जीव शरीर से भिन्न है। शरीर के विनाश के साथ जीव का अंत नहीं होता। गर्मी-सर्दी, शोक-हर्ष की अनुभूति जीव को होती है, शरीर अथवा अंतःकरण को नहीं। स्वामीजी के चिंतन में शरीर, मन, बुद्धि सब जड़ हैं केवल जीवात्मा चेतन है। उनके अनुसार जीव कर्म करने में स्वतंत्र है। वह अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करता है। जीव को उसके कर्मों का फल ईश्वर देता है। ईश्वर की व्यवस्था में जीव परतंत्र है। स्वामीजी के शब्दों में "पूर्व जन्म के पाप-पुण्य के अनुसार वर्तमान जन्म और वर्तमान तथा पूर्वजन्म के कर्मानुसार भविष्यत् जन्म होते हैं।"

स्वामीजी जीव अथवा आत्मा को अमर मानते हैं। शरीर का नाश होता है। आत्मा का नहीं। स्वामीजी का यह मंतव्य गीता के अनुकूल है। आत्मा की अमरता के संबंध में गीता के दो प्रसिद्ध श्लोक हैं :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्म लेती है और न मरती ही है। यह उत्पन्न होकर फिर होने वाली भी नहीं है। आत्मा अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। वह शरीर के मारे जाने पर भी नहीं मारी जाती।[8]

× × ×

वासांसि जीर्णानि यथा निहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नए वस्त्रों को धारण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होती है।[9]

सृष्टि

स्वामीजी के विचार से सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर है। परमात्मा इस जगत की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था। उसने पृथ्वी से लेकर सूर्यपर्यंत जगत को उत्पन्न किया। ईश्वर की अनंत सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने ही से सफल है। जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है। स्वामीजी के अनुसार आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती। जब स्त्री-पुरुषों के शरीर परमात्मा बना कर उनमें जीवों का संयोग कर देता है, तब मैथुनी सृष्टि का सिलसिला शुरू होता है। सृष्टि आश्चर्यमयी है, कुछ सार्वभौम नियमों के अनुसार संचालित होती है ऐसी वैविध्यपूर्ण सृष्टि की रचना सर्वशक्तिमान ईश्वर ही कर सकता है। स्वामीजी का मानना है कि जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव अनादि हैं, वैसे ही उसके जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करना भी अनादि है। जिस प्रकार ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव का आरंभ और अंत नहीं, उसी प्रकार उसके कर्त्तव्य कर्मों का भी आरंभ और अंत नहीं। स्वामीजी के मत से मनुष्यों की आदि सृष्टि तिब्बत में हुई थी।[10]

पुनर्जन्म

स्वामी दयानंद पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। मृत्यु के अंतर्गत जीव अपने वर्तमान शरीर का त्याग कर अपने कर्मों के अनुसार अन्य शरीर प्राप्त कर लेता है। जन्म-मरण का यह सिलसिला उस समय तक चलता रहता है जब तक मनुष्य मोक्ष नहीं पा लेता।[11]

मोक्ष

स्वामी दयानंद के अनुसार जीव का जन्म-मरण के बंधन से छूट जाना मोक्ष है। उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के लिए 'षट्क संपत्ति' का प्रतिपादन किया है। 'षट्क संपत्ति' के अंतर्गत शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान आते हैं। अंतःकरण को अधर्माचरण से हटा कर धर्माचरण में प्रवृत्त करना 'शम' है। इंद्रियों तथा शरीर को बुरे कर्मों से हटा कर अच्छे कर्मों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में लगाना 'दम' है। दुष्ट कर्म करने वाले पुरुषों से दूर रहना 'उपरति' है। निंदा-स्तुति, हानि-लाभ से ऊपर उठ कर मुक्ति के साधनों में लगे रहना 'तितिक्षा' है। वेदशास्त्रज्ञों तथा विद्वानों के वचनों पर विश्वास रखना 'श्रद्धा' है। चित्त की एकाग्रता 'समाधान' है।

स्वामी दयानंद के विचार से जीव की मुक्ति सदा के लिए नहीं होती। वह कुछ समय के लिए ही होती है। मुक्ति का समय पूरा होने पर जीव पुनः जन्म लेने के लिए बाध्य है।[12]

तर्पण और श्राद्ध

परंपरागत हिंदू धर्म में पितरों के तर्पण और श्राद्ध का विशेष महत्त्व है। इस कर्मकांड के अंतर्गत ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है और यह माना जाता है कि श्राद्ध के समय जो भोजन और द्रव्य ब्राह्मणों को दिया जाता है वह पितरों के पास पहुंच जाता है। स्वामी दयानंद को यह रस्म मान्य नहीं है। उनके मत से केवल जीवित मनुष्यों की सेवा ही सच्चा तर्पण और श्राद्ध है। स्वामी दयानंद परिवार के माता-पिता तथा गुरुजनों को ही पितर मानते हैं, मृत व्यक्तियों को नहीं।

प्रार्थना

स्वामीजी का मानना है कि ईश्वर की प्रार्थना अवश्य करनी चाहिए। ईश्वर के उपकारों का स्मरण करना हमारा धर्म है। ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने से मन स्वतः प्रसन्न और शांत होता है। परमेश्वर की शरण ग्रहण करने से आत्मा निर्मल होती है और ईश्वर के प्रति प्रीति बढ़ती है। पाप नाश का सर्वश्रेष्ठ उपाय परमात्मा की उपासना है।

स्वामी दयानंद ने अपने **आर्याभिविनय** नामक ग्रंथ में 107 वेदमंत्रों का संग्रह किया है। इनमें से 53 ऋग्वेद से लिए गए हैं और 59 यजुर्वेद से। ये सभी मंत्र ईश्वर की उपासना, प्रार्थना और स्तुति के संदर्भ में हैं। यह एक प्रकार से स्वामी दयानंद की प्रार्थना-पुस्तक है।

आर्यामिविनय के दो प्रसिद्ध प्रार्थनापरक मंत्रों के भावार्थ हैं :

> "हे सबसे स्नेह करने वाले प्रभो! आप सचमुच सबके मित्र हो। अतः आप हमारे लिए सदा सत्य शांतिदायक सिद्ध हों। हे सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर। आप सर्वोत्तम हो, अतः हमारे लिए परम सुखदायक हो। हे पक्षपातरहित धर्मन्यायकारिन्! आप धर्मात्माओं का न्याय करने वाले धर्मराज हो, अतः आप हमें न्याययुक्त सुख देने वाले हैं। हे परमैश्वर्यमान्। आप हमें परमैश्वर्ययुक्त स्थिर सुख दीजिए। हे बृहस्पति! आप बड़ों के पालक हो। हमें सबसे अधिक सुख देने वाले आप ही हो। आप अनंत पराक्रम वाले तथा सर्वत्र व्यापक हो। अतः आप हमें अनंत पराक्रमयुक्त कीजिए।"

× × ×

> "मैं सब जगत् के हितसाधक यज्ञ के देव, ऋतुओं के सृष्टा, यज्ञकर्त्ता, रत्नों को धारण करने वाले ज्ञान स्वरूप परमात्मा की स्तुति करता हूं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म और अधर्म

स्वामीजी ने धर्म और अधर्म के लक्ष्य गिनाए हैं उनके अनुसार धर्म हैं : (1) अहिंसा, (2) धृति, (3) क्षमा, (4) दम, (5) अस्तेय, (6) शौच, (7) इंद्रियनिग्रह, (8) घी, (9) विद्या, (10) सत्य, और (11) अक्रोध।

स्वामीजी ने इन सभी शब्दों के अर्थ दिए हैं।

(1) **अहिंसा** : इसका अर्थ केवल 'पशु आदि न मारना' नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ है–वैर-त्याग।

(2) **धृति** : धृति का अर्थ है धैर्य। राज्य जाए तो भी धर्म का धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए। धैर्य छोड़ने से धर्म का पालन नहीं होता।

(3) **दम** : दम का अर्थ वैराग्य नहीं है। इसका अर्थ है मन की वृत्तियों को वश में रखना।

(4) **अस्तेय** : चोरी न करना।

(5) **शौच** : शौच का अर्थ है स्वच्छता। शौच दो प्रकार का होता है–शारीरिक और मानसिक। उत्कृष्ट रीति से स्नान आदि करना शारीरिक शौच है। किसी भी दुष्टवृत्ति को मन में आश्रय न देना मानसिक शौच है। स्वामीजी के अनुसार शरीर स्वच्छ रखने से रोग उत्पन्न नहीं होते और मानसिक प्रसन्नता भी रहती है।

(6) **इंद्रियनिग्रह** : इंद्रियनिग्रह का अर्थ है "सारी इंद्रियों को न्यायपूर्वक वश में रखना"। इंद्रियों का निग्रह बड़ी युक्ति से करना चाहिए। स्वामी दयानंद ने मनु के आधार पर कहा है कि इंद्रियां इतनी प्रबल हैं कि माता तथा बहिनों के साथ रहने में भी सावधानी बरतनी चाहिए।

(7) **घी** : घी का अर्थ है बुद्धि। स्वामीजी के शब्दों में, "सब प्रकार बुद्धि को बल प्राप्त हो, वैसे ही आचरण करने चाहिए। शरीर-बल के बिना बुद्धि-बल का क्या लाभ? इसलिए शरीर-बल संपादन करने के लिए और उसकी रक्षा करने के लिए बहुत यत्न करते रहना चाहिए।"

(8) **विद्या** : विषयासक्ति, ऐश्वर्यभ्रम और अभिमान अविद्या के लक्षण हैं। यथाविहित ज्ञान ही विद्या है। स्वामी दयानंद ने कहा है, "जिस पुरुष को यह अभिमान होता है कि मैं धनाढ्य हूं या मैं बड़ा राजा हूं, उसे अविद्या का दोष है। दूसरा शरीर का क्षीण रहना, यह अविद्या के कारण ही होता है। इससे सब प्रकार की विद्या संपादन करने के विषय में प्रयत्न करना चाहिए। हमारे देश में न्यून अवस्था में विवाह करने की रीति के कारण विद्या-संपादन करने में अड़चन होती है। अपवित्र पदार्थ में पवित्रता मानना यह अविद्या है। ईश्वर का ध्यान, यह पूर्ण विद्या है। यह सारी विद्याओं का मूल है। किसी भी देश में इस अविद्या का ह्रास होने से उस देश को दुर्दशा आ घेरती है।"

(9) **सत्य** : स्वामीजी के अनुसार सत्य तीन प्रकार का है–सत्य-भाव, सत्य-वचन, सत्य-क्रिया। सत्य-भावना होनी चाहिए, सत्य भाषण करना चाहिए और सत्य आचरण तो करना ही चाहिए। किसी प्रकार का विकल्प मन में नहीं होना चाहिए। असत्य का त्याग करना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(10) **अक्रोध :** भयंकर क्रोध का सर्वथा त्याग करना चाहिए। स्वाभाविक क्रोध कभी नहीं जा सकता। परंतु उसे भी रोकना मनुष्य का धर्म है। क्रोधाधीन होने से बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं।''

अधर्म

स्वामी दयानंद ने मनु के आधार पर 10 अधर्म गिनाए हैं। इनमें तीन मानसिक हैं, चार वाचिक और तीन शारीरिक।

चार मानसिक अधर्म हैं : परद्रव्य हरण अथवा चोरी, लोगों का बुरा चिंतन करना, उनके प्रति मन में द्वेष रखना अथवा उनसे ईर्ष्या रखना; मिथ्या निश्चय करना।

चार वाचिक अधर्म हैं : कठोर भाषण, झूठ बोलना, चुगली करना और जानबूझ कर किसी बात को उड़ाना।

शारीरिक अधर्म तीन हैं : चोरी, हिंसा और परस्त्रीगमन।

तीन गुण

भारतीय चिंतन में मनुष्य के तीन गुणों अथवा वृत्तियों की कल्पना की गई है : सत्त्व, रज और तम। स्वामी दयानंद ने मनुस्मृति के आधार पर इन तीन गुणों की व्याख्या की है। जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, जब अज्ञान रहे तब तम और जब आत्मा राग-द्वेष में लिप्त हो तब रजोगुण जानना चाहिए। प्रकृति के ये तीन गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं। जब आत्मा में प्रसन्नता का भाव हो, मन प्रसन्न और शांत हो और वह शुभ कार्यों में प्रवृत्त हो, तब समझना चाहिए कि उसमें सत्त्वगुण की प्रधानता है। जब आत्मा और मन दुखयुक्त हों, मन में प्रसन्नता न हो, वह विषय-भोगों की ओर जाता हो, तब समझना चाहिए कि उसमें रजोगुण प्रधान है। जब आत्मा और मन विषय-भोगों में ग्रस्त हो, उनमें विवेक का भाव न रहे, तब समझना चाहिए कि उनमें तमोगुण की प्रधानता है। सत्त्व गुण के लक्षण हैं : वेदों का अभ्यास, तप का अनुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इंद्रियों का निग्रह, धार्मिक कार्य और आत्मा का चिंतन।

रजोगुण के मुख्य लक्षण हैं : तीव्र आसक्ति, धैर्य-त्याग, असत् कर्मों का ग्रहण, विषय-भोग, अनावश्यक संचय। तमोगुण के अंतर्गत लोभ, आलस्य, धैर्य-नाश, क्रूरता, नास्तिकता, याचना और मद्यपान आदि दुष्ट व्यसनों की प्रबलता पाई जाती है।[13]

यज्ञ

यज्ञ का सामान्य अर्थ अग्निहोत्र अथवा हवन है। इस अनुष्ठान के पीछे परोपकार की भावना निहित है। हवन में डाले गए पदार्थों तथा घी की सुगंध वातावरण को शुद्ध करती है। हवन के मंत्रों में ईश्वर की स्तुति और प्रार्थना के साथ-साथ परोपकार की भावना को प्रकट करने वाले मंत्र भी हैं। स्वामी दयानंद का कहना है कि ''मनुष्यों को योग्य है कि सब मंगल कार्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अपने और पराए कल्याण के लिए यज्ञ द्वारा ईश्वरोपासना करें। इसीलिए सुगंधित आदि द्रव्यों की आहुति यज्ञकुंड में देवें।"

स्वामी दयानंद ने 'यज्ञ' शब्द के तीन अर्थ किए हैं : (1) देवपूजा, (2) संगतिकरण; और (3) अर्थदान।

'देव' शब्द के अनेक अर्थ हैं—प्रकाश, परमात्मा और विद्वान्। स्वामी दयानंद देवपूजा का अर्थ परमात्मा की पूजा करते हैं।[14]

संगतिकरण का अर्थ है "अत्यंत प्रीतिपूर्वक देवता का ध्यान, देवता का विचार तथा सत्पुरुषों का संग करना।"[15]

अर्थदान वास्तव में विद्यादान है। विद्यादान को छोड़ दूसरे दान दान नहीं हैं। विद्यादान अक्षय दान है।[16]

स्वामी दयानंद ने मनुष्य मात्र के लिए पांच यज्ञों का उपदेश दिया है : (1) ब्रह्मयज्ञ, (2) देवयज्ञ, (3) पितृयज्ञ, (4) अतिथि यज्ञ, और (5) बलिवैश्वदेव यज्ञ।

उन्होंने **पंचमहायज्ञविधि** पुस्तक में इन यज्ञों का विशद विवरण दिया है।

प्रतिदिन प्रभु की भक्ति, उसके प्रति धन्यवाद-ज्ञापन तथा वेदों का स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ है।

भौतिक जगत् तथा देवताओं के प्रति अग्निहोत्र करके वातावरण शुद्ध बनाना तथा विद्वानों का सम्मान करना देवयज्ञ है।

अपने गुरुजनों तथा माता-पिता आदि की श्रद्धापूर्वक सेवा करना पितृयज्ञ है।

साधु-संतों तथा अतिथियों का सत्कार करना अतिथि-यज्ञ है।

जगत के दुखी मानवों तथा पशु-पक्षियों के लिए खाद्यान्न अर्पित करना बलिवैश्वदेवयज्ञ है।

संध्या

ब्रह्मयज्ञ का ही एक नाम संध्या है। यह ईश्वरोपासना है। इसके मंत्रों में शारीरिक और आत्मिक उन्नति की प्रार्थना की जाती है। प्राणायाम विधि का उपयोग संध्या में आवश्यक रखा गया है। गायत्री मंत्र द्वारा सुबुद्धि की प्रार्थना भी संध्या में निहित है। संध्या दिन में दो बार प्रातःकाल और सायंकाल करना पर्याप्त है।

संध्या के कुछ प्रमुख मंत्र का भाव है : "सर्वप्रकाशक और सर्वव्यापक ईश्वर इच्छित फल और आनंद प्राप्ति के लिए हमारे लिए कल्याणकारी हों और हम पर सुख की वृद्धि करें"।

"हे ईश्वर! मेरी वाणी, प्राण, आंख, कान, नाभि, हृदय, कंठ, सिर, बाहु और हाथ के ऊपर नीचे के भाग अर्थात् सभी इंद्रियां बलवान और यश वाले हों।"

"हे इश्वर! आप मेरे सिर, नेत्र, कंठ, हृदय, नाभि, पैर अर्थात् समस्त शरीर को पवित्र करें।"

स्वामी दयानंद की पुस्तक **पंचमहायज्ञविधि** में संध्या का विस्तार से वर्णन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कार

स्वामी दयानंद ने मनुष्य जीवन के सोलह महत्त्वपूर्ण संस्कार माने हैं और अपनी **संस्कार-विधि** पुस्तक में उनका विस्तार से वर्णन किया है।[17]

योग

योग का अर्थ है—जोड़ना। मनुष्य का चित्त चंचल है। उसकी चंचलता पर काबू पाना और उसे परम तत्त्व के साथ संयुक्त करना ही योग है। योगविद्या पर सबसे विख्यात ग्रंथ पतंजलि का **योगशास्त्र** है। इस ग्रंथ में योग के आठ अंग माने गए हैं : (1) यम[18], (2) नियम[19], (3) आसन[20], (4) प्राणायाम[21], (5) प्रत्याहार[22], (6) धारणा[23], (7) ध्यान[24], और (8) समाधि[25]।

स्वामी दयानंद ने योग के इन सभी अंगों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। वे योगविद्या को ईश्वर-प्राप्ति का एक शाश्वत साधन मानते हैं। स्वामी दयानंद के जीवन का एक बड़ा भाग सच्चे योगियों की खोज में व्यतीत हुआ था। उन्हें जीवन-यात्रा में अनेक योगी मिले थे जिनसे उन्होंने यौगिक क्रियाएं सीखी थीं। स्वामीजी की दृष्टि में योग दिखावे की वस्तु नहीं, गहन साधना की वस्तु है।

गायत्री मंत्र

चारों वेदों में प्रायः बीस हजार मंत्र हैं। इनमें गायत्री मंत्र को सबसे प्रमुख मंत्र माना गया है। मंत्र का पाठ है :

ओ3म भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्' भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रच्योदयात्।

मंत्र में सत् चित् आनंद स्वरूप, जगत के उत्पादक और दिव्य गुण संपन्न ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि हम उसके ग्रहण करने योग्य शुद्ध स्वरूप को धारण करें और वह हमारी बुद्धि को सही दिशा में प्रेरित करे।

गायत्री मंत्र की विशेषता यह है कि इसमें ईश्वर के सच्चे स्वरूप का वर्णन करने के साथ-साथ उससे बुद्धि देने की प्रार्थना की गई है।

विद्या-अविद्या

स्वामी दयानंद ने वेदों के आधार पर ज्ञान के दो मुख्य भेद स्वीकार किए हैं—विद्या और अविद्या। उनके अनुसार विभिन्न वस्तुओं के बारे में ठीक-ठीक ज्ञान होना विद्या है। उनके शब्दों में "अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुख में दुख, सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञाना होना विद्या है।"

अविद्या विद्या से उल्टी चीज है। अनित्य संसार और देहादि में नित्य बुद्धि रखना अर्थात् उन्हें स्थायी तत्त्व समझना अविद्या है। स्वामीजी के मत से पवित्र कर्म, पवित्र उपासना और पवित्र ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। अपवित्र तथा झूठे कार्यकलापों से मनुष्य बंधन में पड़ता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार-अनाचार

स्वामी दयानंद ने मनुस्मृति के आधार पर आचार और अनाचार का विवेचन किया है। आचार का अर्थ है अच्छा चाल-चलन। अनाचार अभद्र आचरण है। स्वामीजी ने लिखा है :

''मनुष्यों को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिसका सेवन रागद्वेषरहित विद्वान लोग नित्य करें, जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्य कर्त्तव्य जानें, वही धर्म माननीय और करणीय है।''[26]

''इस संसार में अत्यंत कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है। वेदार्थ ज्ञान और वेदोक्त कर्म ये सब कामना ही से सिद्ध होते हैं।''[27]

''जो कोई कहे कि मैं निरिच्छ और निष्काम हूं व हो जाऊं तो वह कभी नहीं हो सकता क्योंकि सब काम अर्थात् यज्ञ, सत्य भाषणादि व्रत, यम नियम रूपी धर्म आदि संकल्प ही से बनते हैं।''[28]

''क्योंकि जो जो हस्त, पाद, नेत्र, मन आदि चलाए जाते हैं वे सब कामना ही से चलते हैं। जो इच्छा न हो तो आंख का खोलना और मींचना भी नहीं हो सकता।''[29]

''इसलिए संपूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार और जिस-जिस कर्म में अपनी आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय, शंका, लज्जा जिसमें न हो उन कर्मों का सेवन करना उचित है।''[30]

स्वामी दयानंद ने स्पष्ट कहा है कि माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा करना देवपूजा है। जिस-जिस कर्म से जगत का उपकार हो वह वह कर्म करना और हानिकारक छोड़ देना ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। कभी नास्तिक, लम्पट, विश्वासघाती, चोर, मिथ्यावादी, स्वार्थी, कपटी, छली आदि दुष्ट मनुष्यों का संग न करें। जो आप्त, सत्यवादी, धर्मात्मा, परोपकार, प्रियजन हैं, उनका सदा संग करने का नाम ही श्रेष्ठाचार है।

भूत-प्रेतों का निषेध

स्वामीजी का विचार है कि मृतक शरीर प्रेत होता है। जब शरीर का दाह हो चुके, तब उसका नाम भूत होता है अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। भूत-प्रेतों में विश्वास, शंका, कुसंग, कुसंस्कार के कारण जन्म लेता है। स्वामीजी ने झाड़-फूंक आदि की भर्त्सना की है।

जन्म पत्र

स्वामीजी ने 'जन्मपत्र' को 'शोकपत्र' नाम दिया है। वे जन्म के समय ग्रहों के विचार को भी पाखंड मानते हैं। उन्होंने जादू-टोनों, मंत्र, तंत्र, यंत्र आदि को भी ढोंग कहा है।

वेद-विरुद्ध मतों का खंडन

स्वामी दयानंद के दार्शनिक और धार्मिक चिंतन की एक विशेषता यह है कि उन्होंने वेद-विरुद्ध सभी मत-मतांतरों का खंडन किया है। उन्होंने तंत्र, अद्वैतवाद, शैवमत, वैष्णवमत, जैनधर्म, बौद्ध धर्म, सिक्ख धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम की विसंगतियों तथा कुरीतियों को उजागर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है तथा तिलक, छाप, माला, तीर्थयात्रा, गंगा-स्नान आदि धर्म के बाह्याडंबरों की निंदा की है। स्वामीजी ने तीर्थों की परिभाषा करते हुए कहा है : "वेदादि सत्य शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैर, निष्कपट, सत्यभाषण, सत्य का मानना, सत्य करना, ब्रह्मचर्य, आचार्य, अतिथि, माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शांति, जितेंद्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि शुभ गुण कर्म दुखों के तारने वाले होने से तीर्थ है। और जो जल स्थलमय हैं वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते क्योंकि 'जना यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि' मनुष्य जिनको करके दुखों से तरें उनका नाम तीर्थ है। जल स्थल तराने वाले नहीं किंतु डुबा कर मारने वाले हैं। प्रत्युत नौका आदि का नाम तीर्थ हो सकता है क्योंकि उनसे भी समुद्र आदि को तरते हैं।[31]

नामस्मरण

स्वामीजी ने ईश्वर का नाम स्मरण 'धर्मयुक्त कर्मों का करना' माना है। वे गुरुमहात्म्य को भी 'पोपलीला' कहते हैं। उनके विचार से जो गुरु लोभी, क्रोधी, मोही और कामी हो उसे सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

पुराण

स्वामी दयानंद ने पुराणों की अधिकांश बातों को झूठा माना है। उनके विचार से श्रीकृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। उन्होंने जन्म से मृत्युपर्यंत कोई बुरा काम नहीं किया। लेकिन भागवत में उन पर अनेक दोष लगाए गए हैं। दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी और कुब्जादासी से समागम, परस्त्रियों से रासमंडल क्रीड़ा आदि दोष श्रीकृष्ण में आरोपित किए गए हैं।

कुंडली

स्वामीजी ने विवाह आदि अवसरों पर कुंडली मिलाना व्यर्थ माना है। उनके अनुसार "जो धनाढ्य, दरिद्र, प्रजा, राजा, रंक होते हैं, वे अपने कर्मों से होते हैं, ग्रहों से नहीं। बहुत से ज्योतिषी लोग अपने लड़के, लड़की का विवाह ग्रहों की गणितविद्या के अनुसार करते हैं। पुनः उनमें विरोध व विधवा अथवा मृतस्त्रीक पुरुष हो जाता है। जो फल सच्चा होता तो ऐसा क्यों होता? इसलिए कर्म की गति सच्ची और ग्रहों की गति सुख-दुख भोग में कारण नहीं।"

ब्रह्मसमाज से भेद

स्वामीजी का ब्रह्मसमाज और प्रार्थना समाज से घनिष्ठ संबंध रहा था। उनके विचार से इन दोनों संगठनों में कुछ-कुछ बातें अच्छी और बहुत-सी बुरी हैं। उन्होंने अनेक लोगों को ईसाई बनने से रोका और पाषाणादि मूर्ति पूजा को हटाया। स्वामीजी के इन संगठनों पर मुख्य आक्षेप हैं :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत कम है। इन्होंने ईसाईयों के बहुत से आचरण ग्रहण कर लिए हैं।

2. वे अपने देश की प्रशंसा नहीं करते, उसकी निंदा करते हैं। ब्रह्मादि ऋषियों का नाम तक नहीं लेते। अंग्रेज विद्वान हैं। आर्यावर्ती लोग सदा से मूर्ख चले आए हैं। उनकी उन्नति कभी नहीं हुई।

सारांश

स्वामी दयानंद के चिंतन की धुरी वेद हैं। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय हैं तथा समस्त सत्यविद्याओं की पुस्तक हैं।

स्वामीजी से पहले वेदों के अध्ययन-अध्यापन पर ब्राह्मणों का अधिकार था। स्वामीजी ने वेदों के अध्ययन का द्वार सभी वर्णों के लिए खोल दिया। स्वामीजी ने पहली बार हिंदी में वेदों का अनुवाद किया। स्वामीजी वेदकालीन भारत को भारत का स्वर्णयुग मानते हैं। उनके विचार से महाभारत के पश्चात् भारत की निरंतर अवनति हुई है।

भारत में अधिकतर सायण के वेदभाष्यों का प्रचार रहा है। पश्चिम के विद्वानों ने भी सायण के वेदभाष्य को ही अपना आधार माना। स्वामीजी ने अपने वेदभाष्य का आधार निरुक्त को बनाया है।

स्वामी दयानंद के अनुसार वेदों में मुख्य रूप से चार विषयों का प्रतिपादन है : विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान। स्वामीजी ने अपनी पुस्तक **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** में वेदों को समझने के संबंध में अपनी दृष्टि का उन्मीलन किया है।

स्वामी दयानंद ने वेदों में एकेश्वरवाद का समर्थन किया है। वे मानते हैं कि ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम ओऽम है। इंद्र, वरुण, वायु, अग्नि आदि विभिन्न देवता न होकर ईश्वर की ही विविध शक्तियां हैं। स्वामीजी ने **सत्यार्थ प्रकाश** के पहले समुल्लास में ईश्वरवाचक 100 नामों की व्युत्पत्ति दी है।

स्वामी दयानंद के अनुसार ईश्वर निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी और दयालु है। उनके विचार से मनुष्य को 100 वर्ष तक कर्म करते हुए जीने की इच्छा रखनी चाहिए।

स्वामी दयानंद ने मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का खंडन किया है। वे ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि मानते हैं। उनकी दृष्टि में छहों दार्शनिक संप्रदायों—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और वेदांत में परस्पर-विरोध नहीं है। ये छहों दर्शन आस्तिक हैं और वेदों की प्रामाणिकता को शिरोधार्य करते हैं।

स्वामीजी के अनुसार जीव भी अनादि है। उसका ईश्वर का संबंध उपास्य-उपासक अथवा पिता-पुत्र का है। जीव कर्म करने में स्वतंत्र है लेकिन उसे कर्मों का फल ईश्वर देता है। स्वामी दयानंद जीव अथवा आत्मा को अमर मानते हैं। उनका यह मंतव्य गीता के अनुकूल है।

स्वामीजी के अनुसार सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर है। ईश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सभी जीवों का परोपकार करना है। स्वामीजी के अनुसार मनुष्यों की आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सृष्टि तिब्बत में हुई थी।

स्वामी दयानंद पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। स्वामीजी के अनुसार जीव का जन्म मरण के बंधन से छूट जाना मोक्ष है। उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के लिए शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान जैसे छः उपाय बताए हैं।

स्वामीजी को तर्पण और श्राद्ध जैसी धार्मिक रस्में मान्य नहीं हैं। उनके विचार से जीवित मनुष्यों की सेवा ही सच्चा तर्पण और श्राद्ध है। स्वामीजी का मानना है कि ईश्वर की प्रार्थना अवश्य करनी चाहिए। स्वामीजी द्वारा रचित **आर्याभिविनय** ग्रंथ 107 वैदिक प्रार्थनाओं का संकलन है। स्वामीजी ने धर्म और अधर्म के लक्षण गिनाए हैं। उनके अनुसार अहिंसा, धृति तथा क्षमा आदि धर्म हैं। चोरी, द्वेष और कठोर भाषण आदि अधर्म हैं। स्वामी दयानंद ने मनुस्मृति के आधार पर तीन गुणों—सत्त्व, रज तथा तम—की व्याख्या की है।

स्वामीजी के धार्मिक चिंतन में यज्ञों का विशेष महत्त्व है। यज्ञ वातावरण को शुद्ध करते हैं। उन्होंने मनुष्य मात्र के लिए पांच यज्ञों का उपदेश दिया है : ब्रह्मयज्ञ अथवा संध्योपासना, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथि यज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ। स्वामीजी ने **पंच महायज्ञविधि** पुस्तक में इन यज्ञों का विशद विवरण दिया है।

स्वामी दयानंद ने मनुष्य-जीवन के 16 महत्त्वपूर्ण संस्कार माने हैं और उनका अपनी **संस्कार-विधि** पुस्तक में विस्तार से वर्णन किया है।

स्वामी दयानंद ने महर्षि पतंजलिकृत **योगशास्त्र** ग्रंथ को मान्यता दी है और उसे आध्यात्मिक उत्थान के लिए आवश्यक माना है।

स्वामीजी गायंत्री मंत्र को वेदों का सबसे महत्वपूर्ण मंत्र मानते हैं। इस मंत्र में ईश्वर से सद्बुद्धि देने की प्रार्थना की गई है।

स्वामीजी ने ज्ञान के दो भेद स्वीकार किए हैं। वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान विद्या है और झूठा ज्ञान अविद्या। विद्या से मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है और अविद्या से वह बंधन में पड़ता है।

स्वामीजी ने मनुस्मृति के आधार पर आचार-अनाचार का विवेचन किया है।

स्वामीजी ने धर्म के बाह्याडंबरों का निषेध किया है। उन्होंने भारत में पाए जाने वाले प्रमुख संप्रदायों की जिनमें ईसाई और इस्लाम भी सम्मिलित हैं, विसंगतियां उजागर की हैं।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. आर्य समाज का तीसरा नियम है : "वेद सत्यविद्याओं की पुस्तक हैं। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"
2. मुगल काल में शाहजहां के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह का ध्यान उपनिषदों की ओर गया था और उसने प्रमुख उपनिषदों का फारसी में अनुवाद कराया था। दाराशिकोह द्वारा कराए गए उपनिषदों के इन फारसी अनुवादों का ही फ्रांसीसी तथा जर्मन भाषाओं में अनुवाद हुआ और पश्चिमी संसार में प्रचारित हुए। ब्रह्मसमाज के नेताओं राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन और देवेन्द्रनाथ टैगोर की भी दृष्टि उपनिषदों पर ही ठहर गई थी। वे वेदों तक नहीं पहुंच सके थे।
3. पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेदों पर किए गए कार्य के लिए देखिए : डॉ. मंगलदेव शास्त्री, 'वैदिक साहित्य में पाश्चात्य विद्वानों का कार्य', *वेदवाणी,* बहालगढ़ (सोनीपत, हरियाणा), नवंबर, 1998,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृ. 49-63, डॉ. हरिदत्त शर्मा, 'वेद और विदेशी विद्वान', *उपर्युक्त,* पृ. 64-76, वीरेन्द्र शास्त्री, 'वैदिक साहित्य के पाश्चात्य लेखक', *उपर्युक्त,* पृ. 103-116।

4. वेदों की व्याख्या की एक दीर्घकालीन परंपरा रही है और उसको लेकर अनेक दृष्टिकोण प्रचलित हैं। विवेचन के लिए देखिए, प्रिंसिपल विधुशेखर भट्टाचार्य, 'वेद की व्याख्या और उसकी परंपरा', *वेदवाणी, उपर्युक्त,* पृ. 29-37, डॉ. भवानीलाल भारतीय, 'वेदार्थ की मध्यकालीन तथा पाश्चात्य पद्धतियां', *उपर्युक्त,* पृ. 240-250।
5. *निरुक्त* महर्षि यास्क मुनि रचित एक प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमें वैदिक शब्दों की विशद व्याख्या की गई है। देखिए : 'निरुक्तकार यास्क द्वारा प्रदर्शित वेद-व्याख्या की विधाएं', *वेदवाणी, उपर्युक्त,* पृ. 292-300।
6. फतेहसिंह, 'वेदोद्धारक दयानंद', *वेद सविता,* वर्ष 4, अंक 3; अक्तूबर, 1983, पृ. 12-26।
7. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, *आर्यसमाज का इतिहास,* प्रथम भाग, आर्य स्वाध्याय केंद्र, नई दिल्ली, पृ. 392-396।
8. *गीता, 2/20।*
9. *उपर्युक्त,* 2/22।
10. स्वामी दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में अपने विचार प्रकट किए हैं।
11. पुनर्जन्म के सिद्धांत का गीता में भी आख्यान हुआ है। विशेष कर छठे अध्याय में (श्लोक संख्या 40-45)। गीता में कहा गया है कि योग के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति का कभी विनाश नहीं होता। योग भ्रष्ट पुरुष योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। नए जन्म में पूर्व जन्म के संस्कार उसके साथ रहते हैं। इन संस्कारों के प्रभाव से वह परमात्मा की प्राप्ति के पहले से भी अधिक प्रयत्न करता है। प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी पिछले अनेक जन्मों के संस्कार-बल से परम गति को प्राप्त कर लेता है।
12. भारतीय अध्यात्म का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। भारतीय शास्त्रों में मोक्ष के अनेक उपाय या मार्ग बताए गए हैं जिनमें से एक योगसाधना है। गीता (2/25) में कहा गया है कि जिन लोगों के सारे पाप और संशय नष्ट हो गए हैं और जो सभी लोगों के कल्याण में लगे हुए हैं, वे निर्वाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं। मोक्ष की अवस्था मन वाणी से परे है। इस स्थिति में मनुष्य कर्मबंधनों से छूट कर परमानंदस्वरूप हो जाता है।
13. गीता के चौदहवें अध्याय में श्लोक संख्या 5 से श्लोक संख्या 20 तक सत्त्व, रज तथा तम गुणों की विवेचना की है। गीता का कहना है कि तीनों गुण जीवात्मा को शरीर से बांध कर रखते हैं। ये तीनों गुण प्रकृति के कार्य हैं और समस्त जड़ पदार्थ इनसे ही पैदा हुए हैं। सत्त्व गुण निर्मल होने के कारण प्रकाश करने वाला और विकाररहित है। जब सत्त्वगुण बढ़ता है तब मन की चंचलता अपने आप नष्ट हो जाती है। मनुष्य संसार से विरक्त होकर परमात्मा के ध्यान में लीन हो जाता है। रागरूप रजोगुण कामना और आसक्ति से उत्पन्न होता है। उसके कारण व्यक्ति कर्मफल में आसक्ति रखता है। तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। वह जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा में लीन रखता है। गीता के अनुसार सत्त्व गुण सुख देता है, रजोगुण कर्म में प्रवृत्त करता है तथा तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद को जन्म देता है। जिस समय देह, अंतःकरण और इंद्रियों में चेतनता तथा विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, इस समय समझना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है। रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, स्वार्थ, अशांति और विषयभोगों की लालसा जन्म लेती है। तमोगुण के बढ़ने पर अंतःकरण और इंद्रियों में अंधकार छा जाता है। मनुष्य कर्त्तव्य कर्मों से जी चुराने लगता है तथा उसमें प्रमाद और मोह का भाव पैदा हो जाता है।
14. स्वामी दयानंद सरस्वती, *उपदेश मंजरी,* मधुर प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 63।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

15. *उपर्युक्त,* पृ. 64।
16. *उपर्युक्त,* पृ. 64।
17. इसी पुस्तक में *संस्कार विधि* नामक अध्याय देखिए।
18. 'यम' पांच हैं, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। किसी भी प्राणी को तनिक भी कष्ट न देना अहिंसा है। कपटरहित प्रिय शब्दों में यथार्थ भाषण सत्य है। किसी के हक को न चुराना और न छीनना अस्तेय है। मन, वाणी और शरीर से मैथुनों का त्याग करना ब्रह्मचर्य है। शरीर निर्वाह के अतिरिक्त भोग्य सामग्री का संग्रह न करना अपरिग्रह है।
19. पांच नियम हैं : शौच, संतोष, तप, स्वाध्या, ईश्वर, प्राणिधान। भीतर और बाहर की पवित्रता शौच है। सुख-दुख की सभी स्थितियों में संतुष्ट रहना संतोष है। व्रत, उपवास आदि करना तप है। कल्याणकारी शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय है। सर्वस्व ईश्वर के प्रति अर्पित करके उसकी आज्ञाओं का पालन ईश्वर-प्रणिधान है।
20. सुखपूर्वक स्थिरता से बैठने का नाम आसन है। आसन अनेक हैं आत्म संयम चाहने वाले व्यक्ति के लिए सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन उपयोगी माने गए हैं।
21. आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति को रोकने का नाम प्राणायाम है। बाहरी वायु का भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतर की वायु को बाहर निकालना प्रश्वास है।
22. इंद्रियों को विषयों से हटाना प्रत्याहार है।
23. चित्त को किसी एक ध्येय पर केंद्रित कर देना धारणा है।
24. चित्तवृत्ति को ध्येय वस्तु में लगाए रखने का नाम ध्यान है।
25. मन को केवल ईश्वर पर ही केंद्रित करना समाधि है। इस अवस्था में व्यक्ति ध्येयाकार हो जाता है। उसे अपना ध्यान नहीं रहता। यह योग का अंतिम चरण है।
26. स्वामी दयानंद सरस्वती **सत्यार्थ प्रकाश**, विरजानंद वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, 1959, पृ. 223।
27. *उपर्युक्त*।
28. *उपर्युक्त*।
29. *उपर्युक्त*।
30. *उपर्युक्त*।
31. *उपर्युक्त,* पृ. 287।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 17

राज्य और शासन

सर्वग्राही चिंतन

स्वामी दयानंद का चिंतन सर्वग्राही था। उनके राज्य और शासन-संबंधी विचार इसी सर्वग्राही चिंतन का एक अभिन्न अंग हैं।

राजसत्ता का महत्त्व

स्वामी दयानंद की दृष्टि में राजसत्ता का आधारभूत महत्त्व था। उन्होंने **सत्यार्थ प्रकाश** के छठे समुल्लास तथा **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** के सत्ताइसवें अध्याय में इसी विषय का विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त स्वामीजी ने अपने वेदभाष्यों तथा पत्र-व्यवहार में भी अनेक स्थानों पर राज्य और शासन विषयक प्रश्न उठाए हैं।

आधुनिक राजनीतिक चिंतन

आधुनिक राजनीतिक चिंतन का विकास मुख्यतः पश्चिम में हुआ है। यह प्रक्रिया यूनान से आरंभ हुई और अभी तक चली आ रही है। मनुष्य ने अपनी इस लंबी यात्रा में अनेक प्रकार के प्रयोग किए हैं और उसने लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली को, उसकी सारी कमियों के बावजूद सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली स्वीकार किया है। स्वामी दयानंद का पश्चिम के राजनीतिक चिंतन से परिचय नहीं था लेकिन भारतीय शास्त्रों में उनकी अगाध गति थी और उन्होंने वेदों, शुक्रनीति, मनुस्मृति, महाभारत आदि ग्रंथों के आधार पर राजनीति के कुछ सार्वभौम सूत्रों का आख्यान किया है। उनका राजनीतिक चिंतन सर्वांश में स्वदेशी है।

भारत की राजनीतिक स्थिति

स्वामी दयानंद के राजनीतिक चिंतन को समझने के लिए उन्नीसवीं सदी के मध्य की राजनीतिक स्थिति को समझना उपयोगी होगा।

1707 में मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत की राजनीतिक एकता में दरारें पड़ने लगीं। औरंगजेब के बाद मुगल वंश में कोई ऐसा प्रतापी शासक नहीं हुआ जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारे देश को एकता के सूत्र में बांधे रखता और यूरोप से आने वाली नई साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रतिरोध कर पाता। 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद भारत में अंग्रेजी शासन का सूत्रपात हो गया। 1764 में बक्सर के युद्ध में पराजित होने के बाद मुगल सम्राट ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबों की दीवानी ईस्ट इंडिया कंपनी को सौंप दी। इससे पूर्वी भारत पर अंग्रेजों का अधिकार स्थापित हो गया। इसके बाद एक सदी तक अंग्रेज भारत में अपना राज्य-विस्तार करते रहे। उन्होंने देशी राजाओं की फूट और अपनी श्रेष्ठ सामरिक क्षमता से लाभ उठा कर धीरे-धीरे समूचे भारत पर कश्मीर से कन्याकुमारी तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली।

1857 की क्रांति

भारतीय अंग्रेजी शासन के तथाकथित वरदानों के बावजूद विदेशी शासन से पूरी तरह संतुष्ट नहीं थे और उनका यह असंतोष 1857 के सिपाही विद्रोह अथवा प्रथम स्वातंत्र्य संघर्ष के रूप में प्रकट हुआ। अंग्रेजों ने इस विद्रोह को दबा दिया।

ब्रिटिश शासन की प्रशंसा

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों की भारतीय पीढ़ी अंग्रेजी शासन की प्रशंसक थी। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारतीयों का पाश्चात्य साहित्य तथा ज्ञान-विज्ञान से परिचय हुआ और उसने छोटे-मोटे राजनीतिक संगठनों के माध्यम से शासन-कार्य में भारतीयों के समावेश की मांग की। 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के बाद भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन धीरे-धीरे बढ़ने लगा।

विदेशी शासन के प्रति विरक्ति

स्वामी दयानंद ने खुलेआम विदेशी शासन का विरोध नहीं किया है लेकिन उन्होंने स्थान-स्थान पर विदेशी शासन के प्रति विरक्ति का भाव प्रकट किया है।

हीन भावना का निवारण

भारतीयों में बढ़ती हुई हीन भावना को दूर करने का सबसे पहला प्रयत्न स्वामी दयानंद ने किया। उन्होंने देशवासियों को प्राचीन भारत की उपलब्धियों का स्मरण दिलाया तथा देश की अधगति के कारणों का विश्लेषण किया।

'आर्य', 'आर्यावर्त' और 'आर्यभाषा'

स्वामी दयानंद ने भारतीयों को 'आर्य', भारतवर्ष को 'आर्यावर्त' तथा भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी को 'आर्यभाषा' नाम दिया है। स्वामीजी के अनुसार "जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्य, विद्यादि गुणयुक्त और आर्यावर्त में सब दिन से रहने वाले हैं उनको आर्य कहते हैं। आर्यों का देश आर्यावर्त हे। स्वामीजी 'आर्यभाषा' हिंदी के प्रबल उन्नायक थे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उन्होंने जनसाधारण तक अपने विचारों को पहुंचाने के लिए हिंदी में विपुल साहित्य की रचना की है।

भारत का गौरव गान

स्वामी दयानंद ने अपनी रचनाओं में आर्यावर्त अर्थात् भारत देश का गौरव गान किया है। उनके अनुसार "यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है, इसीलिए इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है, क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है।"[1]

आर्यों का सार्वभौम साम्राज्य

स्वामी दयानंद मानते हैं कि सृष्टि से लेकर पांच हजार वर्षों से पूर्व समयपर्यंत आर्यों का सार्वभौम साम्राज्य था। दूसरे शब्दों में वह भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देशों में मांडलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे। महाराजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भूमंडल के सभी राजा सम्मिलित हुए थे।[2]

भारत का ह्रास

स्वामी दयानंद भारत के ह्रास का प्रमुख कारण महाभारत युद्ध को मानते हैं। महाभारत युद्ध में बड़े-बड़े विद्वान, राजा, महाराजा तथा ऋषि, महर्षि मारे गए। इसके फलस्वरूप विद्या तथा वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो गया। जो बलवान था वह देश को दबा कर राजा बन बैठा। आर्यावर्त देश खंड-खंड हो गया। द्वीप-द्वीपांतरों के राजा भी स्वतंत्र हो गए। ब्राह्मणों का वर्चस्व स्थापित हो गया। उन्होंने वेदों पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया।[3]

"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी किंतु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखंड, स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रांत हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतंत्र हैं। दुर्दिन जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परंतु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतांतर के आग्रहरहित, अपने और पराए का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"[4]

सत्यार्थ प्रकाश में राज्य और शासन का विवेचन

स्वामी दयानंद ने **सत्यार्थ प्रकाश** के छठे समुल्लास का नाम 'राजधर्म' रखा है। उन्होंने यह विवेचन मुख्य रूप से मनुस्मृति, ऋग्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण तथा यजुर्वेद के आधार पर किया है। इस विषय में उनका मुख्य स्रोत मनुस्मृति के सातवें, आठवें और नवें अध्याय हैं। स्वामीजी ने राजसत्ता के स्वरूप को समझने के लिए शुक्रनीति, विदुर प्रजागर तथा महाभारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शांतिपर्व के राजधर्म तथा आपद्धर्म प्रकरणों के अध्ययन की भी संस्तुति की है। 'राजसत्ता' विषय पर प्राचीन भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कौटिल्यकृत **अर्थशास्त्र** है। उसकी खोज स्वामी दयानंद के जीवनकाल में नहीं हो सकी थी।

स्वामीजी मानते हैं कि संस्कृत ग्रंथों में पूरी राजनीति पाई जाती है। उन्होंने राजसत्ता के लिए कुछ नियम सार्वभौम महत्त्व के माने हैं। वे हैं : (1) बाल्यावस्था में विवाह का निषेध, (2) युवावस्था में भी पूरी तरह स्वस्थ होने पर विवाह, (3) ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवन, (4) व्यभिचार और बहुविवाह का निषेध, (5) आत्मा और शरीर दोनों के बल की वृद्धि, और (6) राजा और राजपुरुषों द्वारा धर्म तथा न्याय का पालन।

तीन सभाएं

स्वामी दयानंद ने ऋग्वेद के आधार पर राज-काज के लिए तीन सभाओं की स्थापना का सुझाव दिया है। वे सभाएं हैं : विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा और राजार्यसभा।

स्वामीजी राजतंत्र के समर्थक हैं। लेकिन उनका राजतंत्र वंशानुगत अथवा स्वेच्छाचारी नहीं है। उनके मत से स्वाधीन राजा प्रजा का नाश कर देता है।

स्वामी दयानंद ने अथर्ववेद के आधार पर राजा के निर्वाचन की व्यवस्था दी है। जो व्यक्ति अपराजेय, ऐश्वर्यवान तथा तेजस्वी हो, वही राजा के पद पर निर्वाचित होने के योग्य है।

स्वामीजी ने तीनों सभाओं : विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा के सदस्यों की अर्हताएं निर्धारित की हैं। विद्वानों को विद्यासभा, धर्माचार्यों को धर्मसभा तथा धार्मिक पुरुषों को राजसभा का सदस्य नियुक्त किया जाना चाहिए। स्वामीजी का मत है कि शासन का संचालन तीनों सभाओं की सम्मति से होना उचित है।

राजा के गुण

स्वामीजी ने मनुस्मृति के आधार पर राजा के गुणों का वर्णन किया है। राजा को ऐश्वर्यवान, सर्वप्रिय, पक्षपातरहित, न्यायी और शूरवीर होना चाहिए।

राजसत्ता का स्वरूप

प्राचीन भारत के राजनीतिक चिंतन में राजसत्ता का एक पर्याय 'दंड' था। अतः 'दंडनीति' का अभिप्राय होता था राजसत्ता के संचालन की नीति। स्वामी दयानंद ने दंडनीति के व्यापक क्षेत्र के बारे में मनुस्मृति के सातवें अध्याय के कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं। इन श्लोकों में कहा गया है कि राजा और राजसत्ता एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। राजसत्ता न्याय की रक्षा करती है, शासन का संचालन करती है और इस बात का ध्यान रखती है कि लोग मानव जीवन के चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) तथा अपने-अपने वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के कर्त्तव्यों का सुचारू रीति से पालन करें। जब सारी प्रजा सो रही हो तब भी उसकी रक्षा के लिए राजसत्ता जागती रहती है। यही कारण है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि विद्वान राजसत्ता को धर्म का ही एक रूप मानते हैं। जब राजसत्ता का प्रयोग उचित रीति से होता है, तब प्रजा को आनंद मिलता है। राजसत्ता का दुष्प्रयोग होने पर चारों ओर अराजकता छा जाती है। सामाजिक जीवन की सुरक्षा के लिए राजसत्ता को सुदृढ़ बने रहना अनिवार्य है। राजसत्ता के शिथिल होने पर विभिन्न वर्णों के लोग अपने कर्त्तव्यों का पालन उचित रीति से नहीं करते। इस स्थिति में सामाजिक मर्यादाएं छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और लोगों की बुद्धि स्थिर नहीं रहती। यह आवश्यक है कि राजसत्ता का प्रयोग करने वाले लोग निष्पक्ष, न्यायी तथा विद्वान हों। राजसत्ता का सही प्रयोग शासक को उत्कर्ष के मार्ग पर ले जाता है और उसका गलत प्रयोग पतन तथा विनाश की राह खोल देता है। राजसत्ता का सही प्रयोग वही व्यक्ति कर सकता है जो विद्यावान और सदाचारी हो।[5]

सभाओं की सदस्यता

स्वामी दयानंद ने राजकाज चलाने के लिए जिन तीन सभाओं : विद्या सभा, धर्म सभा तथा राज सभा की कल्पना की है, उन सभाओं की सदस्यता के लिए ऊंची योग्यताएं निर्धारित की गई हैं। इन सभाओं के सदस्य वही व्यक्ति हो सकते हैं जो वेदों, न्याय-शास्त्र निरुक्त तथा धर्मशास्त्र के ज्ञाता हों। सभा में निर्णय बहुमत के आधार पर नहीं, प्रत्युत सर्वानुमति के आधार पर होना चाहिए। कभी-कभी एक ज्ञानी व्यक्ति की सम्मति करोड़ों अज्ञानियों से ज्यादा वजनदार होती है। सभा के सदस्यों का योगाभ्यासी तथा जितेन्द्रिय होना आवश्यक है क्योंकि अपनी इंद्रियों पर विजय पाए बिना कोई व्यक्ति बाहर की प्रजा को अपने वश में नहीं रख सकता।[6]

राजाओं के व्यसन

स्वामी दयानंद ने मनुस्मृति के आधार पर राजा के 18 व्यसन गिनाए हैं। इनमें से दस व्यसन तो काम से उत्पन्न होते हैं तथा आठ व्यसन क्रोध से : (1) शिकार खेलना, (2) जुआ खेलना, (3) दिन में सोना, (4) दूसरे की निंदा करना, (5) कामकथा, (6) स्त्रियों का अति संग, (7) मादक द्रव्यों का सेवन, (8) खुद नाचना-गाना, (9) नाचने गाने का आयोजन करना, और (10) व्यर्थ में इधर-उधर घूमना। क्रोध से उत्पन्न होने वाले आठ व्यसन हैं : (1) चुगली करना, (2) बलात्कार, (3) द्रोह, (4) ईर्ष्या, (5) दोषों में गुण और गुणों में दोष देखना, (6) बुरे कामों में धन खर्च करना, (7) कठोर वचन बोलना, और (8) बिना अपराध विशेष दंड देना। काम और क्रोध से पैदा होने वाले दुर्गुणों का मूल लोभ है। इसलिए जैसे भी हो लोभ का त्याग करना चाहिए। काम से पैदा होने वाले दस दुर्गुणों में चार दुर्गुण मुख्य हैं : (1) मादक द्रव्यों का सेवन, (2) जुआ, (3) स्त्रियों का विशेष संग, और (4) शिकार खेलना। क्रोध से उत्पन्न होने वाले तीन मुख्य दुर्गण हैं : (1) बिना अपराध के कड़ा दंड देना, (2) कठोर वचन बोलना, और (3) धन का अपव्यय। स्वामीजी का मत है कि दुष्ट व्यसन में फंसने से ज्यादा अच्छा यह है कि आदमी मर जाए। दुष्ट व्यसनों में फंसा व्यक्ति जब तक जीवित रहता है तब तक पाप में ही लिप्त रहता है।[7]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंत्री तथा राजपुरुष

राजा कितना ही सक्षम क्यों न हो, अकेले राजकाज नहीं चला सकता। उसे सहायता के लिए दूसरे लोगों की आवश्यकता पड़ेगी ही। इसीलिए, स्वामी दयानंद ने मनुस्मृति के आधार पर सात-आठ मंत्रियों तथा सचिवों की नियुक्ति का सुझाव दिया है। ये सचिव वेदशास्त्रों के जानकार, बुद्धिमान तथा कुलीन होने चाहिएं। पद-नियुक्ति से पहले इन लोगों की भली प्रकार परीक्षा होनी आवश्यक है। राजकाज के महत्त्वपूर्ण विषयों पर राजा को नियमित रूप से अपने मंत्रियों से परामर्श करते रहना चाहिए। ये विषय मुख्य रूप से दो प्रकार के हो सकते हैं : राष्ट्र की विदेश नीति के संबंध में और राष्ट्र की आंतरिक स्थिति के संबंध में। विदेश नीति के संदर्भ में मुख्य बात शत्रु देशों की गतिविधियों पर सतर्क दृष्टि रखना है—कब उनके साथ मैत्री रखी जाए, कब लड़ाई की जाए और कब चुपचाप बैठा जाए। आंतरिक क्षेत्र में मुख्य बात सेना तथा राजकोष की व्यवस्था है। स्वामी दयानंद ने चतुर, सुंदर, पवित्रात्मा, निर्भय, उत्साही और वाकपटु दूत रखने की भी संस्तुति की है।[8]

राजपुरुषों के बीच कार्य-विभाजन

स्वामी दयानंद ने मनुस्मृति के आधार पर प्रमुख राजपुरुषों के बीच शासन-कार्यों का विभाजन कर दिया है। तीन प्रमुख राज्याधिकारी हैं मंत्री, राजा और दूत। इनमें मंत्री राजसत्ता का प्रयोग करता है लेकिन ऐसा करते समय उसे इस बात का सतत ध्यान रखना पड़ता है कि किसी निरपराध व्यक्ति को दंड न मिल जाए। राजा कोष की रक्षा तथा राष्ट्र की नीति का निर्धारण करता है। दूत समय के अनुसार दूसरे देशों के साथ कभी मैत्री तथा कभी शत्रुता की नीति अपनाता है। वह मेल में फूट डालने तथा फूट में मेल कराने में निपुण होता है। राजा तथा उसके सभी प्रमुख पदाधिकारियों को विरोधी राजा के असली इरादों की जानकारी रखनी चाहिए जिससे अपना नुकसान न हो।

राजधानी का निर्माण

राजधानी का निर्माण ऐसी जगह करना चाहिए जहां शत्रु आसानी से न पहुंच सकें। इसके लिए मनुस्मृति का सुझाव है कि उसे गहन जंगलों के बीच चारों ओर से पहाड़ों को काट कर उनके मध्य में राजधानी बसानी चाहिए। राजधानी के चारों ओर खाई खोद देनी चाहिए और उस खाई को हर समय पानी से भरा रखना चाहिए। राजधानी के चारों ओर उसकी रक्षा के लिए सेना तैनात रहनी चाहिए। नगर चारों ओर दीवार से घिरा होना चाहिए जिससे उसकी प्रजा की भली प्रकार रक्षा हो सके। नगर के बीचोंबीच खाद्य पदार्थों और शस्त्रास्त्रों से परिपूर्ण दुर्ग का निर्माण अपेक्षित है। दुर्ग में ही राजा के रहने का महल होना चाहिए जहां से वह राज्य संचालन कर सके। स्वामी दयानंद के विचार से राजा की सच्ची संध्योपासना यही है कि वह कुशलतापूर्वक राजकाज चलाए और उसमें किसी प्रकार का व्यवधान न आने दे। राजा को प्रजा के प्रति ऐसा ही व्यवहार रखना चाहिए जैसा कि पिता पुत्र के प्रति रखता है। राजा तथा उसके अधिकारियों को विद्वानों के सत्कार तथा शिक्षा की उन्नति में सदा तत्पर रहना चाहिए। राज्य में विद्या की उन्नति से प्रजा की सर्वतोमुखी उन्नति होती है।[9]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध के नियम

प्राचीन भारत में युद्ध कुछ नियमों के अनुसार लड़ा जाता था। मनु ने भी युद्ध के नियमों का उल्लेख किया है। क्षत्रिय नरेशों को युद्ध के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। जब कभी कोई दूसरा राजा युद्ध के लिए आह्वान करे, तब उससे अवश्य युद्ध करना चाहिए। कभी-कभी युद्ध में शत्रु से छिप जाना उचित है। जान-बूझ कर जोश में आकर जान देना बुद्धिमानी नहीं है। युद्ध में दर्शकों, नपुसंकों, हाथ जोड़ने वालों, बैठे हुओं, शरणागतों, मूर्च्छितों, सोते हुओं, निहत्थों, घायलों, अत्यधिक डरे हुओं, भगोड़ों और धर्मात्माओं को नहीं मारना चाहिए। स्वामी दयानंद ने मनु के आधार पर बंदियों के साथ अच्छे व्यवहार की सिफारिश की है।

घायल बंदियों की दवादारू अपेक्षित है। शत्रुओं की महिलाओं के साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार होना चाहिए। जब शत्रु राज्य के साथ मैत्री स्थापित हो जाए और उसके साथ पुनः लड़ाई की आशंका न रहे, तब बंदियों को छोड़ देना चाहिए। राजा के जो सैनिक युद्ध में मारे जाएं, उनके परिवारों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी उसके ऊपर है।[10]

राज्य की उन्नति

स्वामी दयानंद ने राज्य की उन्नति के कुछ उपाय निर्धारित किए हैं। यदि राजा के पास किसी वस्तु का अभाव हो, तो उसे उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा रखनी चाहिए। उसके पास पहले से जो चीजें है, उसे उनकी रक्षा के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। उसे अपनी धन-संपदा की वृद्धि में संलग्न रहना चाहिए और अपने बढ़े हुए धन को विद्या-प्रसार तथा दान में लगाना चाहिए। राजा का अपने सभी लोगों के प्रति निष्कपट व्यवहार होना चाहिए। उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने शत्रुओं की गतिविधियों पर सतर्क दृष्टि रखे और शत्रु उसकी गतिविधियों को न जान सके। उसे डाकू-लुटरों को साम, दाम, दंड, भेद के द्वारा अपने वश में रखना चाहिए। राजा की प्रजा उसके लिए प्राणों के समान होती है। इसलिए उसे अपनी प्रजा की रक्षा में सदा सचेष्ट रहने की ज़रूरत है।[11]

प्रशासन-विधि

स्वामी दयानंद ने सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की कल्पना की है लेकिन उनका यह राज्य विकेंद्रीकरण के सिद्धांत पर आधारित है तथा उसकी प्रशासनिक इकाई गांव है। स्वामीजी के अनुसार एक गांव के ऊपर दस गांवों, दस गांवों के ऊपर बीस गांवों, बीस गांवों के ऊपर सौ गांवों, सौ गांवों के ऊपर हजार गांवों, हजार गांवों के ऊपर दस हजार गांवों और दस हजार गांवों के ऊपर लाख गांवों का प्रशासनतंत्र गठित होना उचित है। नीचे की हर इकाई के लिए ज़रूरी है कि वह अपने से ऊपर की इकाई को अपने इलाके की सारी जानकारी नित्य प्रति नियमित रूप से दे जिससे यदि कहीं कोई समस्या हो तो उसको तत्काल निपटाया जा सके। प्रशासनिक अधिकारियों को अपने-अपने इलाकों में गुप्त रीति से स्वयं घूम-फिर कर और अपने जासूसों के माध्यम से प्रजा की सारी कठिनाइयों से अवगत रहना चाहिए। इन अधिकारियों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपराधियों को दंड दे और गुणवान् व्यक्तियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्रतिष्ठा दें। न्याय के रास्ते से हटने वाला राजपुरुष कठोर दंड का पात्र है। राजा को चाहिए कि वह योग्य राजपुरुषों को उचित वेतन दे तथा उनकी मृत्यु के बाद उनके परिवारों का भरण पोषण करे। यदि मृत राजपुरुष की संतान योग्य हो तो गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार उसे उचित राजपद दे।[12]

कर-प्रणाली

राजा को राजकाज चलाने के लिए धन की आवश्यकता होती है। उसकी आय का एक प्रमुख स्रोत प्रजा से लिया जाने वाला कर है। राजा को प्रजा से थोड़ा-थोड़ा कर ही वसूल करना चाहिए। राजा को व्यापारियों और शिल्पियों से उनकी आमदनी का पचासवां भाग कर के रूप में लेना चाहिए। चावल आदि अन्नों के उत्पादकों अथवा किसानों से उपज का छठा, आठवां या बारहवां भाग कर के रूप में वसूल किया जा सकता है। कर की वसूली इस प्रकार होनी चाहिए जिससे किसानों को खाने-पीने का कष्ट न हो। स्वामी दयानंद ने ब्रिटिश सरकार द्वारा आरोपित नमक कर का विरोध किया था। उन्होंने यह बात बार-बार दुहराई है कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखी रहती है, वह राजा भी सदा क्लेश पाता है।[13]

मंत्रणा की विधि

स्वामी दयानंद ने राजा के लिए यह आवश्यक ठहराया है कि वह अपने मंत्री के साथ एकांत में मंत्रणा लिया करे और सभासदों की अनुमति के बिना किसी काम में हाथ न डाले।

विदेशी नीति

स्वामी दयानंद ने राज्य की विदेशी नीति के छः स्तंभ माने हैं। भारतीय शास्त्रों में इन्हें षड्गुण कहा गया है। ये छः स्तंभ हैं : आसन, यान, संधि, विग्रह, द्वैधी भाव और संश्रय। आसन का अर्थ है शत्रु पर आक्रमण न कर अवसर की प्रतीक्षा में अपनी जगह पर डटे रहना। यान का अर्थ है शत्रु से लड़ने के लिए जाना। संधि राज्यों अथवा राजाओं के बीच होने वाला समझौता है। विग्रह का अर्थ शत्रु के साथ विरोध है। द्वैधी भाव राजनीति में दुरंगीनीति बरतने का गुण है। आवश्यकता पड़ने पर किसी बलवान राजा की शरण लेना संश्रय है।[14]

मित्र, उदासीन और शत्रु राज्य

स्वामी दयानंद ने मित्र, उदासीन और शत्रु राज्यों के प्रति व्यवहार के कुछ स्थूल निर्देश दिए हैं। शासकों को इन तीनों प्रकार के राज्यों के प्रति वर्तमान परिस्थितियों तथा भावी संभावनाओं को ध्यान मे रखकर अपने राजनय का संचालन करना चाहिए। "जो राजा भविष्यत् अर्थात् आगे आने वाले कर्मों में गुण-दोषों का ज्ञाता, वर्तमान में तुरंत निश्चय का कर्त्ता और किए हुए कार्यों में शेष कर्त्तव्य को जानता है, वह शत्रुओं से पराजित कभी नहीं होता।"[15]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध और शांति

स्वामी दयानंद ने शत्रु राज्यों के साथ युद्ध करने तथा युद्ध के बाद शांति-स्थापना के कुछ नियम रेखांकित किए हैं। युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय राजा को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कौन उसका सच्चा मित्र है और कौन शत्रु है। उसे ऐसे व्यक्तियों से सावधान रहने की जरूरत है जो भीतर से तो शत्रु से मिले हों लेकिन ऊपर से मित्रता का दिखावा करते हों। राजा को चाहिए कि वह अपने राजपुरुषों तथा प्रजाजनों को भी युद्ध की शिक्षा दे। युद्धरत सेना का संयोजन विभिन्न व्यूहों में करना अपेक्षित है।[16]

मित्र राज्यों से लाभ

राजा के लिए धनधान्य तथा भूमि का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि मित्र का है। अच्छा मित्र उसकी उन्नति का कारण होगा। यह मित्र सबल या दुर्बल कैसा भी हो सकता है। राजा से जहां तक हो सके वह किसी बुद्धिमान, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दानी और धैर्यवान व्यक्ति को अपना शत्रु न बनाए। ऐसा शत्रु उसे दुख ही दुख देगा।[17]

राजा की दिनचर्या

स्वामी दयानंद ने राजा की दिनचर्या का भी विधान किया है। राजा को प्रातःकाल उठ कर सबसे पहले शौच, संध्योपासन तथा अग्निहोत्र करना चाहिए। इसके बाद उसे मंत्रियों से विचार-विमर्श कर सभा में जाना चाहिए। सभा में वह सभी प्रमुख राजकर्मचारियों तथा सेनाध्यक्षों से भेंट करता है। इसके बाद वह सेना, हाथी, घोड़ों, गायों, अस्त्र-शस्त्रों, कोष तथा चिकित्सालयों का निरीक्षण करता है। यदि राजा को किसी क्षेत्र में कोई कमी दिखाई पड़ती है, तो वह उसे तुरंत दूर करता है। मध्याह्न समय राजा अंतपुर में स्वास्थ्यप्रद भोजन करता है। राजा का कर्त्तव्य है कि वह सदा ही राज्य की उन्नति के लिए सचेष्ट रहे।[18]

राजा-प्रजा संबंध

राजा की उन्नति का मूल कारण प्रजा है।[19] इसलिए राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपनी प्रजा का उसी प्रकार पालन करे जैसे पिता संतान का करता है। स्वामी दयानंद ने किसानों को 'राजाओं के राजा' कहा है। उनके विचार से प्रजा राज्य का आधार है। यदि प्रजा न हो तो राज्य अस्तित्त्व में नहीं आ सकता। राजा और प्रजा को आपस में मिल कर ही रहना है। स्वामीजी के शब्दों में ''दोनों अपने-अपने काम में स्वतंत्र और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतंत्र रहें। प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा व राजपुरुष न हों, राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष व प्रजा न चले।''[20]

न्याय-व्यवस्था

स्वामी दयानंद ने मनुस्मृति के आधार पर राज्य की न्याय-व्यवस्था के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनके विचार से 18 प्रकार के विवाद हो सकते हैं :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. किसी से ऋण लेने-देने का विवाद।
2. निक्षेप संबंधी विवाद। इसका अर्थ यह है कि किसी के पास कोई चीज धरोहर के रूप में रखी हो और वह मांगने पर उसे वापस न करे।
3. अस्वामिक्रय। इसका अर्थ यह है कि पदार्थ तो किसी एक व्यक्ति का हो, लेकिन उसे कोई दूसरा व्यक्ति बेच दे।
4. मिल-मिला कर किसी पर अत्याचार करना।
5. दिए हुए पदार्थ को न देना।
6. किसी को वेतन न देना या उसके वेतन में से कटौती कर लेना।
7. प्रतिज्ञा से विरुद्ध व्यवहार करना।
8. लेन-देन में झगड़ा होना।
9. पशु के स्वामी और पालने वाले का झगड़ा।
10. सीमा का विवाद।
11. किसी को कठोर दंड देना।
12. कठोर वाणी का बोलना।
13. चोरी डाका मारना।
14. किसी काम को ज़ोर-जबर्दस्ती से करना।
15. किसी स्त्री या पुरुष का व्यभिचार में लिप्त होना।
16. स्त्री और पुरुष के धर्म में बाधा पड़ना।
17. पुश्तैनी जायदाद को लेकर उठने वाले विवाद।
18. जुआ।[21]

धर्म की भूमिका

स्वामी दयानंद ने न्याय-व्यवस्था में धर्म की सर्वोपरि महत्ता स्वीकार की है। न्यायासन पर विराजमान व्यक्तियों को धर्म के अनुसार न्याय करना चाहिए। मनु के अनुसार "धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि सभा में कभी प्रवेश न करे और जो प्रवेश किया हो तो सत्य ही बोले, जो कोई सभा में अन्याय होते हुए को देखकर मौन रहे अथवा सत्य न्याय के विरुद्ध बोले वह महापापी होता है। जिस सभा में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है उस सभा में सब मृतक के समान है। जानो उनमें से कोई भी नहीं जीता। मरा हुआ धर्म मारने वाले का नाश और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षक की रक्षा करता है, इसलिए धर्म का हनन कभी न करना इस डर से कि मरा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले।"[22] धर्म सब ऐश्वर्यों को देने वाला और सुखों की वर्षा करने वाला है। जो धर्म का लोप करता है, यह शूद्र और नीच है। इसलिए किसी मनुष्य को धर्म का लोप नहीं करना चाहिए।[23] इस संसार में धर्म ही एक ऐसा सुदृढ़ है जो मृत्यु के बाद भी साथ चलता है। बाकी सब संगी-साथी शरीर के साथ ही छूट जाते हैं। धर्म का साथ कभी नहीं छूटता।[24] जिस सभा में अन्याय होता है, वहां साक्षी, सभासद और राजा सभी अधर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भागी होते हैं।[25] मनु के अनुसार "जिस सभा में निंदा के योग्य की निंदा, स्तुति के योग्य की स्तुति, दंड के योग्य को दंड और मान्य के योग्य मान्य होता है वहां राजा और सब सभासद पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं, पाप के कर्त्ता ही को पाप प्राप्त होता है।"[26]

साक्षी का कार्य

साक्षियों का धार्मिक, विद्वान, निष्कपटी, सत्यवादी और लोभरहित होना ज़रूरी है। जो साक्षी गलत बयान दे, वह दंड का भागी है। सच बोलने वाला साक्षी प्रतिष्ठा पाता है और झूठ बोलने वाला निंदा। मनु ने चोरी और व्याभिचार जैसे कुकर्मों के लिए प्राणदंड का विधान किया है। यह दंड-संहिता राजा तथा रानी तक पर लागू होती है। अपराधी को समाज में उसकी प्रतिष्ठा के अनुसार अर्थात् वैश्य को शूद्र से अधिक, क्षत्रिय को वैश्य से अधिक और ब्राह्मण को क्षत्रिय से अधिक कड़ा दंड मिलना चाहिए। जो राजा अपराधियों को शीघ्र ही दंड नहीं देता, उसका विनाश हो जाता है। राजा वही श्रेष्ठ होता है जिसके राज्य में अपराधी नहीं होते।[27]

राजधर्म का सार

स्वामी दयानंद ने राजधर्म का सार बताते हुए कहा है : "जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें उन-उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा में बांधा करे। परंतु इस पर नित्य ध्यान रखे कि जहां तक बन सके वहां तक बाल्यावस्था में विवाह न करने देवें। युवावस्था में भी बिना प्रसन्नता के विवाह न करना कराना, न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवन करना कराना। व्यभिचार और बहुविवाह को बंद करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहे। क्योंकि जो केवल आत्मा का बल अर्थात् विद्या, ज्ञान बढ़ाए जाएं और शरीर का बल न बढ़ावें तो एक ही बलवान् पुरुष सैंकड़ों ज्ञानी और विद्वानों को जीत सकता है। और जो केवल शरीर ही का बल बढ़ाया जाए आत्मा का नहीं तो भी राज्यपालन की उत्तम व्यवस्था बिना विद्या के कभी नहीं हो सकती। बिना व्यवस्था के सब आपस में ही फूट-टूट विरोध लड़ाई-झगड़ा करके नष्ट-भ्रष्ट हो जाएं। इसलिए सर्वदा शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाते रहना चाहिए। जैसा बल और बुद्धि का नाशक व्यवहार व्यभिचार और अति विषयासक्ति है वैसा और कोई नहीं है। विशेषतः क्षत्रियों को दृढ़ांग और बलयुक्त होना चाहिए। क्योंकि जब वे ही विषयासक्त होंगे तो राज्य धर्म ही नष्ट हो जाएगा। और इस पर भी ध्यान रखना चाहिए कि 'यथा राजा तथा प्रजा' जैसा राजा होता है वैसी ही उसकी प्रजा होती है। इसलिए राजा और राजपुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किंतु सब दिन धर्म न्याय से वर्त कर सबके सुधार का दृष्टांत बनें।"[28]

ऋग्वेदादिभांष्य भूमिका में वर्णित राजनीतिक चिंतन

स्वामी दयानंद ने **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** में 'राजा प्रजा धर्म विषय' नाम से एक पूरा अध्याय राजनीतिक चिंतन को दिया है।[29] इस अध्याय में स्वामीजी ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के आधार पर अपना राजनीतिक चिंतन प्रस्तुत किया है। स्वामीजी के इस चिंतन का आधार यह है कि जगत का वास्तविक राजा परमेश्वर है और हम सब उसकी प्रजा हैं।[30] स्वामीजी ने **सत्यार्थ प्रकाश** की भांति **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** में भी तीन प्रकार की सभाओं की स्थापना का सुझाव दिया है—राजप्रबंध के लिए राजसभा का, विद्याओं के प्रचार के लिए विद्या सभा का और धर्म के उत्कर्ष के लिए धर्मसभा का।[31] जिस देश में ये तीनों सभाएं विधिवत् कार्य करती हैं, वह देश उन्नति करता है और सुख को प्राप्त होता है।[32]

स्वामी दयानंद ने राजा के निर्वाचन का संकेत दिया है।[33] राजा का कार्य है सत्यासत्य का प्रकाश, ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि तथा विज्ञान से उत्तम सेना, सर्वोत्तम लक्ष्मी और सर्वोत्तम कीर्ति की प्राप्ति।[34] ईश्वर सुखस्वरूप, अत्यंत आनंदकारक, सर्वोत्तम कीर्ति का देने वाला, मंगलस्वरूप, सत्यस्वरूप और सत्य का प्रकाश करने वाला है। प्रजा ने सुख, श्रेष्ठ विचार और आनंद के लिए उसकी शरण ली है। उससे प्रार्थना है कि वह प्रजा को पूर्ण राज्य और सुख दे।[35]

स्वामी दयानंद ने यजुर्वेद के आधार पर राज्य की कल्पना एक पुरुष के रूप में की है। श्री उसका सिर, मुख कीर्ति, सत्य गुण उसके केश तथा राजा उसका प्राण है।[36] इसी प्रकार बल उसकी भुजा, इंद्रिय और मन हाथ, और शौर्य, धैर्य तथा हृदय का ज्ञान आत्मा है।[37] उत्तम शासन पीठ और कोष पेट के समान है।[38] न्यायपूर्वक राज्य करने वाले पुरुषों के लिए ईश्वर का आश्वासन है कि धर्मात्मा पुरुषों पर उसकी सदा कृपा रहती है।[39] ईश्वर पर भरोसा रखने वाले शासक वर्ग की कभी पराजय नहीं होती।[40]

स्वामी दयानंद के अनुसार राज्य का प्रेरक मंत्र न्याय और प्रजा का उत्कर्ष है। उन्होंने लिखा है : "आर्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा व न्यायाधीश के सामने अन्याय हो, वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किंतु यह दोष सभाध्यक्ष, सभासद और न्यायाधीश का ही गिना जाता था। इसलिए वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यंत पुरुषार्थ करते थे कि जिससे आर्यावर्त के न्यायघर मैं कभी अन्याय नहीं होता था। और जहां होता था वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे।"[41]

सारांश

स्वामी दयानंद का चिंतन सर्वतोमुखी था। उनका राजनीतिक चिंतन उनके इस समग्र चिंतन का एक अभिन्न अंग है। स्वामीजी ने **सत्यार्थ प्रकाश** तथा **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** में इस विषय के लिए एक-एक अध्याय अलग से रखा है। उनके विवेचन का आधार ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा मनुस्मृति हैं। स्वामीजी का राजनीतिक चिंतन पूर्णतः स्वदेशी है।

स्वामी दयानंद ने खुलेआम विदेशी शासन का विरोध नहीं किया है लेकिन उन्होंने स्थान-स्थान पर विदेशी शासन के प्रति विरक्ति का भाव प्रकट किया है।

स्वामी दयानंद ने भारतीयों की बढ़ती हुई हीनभावना को दूर करने का प्रयत्न किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और देशवासियों को प्राचीन भारत की उपलब्धियों का स्मरण दिलाने के साथ-साथ देश की वर्तमान अधोगति के कारणों का विश्लेषण किया।

स्वामी दयानंद ने भारतीयों को 'आर्य', भारतवर्ष को 'आर्यावर्त' तथा भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी को 'आर्यभाषा' नाम दिया है।

स्वामी दयानंद मानते हैं कि सृष्टि से लेकर पांच हजार वर्षों से पूर्व समयपर्यंत आर्यों का सार्वभौम साम्राज्य था। अन्य देशों में मांडलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे।

स्वामी दयानंद भारत के ह्रास का प्रमुख कारण महाभारत युद्ध को मानते थे।

स्वामी दयानंद ने **सत्यार्थ प्रकाश** के छठे समुल्लास में अपने राजनीतिक विचार प्रकट किए हैं।

स्वामी दयानंद ने राजसत्ता के लिए कुछ नियम सार्वभौम महत्त्व के नियम माने हैं जिनमें राजा और राजपुरुषों द्वारा धर्म तथा न्याय का पालन सबसे महत्त्वपूर्ण है।

स्वामी दयानंद ने ऋग्वेद के आधार पर राजकाज के लिए तीन सभाओं की स्थापना का सुझाव दिया है। वे सभाएं हैं : विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा और राजार्यसभा। स्वामीजी राजतंत्र के समर्थक हैं लेकिन उनका राजतंत्र वंशानुगत अथवा स्वेच्छाचारी नहीं है। उनके मत से स्वाधीन राजा प्रजा का नाश कर देता है। स्वामीजी ने राजा के निर्वाचन का सुझाव दिया है। स्वामीजी की सम्मति है कि राज्य का संचालन तीनों सभाओं की राय से होना चाहिए।

स्वामी दयानंद ने राजा और राजसत्ता को एक-दूसरे से अभिन्न माना है। राजसत्ता न्याय की रक्षा करती है, शासन का संचालन करती है और इस बात का ध्यान रखती है कि लोग मानव जीवन के चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) तथा अपने-अपने वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के कर्त्तव्यों का सुचारू रीति से पालन करें। जब सारी प्रजा सो रही हो तब भी उसकी रक्षा के लिए राजसत्ता जागती रहती है। राजसत्ता धर्म का ही एक रूप है। जब राजसत्ता का उचित रीति से प्रयोग होता है तब प्रजा को आनंद मिलता है। राजसत्ता का दुष्प्रयोग होने पर चारों ओर अराजकता छा जाती है।

स्वामी दयानंद ने मनुस्मृति के आधार पर राजा के 18 व्यवसन गिनाए हैं। इनमें से कुछ व्यसन काम से उत्पन्न होते हैं और कुछ क्रोध से।

स्वामी दयानंद ने राजकाज में सहायता देने के लिए सात-आठ मंत्रियों अथवा सचिवों की नियुक्ति का सुझाव दिया है। उन्होंने इन पदाधिकारियों की योग्यताओं का विवेचन किया है और निर्धारित किया है कि पद-वियुक्ति से पहले उनकी भली प्रकार परीक्षा आवश्यक है। राजा को राज्य की गृह-नीति तथा विदेश-नीति के विविध विषयों के बारे में अपने मंत्रियों से निरंतर परामर्श करते रहना चाहिए।

स्वामी दयानंद ने विभिन्न राज्याधिकारियों के बीच कार्य-विभाजन के सिद्धांत निर्धारित किए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य की सुरक्षा के लिए राजा को अपने शत्रुओं के प्रति सतत सतर्क रहने की ज़रूरत है। उसे अपनी राजधानी का निर्माण गहन जंगलों के बीच चारों ओर से पहाड़ों को काट कर उनके बीच में राजधानी बसानी चाहिए। राजा की सच्ची संध्योपासना यही है कि वह कुशलतापूर्वक राजकाज चलाए और उसमें किसी प्रकार का व्यवधान न आने दे।

स्वामी दयानंद ने हिंदू शास्त्रों के आधार पर युद्ध के नियम निर्धारित किए हैं। युद्ध में नपुंसकों, शरणागतों, मूर्च्छितों, निहत्थों तथा घायलों का वध नहीं करना चाहिए। बंदियों के साथ अच्छा व्यवहार अपेक्षित है। मृत सैनिकों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी राज्य की है।

स्वामी दयानंद के विचार से राजा को राज्य की उन्नति के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। उसके लिए ज़रूरी है कि वह अपनी धन-संपदा की वृद्धि में सदा प्रयत्नशील रहे।

स्वामी दयानंद ने सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की कल्पना की है लेकिन उनका यह राज्य विकेंद्रीकरण के सिद्धांत पर आधारित है तथा उसकी प्रशासनिक इकाई गांव है। उन्होंने एक से लेकर लाख गांवों तक के सोपानबद्ध प्रशासन-तंत्र का ढांचा प्रस्तुत किया है जिसमें नीचे की इकाई अपने से ऊपर की इकाई के लिए उत्तरदायी है। राजा को चाहिए कि वह योग्य राजपुरुषों को उचित वेतन दे तथा उनकी मृत्यु के बाद उनके परिवारों का भरण-पोषण करे।

स्वामी दयानंद का कहना है कि राजा को प्रजा से थोड़ा-थोड़ा कर ही वसूल करना चाहिए। वे ब्रिटिश सरकार द्वारा आरोपित नमक कर के विरुद्ध थे।

स्वामी दयानंद ने विदेश नीति के छः स्तंभ माने हैं। भारतीय शास्त्रों में इन्हें षड्गुण कहा गया है। ये छः स्तंभ हैं : आसन, यान, संधि, विग्रह, द्वैधीभाव और संश्रय। स्वामीजी ने मित्र, उदासीन तथा शत्रु राज्यों के प्रति व्यवहार के स्थूल निर्देश दिए हैं।

स्वामी दयानंद ने मित्र राज्यों से प्राप्त होने वाले लाभ गिनाए हैं तथा राजा की दिनचर्या का हवाला दिया है।

राजा की उन्नति का मूल कारण प्रजा है। राजा को प्रजा का उसी प्रकार पालन करना चाहिए जिस प्रकार पिता अपनी संतान का पालन करता है।

स्वामी दयानंद ने मनुस्मृति के आधार पर 18 प्रकार के विभिन्न विवादों की सूची दी है और धर्म के अनुसार न्याय-व्यवस्था के संचालन पर जोर दिया है।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. स्वामी दयानंद सरस्वती, *सत्यार्थ प्रकाश* विरजानंद वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, (उ. प्र.), 1957, पृ. 236।
2. *उपर्युक्त*, पृ. 236।
3. *उपर्युक्त*, पृ. 239-240।
4. *उपर्युक्त*, पृ. 195।
5. *उपर्युक्त*, पृ. 127।
6. *उपर्युक्त*, पृ. 128-129।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. *उपर्युक्त,* पृ. 129-130।
8. *उपर्युक्त,* पृ. 130-131।
9. *उपर्युक्त,* पृ. 131-132।
10. *उपर्युक्त,* पृ. 132-134।
11. *उपर्युक्त,* पृ. 134-135।
12. *उपर्युक्त,* पृ. 135-136।
13. *उपर्युक्त,* पृ. 136-137।
14. *उपर्युक्त,* पृ. 137-139।
15. *उपर्युक्त,* पृ. 139।
16. स्वामी दयानंद ने मनु के आधार पर इस प्रकार के कुछ व्यूहों के नाम भी दिए हैं—दंड-व्यूह, शकट व्यूह, वराह व्यूह, मकर व्यूह, सूची व्यूह, पद्म व्यूह, वज्रव्यूह और सर्पव्यूह। दंडव्यूह में सेना के विभिन्न अंग आस-पास कतारों में स्थित किए जाते थे। शकट-व्यूह गाड़ी के आकार में संयोजित सैन्य रचना है। वराह व्यूह में सेना का संयोजन सूअरों के झुंड की भांति किया जाता है। इस व्यूह में सैनिक कभी एक-दूसरे के पीछे दौड़ते हैं और कभी सब मिलकर एक झुंड का रूप ले लेते हैं। मकर व्यूह मगर के आकार में की गई सैन्य रचना है। सूची व्यूह का तात्पर्य सेना का संयोजन सुई के आकार में करना है। जिस प्रकार सुई का आगे का भाग सूक्ष्म, इसके बाद का भाग स्थूल और धागा उससे भी ज्यादा स्थूल होता है, उसी प्रकार सेना का संगठन करना सूची व्यूह है। पद्म व्यूह के अंतर्गत सैनिकों को इस ढंग से खड़ा किया जाता है कि समूची सेना कमल पुष्प का आकार ग्रहण कर लेती है। दुधारी तलवार के आकार की सेना रचना वज्रव्यूह है। सर्पव्यूह में सैनिक सांपों की तरह सरकते हुए शत्रु की ओर आगे बढ़ते हैं।

    स्वामी दयानंद ने थल, जल और वायु युद्धों की कल्पना की है। थल युद्ध में रथों, घोड़ों और हाथियों का प्रयोग होता है। जल युद्ध में नौकाएं काम आती हैं। वायु युद्ध में विमान आदि यानों से काम लिया जाता है।

    युद्ध में सैनिकों के मनोबल को स्थिर रखना तथा उनके खान-पान की संतोषजनक व्यवस्था करना वांछनीय है।

    लड़ाई में विजयी होने पर शत्रु के साथ सम्मानजनक संधि करनी उचित है। पराजित राजा के सम्मान की रक्षा करना क्षत्रियोचित है।
17. *उपर्युक्त,* पृ. 141-142।
18. *उपर्युक्त,* पृ. 142।
19. *उपर्युक्त।*
20. *उपर्युक्त।*
21. *उपर्युक्त,* पृ. 143।
22. *उपर्युक्त,* पृ. 1143-144।
23. *उपर्युक्त।*
24. *उपर्युक्त।*
25. *उपर्युक्त।*
26. *उपर्युक्त।*
27. *उपर्युक्त,* पृ. 140-150।
28. *उपर्युक्त,* पृ. 150।
29. स्वामी दयानंद, *ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका,* आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली 1957, पृ. 169-181।
30. *उपर्युक्त,* पृ. 170।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

31. उपर्युक्त।
32. उपर्युक्त।
33. उपर्युक्त, पृ. 171।
34. उपर्युक्त।
35. उपर्युक्त।
36. उपर्युक्त, पृ. 171-172।
37. उपर्युक्त, पृ. 172।
38. उपर्युक्त।
39. उपर्युक्त, पृ. 173।
40. उपर्युक्त।
41. उपर्युक्त, पृ. 181।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 18

समाज-संगठन

स्वामी दयानंद और भारतीय समाज

वैसे तो स्वामी दयानंद उद्‌भट, दार्शनिक, धर्माचार्य, राजनीतिक विचारक और शिक्षाशास्त्री थे, लेकिन वे मुख्य रूप से समाज-सुधारक थे।[1] उन्होंने भारत की सामाजिक अधोगति के कारणों की खोज की और उन्हें दूर करने के उपाय सुझाए। स्वामीजी वेदों को भारतीय समाज और संस्कृति का मूल स्रोत मानते हैं। उन्होंने वैदिक मान्यताओं के आधार पर ही भारतीय समाज के पुनर्गठन का उद्योग किया। स्वामी दयानंद का विश्वास है कि महाभारत तक देश में वैदिक सिद्धांतों का वर्चस्व था और देश चतुर्मुखी उन्नति कर रहा था तथा समूचे संसार में उसका प्रभाव था लेकिन महाभारत के पश्चात् भारतीय समाज की अवनति आरंभ हो गई और वह क्रमशः कमज़ोर होता गया।[2]

वेदोत्तरकालीन समाज धर्मशास्त्रों, गृह्यसूत्रों और स्मृतियों का काल है। यह भारतीय समाज की विकृति का काल है। इसका एक उदाहरण यह है कि समाज में विभिन्न वर्णों के लोगों के लिए अलग-अलग दंड-विधान थे। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार यदि क्षत्रिय ब्राह्मण का अपमान करता तो उसे 100 कार्षायिण जुर्माना देना पड़ता था। पर यदि ब्राह्मण क्षत्रिय का अपमान करता तो उसे 50 कार्षापण का जुर्माना लिया जाता था। समाज में शूद्रों की स्थिति अत्यंत हीन थी। उनका काम तीन उच्च वर्णों के लोगों की सेवा करना था। शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था।[3] वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति उन्नत थी। उन्हें अपना पति चुनने, अपने पति से संतान उत्पन्न न हो, तो दूसरे व्यक्ति से संतान उत्पन्न करने और यज्ञों तथा बौद्धिक चर्चाओं में भाग लेने का अधिकार था। इस समाज में मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं था। स्वामी दयानंद के अनुसार भारत में मूर्तिपूजा जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म के उदय के बाद शुरू हुई और इसने समाज में पाखंडवाद को प्रोत्साहन दिया।[4]

स्वामी दयानंद के समाज-संगठन विषयक विचारों का निम्न शीर्षकों के अधीन अध्ययन किया जा सकता है।

1. वर्ण-व्यवस्था
2. सामाजिक और आर्थिक न्याय

7. गर्भ-स्थिति
8. सुखी परिवार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. आश्रम-व्यवस्था
4. ब्रह्मचर्य
5. गृहस्थाश्रम
6. विवाह
9. पंच महायज्ञ
10. नियोग
11. वानप्रस्थ आश्रम
12. संन्यास आश्रम

1. वर्ण-व्यवस्था

स्वामी दयानंद ने समाज में चार वर्णों का अस्तित्व स्वीकार किया है। वे वर्ण-व्यवस्था को जन्म पर आधारित न मान कर कर्म पर आधारित मानते हैं। स्वामी दयानंद का यह विचार नया नहीं था। इस विचार का प्रतिपादन श्रीकृष्ण ने गीता में भी किया था।[5] बुद्ध और महावीर ने भी किसी को जन्म के आधार पर ऊंचा-नीचा नहीं माना था।

मध्य युग के संतों में अनेक नीची जातियों के लोग थे। वे अपने अनुयायियों के बीच जाति के आधार पर ऊंच-नीच का भेद नहीं करते थे। लेकिन इन सारे प्रयत्नों के बावजूद व्यवहार में जाति प्रथा जन्म के आधार पर प्रतिष्ठा पाती रही। स्वामी दयानंद आधुनिक भारत के पहले समाज-सुधारक थे जिन्होंने जन्म के आधार पर सामाजिक ऊंच-नीच के भेद पर प्रहार किया। स्वामीजी ने आह्वान किया कि सभी बालक और बालिकाओं को चाहे वे किसी भी वर्ण के हों शिक्षा के समान अवसर सुलभ होने चाहिए। उन्होंने स्त्रियों तथा शूद्रों को भी शिक्षा की सारी सुविधाएं देने की सिफारिश की। स्वामी दयानंद का कहना था कि ईश्वर सबका पिता है। वह सबका भला चाहता है। उसने वेदों को पढ़ने का अधिकार सबको दिया है। स्वामीजी मानते थे कि जन्म से सभी व्यक्ति शुद्र होते हैं। शिक्षा और संस्कार द्वारा ही कोई व्यक्ति द्विज बनता है। शिक्षा प्राप्त करने पर ही व्यक्ति अपनी क्षमताओं का विकास कर सकता है। यदि किसी व्यक्ति ने शूद्र कुल में जन्म लिया हो, तब यह अच्छी शिक्षा प्राप्त कर उच्च वर्ण का बन सकता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति ऊंचे वर्ण का है लेकिन उचित शिक्षा अर्जित नहीं करता और निर्बुद्धि ही बना रहता है, तो वह शूद्र वर्ण का माना जाएगा। स्वामीजी ने सभी बच्चों के लिए गुरुकुल में भेजकर अनिवार्य शिक्षा का प्रस्ताव किया है। जो लोग इस नियम की अवहेलना करें, राज्य उन्हें दंड दे सकता है। यदि गुरुकुल में सभी बच्चे साथ-साथ पढ़ेंगे तो उनमें समानता का भाव विकसित होगा। स्वामी दयानंद ने व्यक्तियों के विवाह-संबंध भी गुण कर्म के अनुसार निर्धारित वर्ण में करने का सुझाव दिया है।

2. सामाजिक और आर्थिक न्याय

न्याय सामाजिक चिंतन की बुनियादी धारणा है। आधुनिक युग की सबसे बड़ी समस्या राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में न्याय की स्थापना करना है। 'न्याय' शब्द का अर्थ समय-समय पर बदलता रहा है। कभी उसका अर्थ था—जैसे को तैसा। सत्तारूढ़ व्यक्ति न्याय की परिभाषा अपने हित में करते रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति-दर्शन के इतिहास में 'न्याय' शब्द की सबसे विशद व्याख्या यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **रिपब्लिक** में की है। प्लेटों ने **रिपब्लिक** में बुनियादी प्रश्न यह उठाया है कि अच्छा आदमी कौन है और वह कैसे बनता है? प्लेटो का उत्तर है कि अच्छा आदमी अच्छे राज्य में ही उभर सकता है। अब सवाल उठता है कि अच्छा राज्य कैसा होता है और वह अच्छा राज्य कैसे बनता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अच्छा राज्य एक विशेष सामाजिक परिस्थिति में ही जन्म ले सकता है। यह सामाजिक परिस्थिति दो स्तंभों पर आधारित है : एक ओर तो संपत्ति और परिवार की साम्यवादी व्यवस्था तथा दूसरी ओर जीवन-व्यापी शिक्षा की पद्धति। प्लेटो के अनुसार राज्य का जन्म वृक्षों या चट्टानों से नहीं किंतु उसमें बसने वाले व्यक्तियों के चरित्र से होता है। इसलिए श्रेष्ठ राज्य की रचना के लिए व्यक्तियों के चरित्र पर ध्यान देना आवश्यक है।

प्लेटो ने मानव-आत्मा के तीन गुण माने हैं—विवेक, उत्साह और बुभुक्षा। इन्हीं गुणों के अनुसार उसने राज्य में तीन वर्गों की कल्पना की है : शासक, योद्धा और किसान। इनमें से प्रत्येक वर्ग का अपना एक नियत कार्य है और वह उसी कार्य को पूरी तत्परता से करता है। प्लेटो के मत से राज्य के तीन आवश्यक कार्य हैं : शासन, रक्षा और निर्वाह। प्लेटो ने इन तीन कार्यों को व्यवसायों का रूप दे दिया है और उन्हें अलग-अलग व्यावसायिक वर्गों को सौंप दिया है। प्लेटो को वास्तविक चिंता शासक तथा योद्धा वर्गों की है और वे उन्हें समुचित प्रशिक्षण देना चाहते हैं। इन वर्गों को समुचित प्रशिक्षण देकर प्लेटो एक ऐसी भूमिका तैयार कर देते हैं कि वे अपने-अपने कर्त्तव्यों का समुचित रीति से पालन कर सकें। प्लेटो की आदर्श शासन व्यवस्था में शिखर पर दार्शनिक नरेश हैं, जिनके बारे में प्लेटो का कहना है : "जब तक दार्शनिक नरेश नहीं बनते या इस संसार के नरेशों और शासकों में दर्शन की भावना और शक्ति का संचार नहीं होता तब तक राज्यों को अपने भीतर फैली बुराइयों से कभी छुटकारा नहीं मिलेगा।"

रिपब्लिक के पूरे विवेचन का सार यह है कि हर आदमी को संतोषपूर्वक अपना निर्दिष्ट कार्य करना चाहिए। प्लेटो की दृष्टि में यही न्याय है और है सामाजिक जीवन का सच्चा सिद्धांत।[6]

आधुनिक युग की सभी प्रमुख राजनीतिक विचारधाराएं अपने-अपने ढंग से सामाजिक और आर्थिक न्याय स्थापित करने का दावा करती हैं। इन विचारधाराओं में दो विचारधाराएं सबसे प्रमुख हैं : समाजवादी विचारधारा और पूंजीवादी विचारधारा।

अंग्रेजी शब्द 'सोशिएलिज्म' (समाजवाद) के जन्म के बारे में विद्वानों में मतभेद है। सामान्य रूप से माना जाता है कि 'सोशियोलिस्ट' शब्द का सबसे पहले प्रयोग 1822 में सेंट साइमन के अनुयायियों के लिए किया गया था। रॉबर्ट ओवेन के अनुयायी अपने आपको समाजवादी कहते थे। 1840 तक 'समाजवाद' शब्द का समूचे यूरोप में प्रयोग होने लगा था।

समाजवाद का वास्तविक अर्थ उसे व्यक्तिवाद के विरोध में रखने पर ही समझा जा सकता है। व्यक्तिवाद के अंतर्गत सामाजिक व्यवस्था का मुख्य लक्ष्य यह समझा जाता था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि जैसे भी हो प्रत्येक व्यक्ति अपना अधिकतम पारितोष प्राप्त कर सके। राज्य का कर्त्तव्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन, संपत्ति और स्वतंत्रता विषयक प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करे तथा समाज के आर्थिक जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करे। व्यक्तिवादी सिद्धांत के कारण समाज में अनेक दोष उत्पन्न हो गए जिनमें से प्रमुख यह था कि उद्योग-धंधों के पनपने और कल-कारखानों की स्थापना होने से मजदूरों का खुलेआम शोषण होने लगा और उनकी हालत दिन पर दिन बिगड़ती गई। कार्ल मार्क्स ने 1848 में प्रकाशित **कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो** में समाजवादी विचारधारा को वैज्ञानिक आधार दिया और बताया कि समाज में मुख्य रूप से दो ही वर्ग होते हैं। एक वर्ग मालिकों का होता है और दूसरा गुलामों का। इतिहास के विभिन्न चरणों में इन वर्गों के नाम बदलते रहते हैं लेकिन उनकी भूमिका प्रायः एक ही रहती है—शोषण करना और शोषित होना। वर्ग-भेद का आधार उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण है। जिस वर्ग का उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण होता है, वही वर्ग समाज में सारी शक्ति का प्रयोग करता है। सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन के साधनों पर समूचे समाज का नियंत्रण हो और सभी व्यक्तियों को उनकी योग्यता के अनुसार काम तथा वेतन मिले।

स्वामी दयानंद 'चातुर्वण्य' (चार वर्ण) की व्यवस्था द्वारा समाज में न्याय की स्थापना करना चाहते हैं। इस व्यवस्था में हर आदमी को अपनी योग्यता के अनुसार काम करना पड़ता है। समाज-संगठन का मुख्य आधार जन्म नहीं योग्यता है। योग्यता के अनुसार व्यक्ति सामाजिक सीढ़ी पर ऊपर-नीचे चढ़-उतर सकता है। यदि उसमें ज्ञानार्जन की क्षमता है, तो वह ब्राह्मण बन सकता है, यदि उसमें शौर्य है तो वह क्षत्रिय बन सकता है। यदि वह शिल्पी है, तो उसे वैश्य का कार्य करने से कोई नहीं रोक सकता। यदि उसमें इन तीनों वर्णों में से किसी का कोई गुण नहीं है, तो उसका शूद्र बने रहना लाज़िमी है। स्वामी दयानंद द्वारा निरूपित राज्य-व्यवस्था में राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह शूद्रों की भी अन्य वर्णों के लोगों के समान ही रक्षा करे। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ने 'चातुर्वण्य' व्यवस्था के गुण बताते हुए कहा है कि इसमें समाज में सर्वोच्च स्थान उन ब्राह्मणों का है जो अकिंचन्ता को अपना आदर्श मानते हैं। ब्राह्मण धनी बनने की कभी इच्छा नहीं करता, ज्ञान और तप ही उसकी संपत्ति होते हैं। पर समाज में सबसे अधिक प्रतिष्ठा उसकी होती है। क्षत्रिय का कार्यक्षेत्र भी आर्थिक उत्पादन से भिन्न है। वह राजकीय सेवा में रहकर या सैनिक के रूप में देश की बाह्य तथा आभ्यंतर शत्रुओं से रक्षा करता है। समाज में उसकी स्थिति ब्राह्मणों से नीची पर वैश्यों से ऊपर है। वैश्य का आर्थिक उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रहता है, पर समाज में उसकी स्थिति ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों से नीचे होती है।[7] संक्षेप में :

"महर्षि द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था में सबके प्रति न्याय होता है, सबको अपनी योग्यता के अनुरूप कार्य एवं स्थिति प्राप्त होती है और किसी के लिए किसी का शोषण करना संभव नहीं रहता। इसमें संदेह नहीं कि इसी द्वारा मानव समाज का वास्तविक रूप से कल्याण हो सकता है।"[8]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. आश्रम व्यवस्था

वर्तमान जीवन भौतिकवाद के निरंतर उत्कर्ष का जीवन है। मनुष्य की आवश्यकताएं बराबर बढ़ती जा रही हैं और वह दिन-रात उनकी पूर्ति में लगा रहता है। मनुष्य जीवन में दया, ममता, त्याग, समर्पण, परोपकार जैसे मानव-मूल्यों का अनवरत ह्रास हो रहा है। इस स्थिति में मनुष्य वास्तविक सुख से वंचित हो रहा है। उसके लिए पैसे ने ही परमेश्वर का रूप धारण कर लिया है। उपभोक्ता संस्कृति जीवन के हर क्षेत्र में हावी हो रही है। इस स्थिति का परिणाम है चिंता, तनाव, हताशा।

प्राचीन भारतीय चिंतकों ने भौतिकवाद की इन बुराइयों को पहचाना था। इसलिए उन्होंने आश्रम-व्यवस्था जीवन में भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद के समन्वय का तथा जीवन के प्रति एक समग्र दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयत्न किया।

आश्रम व्यवस्था का अर्थ है 100 वर्ष की मानव आयु को 25-25 वर्ष के चार भागों में बांट देना। एक वर्ष की आयु से पच्चीस वर्ष की आयु तक का समय ब्रह्मचर्य जीवन है। इस काल में व्यक्ति का लक्ष्य सिर्फ अध्ययन करना और अपने आपको इस योग्य बनाना है कि वह नियत समय आने पर संसार की जिम्मेदारियां निभा सके। जीवन का दूसरा चरण गृहस्थाश्रम है। यह समय 25 वर्ष से 50 तक का है। इस काल में व्यक्ति विवाह करता है, धनोपार्जन करता है, परिवार का भरण-पोषण करता है। पचास वर्ष की आयु होने पर व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह घर गृहस्थी त्याग कर जंगल में जा कर रहे। वह यह समय स्वाध्याय तथा परोपकार में व्यतीत करता है। पत्नी उसके साथ रह सकती है लेकिन वह विषय-चेष्टा से अलग रहता है। 75 वर्ष की आयु होने पर जीवन की अंतिम अवस्था आरंभ होती है और वह है संन्यास।

भारतीय चिंतन में मानव जीवन के चार चरम लक्ष्य माने गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष सर्वोपरि लक्ष्य है। मोक्ष का अर्थ है जन्म मरण के बंधन से मुक्ति। सामान्यतः मोक्ष का अधिकारी वही व्यक्ति है जो जीवन की सभी अवस्थाओं में से होकर गुजरता है।

बौद्ध और जैन धर्मों में जीवन के चार चरणों की यह व्यवस्था स्वीकार नहीं की गई। इन धर्मों में कच्ची उम्र के बालक-बलिकाएं तक संसार त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। इस रिवाज के कारण आश्रम-व्यवस्था को चोट पहुंची तथा समाज में भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद का समन्वय कायम न रह सका।

4. ब्रह्मचर्य

स्वामी दयानंद ने मनुष्य के जन्म से लेकर उसकी मृत्यु पर्यंत समूची जीवन-रेखा प्रस्तुत की है। उन्होंने विधान किया है कि बच्चा आठ वर्ष की आयु होने तक माता-पिता के पास रहे। माता को चाहिए कि वह बालकों को सदा उत्तम शिक्षा दे जिससे संतान सभ्य हो और किसी अंग से कुचेष्टा न करने पाए। माता के लिए बालक को ऐसी शिक्षा देना उचित है जिससे उसका उच्चारण शुद्ध रहे। बालक को बड़ों के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसकी उचित शिक्षा मिलनी ज़रूरी है जिससे कहीं उसका अयोग्य व्यवहार न हो और वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वत्र प्रतिष्ठा प्राप्त करे। बालकों की आयु पांच वर्ष की होने पर उन्हें देवनागरी अक्षरों का अभ्यास कराना चाहिए। इसके साथ ही उन्हें अन्य देशों की भाषाओं का ज्ञान भी कराया जा सकता है। बालाकों के मन में आरंभ से ही ऐसे संस्कार डाल देने चाहिए जिससे वे भूत-प्रेत आदि अंधविश्वासों के जाल में न फंसे।

स्वामी दयानंद का मत है कि बालकों को जन्म से पांचवें वर्ष तक माता और छठे वर्ष से आठवें वर्ष तक पिता शिक्षा दे। जब बालक नौ वर्ष का हो तब उसे आचार्यकुल अथवा गुरुकुल में भेज देना चाहिए। गुरुकुल में पूर्ण विद्वान और पूर्ण विदुषी स्त्रियां शिक्षा का दान करती हैं। स्वामी दयानंद का मंतव्य है कि जो माता-पिता और आचार्य संतान और शिष्यों का ताड़न करते हैं वे अपनी संतान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिलाते हैं। जो माता, पिता और आचार्य संतानों तथा शिष्यों को लाड़-प्यार करते हैं, वे अपनी संतानों और शिष्यों को विष पिला कर नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। जो माता-पिता अपनी संतान को उचित शिक्षा नहीं देते, वे अपने बच्चों के शत्रु होते हैं। अशिक्षित बच्चे विद्वानों की सभा में उसी प्रकार तिरस्कृत होते हैं जैसे हंसों के बीच में बगुला।

स्वामी दयानंद की मान्यता है कि जब बच्चे आठ वर्ष के हों तब लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेज देना चाहिए। शिक्षकों का सदाचारी होना आवश्यक है।

स्वामीजी सह-शिक्षा के समर्थक नहीं हैं। उनके विचार से लड़कों और लड़कियों की शिक्षा अलग-अलग पाठशालाओं में होनी चाहिए और उनके बीच 4-5 किलोमीटर की दूरी होनी चाहिए। कन्याओं की पाठशाला में सभी अध्यापक और कर्मचारी स्त्रियां होनी चाहिए। तथा बालकों की पाठशालाओं का प्रबंध पूरी तरह पुरुष अध्यापकों के हाथ में होना चाहिए। बालकों और बालिकाओं की अलग-अलग शिक्षा के बारे में स्वामी दयानंद काफी कठोर हैं। उनका कहना है : ''स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक स्त्री व पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकांतसेवन, भाषण, विषय कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त होकर आनंद को नित्य बढ़ा सकें।''

स्वामी दयानंद ने गुरुकुलों में राजाओं और गरीबों सबके लड़कों के साथ समान व्यवहार की सिफारिश की है। उन्होंने लिखा है :

''सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिए जाएं, चाहे वह राजकुमार व राजकुमारी हो चाहे दरिद्र की संतान हो। सबको तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपनी संतानों से व संतान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक दूसरे से कर सकें जिससे संसार चिंता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिंता रखें। जब भ्रमण करने को जाएं तब उनके साथ अध्यापक रहें जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य-प्रमाद करें।''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी दयानंद का मत है कि राजा को यह नियम बना देना चाहिए कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष के आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। बच्चों का पाठशाला में भेजा जाना अनिवार्य है। जो माता-पिता अपने बच्चों को पाठशाला न भेजें, उन्हें राज्य की ओर से दंड दिया जा सकता है।

माता-पिता तथा अध्यापकों को चाहिए कि वे लड़के-लड़कियों को गायत्री मंत्र का उपदेश करें। गायत्री-मंत्र में कहा गया है : "ओऽम्! हम भगवान सविता के उस दिव्य तेज का ध्यान करें जो पृथ्वी, अंतरिक्ष और स्वर्ग तीनों लोकों को आलोकित कर रहा है। उसका स्वर्णिम प्रकाश हमारी विवेक-बुद्धि का संवर्धन करे तथा उसके पावन सिंहासन तक पहुचंने में हमारा मार्गदर्शन करें। ओऽम।"

स्वामी दयानंद ने बच्चों को संध्योपासन, स्नान, आचमन और प्राणायाम की शिक्षा देने पर भी जोर दिया है। जल से शरीर के बाहर के अवयव शुद्ध होते हैं। प्राणायाम से अशुद्धि का नाश तथा ज्ञान का प्रकाश होता है। स्वामीजी के शब्दों में : "जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं वैसे प्राणायाम करके मन आदि इंद्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं।"

स्वामी दयानंद ने तैत्तिरीयोपनिषद के आधार पर पढ़ने-पढ़ाने के कुछ नियम निर्धारित किए हैं। उनका कहना है कि विद्यार्थी यथार्थ आचरण करते हुए पढ़ें और पढ़ावें, वे सत्य का पालन करते हुए पढ़ें और पढ़ावें, वे तप करते हुए पढ़ें और पढ़ावें, वे मन तथा इंद्रियों पर नियंत्रण रखते हुए पढ़ें और पढ़ावें, वे अग्निहोत्र करते हुए पढ़ें और पढ़ावें, वे अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें, वे मनुष्यों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें, वे संतान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ें और पढ़ावें, वे वीर्य की रक्षा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें, वे जाति की रक्षा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें।

स्वामी दयानंद का आग्रह है कि विद्यार्थियों को पांच यमों तथा पांच नियमों का सदा पालन करना चाहिए। पांच यम हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इसी प्रकार पांच नियम हैं : शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।

विद्या की समाप्ति पर आचार्य शिष्यों को उपदेश देता है :

"तू सदा सत्य बोल, धर्माचरण कर, प्रमादरहित होकर पढ़-पढ़ा, पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण और आचार्य के लिए प्रिय धन देकर विवाह कर के संतानोत्पत्ति कर, प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़, प्रमाद से धन का त्याग मत कर, प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़, प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि को मत छोड़, प्रमाद से पढ़ने और पढ़ाने को कभी मत छोड़। विद्वान् और माता-पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान का सत्कार करे उसी प्रकार माता-पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर। जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म है, उन सत्यभाषणादि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्याभाषणादि कभी मत कर, जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों, उनको ग्रहण कर और जो हमारे पापाचरण हों उनको कभी मत कर। जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान धर्मात्मा ब्राह्मण हैं, उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिए। जब कभी तुझको कर्म व शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो तो पक्षपातरहित योगियों तथा विचारशील धर्मात्माओं का अनुसरण करना चाहिए। जैसा वे करें, वैसा ही तू कर। यही आदेश, यही उपदेश, यही वेद और उपनिषद् की शिक्षा की है। इसी प्रकार बरतना और अपना चाल-चलन सुधारना चाहिए।

5. गृहस्थाश्रम

स्वामी दयानंद द्वारा प्रतिपादित जीवन-विन्यास में ब्रह्मचर्य अथवा विद्याध्ययन के बाद गृहस्थाश्रम आरंभ होता है। गृहस्थाश्रम की आयु 25 से 50 वर्ष तक है। स्वामीजी ने गृहस्थाश्रम को सबसे महत्त्वपूर्ण आश्रम माना है। संसार में जो भी कुछ व्यवहार है, उसका आधार गृहस्थाश्रम है। यदि गृहस्थाश्रम न होता, तो संतानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम नहीं हो सकते थे। जो कोई गृहस्थाश्रम की निंदा करता है, वह निंदनीय है। परंतु गृहस्थाश्रम में तभी सुख होता है जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। स्वामीजी के मत से गृहस्थाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और स्वयंवर विवाह है। गृहस्थाश्रम के अंतर्गत स्वामी दयानंद ने मुख्य रूप से विवाह, गर्भ-स्थिति, सुखी परिवार, पंच महायज्ञ तथा नियोग पर विचार किया है।

6. विवाह

स्वामी दयानंद का मत है कि पुरुष को उसी कन्या से विवाह करना चाहिए जो अपने गोत्र की न हो और जिसका माता के कुल से भी निकट संबंध न हो। स्वामीजी के अनुसार कन्या का नाम दुहिता इस कारण से है कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है निकट रहने में नहीं। स्वामीजी मानते हैं कि चाहे लड़का लड़की मरणपर्यंत अविवाहित बने रहें, परंतु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए। उनकी यह भी राय है कि विवाह लड़का और लड़की की सहमति से होना चाहिए। इसका कारण यह है कि जब लड़का और लड़की की सहमति से विवाह होता है, तब विवाह के बाद उनमें मतभेद की कम संभावना होती है और उनके संतान भी उत्तम होती है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, माता-पिता का नहीं। स्वामीजी ने मनुस्मृति के आधार पर कहा है कि जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनंद, लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है। जहां विरोध और कलह होता है, वहां दुख, दरिद्रता और निंदा निवास करती है। स्वामी दयानंद ने स्वयंवर की रीति से विवाह की पैरवी की है। जब तक भारत में स्वयंवर की रीति से विवाह होते रहे, देश की सदा उन्नति होती रही। जब से विवाह बाल्यावस्था में माता-पिता के आधीन होने लगे, तब से देश की अवनति शुरू हो गई।

स्वामी दयानंद ने अपनी पुस्तक **संस्कार विधि** में **विवाह विधि** प्रकरण के अंतर्गत आठ प्रकार के विवाहों की चर्चा की है। वे आठ प्रकार हैं : ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांधर्व राक्षस और पैशाच। इनमें से पहले चार विवाह उत्तम हैं और बाद के चार विवाह अवांछनीय। पहले चार विवाहों से उत्तम संतान उत्पन्न होती है और बाद के चार विवाहों से दुष्ट संतान का जन्म होता है।

स्वामी दयानंद ने विवाह के समय पति और पत्नी द्वारा एक-दूसरे से की गई प्रतिज्ञा का स्मरण किया है। उदाहरण के लिए पति पत्नी से कहता है : "मैं ऐश्वर्य और संतान आदि सौभाग्य की वृद्धि के लिए तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं। तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था तक सुखपूर्वक रह"। इसी प्रकार पत्नी पति को उत्तर देती है : "मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिए आपके हाथ को ग्रहण करती हूं। आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यंत प्रसन्न और अनुकूल रहिए। आज से मैं और आप पति-पत्नी हैं। सकल ऐश्वर्ययुक्त न्यायकारी, संसार का सृष्टा और सभा मंडप में बैठे हुए विद्वान लोग गृहाश्रम के लिए मुझे आपकी सेवा में समर्पित कर रहे हैं। आज से मैं आपके हाथ और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं। हम एक-दूसरे के प्रति कभी अप्रिय आचरण नहीं करेंगे।" स्वामी दयानंद ने विवाह में सप्तपदी विधि का भी विवरण दिया है जिसमें वर और वधू द्वारा मंत्रोच्चारण के साथ अग्नि की सात बार परिक्रमा की जाती है।

7. गर्भ-स्थिति

विदुषी स्त्री को गर्भस्थिति का ज्ञान ऋतुदान के समय ही हो जाता है। एक मास के भीतर उसके रजस्वला न होने पर इसकी जानकारी सबको हो जाती है। स्वामीजी की सम्मति है कि गर्भस्थिति का निश्चय होने पर एक वर्षपर्यंत स्त्री-पुरुष का समागम कभी नहीं होना चाहिए। समागम न होने से भावी संतान श्रेष्ठ होती है। स्वामीजी ने गर्भकाल में दो संस्कारों का समर्थन किया है : चौथे महीने में पुंसवन और आठवें महीने में सीमंतोन्नयन।

8. सुखी परिवार

स्वामी दयानंद ने सुखी परिवार के लक्षण गिनाए हैं। सुखी परिवार का आधार है स्त्री और पुरुष में परस्पर प्रेम तथा समझ। जो पुरुष अपनी ही स्त्री से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है, वह गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मचारी के सदृश है। जिस कुल में पत्नी से पति और पति से पत्नी प्रसन्न रहती है, उस कुल में सौभाग्य और ऐश्वर्य का निवास होता है। जहां कलह होता है, वहां दुर्भाग्य तथा दरिद्रता वास करते हैं। गृहिणी के लिए उचित है कि वह परिवार के सभी सदस्यों को प्रसन्न रखे। जिस घर में स्त्रियां दुख पाती हैं, वह घर नष्ट हो जाता है।

9. पंच महायज्ञ

स्वामी दयानंद ने गृहस्थों के लिए पांच महायज्ञों की संस्तुति की है : ऋषि यज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथि यज्ञ। ऋषि यज्ञ का अर्थ है वेदादि शास्त्रों का स्वाध्याय, संध्योपासन और योगाभ्यास। देवया विद्वानों का सत्संग है। स्वामीजी के अनुसार पितृ यज्ञ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अर्थ है माता-पिता तथा गुरुजनों की सेवा। वैश्वदेव यज्ञ दुखी तथा भूखे व्यक्तियों को भोजन कराना है। अतिथि यज्ञ का अर्थ अतिथि की सेवा करना है। अतिथि उसको कहते हैं जिसके आने की कोई तिथि निश्चित नहीं होती। धर्मात्मा, सत्योपदेशक और पूर्ण विद्वान यदि बिना पूर्व सूचना के घर पर आ जाएं, तब उनका आदरपूर्वक स्वागत-सत्कार होना चाहिए।

10. नियोग

नियोग एक प्राचीन प्रथा थी जिसके अनुसार निस्संतान स्त्री पति के रोगी, नपुंसक या मृत होने की दशा में देवर या किसी अन्य गोत्र के व्यक्ति द्वारा संतान उत्पन्न करा सकती थी।

स्वामीजी ने नियोग और पुनर्विवाह में पांच भेद बताए हैं :

(1) विवाह में कन्या अपने पिता का घर छोड़ अपने पति के घर चली जाती है। उसका पिता के घर से विशेष संबंध नहीं रहता। विधवा स्त्री विवाहित पति के घर में रहती है।

(2) विवाहिता स्त्री के लड़के विवाहित पति के दायभागी होते हैं। विधवा स्त्री के लड़के वीर्यदाता के पुत्र नहीं कहलाते। वीर्यदाता का लड़कों पर कोई स्वत्व नहीं रहता। वे मृत पति के पुत्र कहलाते हैं और उसकी संपत्ति के स्वामी होते हैं।

(3) विवाहित स्त्री-पुरुष को परस्पर सेवा और पालन करना आवश्यक है। नियुक्त स्त्री-पुरुष का कुछ भी संबंध नहीं रहता।

(4) विवाहित स्त्री-पुरुष का संबंध मरणपर्यंत रहता है। नियुक्त स्त्री-पुरुष का संबंध कार्य क़े पश्चात् छूट जाता है।

(5) विवाहिता स्त्री-पुरुष घर की जिम्मेदारियां मिल के उठाते हैं। नियुक्त स्त्री-पुरुष अपने-अपने घर में काम करते हैं।

विवाह और नियोग के नियमों में भेद है। विवाहित स्त्री-पुरुष, एक पति और एक पत्नी मिल कर दस संतान तक उत्पन्न कर सकते हैं। नियुक्त स्त्री और पुरुष दो या चार से अधिक संतानों को जन्म नहीं दे सकते। कुमार, कुमारी का नियोग नहीं होता। नियोग उन्हीं का होता है जिसकी स्त्री व पुरुष मर जाता है। विवाहित स्त्री-पुरुष सदा साथ रहते हैं। नियुक्त स्त्री-पुरुष ऋतुदान के समय ही आपस में मिलते हैं।

स्वामीजी मानते हैं कि जिस प्रकार विवाह में भद्र पुरुषों की अनुमति और कन्या-वर की प्रसन्नता अभीष्ट होती है, वैसा ही नियोग में होना चाहिए।

स्वामी दयानंद ने नियोग के समर्थन में ऋग्वेद, अथर्ववेद, मनुस्मृति तथा महाभारत से प्रमाण दिए हैं। महाभारत में पांडु राजा की स्त्री कुंती और माद्री ने पांडवों को जन्म दिया था। इसी प्रकार व्यास ने चित्रांगद और विचित्रवीर्य के मर जाने के पश्चात् अपने सौतेले भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका से धृतराष्ट्र, अम्बालिका से पांडु और दासी से विदुर की उत्पत्ति की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11. वानप्रस्थ आश्रम

स्वामी दयानंद ने गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थ आश्रम का विधान किया है। वानप्रस्थ आश्रम की आयु 50 से 75 वर्ष है। इस आश्रम में व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि वह वन में जाकर बसे। वह अपनी पत्नी को पुत्रों के पास भी छोड़ सकता है और अपने साथ भी ले जा सकता है। वानप्रस्थी को अपना अधिकांश समय स्वाध्याय में व्यतीत करना चाहिए। उसे शरीर-सुख के लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

12. संन्यास आश्रम

स्वामी दयानंद ने पक्षपातरहित न्याय आचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार और सत्य भाषण आदि लक्षण सभी आश्रमियों के लिए समान रूप से आवश्यक बताए हैं लेकिन उन्होंने संन्यासी के कुछ विशिष्ट लक्षण निर्दिष्ट किए हैं। संन्यासी का कार्य बिना किसी भेदभाव के सारे जगत का कल्याण करना है। संन्यासी में धर्म के निम्नलिखित दस लक्षण पाए जाते हैं : (1) सदा धैर्य रखना, (2) क्षमा, (3) मन को सदा धार्मिक कार्यों में लगाना, (4) चोरी-त्याग, (5) भीतर-बाहर की पवित्रता, (6) इंद्रिय निग्रह, (7) बुद्धिनाशक पदार्थों का त्याग और श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, (8) विद्या, (9) सत्य, तथा (10) अक्रोध।

सारांश

स्वामी दयानंद प्रमुख रूप से समाज-सुधारक थे। उन्होंने भारत की सामाजिक अधोगति के कारणों की खोज की और उन्हें दूर करने के उपाय सुझाए। स्वामीजी वेदों को भारतीय संस्कृति और समाज का मूल मानते हैं। उन्होंने वैदिक मान्यताओं के आधार पर ही भारतीय समाज के पुनर्गठन का प्रयास किया।

स्वामीजी के अनुसार महाभारत के पश्चात् भारत की अवनति प्रारंभ हो गई। उनके विचार से वेदोत्तरकालीन समाज धर्मशास्त्रों, गृह्यसूत्रों और स्मृतियों का काल है। स्वामीजी इस काल को भारतीय समाज की विकृति का काल मानते हैं।

स्वामी दयानंद ने समाज में चार वर्णों का अस्तित्त्व स्वीकार किया है। वे वर्ण-व्यवस्था को जन्म पर नहीं, कर्मों पर आधारित मानते हैं। स्वामीजी का मानना है कि जन्म से सभी व्यक्ति शूद्र होते हैं। शिक्षा और संस्कार द्वारा ही कोई व्यक्ति द्विज बनता है। यदि किसी व्यक्ति ने शूद्र कुल में जन्म लिया हो, तब वह अच्छी शिक्षा प्राप्त कर उच्च वर्ण का बन सकता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति ऊंचे वर्ण का है लेकिन उचित शिक्षा अर्जित नहीं करता तो वह शूद्र वर्ण का माना जाएगा।

सामाजिक और आर्थिक न्याय के संबंध में स्वामी दयानंद के विचार यूनानी विचारक प्लेटो से मिलते हैं। प्लेटो ने आत्मा के तीन गुण माने हैं—विवेक, उत्साह और बुभुक्षा। इन्हीं गुणों के अनुसार उसने राज्य में तीन वर्गों की कल्पना की है—शासक, योद्धा और किसान। इनमें से प्रत्येक वर्ग का एक नियत कार्य है और वह उसी कार्य को पूरी तत्परता से करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। प्लेटो के मत से राज्य के तीन आवश्यक कार्य हैं : शासन, रक्षा और निर्वाह। प्लेटो ने इन कार्यों को व्यवसायों का रूप दे दिया है और उन्हें क्रमशः शासकों, योद्धाओं तथा किसानों को सौंप दिया है। प्लेटो ने शासक तथा योद्धा वर्गों की समुचित शिक्षा का भी प्रावधान किया है। प्लेटो की आदर्श शासन-व्यवस्था में शिखर पर दार्शनिक नरेश हैं। प्लेटोकृत **रिपब्लिक** के पूरे विवेचन का सार यह है कि हर व्यक्ति को अपना निर्दिष्ट कार्य करना चाहिए। यही न्याय है और है सामाजिक जीवन का सच्चा सिद्धांत।

समाजवादी विचारधारा के अनुसार सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन के साधनों पर समूचे समाज का नियंत्रण रहे और सभी व्यक्तियों को उनकी योग्यता के अनुसार काम तथा वेतन मिले।

स्वामी दयानंद चातुर्वर्ण्य (चार वर्णों) की व्यवस्था द्वारा समाज में न्याय की स्थापना करना चाहते हैं। इस व्यवस्था में हर आदमी को अपनी योग्यता के अनुसार काम करना पड़ता है। समाज-संगठन का मुख्य आधार जन्म नहीं योग्यता है। योग्यता के अनुसार व्यक्ति सामाजिक सीढ़ी पर ऊंचे-नीचे उतर सकता है।

आश्रम-व्यवस्था का अर्थ है 100 वर्ष की मानव आयु को 25-25 वर्ष के चार भागों में बांट देना। एक वर्ष की आयु से पच्चीस वर्ष की आयु तक का समय ब्रह्मचर्य जीवन है। 25 वर्ष से 50 का समय गृहस्थ जीवन का है। और 50 से 75 वर्ष तक वानप्रस्थ और 75 से आगे मृत्युपर्यंत संन्यास आश्रम का विधान है। स्वामी दयानंद ने वेदों तथा मनुस्मृति आदि शास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर जीवन की इन चार महत्त्वपूर्ण अवस्थाओं का, उनके कर्त्तव्यों का विस्तार से विवेचन किया है।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. "दयानंद जितने बड़े धर्मसंशोधक, धर्मव्याख्याता अथवा धर्माचार्य हैं, एक समाजशास्त्री, समाजसंस्कारक तथा सामाजिक नेता के रूप में भी उनका व्यक्तित्व कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यों तो वे 19वीं शती के उन समाज सुधारकों की ही परंपरा में आते हैं, जिन्होंने वृहत्तर हिंदू समाज में व्याप्त नाना बुराइयों, मूर्खतापूर्ण रीति-रिवाजों तथा पुरातन सड़ी-गली प्रथाओं के विरोध में आवाज उठाई थी, किंतु दयानंद का यह सुधारक रूप भी एक उग्र क्रांतिकारी, समाज को आमूल-चूल बदलने वाले युग प्रवर्त्तक तथा क्रांतिदृष्टा की प्रभा से परिवेष्टित है।" डॉ. भवानी लाल भारतीय, *स्वामी दयानंद सरस्वती : व्यक्तित्व एवं विचार* सत्य धर्म प्रकाशन, गुरुकुल कंवरपुरा, डॉ. गोवर्धनपुरा, कोटपुतली, जयपुर 1997, पृ. 134।
2. "यह सिद्ध बात है कि पांच सहस्र वर्षों से पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था, क्योंकि वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं। वेदों की अप्रवृत्ति होने का कारण महाभारत युद्ध हुआ। इनकी अप्रवृत्ति से अविद्यांधकार के भूगोल में विस्तृत होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया वैसा मत चलाया।" *सत्यार्थ प्रकाश,* पृ. 235।
3. "वर्णभेद का आधार गुण, कर्म और स्वभाव के स्थान पर जन्म होने लगा था और ब्राह्मणों की स्थिति अन्य वर्णों की तुलना में ऊंची मानी जाने लगी थी। ऊंच-नीच का भेद भी विकसित हो गया था। सूत्र ग्रंथों की रचना के समय तक तो यह दशा आ गई थी कि शूद्रों को अत्यंत हीन व नीच समझा जाने लगा था।" डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, *आर्य समाज का इतिहास,* प्रथम भाग, पृ. 36।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. ''ऋषभ देव से लेकर महावीरपर्यंत अपने तीर्थंकरों की बड़ी-बड़ी मूर्तियां बना कर पूजा करने लगे, अर्थात्, पाषाणादि मूर्तिपूजा की जड़ जैनियों से प्रचलित हुई। परमेश्वर का मानना न्यून हुआ, पाषाणादि मूर्तिपूजा में लगे।'' *सत्यार्थ प्रकाश,* पृ. 249।
5. *गीता,* 4/13।
6. विश्वप्रकाश गुप्त, *मानव-चिंतन का विकास,* नई दिल्ली, पृ. 99-100।
7. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ. 453।
8. *वही,* पृ. 453-454।
9. *सत्यार्थ प्रकाश,* विस्तार के लिए दृष्टव्य दूसरा और तीसरा समुल्लास।
10. *वही,* चतुर्थ समुल्लास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 19

शिक्षा

स्वामी दयानंद की शैक्षिक विचारधारा के अंतर्गत शैक्षिक उद्देश्यों, अभिकरणों, पाठ्यक्रमों तथा विधियों पर विचार किया जा सकता है।

शैक्षिक उद्देश्य

स्वामी दयानंद का उद्देश्य भारत को आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से एक उन्नत राष्ट्र के रूप में संगठित करना था। उनकी शिक्षा प्रणाली इस उद्देश्य को प्राप्त करने का एक साधन थी।

वैदिक धर्म का प्रसार

स्वामी दयानंद भारत का पुनर्गठन वैदिक आदर्शों पर करना चाहते थे। इसलिए वे वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उत्सुक थे। उन्होंने वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान का भगीरथ प्रयत्न किया। स्वामीजी ने वैदिक ज्ञान को कई सदियों बाद सर्वसाधारण के लिए सुलभ किया। वे वेद को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक मानते थे। उनके विचार से वेदों का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।[1] स्वामी दयानंद ने अपनी वाणी और लेखनी द्वारा लोगों को भारतीय संस्कृति की शिक्षा दी। जिन लोगों ने हिंदू धर्म को त्याग कर इस्लाम या ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था, स्वामीजी ने शुद्धि द्वारा उन लोगों को फिर से हिंदू धर्म में लाने की पहल की।

स्वामी दयानंद के समय में पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से भारतीय अपनी अस्मिता को भूलते जा रहे थे। स्वामी दयानंद ने भारतीयों को उनके महान् अतीत की याद दिलाई, उन्हें सामाजिक कुरीतियों के प्रति जागृत किया और उनमें भविष्य के प्रति विश्वास का भाव भरा।

चरित्र-निर्माण

स्वामी दयानंद के शैक्षिक उद्देश्यों में चरित्र-निर्माण का प्रमुख स्थान है। उन्होंने जीवन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों का विशद रूप से निरूपण किया है। स्वामी दयानंद ने ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया है।

मोक्ष

स्वामीजी ने जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष माना है। मोक्ष का अर्थ है जीवात्मा का जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति। स्वामीजी मानते हैं कि पवित्र कर्म, पवित्र उपासना और पवित्र ज्ञान से मुक्ति मिलती है। इसके विपरीत मिथ्या भाषण जैसे कर्मों, पाषाण मूर्तियों की उपासना और मिथ्या ज्ञान से बंध होता है। स्वामीजी का कहना है कि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म, उपासना और ज्ञान से रहित नहीं होता। इसलिए धर्मयुक्त सत्य भाषण जैसे कर्म करना और मिथ्या भाषण जैसे अधार्मिक कार्यों को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है। जैसे तलवार से मारने वाला दंडनीय होता है, तलवार नहीं होती वैसे ही देहेन्द्रिय, अंतःकरण और प्राणरूप साधनों से अच्छे-बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख-दुख का भोक्ता होता है। जीव कर्मों का साक्षी नहीं, किंतु कर्त्ता-भोक्ता है। कर्मों का साक्षी तो एक अद्वितीय परमात्मा है। जो कर्म करने वाला जीव है वही कर्मों में लिप्त होता है।[2]

स्वामी दयानंद ने 'षट्क संपत्ति' अर्थात् छः प्रकार के साधनों द्वारा मुक्ति प्राप्ति का निरूपण किया हैं ये छः साधन हैं :

(1) **शम :** अपनी आत्मा और अंतःकरण को अधर्माचरण से हटा कर सदा धर्माचरण में प्रवृत्त रखना।

(2) **दम :** श्रोत्र आदि इंद्रियों और शरीर को व्यभिचार आदि बुरे कर्मों से हटा कर जितेंद्रियत्व आदि शुभ कर्मों में प्रवृत्त करना।

(3) **उपरति :** दुष्ट कर्म करने वाले पुरुषों से सदा दूर रहना।

(4) **तितिक्षा :** निंदा-स्तुति, हानि-लाभ आदि की चिंता छोड़ कर मुक्ति प्राप्ति के साधनों में लगा रहना।

(5) **श्रद्धा :** वेदादि सत्य शास्त्रों तथा आप्त विद्वानों के वचनों पर विश्वास करना।

(6) **समाधान :** चित्त की एकाग्रता। स्वामी दयानंद ने मोक्ष प्राप्ति के लिए वैराग्य और मुमुक्षुत्व जैसे गुणों को आवश्यक ठहराया है। स्वामीजी ने वैराग्य को विवेक का समानार्थक माना है। उनकी दृष्टि में विवेक सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग है। स्वामीजी ने मुमुक्षुत्व की व्याख्या करते हुए कहा है कि जैसे क्षुधा तृषातुर व्यक्ति को सिवाय अन्न जल के कुछ अच्छा नहीं लगता, वैसे ही मुक्ति के रास्ते पर चलने वाले व्यक्ति को मुक्ति के साधन ही अच्छे लगते हैं और कुछ नहीं।

स्वामी दयानंद ने मुक्ति का एक साधन 'श्रवण चतुष्टय' माना है। श्रवण चतुष्टय में 'श्रवण', 'मनन', 'निदिध्यासन' और 'साक्षात्कार' का समावेश होता है। 'श्रवण' का अर्थ है किसी विद्वान के उपदेश को शांतिपूर्वक ध्यान देकर सुनना। 'मनन' का अर्थ है सुने हुए उपदेश पर एकांत देश में बैठ कर विचार करना। 'निदिध्यासन' का अर्थ है बार-बार स्मरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना। 'साक्षात्कार' का अर्थ है जैसा पदार्थ का गुण और स्वभाव हो, वैसा यथातथ्य जान लेना।

मोक्ष के साधक को तमोगुण और रजोगुण का त्याग कर सत्त्व गुण को धारण करना चाहिए।

मानसिक शक्तियों का विकास

स्वामी दयानंद ने अपने शिक्षा दर्शन में मनुष्य की मानसिक शक्तियों के विकास पर बल दिया है। वे अंधविश्वासों, चमत्कारों और मिथ्या विचारों के विरोधी थे। उनका कहना था कि जो बातें प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हों और बुद्धिगम्य न हों, उन पर विश्वास नहीं करना चाहिए। स्वामी दयानंद प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि से निर्णय करने की स्वतंत्रता देते हैं और उसे अत्यधिक श्रद्धालु बनने से रोकते हैं।[3]

मातृभाषा की शिक्षा पर जोर

स्वामी दयानंद ने मातृभाषा की शिक्षा पर जोर दिया है। शुरू में वे संस्कृत में भाषण दिया करते थे। लेकिन बाद में केशवचंद्र सेन के परामर्श पर वे हिंदी में बोलने लगे और उन्होंने अपने अधिकांश साहित्य की रचना भी हिंदी में की।[4]

स्वामी दयानंद ने हर बालक-बालिका के लिए शिक्षा की सिफारिश की है। उन्होंने यहां तक कहा है कि जो माता-पिता अपने बच्चों को पढ़ने के लिए गुरुकुल न भेजें, उन्हें सरकार की ओर से दंड मिलना चाहिए।[5]

अंधविश्वासों का खंडन

स्वामी दयानंद विभिन्न धर्मों में पाए जाने वाले अंधविश्वासों, भ्रांतियों और पाखंडों के विरोधी थे। स्वामीजी हिंदुओं में व्यापक रूप से व्याप्त मूर्तिपूजा को वेदविरुद्ध मानते थे। स्वामीजी के अनुसार शिक्षा का एक उद्देश्य समाज से अज्ञान तथा कुप्रथाओं को हटाना था। स्वामीजी ने वाममार्ग तथा मूर्तिपूजा का घोर विरोध किया है। उन्होंने रुद्राक्ष के संबंध में लिखा है : "जो रुद्राक्ष अर्थात् एक वृक्ष के फल की गुठली और राख धारण करने से मुक्ति मानते हैं तो राख में लोटने वाले गधे आदि पशु और धुंधुची आदि के धारण करने वाले भीख कंजर आदि मुक्ति को जावें और सूअर, कुत्ते, गधे आदि पशु राख में लौटने वालों की मुक्ति क्यों नहीं होती।"[6]

स्वामीजी का मत है कि ईश्वर का नाम लेने मात्र से पाप नहीं छूटते। उनकी दृष्टि में वास्तविक तीर्थ है "वेदादि सब शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैर, निष्कपट, सत्यभाषण, सत्य का मानना, सत्य करना, ब्रह्मचर्य, आचार्य, अतिथि, माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना, उपासना, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान आदि शुभ गुण कर्म।"[7]

स्वामी दयानंद ने पुराणों में वर्णित चमत्कारों और प्रकृति-विरोधी बातों पर खेद व्यक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है। उन्होंने लिखा है : "शोक है इन लोगों की रची हुई इस असंभव लीला पर, जिसने संसार को अभी तक भ्रमा रखा है। भला इन महा झूठी बातों को वे अंधे पोप और बाहर-भीतर की फूटी आंखों वाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं या अन्य कोई।"[8]

स्वामी दयानंद ने भूत-प्रेतों, जन्मपत्री, मंत्र-तंत्र-यंत्र आदि की भर्त्सना की है। उन्होंने 'जन्मपत्र' को 'शोकपत्र' कहा है।[9]

प्रजातंत्र की शिक्षा

स्वामी दयानंद प्रजातंत्र के पक्षधर थे। उन्होंने आर्यसमाज का संगठन प्रजातांत्रिक सिद्धांतों के आधार पर किया था। यद्यपि वे आर्यसमाज के संथापक थे लेकिन उन्होंने आर्यसमाज के संरक्षक अथवा प्रधान का पद कभी स्वीकार नहीं किया। वे उसके साधारण सदस्य ही बने रहे।

स्वामी दयानंद के मत से किसी एक व्यक्ति को राज्य का पूर्ण अधिकार देना उचित नहीं है। उनकी दृष्टि में राजा की स्थिति सभापति की है। वह सभा के अधीन होता है। सभा प्रजा के अधीन होती है। यदि राजवर्ग प्रजा से स्वाधीन हो जाए तो वह प्रजा का नाश कर सकता है।[10]

देश प्रेम की शिक्षा

स्वामी दयानंद ने देशवासियों में देशप्रेम की भावना जागृत की। स्वामी दयानंद ने जोधपुर-नरेश को स्वदेशी वस्त्र पहनने की राय दी थी। स्वामीजी का ब्रह्मसमाज और प्रार्थना समाज पर एक आक्षेप यह था कि वे अपने देश की प्रशंसा व पूर्वजों की बढ़ाई नहीं करते, बल्कि उनकी पेट भर निंदा करते हैं। स्वामीजी ने यूरोपियनों के चरित्र की सराहना की है। वे अपने बच्चों का बाल्यावस्था में विवाह नहीं करते, वे लड़के-लड़कियों दोनों को पूरी शिक्षा देते हैं, वे पाखंड में नहीं फंसते, वे जो कुछ काम करते हैं, पारस्परिक विचार-विनिमय के बाद और सभा से निश्चित करके करते हैं। वे अपनी स्वजाति की उन्नति के लिए तन, मन, धन व्यय करते हैं। वे आलस्य को छोड़ उद्योग किया करते हैं।[11]

राष्ट्रीय एकता की शिक्षा

स्वामी दयानंद ने देश की एकता के लिए प्रयत्न किया। उन्होंने बहुतदेवतावाद का विरोध कर एक ईश्वर की उपासना का प्रचार किया। उन्होंने वैदिक धर्म की व्यापक व्याख्या कर सभी लोगों को इसकी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया। स्वामी दयानंद ने सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों का निवारण कर मानव विवेक पर बल दिया। स्वामीजी ने अपने साहित्य की रचना संस्कृत और हिंदी में की तथा हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद दिलाने के लिए सरकार की सेवा में ज्ञापन भिजवाए।[12]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थिक संपन्नता के लिए शिक्षा

स्वामी दयानंद ने आर्थिक संगठन के विषय में अधिक नहीं लिखा है। लेकिन उनके ग्रंथों में यत्र-तत्र आर्थिक विचार भी पाए जाते हैं। उन्होंने कृषि, पशुपालन, शिल्प तथा सद्योगों के महत्त्व को रेखांकित किया है। कुछ उदाहरण हैं :

"जो मनुष्य विद्वानों की अच्छी प्रकार रक्षा कर उनकी विद्याओं को प्राप्त हो जन्मादि पदार्थों से शिल्प विद्या को सिद्ध करके बढ़ते हैं वे सब सुखों को प्राप्त होते हैं।"[13]

"इस संसार में विद्वानों को चाहिए कि जो उन्होंने अपने पुरुषार्थ से शिल्प क्रिया प्रत्यक्ष कर रखी है उनको सब मनुष्यों के लिए प्रकाशित करें जिससे बहुत मनुष्य शिल्प-क्रियाओं को कर के सुखी हों।"[14]

"जो विद्वान राज्य को बढ़ाने की इच्छा करें वे बड़ी अग्नियंत्र से चलाने योग्य नौकाओं को बना कर द्वीप-द्वीपांतरों में जा आ कर व्यवहार से धन आदि के लाभों को बढ़ा के अपने राज्य को धनधान्य से विभूषित करें।"[15]

"मनुष्यों को चाहिए कि कलाओं में अच्छी प्रकार जोड़ कर चलाए हुए वायु और अग्नि पदार्थों से युक्त विमान आदि रथों से आकाश, समुद्र और भूमि मार्गों में एक देश से दूसरे देशों को जाकर सर्वदा अपने अभिप्राय की सिद्धि से आनंद रस भोगें।"[16]

स्वामी दयानंद ने अपनी *गौकरुणानिधि* नामक पुस्तक में गौरक्षा के लाभों का विशद रूप से वर्णन किया है। इस प्रसंग में उनके वेदभाष्य के कुछ उद्धरण उल्लेखनीय हैं :

"राजपुरुषों को चाहिए कि गौ, घोड़े आदि वीर, उपकारी जीवों की कभी हत्या न करें···गौ आदि पशु दूध आदि पदार्थों को देने से सबका उपकार करते हैं। उनकी सदैव वृद्धि करें।"[17]

"जो मनुष्य मेघ से उत्पन्न वर्षा और वर्षा से उत्पन्न तृण आदि की रक्षा से गौ आदि पशुओं को बढ़ावें वे पुष्कल योग को प्राप्त होवें।"[18]

"जैसे पृथ्वी महान् ऐश्वर्य को बढ़ाती है वैसे गायें अत्यंत सुख देती हैं। ये गाएं कभी किसी को मारनी न चाहिएं।"[19]

शिक्षा के अभिकरण

शिक्षा शास्त्र में शिक्षा के अभिकरणों को प्रायः औपचारिक तथा अनौपचारिक वर्गों में विभक्त किया जाता है। पाठशाला तथा विद्यालय को औपचारिक अभिकरण कहा जाता है। इसमें शिक्षा एक निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार, निश्चित समय में, निश्चित छात्रों को सुनिश्चित अध्यापकों द्वारा दी जाती है। अनौपचारिक अभिकरणों में शिक्षा प्रायः आनुषंगिक होती है। घर, परिवार, समुदाय, धार्मिक संगठन, सत्संग तथा राज्य शिक्षा के अनौपचारिक अभिकरण माने जाते हैं।

स्वामी दयानंद के अनुसार आठ वर्ष तक बालक की शिक्षा घर पर होती है। उनके विचार से बालक के जन्म से पांचवें वर्ष तक माता और छठे वर्ष से आठवें वर्ष तक पिता शिक्षा देता है। स्वामीजी माता-पिता को बालक का प्रथम शिक्षक मानते हैं। उनके मत से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे माताएं भाग्यवान् हैं जो अपने बच्चे को अच्छे चरित्र की शिक्षा देती हैं। स्वामीजी ने गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् माता-पिता के आचार-विचार तथा आहार की ओर विशेष ध्यान दिया है। स्वामीजी उन माता-पिता को अपनी संतान का शत्रु मानते हैं जो उनको उचित शिक्षा नहीं देते। शिक्षाविहीन लोग विद्वानों की सभा में वैसे ही तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं जैसे हंसों के बीच में बगुला। माता-पिता का यह सबसे बड़ा कर्त्तव्य है कि . अपनी संतानों को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षा प्रदान करें।[20]

समुदाय

घर के बाद शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अनौपचारिक अभिकरण समुदाय है। बालक में जब सामूहिकता की भावना का उदय होता है, वह समुदाय के संपर्क में आता है और जाने-अनजाने अनेक बातें उससे सीखता है। प्राचीन भारत में आश्रम व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था पाई जाती थी। यद्यपि आज कल ये दोनों व्यवस्थाएं टूटती जा रही हैं, तथापि स्वामी दयानंद ने इनका समर्थन किया है। स्वामीजी वर्णों को जन्म पर आधारित नहीं मानते, कर्मों पर आधारित मानते हैं। एक वर्ण का बालक वंश-परंपरा से अपने वर्ण के गुणों को ग्रहण करता है। जातीय कर्म बालक को स्वतः प्रशिक्षण द्वारा जीविका-उपार्जन की शिक्षा प्रदान करते हैं।

सत्संग तथा धार्मिक संगठन

सत्संग तथा धार्मिक संगठन शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अनौपचारिक अभिकरण है। स्वामी दयानंद की दृष्टि में धर्म का जीवन में ऊंचा स्थान है। इसलिए वे सत्संग तथा धार्मिक संगठन को शैक्षिक अभिकरण के रूप में महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

आजकल धर्म आलोचना का विषय बन गया है और धर्म-निरपेक्षता पर बल दिया जाता है। धर्म-निरपेक्षता के अनेक पहलू हैं। नास्तिकता, धर्म का विरोध, धर्म के प्रति तटस्थता, सब धर्मों के प्रति आदर भाव आदि।

स्वामी दयानंद धर्म को एक रचनात्मक शक्ति मानते हैं। उन्होंने सत्य को धर्म का मुख्य अंग कहा है। उनके विचार से आप्त पुरुषों के सत्संग और प्रवचनों से जो शिक्षा मिलती हैं, वह शरीर तथा आत्मा दोनों के लिए कल्याणकारी होती है। आर्यसमाज अपने साप्ताहिक और वार्षिक अधिवेशनों में नैतिकता और चरित्र-निर्माण पर ज़ोर देता है। आर्य समाज की शिक्षा-संस्थाएं संकुचित और रूढ़िवादी धार्मिक संस्थाएं नहीं हैं। उनमें आंतरिक अनुशासन, योगाभ्यास, ध्यान, यज्ञ आदि को शिक्षा का अंग माना जाता है।

राज्य की भूमिका

स्वामी दयानंद की राज्य की कल्पना एक प्रजातंत्रीय राज्य की है। स्वामीजी मानते हैं कि राज्य का एक दायित्व अपनी प्रजा को अनिवार्य रूप से शिक्षित करना है। जो माता-पिता अपने बच्चों को विद्यालय नहीं भेजते, राज्य उन्हें दंड दे सकता है। स्वामीजी ने अच्छे राजा का एक लक्षण यह भी माना है कि वह विद्वानों का आदर करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल

गुरुकुल अथवा विद्यालय शिक्षा के औपचारिक अभिकरण हैं। गुरुकुल में प्रवेश पाने के बाद बालकों और बालिकाओं का अपने माता-पिता से कोई संपर्क नहीं रखना चाहिए। गुरुकुल में सब विद्यार्थियों को एक समान भोजन, वस्त्र, निवास और शिक्षा दी जाती है। विद्यार्थी चाहे राजकुमार हो या रंक, उसके साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता। स्वामीजी ने सह-शिक्षा का विरोध किया है। स्त्री-पुरुषों का आपस में मिलना, बातचीत करना, एक-दूसरे को देखना और स्पर्श करना उनकी दृष्टि में अनुचित है। विद्यालयों में विद्यार्थियों का जीवन तपस्यामय होना चाहिए और उन्हें ब्रह्मचर्य का दृढ़ता से पालन करना चाहिए।

पाठ्यक्रम

शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति एक निश्चित एवं सुविचारित पाठ्यक्रम द्वारा ही संभव हैं इसलिए शिक्षाशास्त्री शैक्षिक लक्ष्यों के विश्लेषण के उपरांत शैक्षिक पाठ्यक्रम पर भी विचार करते हैं।

स्वामी दयानंद ने शैक्षिक पाठ्यक्रम को दो सोपानों में बांटा है :

गृह शिक्षा : जन्म से आठ वर्ष तक।

गुरुकुल शिक्षा : 8 से 25 वर्ष तक।

गृह शिक्षा

स्वामी दयानंद ने **सत्यार्थ प्रकाश** के दूसरे समुल्लास में गृह शिक्षा का विवेचन किया है। उन्होंने इस समुल्लसा का आरंभ **शतपथ ब्राह्मण** के इस वचन से किया है :

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति माता-पिता और आचार्य के योग से ही ज्ञानवान् बनता है। स्वामीजी ने उस कुल को धन्य माना है जिसके माता-पिता धार्मिक विद्वान हों। स्वामीजी के विचार से माता अपनी संतानों पर जितना प्रेम करती है और जितना उनका हित चाहती है, वैसा और कोई नहीं कर सकता। स्वामी दयानंद ने माता-पिता के लिए यह उचित ठहराया है कि वे गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य, मद्य, दुर्गंध, रुक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़ कर शांति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता को बढ़ाने वाले पदार्थों का सेवन करें जिससे रजस् वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुणयुक्त हो।

स्वामी दयानंद की माता से अपेक्षा है कि वह बालकों को सदा उत्तम शिक्षा दे जिससे संतान सभ्य हो और किसी अंग से कुचेष्टा न करने पाए। जब बालक बोलने योग्य हो, तब माता को सही और स्पष्ट उच्चारण की शिक्षा देनी चाहिए। जब बालक कुछ-कुछ बोलने लगे तब उसे छोटे-बड़ों के पास उठने-बैठने की शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे वह सब जगह सराहनीय ढंग से व्यवहार कर सके तथा प्रशंसा का पात्र बने। स्वामीजी के शब्दों में :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जैसे संतान जितेंद्रिय, विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करे वैसा प्रयास करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें। उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता, नपुसंकता होती है और हस्त में दुर्गंध भी होती है। इससे उसका स्पर्श न करें। सदा सभ्य भाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्न वदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो, करावें।[21]

स्वामीजी की सलाह है कि जब बालक-बालिका पांच वर्ष के हों तब उन्हें देवनागरी अक्षरों का अभ्यास कराया जाए। संतान माता-पिता, आचार्य, विद्वान, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुंब, भाई-बहिन, नौकर-चाकर आदि से किस प्रकार का बर्ताव करे, उसकी उसे समुचित शिक्षा मिलनी चाहिए। बच्चों को ऐसी शिक्षा देना भी बहुत ज़रूरी है जिससे वे भूत-प्रेत आदि मिथ्या बातों के बहकावे में न आएं। स्वामीजी मृतक शरीर को प्रेत कहते हैं। जब शरीर का दाह हो चुका हो, तब उसका नाम भूत होता है।

माता-पिता के लिए यह उचित है कि वे बालकों को वीर्य-रक्षा के लाभ और उपाय समझा दें। वीर्य रक्षा की यही रीति है कि "विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकांत सेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी पृथक रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विधा को प्राप्त करें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक और महाकुलक्षणी होता है। उसे प्रमेह रोग हो जाता है जिसके फलस्वरूप वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है।[22]

स्वामीजी की सम्मति है कि बालक को जन्म से 5 वर्ष की आयु का होने तक माता शिक्षा दे, 6 वर्ष से 8 वर्ष की आयु तक पिता शिक्षा दे और नवें वर्ष के आंरभ में उसे गुरुकुल भेज दिया जाए।

स्वामीजी का विचार है कि लाड़-प्यार से बच्चे बिगड़ जाते हैं। इसलिए समय-समय पर उनका ताड़न होते रहना चाहिए। लेकिन माता-पिता तथा अध्यापक को ईष्या तथा द्वेष से ताड़न नहीं करना चाहिए। वे ऊपर से बच्चों को कितना ही डांटे-डपटें, लेकिन भीतर से उनके ऊपर कृपा दृष्टि बनाए रखें।

माता-पिता बचपन में ही बालकों को चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्या भाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि दोषों को छोड़ने और सत्याचार को ग्रहण करने की शिक्षा दे सकते हैं। बच्चों को मिथ्या प्रतिज्ञा, अभिमान, छल, कपट, क्रोध, कृतघ्नता से बचना चाहिए।

गुरुकुल का पाठ्यक्रम

स्वामीजी शिक्षकों से यह अपेक्षा रखते हैं कि वे शिष्यों को सबसे पहले अर्थसहित गायत्री मंत्र का उपदेश दें और उन्हें संध्योपासन सिखाएं। संध्योपासन के अंतर्गत शिष्यों को स्नान, आचमन और प्राणायाम की शिक्षा प्राप्त होगी।

स्वामीजी ने अपने पाठ्यक्रम में निम्नलिखित ग्रंथों के अध्ययन की व्यवस्था की है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनिकृत, अष्टाध्यायी, पातंजलिकृत महाभाष्य, यास्कमुनिकृत निघंटु और निरुक्त, पिंगलाचार्यकृत छंदोग्रंथ, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण और महाभारत के उद्योगपर्वांतर्गत विदुर नीति, पूर्व मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदांत, वेदांत सूत्र, दस उपनिषद (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, ऐतरेयी, तैत्तिरेयी, छांदोग्य और बृहदारण्यक) चारों ब्राह्मण अर्थात् ऐतरेय शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मणों के सहित चारों वेद, आयुर्वेद (चरक, सुश्रुत आदि ऋषि मुनि प्रणीत वैधक शास्त्र) धनुर्वेद, गांधर्व वेद (गान विद्या), नारद संहिता, अथर्ववेद (शिल्प विद्या), ज्योतिष शास्त्र, (सूर्य सिद्धांतादि), हस्त क्रिया, यंत्रकला, आदि।

स्वामीजी की राय है कि यह सारा पाठ्यक्रम बीस या इक्कीस वर्ष के भीतर पूरा हो सकता है। स्वामीजी ने ऋषिप्रणीत ग्रंथों के अध्ययन पर इसलिए जोर दिया है कि वे बड़े विद्वान तथा शास्त्रवित् थे।

स्वामीजी ने पूर्वमीमांसा पर व्यासमुनि कृत व्याख्या, वैशेषिक पर गौतम मुनिकृत, न्याय सूत्र पर वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य, पातंजलि मुनिकृत सूत्र पर व्यासमुनि कृत भाष्य, कपिल मुनि कृत सांख्य सूत्र पर भागुरि मुनिकृत भाष्य, व्यास मुनिकृत वेदांत सूत्र पर वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य अथवा बोधायन मुनिकृत भाष्य के अध्ययन की संस्तुति की है।

स्वामीजी चारों वेदों को ईश्वरकृत मानते हैं। वे ब्राह्मण वेदांग (शिक्षा, कला, व्याकरण, निघंटु, निरुक्त, छंद और ज्योतिष) मीमांसादि छः शास्त्रों और उपवेदों (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद और अर्थवेद) को ऋषि मुनि के किए ग्रंथ कहते हैं। स्वामीजी की दृष्टि में वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रांत स्वतः प्रमाण हैं। ब्राह्मण आदि सब ग्रंथ परतः प्रमाण हैं। दूसरे शब्दों में इनका प्रमाण वेदाधीन है।

स्वामीजी ने परित्याग के योग्य ग्रंथों का भी परिगणन किया है :

"व्याकरण में कातंत्र, सारस्वत, चंद्रिका, मुग्ध बोध, कौमुदी, शेखर, मनोरमादि। कोश में अमरकोशादि। छंदोग्रंथ में वृत रत्नाकरादि। शिक्षा में 'अथ शिक्षां प्रवश्यामि पाणिनीयं मतं यथा' इत्यादि। ज्योतिष में शीघ्र बोध, मुहूर्तचिंतामणि आदि। काव्य में नायिका भेद, कुवलयानंद, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि। मीमांसा में धर्मसिंधु, व्रतार्कादि। वैशेषिक में तर्कसंग्रहादि। न्याय में जगदीशी आदि। योग में हठप्रदीपिकादि। सांख्य में सांख्यतत्व कौमुदी आदि। वेदांत में योगवशिष्ठ पंचदश्यादि। वैधक में शार्ङ्गधरादि। स्मृतियों में मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और अन्य सब स्मृति, सब तंत्र ग्रंथ, सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदास कृत भाषा रामायण, रुक्मिणी मंगलादि और सर्वभाषा ग्रंथ ये सब कपोल कल्पित मिथ्या ग्रंथ हैं।"[23]

स्वामीजी स्वीकार करते हैं कि इन ग्रंथों में भी सत्य का थोड़ा अंश है। लेकिन जिस प्रकार अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने पर छोड़ने योग्य होता है वैसे ये ग्रंथ हैं।

स्त्री शिक्षा

स्वामी दयानंद स्त्री शिक्षा के कट्टर समर्थक थे, उनका कहना है कि जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होकर युवती, विदुषी अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों से विवाह करते हैं वैसे कन्या ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा को प्राप्त युवती होकर पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान और पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को प्राप्त हो।

स्वामीजी का कहना है कि आर्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धुनर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं। कैकयी अपने पति दशरथ के साथ युद्ध में गई थी। स्वामीजी के विचार से ब्राह्मणी को सब विद्या, क्षत्रिया को सब विद्या और युद्ध तथा राजविद्या विशेष, वैश्य पत्नी को व्यवहार विद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए। स्वामीजी ने स्वीकार किया है कि जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिए वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प विद्या तो अवश्य सीखनी चाहिए। इनके सीखे बिना स्त्री सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल व्यवहार, यथायोग्य संतानोत्पत्ति, उनका पालन वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिए वैसा करना कराना, वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्नपान बना और बनवाना नहीं कर सकती। स्त्री शिल्पविद्या के जाने बिना घर नहीं बनवा सकती, गणित विद्या के बिना वह हिसाब-किताब नहीं रख सकती, वेदादि शास्त्र विद्या के बिना वह ईश्वर तथा धर्म का मर्म नहीं समझ सकती।[24]

शिक्षण-विधि

शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार एक सुव्यवस्थित और सुविचारित पाठ्यक्रम की आवश्यकता है, उसी प्रकार पाठ्य-सामग्री को समझाने के लिए उचित शिक्षण विधि भी आवश्यक समझी जाती है। प्राचीन भारत में शिक्षा की सर्वमान्य प्रणाली उपदेशात्मक विधि थी जिसके अंतर्गत आचार्य विद्यार्थियों को अपने पास बिठा कर उपदेश देते थे और विद्यार्थी उस उपदेश का मनन चिंतन करते थे। यदि विद्यार्थी को-कोई शंका होती, तो वह आचार्य से उसका समाधान कर लेता था।

प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली में पाठ्य-सामग्री को कंठ करने या रटने का विधान था। हजारों साल तक ज्ञान की यह गंगा सिर्फ कंठ में ही प्रवाहित होती रही। पाठ्य-सामग्री को कंठ करते समय अर्थ, स्वर और उच्चारण का विशेष ध्यान रखा जाता था। स्वामी दयानंद का कहना है कि जो वेद को स्वर और पाठमात्र को पढ़ के अर्थ नहीं जानता वह जैसा वृक्ष, डाली, पत्ते, फल, फूल और अन्य पशु धान्य आदि का भार उठाता है, वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठाने वाला है। जो वेद को पढ़ कर उनका यथावत् अर्थ जानता है वही वास्तविक आनंद को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति शब्द और अर्थ का संबंध जानते हैं, उनके लिए विद्या अपने स्वरूप का उसी प्रकार प्रकाश करती है जैसे "सुंदर वस्त्र आभूषण धारण करती अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपने शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है।"[25]

स्वामी दयानंद की शिक्षण-विधियों में प्रश्नोत्तर कथाओं, वार्त्तालाप और वाद-विवाद का भी स्थान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी दयानंद के विचारों पर आधारित शिक्षा-संस्थाएं

स्वामी दयानंद के विचारों पर आधारित शिक्षा संस्थाएं दो प्रकार की हैं। इनमें से एक डी.ए.वी. कालिजों की श्रृंखला है जिनकी संख्या 600-700 के लगभग है। इस श्रृंखला में सबसे पहला कालिज डी.ए.वी. कालेज, लाहौर था जिसकी स्थापना 1886 में हुई थी। इस कालिज को उन्नति के शिखर तक ले जाने में कालेज के पहले प्रिंसिपल लाला हंसराज का विशेष योग था। कालेज का पाठ्यक्रम शिक्षा बोर्ड के पाठ्यक्रम के अनुसार था लेकिन उसमें धार्मिक शिक्षा का प्रबंध था और आर्यसामाजिक वातावरण उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया। लाला लाजपतराय और भाई परमानंद जैसे देशसेवियों का इस कालिज से संबंध रहा था।

डी.ए.वी. कालेज, लाहौर की स्थापना के कुछ वर्ष बाद आर्यसमाज के कुछ नेताओं ने यह अनुभव किया कि आर्य समाज स्वामी दयानंद के आदर्शों से दूर हटता जा रहा है। स्वामी दयानंद के शैक्षिक विचारों को सही रूप में कार्यान्वित करने के लिए स्वामी श्रद्धानंद जी ने 1902 में हरिद्वार के निकट कांगड़ी में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। गुरुकुल कांगड़ी का संचालन प्राचीन काल के गुरुकुलों की भांति होता था। गुरुकुल कांगड़ी के नमूने पर अन्य कई गुरुकुल जिनमें कन्या गुरुकुल भी शामिल थे, खोले गए।[26]

सारांश

स्वामी दयानंद की शैक्षिक विचारधारा के अंतर्गत शैक्षिक उद्देश्यों, अभिकरणों, पाठ्यक्रम तथा शिक्षण-विधियों पर विचार किया जा सकता है।

स्वामी दयानंद का लक्ष्य वैदिक शिक्षाओं के आधार पर भारत का सर्वांगीण उत्थान करना था। उनकी शिक्षा-प्रणाली का लक्ष्य इस उद्देश्य को सिद्ध करना था।

स्वामी दयानंद की शिक्षा-प्रणाली के मुख्य उद्देश्य हैं :

वैदिक धर्म का प्रसार, चरित्र-निर्माण, मोक्ष की प्राप्ति, मानसिक शक्तियों का विकास, मातृभाषा की शिक्षा पर जोर, अंधविश्वासों का खंडन, प्रजातंत्र की शिक्षा, देश प्रेम की शिक्षा, राष्ट्रीय एकता की शिक्षा, आर्थिक संपन्नता के लिए शिक्षा।

स्वामी दयानंद ने घर और विद्यालय अथवा गुरुकुल को शिक्षा के मुख्य अभिकरण माने हैं। इनमें घर शिक्षा का अनौपचारिक अभिकरण है और गुरुकुल औपचारिक। बालक के जन्म से पांचवें वर्ष तक माता और छठे वर्ष से आठवें वर्ष तक पिता शिक्षा देता है। स्वामीजी ने गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् माता-पिता के आचार-विचार तथा आहार की ओर विशेष ध्यान दिया है। माता-पिता का यह सबसे बड़ा कर्त्तव्य है कि वे अपनी संतानों को विद्या, धर्म तथा सभ्यता की उत्तम शिक्षा प्रदान करें।

स्वामीजी वर्णों को जन्म से नहीं, कर्मों पर आधारित मानते हैं। एक वर्ण का बालक वंश-परंपरा से अपने वर्ण के गुणों को ग्रहण करता है।

स्वामी दयानंद सत्संग तथा धार्मिक संगठन को शैक्षिक अभिकरण के रूप में महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

स्वामी दयानंद मानते हैं कि राज्य का एक दायित्व अपनी प्रजा को अनिवार्य रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से शिक्षित करना है। वह इस दिशा में आवश्यक कानून बना सकता है। जो माता-पिता इस कानून का उल्लंघन करें, उन्हें दंड दिया जा सकता है।

गुरुकुल में विद्यार्थी का माता-पिता के साथ कोई संपर्क नहीं रहता। सभी विद्यार्थियों के साथ समान व्यवहार किया जाता है। स्वामी दयानंद ने सह-शिक्षा का विरोध किया है। वे बालक-बालिकाओं के लिए अलग-अलग गुरुकुलों की स्थापना के पक्ष में हैं। गुरुकुलों में विद्यार्थियों का जीवन तपस्यामय होना चाहिए। उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे ब्रह्मचर्य व्रत का दृढ़ता से पालन करें।

स्वामीजी ने गुरुकुल शिक्षा का समय 17 वर्ष माना है—आठ से पच्चीस वर्ष की आयु तक। उन्होंने इस शिक्षा का विस्तृत पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया है। स्वामीजी के पाठ्यक्रम में आर्ष ग्रंथों के अध्ययन पर आग्रह है। स्वामीजी ने परित्याग के योग्य ग्रंथों की भी सूची दी है।

स्वामीजी स्त्री शिक्षा के कट्टर समर्थक थे। वे स्त्रियों को भी उनकी प्रकृति के अनुकूल उचित शिक्षा देकर उन्हें भी समाज का उपयोगी अंग बनाना चाहते थे।

स्वामीजी ने शिक्षा की उपदेशात्मक विधि का समर्थन किया है। स्वामीजी का मत है कि वेदों को कंठस्थ करने मात्र से काम नहीं चल सकता। उनका अर्थ जानना भी आवश्यक है। श्रवण, मनन, निदिधासन शिक्षा की उपयोगी विधियां हैं।

स्वामी दयानंद के विचारों पर आधारित शिक्षा-संस्थाएं दो प्रकार की हैं—एक तो डी. ए.वी. कालेजों/स्कूलों की श्रृंखला और दूसरे गुरुकुल। डी.ए.वी. विद्यालय राज्य सरकारों द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रमों का अनुसरण करते हैं। गुरुकुलों में प्राचीन वैदिक प्रणाली के आधार पर शिक्षा दी जाती है।

संदर्भ तथा पाद-टिप्पणियां

1. आर्य समाज का तीसरा नियम।
2. स्वामी दयानंद ने *सत्यार्थ प्रकाश* के नवें समुल्लास में बंध और मोक्ष की व्याख्या की है।
3. "अज्ञानी लोग वैद्यक शास्त्र व पदार्थ विद्या के पढ़ने, सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपात ज्वारादि शारीरिक और उन्मादादि मानस रोगों का नाम भूत प्रेतादि धरते हैं। उनका औषध सेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न कर के उन धूर्त, पाखंडी, महामूर्ख, अनाचारी, स्वार्थी, भंगी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोंग, छल-कपट और उच्छिष्ट भोजन, डोरा, धागा आदि मिथ्या मंत्र-यंत्र बांधते-बंधवाते फिरते हैं। अपने धन का नाश, संतान आदि की दुर्दशा और रोगों को बढ़ा कर दुख देते फिरते हैं। स्वामी दयानंद सरस्वती, *सत्यार्थ प्रकाश,* विरजानंद वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, द्वितीयावृत्ति, विक्रम संवत् 2016, पृ. 32।
4. स्वामी दयानंद ने संस्कृत तथा हिंदी दोनों भाषाओं में ग्रंथ रचना की है। संस्कृत में लिखना इसलिए ज़रूरी था क्योंकि इस देश की परंपरा के अनुसार धर्म, दर्शन तथा अध्यात्म जैसे विषयों पर संस्कृत में लिखना अनिवार्य था। इस भाषा में लिखे ग्रंथ ही पंडित समाज में प्रतिष्ठा पाते थे। किंतु स्वामी दयानंद तो जनमानस की धड़कन पहचानने वाले महापुरुष थे। वे यह भी जानते थे कि जन-जन तक अपने मंतव्यों को संप्रेषित करने के लिए लोक भाषा का ही प्रयोग अभीष्ट है। भूतकाल में भी बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक, तुलसीदास आदि अनेक धर्म प्रचारकों तथा संप्रदायाचार्यों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकभाषा के माध्यम से ही अपने विचारों को जनसाधारण तक पहुंचाया है। इसी दृष्टिबिंदु को स्वीकार कर स्वामीजी ने भी अपने प्रमुख ग्रंथ हिंदी में ही लिखे। डॉ. भवानी लाल भारतीय, *स्वामी दयानंद सरस्वती : व्यक्तित्व एवं विचार,* सत्य धर्म प्रकाशन, गुरुकुल कंवरपुरा, डॉ. गोरधनपुरा, कोटपुतली, जयपुर 1997, पृ. 151।

5. बालक-बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा की सिफारिश स्वामी दयानंद के क्रांति-ऋषि होने का प्रबल प्रमाण है। यह आदर्श स्वतंत्र भारत में अभी तक प्राप्त नहीं किया जा सका है।
6. *सत्यार्थ प्रकाश, वही,* पृ. 263।
7. *वहीं,* पृ. 287।
8. *वहीं,* पृ. 293।
9. *वहीं,* पृ. 33।
10. *वही,* पृ. 124-125।
11. *वहीं,* पृ. 344-45।
12. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, *आर्यसमाज का इतिहास,* प्रथम भाग, नई दिल्ली-1982। पृ. 422-423।
13. *ऋग्वेद भाष्य,* 1/112/5।
14. *ऋग्वेद भाष्य,* 1/07/1।
15. *ऋग्वेद भाष्य,* 1/80/8।
16. *ऋग्वेद भाष्य,* 1/100/1।
17. *यजुर्वेद भाष्य,* 16/16।
18. *वहीं,* 16/44।
19. *वहीं,* 1/164/27।
20. *सत्यार्थ प्रकाश, उपर्युक्त,* पृ. 37।
21. *सत्यार्थ प्रकाश, उपर्युक्त,* पृ. 31।
22. *सत्यार्थ प्रकाश, उपर्युक्त,* पृ. 35।
23. *सत्यार्थ प्रकाश, उपर्युक्त,* पृ. 67।
24. *सत्यार्थ प्रकाश, उपर्युक्त,* पृ. 71।
25. *सत्यार्थ प्रकाश, उपर्युक्त,* पृ. 65।
26. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, *आर्यसमाज का इतिहास,* के तीसरे भाग में शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज के कार्यकलापों का विवरण दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 20

सामाजिक बुराइयां

स्वामी दयानंद ने अपने समय में प्रचलित सामाजिक बुराइयों का खंडन किया है। इन बुराइयों में मुख्य हैं : बाल-विवाह, अनमेल विवाह, बहु-विवाह, अस्पृश्यता, विदेया-यात्रा, खाद्य-अखाद्य, आचार-अनाचार। स्वामी दयानंद ने कुछ स्थितियों में विधवा-विवाह और नियोग का समर्थन किया है।

बाल-विवाह

भारत में बाल-विवाह की प्रथा यवन, शक, कुषाण, हूण आदि विदेशी जातियों के आक्रमण के समय आरंभ हुई। तुर्क-अफगानों के युग में इस प्रथा ने और भी विकट रूप धारण किया। माता-पिता को यह डर रहता था कि कहीं विधर्मी उनकी कन्याओं पर कुदृष्टि न डालें। इस डर से वे अपनी कन्याओं का विवाह जल्दी करने लगे।

स्वामी दयानंद ने बाल-विवाह का कड़ा विरोध किया है। बाल-विवाह का निषेध करते हुए स्वामी दयानंद का कहना है :

"सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से ले के अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह-समय उत्तम है। जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण रहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुख में डूब जाता है···ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है।"[1]

स्वामीजी ने अपने ऋग्वेद भाष्य में भी स्थान-स्थान पर बाल-विवाह का विरोध किया है। कुछ उदाहरण हैं :

"मनुष्यों को चाहिए कि अपने पुत्रों को कम से कम चौबीस और अधिक से अधिक अड़तालीस वर्ष तक और कन्याओं को कम से कम सोलह और अधिक से अधिक चौबीस वर्ष पर्यंत ब्रह्मचर्य करावें जिससे संपूर्ण विद्या और सुशिक्षा को पाकर वे परस्पर परीक्षा और अति प्रीति से विवाह करें जिससे सब सुखी रहें।"[2]

"विधाओं में प्रवृत्ति करते हुए कुमार और कुमारियों की रक्षा कर विद्या और अच्छी शिक्षा उनको दिलवानी चाहिए। बालकपन में अर्थात् पच्चीस वर्ष से भीतर पुरुष और सोलह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ष के भीतर स्त्री के विवाह को रोकें। इसके उपरांत अड़तालीस वर्ष पर्यंत पुरुष और चौबीस वर्ष पर्यंत स्त्री का स्वयंवर विवाह करा कर सबकी आत्मा और शरीर के बल को पूर्ण करना चाहिए।"[3]

अनमेल विवाह

स्वामी दयानंद ने अनमेल विवाह का भी विरोध किया है। वे चाहते थे कि जिन स्त्री-पुरुषों का विवाह हो, उन्हें विद्या, कुल, रूप, शरीर, धन, गुण, कर्म, स्वभाव में समान स्तर का होना चाहिए। विवाह माता-पिता के अधीन नहीं, लड़का-लड़की के अधीन होना चाहिए। स्वामीजी के शब्दों में : "लड़का-लड़की के अधीन विवाह होना उचित है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के बिना नहीं होना चाहिए क्योंकि एक-दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता है और संतान उत्तम होती है। अप्रसन्नता से विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है माता-पिता का नहीं, क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुख होता है।"[4]

स्त्री-पुरुष का विवाह उनके इच्छानुसार तथा उनके गुण, कर्म तथा स्वभाव की समानता के आधार पर हो, स्वामी दयानंद ने अपना यह विचार वेदभाष्य में भी कई स्थलों पर प्रकट किया है। कुछ उदाहरण हैं : "स्त्री और पुरुष विवाह से पहले परस्पर एक-दूसरे की परीक्षा कर के अपने समान गुण, कर्म, स्वभाव, रूप, बल, आरोग्य, पुरुषार्थ और विद्यायुक्त होकर स्वयंवर विधि से विवाह करके ऐसा यत्न करें कि जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को प्राप्त हो। जिसके माता-पिता विद्वान न हों, उनके संतान भी उत्तम नहीं हो सकती। इससे अच्छी और पूर्ण विद्या को ग्रहण करके ही गृहाश्रम के आचरण करें इससे पूर्व नहीं।"[5]

"कन्या को चाहिए कि अपने से अधिक बल और विद्या वाले या बराबर के पति को स्वीकार करे किंतु छोटे वा न्यून विद्या वाले को नहीं।"[6]

विधवा-विवाह

उन्नीसवीं सदी के भारत में एक बड़ी समस्या विधवाओं की थी। बाल-विवाह की प्रथा के कारण स्त्रियां अल्पायु में ही विधवा हो जाती थीं और उन्हें अपना शेष जीवन दुर्दशा में बिताना पड़ता था। राजा राम मोहन राय और ईश्वर चंद्र विद्यासागर जैसे समाज सुधारकों का ध्यान इस समस्या की ओर गया था। स्वामी दयानंद का ध्यान भी विधवाओं की समस्या थी ओर गया था और उन्होंने इसके समाधान के लिए अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

भारत में दो प्रकार की विधवाएं पाई जाती थीं। बाल विधवा अर्थात् वह स्त्री जिसके पति की मृत्यु उसकी बाल्यावस्था में ही उसके युवती होने से पहले ही हो जाए। स्वामीजी के मत में बाल-विधवाओं का फिर से विवाह उचित है।[7]

विधवाओं की दूसरी श्रेणी उनकी है जो युवती होने पर विधवा हुई हों, जो क्षतयोनि हों और पति के साथ संभोग कर चुकी हों। स्वामी दयानंद ने ऐसी विधवाओं के लिए पुनर्विवाह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उचित नहीं माना है। उन्होंने कुल चलाने के लिए स्वजाति के लड़के को गोद लेने का सुझाव दिया है।[8]

नियोग

नियोग एक प्राचीन प्रथा है जिसके अनुसार निःसंतान स्त्री पति के रोगी, नपुंसक या मृत होने की दशा में देवर या किसी अन्य गोत्र के द्वारा संतान उत्पन्न करा सकती थी। स्वामी दयानंद ने कुछ स्थितियों में स्त्री-पुरुषों दोनों को नियोग का अधिकार दिया है। प्राचीन भारत में नियोग की प्रथा प्रचलित थी। महाभारत में व्यास जी ने विचित्रवीर्य की दोनों विधवा स्त्रियों से नियोग कर उनमें से एक के गर्भ से धृतराष्ट्र और दूसरी के गर्भ से पांडु उत्पन्न हुए थे। कुंती ने कर्ण, युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन को और माद्री ने नकुल तथा सहदेव को नियोग द्वारा उत्पन्न किया था।

स्वामी दयानंद ने विधवाओं और विधुरों के पुनर्विवाह के विकल्प के रूप में नियोग का प्रतिपादन किया है।

स्वामीजी ने नियोग और विवाह के भेद को भी स्पष्ट किया है। स्त्री-पुरुष विवाह एक-दूसरे के दुख-सुख में जीवनपर्यंत भागीदार बने रहने के लिए करते हैं। नियोग-संबंध स्थायी न होकर सामयिक होता है। उसकी स्थापना केवल संतान-प्राप्ति के लिए की जाती है और संतान होने पर स्त्री-पुरुष संबंध छूट जाता है। स्वामी दयानंद नियोग कुटुंबी जनों की सहमति से समाज के सम्मुख करने के पक्षपाती हैं। स्वामीजी ने नियोग को वेदसम्मत माना है और उसके समर्थन में ऋग्वेद[9], अथर्ववेद[10] तथा मनुस्मृति[11] के प्रमाण दिए हैं।

स्वामीजी के अनुसार स्त्री और पुरुष नियोग द्वारा अपने लिए दो-दो संतानें तक प्राप्त कर सकते हैं। नियोग का उद्देश्य केवल संतान उत्पन्न करना है। संतान-उत्पत्ति के उपरांत संभोग निंदनीय है।

नियोग द्वारा उत्पन्न संतान स्त्री की होगी या पुरुष की इस विषय में भी स्वामीजी ने अपने विचार प्रकट किए हैं। स्वामीजी का मानना है कि स्त्री स्वयं अपने लिए संतान प्राप्त करने के उद्देश्य से किसी पुरुष के साथ नियोग कर सकती है। कोई पुरुष भी अपने लिए संतान प्राप्त करने के लक्ष्य से किसी स्त्री के साथ नियोग कर सकता है। पहली दशा में संतान स्त्री की होगी और दूसरी दशा में पुरुष की।

स्वामीजी का मंतव्य है कि वेदशास्त्रोक्त नियोग में व्यभिचार, पाप, लज्जा न माननी चाहिए।

बहु-विवाह

स्वामी दयानंद बहु-विवाह के विरोधी थे और वे स्त्री-पुरुष का एक ही विवाह शास्त्रानुकूल मानते थे। वे दूसरे विवाह की अनुमति न विधवा को देते हैं और न विधुर को।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्पृश्यता की समस्या

स्वामीजी का बुनियादी विचार यह था कि समाज में मनुष्य की स्थिति उसके जन्म के अनुसार नहीं उसके गुण कर्म के अनुसार होनी चाहिए। वे शूद्रों की संतानों को भी सारी विद्या पढ़ने का अधिकार देते हैं। शिक्षा प्राप्त कर शूद्र भी अपनी योग्यता के अनुसार कार्य कर सकता है। स्वामीजी ने शूद्र के कर्त्तव्य गिनाते हुए कहा है :

"शूद्र सब सेवाओं में चतुर, पाक-विद्या में निपुण, अति प्रेम से द्विजों की सेवा और उन्हीं से अपनी उपजीविका करे और द्विज लोग इसके खान, पान, वस्त्र, स्थान, विवाह आदि में जो कुछ व्यय हो सब देवें अथवा मासिक कर देवें। चारों वर्णों को परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख, दुख, हानि लाभ में ऐकमत्य रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन, मन, धन का व्यय करते रहना।"[12]

विदेश यात्रा

प्राचीन काल में भारतीय व्यापार करने और उपनिवेश बसाने के लिए देश-देशांतरों की यात्रा करते थे। सम्राट अशोक के समय में धर्मप्रचारकों की अनेक मंडलियां, बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए लंका, बर्मा तथा पश्चिमी एशिया के देशों में गई थीं। विदेश-यात्रा का यह क्रम 12वीं सदी तक आते-आते टूट गया। उन्नीसवीं सदी में तो यह स्थिति हो गई कि विदेश यात्रा अधार्मिक कृत्य माना जाने लगा। जो लोग विदेश-यात्रा करते, उन्हें जाति-बिरादरी से बाहर कर दिया जाता था।

स्वामी दयानंद ने विदेश-यात्रा का समर्थन किया है। उनका कहना है कि आर्यावर्त देशवासियों का आर्यावर्त देश से भिन्न-भिन्न देशों में जाने से आचार नष्ट नहीं होता। धृतराष्ट्र का विवाह गांधार (वर्तमान कंधार) की राजपुत्री गांधारी से हुआ था। पांडु की स्त्री माद्री ईरान के राजा की कन्या थी। मनुस्मृति में समुद्र में जाने वाली नौका पर कर लेना लिखा है। जब महाराजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था, उसमें भूगोल के राजाओं को बुलाने का निमंत्रण देने के लिए भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारों दिशाओं में गए थे। संक्षेप में : "सो प्रथम आर्यावर्त देशीय लोग व्यापार, राजकार्य और भ्रमण के लिए सब भूगोल में घूमते थे। और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शंका है वह केवल मूर्खों के बहकावे और अज्ञान बढ़ाने से है। जो मनुष्य देश-देशांतर और द्वीपद्वीपांतर में जाने-आने में शंका नहीं करते वे देशदेशांतर के अनेकविध मनुष्यों के समागम, रीति-भांति देखने, अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय शूरवीर होने लगते और अच्छे व्यवहार का ग्रहण बुरी बातों को छोड़ने में तत्पर होके बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं।"[13]

स्वामी दयानंद ने वेदभाष्य में भी अंतरिक्ष और समुद्री यात्रा का वर्णन किया है। कुछ उदाहरण है :

"...जैसे अच्छे दृढ़ विमान आदि यान पर बैठ देश-देशांतर को जा-आकर व्यापार व विजय से धन और प्रतिष्ठा को प्राप्त हो, दरिद्रता और अयश से छूट कर सुखी होते हैं... ।"[14]

"जो जन लंबी-चौड़ी नावों को रच के समुद्र के बीच जाना-आना करते हैं वे आप सुखी होकर औरों को सुखी करते हैं।"[15]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खाद्य और अखाद्य

स्वामी दयानंद ने भक्षयाभक्ष दो प्रकार का माना है–एक धर्मशास्त्रोक्त और दूसरा वैधकशास्त्रोक्त। उन्होंने धर्मशास्त्र के अंतर्गत यह स्वीकार किया है कि जो शाक, फूल, मूल आदि विष्ठा तथा मूत्र आदि के संसर्ग से उत्पन्न हुए हों, उनको नहीं खाना चाहिए। उन्होंने मद्य, गांजा, भांग, अफीम आदि के सेवन का भी निषेध किया है। स्वामीजी की सलाह है कि "जो-जो बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ हैं उनका सेवन कभी न करें और जितने अन्न सड़े, बिगड़े, दुर्गंधादि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए और मद्य मांसाहारी म्लेच्छ जिनका शरीर मद्यमांस के परमाणुओं ही से पूरित हैं उनके हाथ का न खावें।"[16]

स्वामीजी ने गाय, बैल, भैंस, हाथी, घोड़ों, ऊंटों, भेड़ों और गधों आदि उपकारक पशुओं के वध का निषेध किया है। गाय को स्वामीजी ने 'मुख्योपकारक' कहा है और उसकी रक्षा पर विशेष बल दिया है। स्वामीजी यह मानते हैं कि हानिकारक व हिंस्र पशुओं को नष्ट करना राजपुरुषों का कार्य है। मांसाहारी मनुष्य इन पशुओं का मांस खा सकते हैं। परंतु स्वामीजी ने चेतावनी दी है कि मांसाहारी मनुष्यों का स्वभाव हिंसक हो जाता है, अतः मांस न खाना ही उचित है।

स्वामी दयानंद ने खाद्य-अखाद्य के संबंध में वेदभाष्य में भी यत्र-तत्र अपने विचार प्रकट किए हैं। कुछ उदाहरण हैं :

"जो चतुर खेती करने वारे गौ और बैल की रक्षा करके विचार के साथ खेती करते हैं वे अत्यंत सुख को प्राप्त होते हैं। इन खेतों में विष्टा आदि मलिन पदार्थ नहीं डालने चाहिए। किंतु बीज सुगंधि आदि से युक्त करके ही बोवें कि जिससे अन्न भी रोगरहित उत्पन्न होकर मनुष्यादि की वृद्धि को बढ़ावे।[17]

मनुष्यों को चाहिए कि गौ आदि पशुओं को कभी न मारें न मरवावें तथा न किसी को मारने दें।"[18]

सारांश

स्वामी दयानंद ने अपने समय में प्रचलित सामाजिक बुराइयों का खंडन किया है।

भारत में बाल विवाह की प्रथा यवन और शक आदि विदेशी जातियों के आक्रमण के साथ आरंभ हुई। माता-पिता इस डर से कि विधर्मी उनकी कन्याओं पर कुदृष्टि न डालें अपनी कन्याओं का विवाह जल्दी करने लगे।

स्वामी दयानंद ने बाल-विवाह का विरोध किया है और कन्या की विवाह योग्य न्यूनतम आयु 16 वर्ष तथा पुरुष की 25 वर्ष निर्धारित की है।

स्वामी दयानंद ने अनमेल विवाह का भी विरोध किया है। वे चाहते थे कि जिन स्त्री-पुरुषों का विवाह हो, उन्हें विद्या, कुल, रूप, शरीर, धन, गुण और स्वभाव में समान होना चाहिए। विवाह माता-पिता के अधीन नहीं, लड़का-लड़की के अधीन होना उचित है।

उन्नीसवीं सदी के भारत में एक बड़ी समस्या विधवाओं की थी। उन्हें अपना जीवन बड़े क्लेश से बिताना पड़ता था। स्वामी दयानंद ने बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियोग एक प्राचीन प्रथा है जिसके अनुसार निःसंतान स्त्री पति के रोगी, नपुंसक या मृत होने की दशा में देवर या अन्य स्वजातीय के द्वारा संतान उत्पन्न करा सकती थी। महाभारत में नियोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। स्वामी दयानंद ने विधवाओं और विधुरों के पुनर्विवाह के विकल्प के रूप में नियोग का प्रतिपादन किया है। नियोग और विवाह में भेद है। स्त्री-पुरुष का विवाह एक जीवनव्यापी संबंध है। नियोग संबंध स्थायी न होकर सामयिक होता है।

स्वामीजी ने बहु-विवाह का विरोध किया है।

स्वामीजी अस्पृश्यता को नहीं मानते। उनके विचार से व्यक्ति का वर्ण उसके जन्म पर नहीं, गुण-स्वभाव पर आधारित होता है। वे शूद्रों को भी वेदाध्ययन तथा सारी विद्या पढ़ने का अधिकार देते हैं।

प्राचीन काल में भारतीय व्यापार करने और उपनिवेश बसाने के लिए देश-देशांतरों की यात्रा किया करते थे। मध्यकाल में विदेश-यात्रा का चलन नहीं रहा। उन्नीसवीं सदी में विदेश-यात्रा अधार्मिक कृत्य माना जाने लगा। स्वामी दयानंद ने विदेश-यात्रा का समर्थन किया है और अपने विचार की पुष्टि में वेदों तथा मनुस्मृति के उद्धरण दिए हैं।

स्वामीजी मांस तथा मादक द्रव्यों को अखाद्य मानते हैं। उन्होंने गाय, बैल, भैंस और हाथी जैसे उपकारक पशुओं के वध का निषेध किया है।

संदर्भ और पद-टिप्पणियां

1. *सत्यार्थ प्रकाश* चतुर्थ समुल्लास, पृ. 75।
2. ऋग्वेद भाष्य, 1/45/1।
3. *वही,* पृ. 1/116/10।
4. *सत्यार्थ प्रकाश,* चतुर्थ समुल्लास, पृ. 77।
5. यजुर्वेद भाष्य, 8/9।
6. *वही,* पृ. 11/77।
7. स्वामीजी ने लिखा है, "जिस स्त्री व पुरुष का पाणिग्रहण मात्र संस्कार हुआ हो और संभोग न हुआ हो अर्थात् अक्षत योनि स्त्री अक्षतवीर्य पुरुष हो उनका अन्य स्त्री व पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए।" *सत्यार्थ प्रकाश,* चतुर्थ समुल्लास, पृ. 101।
8. *सत्यार्थ प्रकाश,* चतुर्थ, पृ. 102-108।
9. ऋग्वेद, 10/85/45; 10/40/2; 10/18/8।
10. अथर्ववेद, 14/2/18।
11. मनुस्मृति, 9/69; 9/58-59; 9/76; 9/81।
12. *सत्यार्थ प्रकाश,* पृ. 100।
13. *वही,* पृ. 226।
14. ऋग्वेद भाष्य, 1/106/2।
15. *वही,* पृ. 1/182/5।
16. *सत्यार्थ प्रकाश,* पृ. 229।
17. यजुर्वेद भाष्य, 12/69।
18. *वही,* 12/73।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 21

वेदों की व्याख्या

वेदभाष्य का प्रयोजन

मानव-चिंतन को स्वामी दयानंद की एक बड़ी देन वेदों की व्याख्या है। भारतीय चिंतन में वेदों का महत्त्व चिरकाल से माना जाता था, लेकिन उनके वास्तविक अर्थ से बहुत कम लोग परिचित थे। "स्वामी दयानंद के आविर्भाव के पूर्व वेदों की प्रामाणिकता की चर्चा शास्त्रज्ञ पंडितों के वाणी-विलास का ही विषय रही, मानव जीवन में उसके महत्त्व और उपयोगिता को भली-भांति आंका नहीं गया।"[1]

स्वामी दयानंद वेदों को विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान का आधार मानते हैं।[2] उनकी दृष्टि में वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के साधन हैं।[3]

स्वामी दयानंद केवल संहिता भाग को ही वेद मानते हैं, ब्राह्मण भाग को नहीं। उनके मत से ब्राह्मण ग्रंथ वेदों के व्याख्यान हैं।[4]

स्वामी दयानंद ने वेदों की व्याख्या इस आधार पर की है कि उसमें मानव-जाति के लिए उपयोगी सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का प्रतिपादन है। उन्होंने अपनी वेद-विषयक मान्यताओं को स्पष्ट करने के लिए **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** ग्रंथ की रचना की थी। यह ग्रंथ संस्कृत और हिंदी दोनों भाषाओं में है। स्वामी दयानंद ने वेदभाष्य संबंधी अपने प्रयोजन को निम्न शब्दों में प्रकट किया है :

"इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है। किंतु जो ब्रह्मा से लेकर व्यासपर्यंत मुनि और ऋषि हुए हैं, उनकी जो व्याख्या-रीति है उससे युक्त ही यह वेदभाष्य बनाया जाएगा। यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं, वे सब निवृत्त हो जाएंगे। और इस भाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध हो, कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें··· ।"[5]

परा और अपरा विद्या

स्वामी दयानंद यह मान कर चले हैं कि विद्याएं दो प्रकार की होती हैं : एक अपरा और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी परा। अपरा विद्या वह है जिससे पृथ्वी और तृण से लेकर प्रकृति पर्यंत पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है। परा विद्या से सर्वशक्तिमान ब्रह्म की यथावत प्राप्ति होती है। स्वामीजी का मंतव्य है कि परा विद्या अपरा विद्या से अत्यंत उत्तम होती है। अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है। स्वामी दयानंद के अनुसार वेदों में परा और अपरा दोनों विद्याओं का निरूपण है। हां, यह अवश्य है कि उसमें मुख्य प्रतिपाद्य परा विद्या ही है।

भारत में भाष्य लेखन की परंपरा

वेदों के भाष्य-लेखन की परंपरा पुरानी है। सायण, महीधर, स्कंद और उब्बट आदि विद्वानों ने वेदों के भाष्य लिखे थे लेकिन उनके भाष्यों में वैदिक मंत्रों की कर्मकांड परक व्याख्या है। ग्रिफिथ, विल्सन और मैकडानल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों में आर्य जाति के रीति-रिवाजों और सामाजिक जीवन को खोजने का प्रयत्न किया है। स्वामी दयानंद वेदों के पहले भाष्यकार हैं जिन्होंने वैदिक मंत्रों का मानवोपयोगी अर्थ किया है।[6]

वेदाध्ययन का अधिकार सबको

स्वामी दयानंद से पहले वेदों के अध्ययन-अध्यापन का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था। स्त्रियों तथा शूद्रों के लिए वेदों का अध्ययन करने की मनाही थी। सूत्र काल में तो स्थिति इतनी बिगड़ गई थी कि यदि शूद्र वेदों को सुन तक लेते तो उन्हें कठोर दंड दिया जाता था। स्वामी दयानंद ने वेदों के अध्ययन का द्वार सभी लोगों के लिए—शूद्रों तक के लिए खोल दिया। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने यजुर्वेद का यह मंत्र प्रस्तुत किया—यथेमां वाचं कल्याणी। इसका अर्थ है, ''परमात्मा का यह आदेश है कि वह कल्याणकारी वाणी मनुष्य मात्र के हित के लिए प्रदान कर रहा हूं। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सेवक तथा दास प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस वाणी का उपदेश है।''[7]

स्वामीजी के समस्त चिंतन तथा साहित्य पर वेदों की छाप है। उनकी इच्छा तो चारों वेदों का भाष्य करने की थी, लेकिन वे अपने जीवन-काल में ऋग्वेद का आंशिक तथा यजुर्वेद को पूरा भाष्य कर सके।

ऋग्वेद का भाष्य

स्वामी दयानंद ने ऋग्वेद का भाष्य 1874 में लिखना आरंभ किया। ऋग्वेद में कुल 10 मंडल, 10552 मंत्र हैं। स्वामीजी सातवें मंडल के बासठवें सूक्त के दूसरे मंत्र तक ही भाष्य कर पाए थे। ऋग्वेद के 10552 मंत्रों में से केवल 5649 मंत्रों का भाष्य ही स्वामीजी पूरा कर सके। भाष्य 1878 के मध्य में मासिक रूप से मुद्रित होकर प्रकाशित होना आरंभ हुआ। स्वामीजी के जीवन-काल में उसके 51 अंक ही प्रकाशित हुए। शेष भाष्य स्वामीजी के निधन के बाद भी छपता रहा। स्वामीजी के ऋग्वेद भाष्य को छपने में कुल 22 वर्ष लगे। स्वामीजी ने ऋग्वेद भाष्य मूल रूप से संस्कृत में लिखा था। उसका हिंदी अनुवाद स्वामीजी द्वारा नियुक्त पंडितों ने किया था। पंडितों के हिंदी अनुवाद कहीं-कहीं विसंगत हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यजुर्वेद का भाष्य

स्वामी दयानंद ने यजुर्वेद भाष्य का लेखन 1878 में आरंभ किया और पांच वर्षों में अर्थात् 1883 में इसे पूरा किया। ऋग्वेद भाष्य की भांति यजुर्भाष्य का मूल संस्कृत भाग ही स्वामी दयानंद द्वारा विरचित है। इसका अनुवाद पं. भीमसेन शर्मा तथा पं. ज्वालादत्त शर्मा ने किया था।

अन्य संस्करण

स्वामी दयानंद के वेदभाष्यों के समय-समय पर अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली तथा जनज्ञान प्रकाशन, दिल्ली में ऋग्वेद भाष्य का हिंदी भाषा भाग 3 खंडों में आर्य समाज स्थापना शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित किया था। पं. युधिष्ठिर मीमांसक और पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने स्वामीजी के वेदभाष्यों पर अपनी समीक्षाएं प्रकाशित की हैं।

आर्ष पद्धति

स्वामीजी ने वेदभाष्य के संबंध में आर्ष पद्धति अपनाई थी। वे यह मान कर चले थे कि वैदिक राष्ट्र यौगिक हैं अर्थात उनके एक से अधिक अर्थ हो सकते हैं। किस शब्द का कौन-सा अर्थ सटीक है, यह उसके प्रसंग पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए 'अग्नि' शब्द का सामान्य अर्थ 'भौतिक अग्नि' होता है। लेकिन स्वामीजी ने व्युत्पत्ति के हिसाब से उसके 'ईश्वर' तथा 'अग्रणी' आदि अनेक अर्थ किए।

भावार्थ

स्वामी दयानंद के वेदभाष्य की एक विशेषता यह है कि उसमें वेदमंत्रों के अर्थ तथा व्याख्या के पश्चात् प्रत्येक मंत्र का भावार्थ भी दे दिया गया है। इस भावार्थ में स्वामीज़ी ने अनेक ऐसे विचार व्यक्त किए हैं जो उनके अपने मौलिक विचार हैं। नीचे ऋग्वेद भाष्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

> "जो विद्वान पदार्थों के संयोग व वियोग से धारण, आकर्षण व वेगादि गुणों को जान कर क्रियाओं से शिल्प व्यवहार आदि यज्ञ को सिद्ध करते हैं, वे ही उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं।"[8]
>
> "शिल्प कार्यों की सिद्धि करने की इच्छा करने वाले मनुष्यों को चाहिए कि उसमें भूमि और अग्नि को पहले ग्रहण करें, क्योंकि इनके बिना विमान आदि यानों की सिद्धि व गमन संभव नहीं हो सकता।"[9]
>
> "मनुष्यों को विज्ञान और विद्वानों के संग के बिना सब सुख प्राप्त नहीं हो सकते...।"[10]
>
> "जैसे प्रजास्थ जन अच्छे राज्य को पाकर रात्रि में सुख से सो कर दिन में चाहे हुए कामों में मन लगाते हैं व अच्छी शोभा होने के लिए सुवर्ण आदि वस्तुओं को पाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व खेती आदि कामों को करते हैं वैसे अच्छी प्रजा को प्राप्त होकर राजपुरुष प्रशंसा पाते हैं।''[11]

''जो मनुष्य विद्वानों का अनुकरण करें तो वे महात्मा होवें।''[12]

पश्चिम में वेदों का अनुशीलन

यूरोप में वेदों का अनुशीलन उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में आरंभ हो गया था। हेनरी टामस कोलब्रुक (Henry Thomas Colebrook) ने 1805 में **एशियाटिक रिसर्चेज** नामक पत्रिका में वेद के संबंध में एक लेख छपवाया था। उनका यह लेख वैदिक साहित्य की ओर यूरोप के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने में मुख्य साधन प्रमाणित हुआ।[13]

रूडाल्फ रोठ (Rudolph Roth) ने 1846 में वैदिक साहित्य के संबंध में एक लघु ग्रंथ प्रकाशित किया। आपने प्रतिपादित किया कि वेदों का अर्थ वेदों की सहायता से करना चाहिए। आपके अनुसार संदिग्ध स्थलों में कठिन शब्दों के अर्थों को जानने के लिए हमें वेदों के ही वे सब वाक्य देखने चाहिए जहां-जहां वह शब्द प्रयुक्त हुआ है।[14]

यूरोप के जिन विद्वानों ने वेदों के अनुशीलन में विशेष योग दिया, उनमें वेबर, मैक्समूलर, आउफ्रेक्ट, ब्यन्फे, विलसन, ग्रासमान, लुडविग, ग्रिफिथ आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं।

वेबर ने 1852 में भारतीय साहित्य के संबंध में कुछ व्याख्यान दिए। इन व्याख्यानों में आपने वैदिक साहित्य का सुसंबद्ध और विस्तृत वर्णन किया।[15]

आउफ्रेक्ट और ब्यन्फे नामक विद्वानों ने क्रम से ऋग्वेद संहिता तथा सामवेद संहिता का संपादन किया।[16]

पश्चिम में वैदिक साहित्य के अनुशीलन को प्रोत्साहन देने का प्रमुख श्रेय मैक्समूलर को है। मैक्समूलर अपने समय में यूरोप में भारतीय साहित्य के शिरोमणि समझे जाते थे। आपने सायण भाष्य के सहित ऋग्वेद का विवेचनात्मक संस्करण प्रकाशित किया। आपने ऋग्वेद के कुछ अंशों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया। मैक्समूलर ने **सेक्रेड बुक्स ऑफ** नामक ग्रंथमाला में अनेक वैदिक ग्रंथों का स्वयं तथा दूसरों के द्वारा किया गया अनुवाद कराया।[17]

वैदिक अनुशीलन के संबंध में पाश्चात्यों के कार्य को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

(1) वैदिक ग्रंथों का संपादन
(2) वैदिक ग्रंथों के अनुवाद
(3) वैदिक कोशों का निर्माण
(4) वैदिक व्याकरण विषयक कार्य
(5) वैदिक छंद विषयक कार्य
(6) वैदिक साहित्य विषयक सूचियां
(7) वैदिक पुराण विषयक ग्रंथ
(8) वैदिक साहित्य विषयक सामान्य अनुसंधान।

(1) वैदिक ग्रंथों का संपादन

वैदिक ग्रंथों के पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किए गए संपादन में सबसे ऊंचा स्थान मैक्समूलर द्वारा संपादित सायण भाष्य सहित ऋग्वेद संहिता को है। मैक्समूलर ने यह कार्य 1849 ई. में आरंभ किया और 1875 में समाप्त।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेद संहिता के अतिरिक्त यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद संहिताओं के संपादित संस्करण भी यूरोप से प्रकाशित हुए। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रंथों, श्रौत सूत्रादि वैदिक ग्रंथों, निरुक्त और प्रतिशाख्य जैसे ग्रंथों के संपादित संस्करण भी प्रकाशित किए गए।[18]

(2) वैदिक ग्रंथों के अनुवाद

यूरोप में ऋग्वेद का सबसे पहले अंग्रेजी अनुवाद एच.एच. विलसन ने प्रकाशित किया। विलसन ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के पहले प्रोफेसर थे। विलसन ने अक्षरशः सायण का अनुसरण किया है। आपका विचार था कि वेदों के अर्थों के लिए हमें परंपरागत भारतीय संप्रदाय के पीछे चलना चाहिए।[19]

जर्मन भाषा में संपूर्ण ऋग्वेद के दो अनुवाद प्रकाशित हुए। पहला अनुवाद एच. ग्रासमान (H. Grasmann) का है जो पद्य में है। यह 1877-78 में लाइब्जिंग नगर से प्रकाशित हुआ था। यह अनुवाद भारतीय टीकाकारों की उपेक्षा करके स्वतंत्र रीति से किया गया है।[20] दूसरा अनुवाद ए. लुडविग (A. Ludwig) ने 1876-1888 के बीच छः जिल्दों में प्राग से प्रकाशित कराया। यह अनुवाद गद्य में है।[21]

1889-1892 में आर.टी.एच. ग्रिफिथ (R.T.H. Griffith) ने ऋग्वेद का अंग्रेजी पद्य में अनुवाद किया। यह बनारस से प्रकाशित हुआ था।[22]

ऋग्वेद के इन अनुवादों के अतिरिक्त जर्मन विद्वान प्रोफेसर एच. ओल्डनबर्ग (H. Oldenberg) ने दो जिल्दों में बर्लिन से 1909-1912 में ऋग्वेद के ऊपर एक विवेचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किया।[23]

(3) वैदिक कोशों का निर्माण

वैदिक कोशों के क्षेत्र में रोठ और वेहटलिंग द्वारा संपादित संस्कृत जर्मन कोश कालजयी रचना है। यह कोश 1853-1875 में सात भागों में प्रकाशित हुआ था। इसमें 10,000 पृष्ठ हैं और प्रत्येक शब्द का पूरा इतिहास मिल जाता है।[24]

दूसरा वैदिक कोश ग्रासमान का है। इसका संबंध केवल ऋग्वेद से है। इसका प्रकाशन 1873-75 में हुआ था।[25]

प्रो. मैकडानल और कीथ के **वैदिक इंडैक्स** में चुने हुए वैदिक शब्दों के अर्थों का निर्णय किया गया है।[26]

(4) वैदिक व्याकरण विषयक कार्य

वैदिक व्याकरण की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक मैकडानल की *वैदिक ग्रामर* है। यह 1910 में प्रकाशित हुई थी।[27]

(5) वैदिक छंद विषयक कार्य

वैदिक छंदों पर प्रो. वेबर और प्रो. ई. वी. आर्नल्ड का कार्य उल्लेखनीय है।[28]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(6) वैदिक साहित्य विषयक सूचियां

वैदिक साहित्य विषयक सूचियों में सबसे ऊंचा स्थान प्रोफेसर ब्लूमफील्ड द्वारा निर्मित **वैदिक कान्कार्डेन्स** को है।[29] यह सूची 1906 में प्रकाशित हुई थी। कर्नल जे. ए. जेकब (J.A. Jacob) ने 1891 में बंबई से उपनिषदों के वाक्यों का एक कोश प्रकाशित किया था।[30]

(7) वैदिक पुराण विज्ञान

वैदिक पुराण विज्ञान पर लिखने वालों में प्रोफेसर मैक्समूलर, मैक्डानल और हिलब्रांट के नाम आदर से लिए जाते हैं।[31]

(8) वैदिक साहित्य विषयक सामान्य अनुसंधान

यूरोप और अमरीका से ऐसी अनेक पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं जिनमें भारतीय विषयों पर उपयोगी खोजपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। इनमें दो पत्रिकाएं महत्त्वपूर्ण हैं : *जर्नल ऑफ द रायल एशियाटिक सोसायटी*, लंदन और *जर्नल ऑफ द अमेरिकन ओरिएंटल सोसायटी*।[32]

स्वामी दयानंद का वेदभाष्य और श्री अरविंद

श्री अरविंद ने 1916 में स्वामी दयानंद के बारे में अंग्रेजी में दो लेख लिखे थे जिन्हें गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य रामदेव जी के संपादकत्व में प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी के मासिक पत्र, **वैदिक मैगजीन** ने प्रकाशित किया था। एक लेख स्वामी दयानंद के व्यक्तित्व और कार्य के बारे में था और दूसरा **दयानंद और वेद** के बारे में।

अरविंद ने दयानंद की तुलना एक पहाड़ से की है जो सबसे जुदा है। वह पहाड़ बल का मूर्तिमान रूप है। "शुद्ध, प्रबल और उपजाऊ शक्ति वाले जल का एक सुविशाल जलप्रपात मानो उसके इस शक्तिपुंज में से ही फूट-फूट कर निकल रहा है जो इस सारी घाटी भर के लिए, पानी ही क्या किंतु स्वयं स्वास्थ्य और जीवन का ही झरना है। यह है छाप जो मेरे मन पर स्वामी दयानंद की पड़ती है।"[33]

अरविंद ने स्वामी दयानंद को "परमेश्वर के कारखाने का दुर्दम कारीगर"[34] कहा है। उनके सामने स्वामी दयानंद के जो चित्र आते हैं वे सब "लड़ाई के, कार्य के, विजय के, विजयी परिश्रम के चित्र हैं।"[35] उनकी दृष्टि में दयानंद 'दिव्य प्रकाश का सैनिक', परमेश्वर के जगत का योद्धा, मनुष्यों और संस्थाओं को बनाने वाला शिल्पकार और आत्मा के सम्मुख प्रकृति जो कठिनाइयां उपस्थित करती हैं, उनका निर्भीक और अदम्य विजेता"[36] है।

अरविंद ने वेदों के उद्धारक और व्याख्याता के रूप में दयानंद की सराहना करते हुए लिखा है : "कैसे महान् बौद्धिक साहस का यह कार्य था कि उसने इस धर्म पुस्तक वेद का उद्धार किया जो कि अज्ञान भरे भाष्यों से विकृत हो चुकी थी, जिसके असली अभिप्राय को भूला जा चुका था और लोग जिसे गलतफहमी के कारण अपने दर्जे से घटा कर पुरानी जंगली जातियों के लेखों के बराबर समझने लगे थे। उसने वेद की इस वास्तविक श्रेष्ठता को पहचाना कि यह वह धर्म पुस्तक है जिसमें इस देश और राष्ट्र को बनाने वाले पूर्वजों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की गहरी और प्रबल भावना छिपी हुई है, वह धर्म पुस्तक जो दिव्य ज्ञान, दिव्य पूजा और दिव्य कर्म की चर्चा से ओतप्रोत है''[37] ···अरविंद वेद को 'आश्चर्यजनक ईश्वरीय ज्ञान'[38] स्वीकार करते हुए यह मानते हैं कि उसके ''अन्य रूपों के खुलासा करने का कुछ सूक्ष्म कार्य अब भी शेष है।'' लेकिन उनकी राय में इसका बहुत महत्त्व नहीं है। उनके शब्दों में, ''मुख्य बात तो यह है कि उसने वेद को भारत की युगों से चली आ रही चट्टान के रूप में ठीक-ठीक पकड़ लिया और इसमें अपनी सूक्ष्मदर्शी दृष्टि द्वारा यौवन की संपूर्ण शिक्षा अथवा संपूर्ण मनुष्यता और संपूर्ण राष्ट्रीयता को देखकर इस चट्टान पर उनके भवन को बनाने का विचार किया।''[39]

दयानंद ने वेद को अपनी आधारभूत दृढ़ चट्टान के रूप में अपनाया। वह वेद को अपने जीवन का मार्गदर्शक, अपनी आंतरिक सत्ता का नियम और अपने बाह्य कार्य का प्रेरणा-प्रदाता समझते थे। इतना ही नहीं, वे इसे शाश्वत सत्य का वचन मानते थे जिसको कि मनुष्य-मात्र अपने ईश्वर विषयक ज्ञान के लिए, तथा उस दिव्य पुरुष के प्रति एवं मानव साथियों के प्रति अपने संबंधों के लिए उचित और दृढ़ आधार बना सकता है।[40]

अरविंद के मत से हमारे भूतकाल के समस्त पदार्थों में वेद सबसे अधिक पूजास्पद हैं और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सबसे अधिक शक्तिशाली भी रहे हैं। एक समय ऐसा आया जबकि लोग वेदों का अभिप्राय भूल गए। वैदिक परंपराएं पौराणिक रंग-रूप की आड़ में लुप्तप्रायः हो गईं। लेकिन उस समय भी वेदों का आदर था। उन्हें ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक माना जाता था।

अरविंद का निष्कर्ष है कि चाहे वेद की अंतिम पूर्ण व्याख्या कुछ भी हो, दयानंद उसके सत्य सूत्रों के प्रथम आविष्कारकर्ता के रूप में सदा आहत किए जाएंगे। ''यह दयानंद की प्रत्यक्षदर्शी चक्षु थी जिसने पुराने अज्ञान और लंबे युग से चली आ रही नासमझी को गोलमाल और अंधकार के बीच में से चीर कर देखा और अपनी दृष्टि को वहां आबद्ध किया जो कि अत्यंत महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। उसने उन द्वारों की कुंजी प्राप्त कर ली जिन्हें काल ने बंद कर रखा था और रुके पड़े निर्झरों के मुख पर से उन्हें बंद करने वाली सील (मोहर) तोड़ फेंकी।''[41]

सारांश

मानव-चिंतन को स्वामी दयानंद की एक बड़ी देन वेदों की व्याख्या है। स्वामी दयानंद वेदों को संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान का भंडार समझते थे। उनके विचार से संहिता भाग ही वेद है। ब्राह्मण उसकी व्याख्याएं हैं।

स्वामी दयानंद ने अपनी वेद-विषयक मान्यताओं को अपनी पुस्तक **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** में स्पष्ट किया है। यह ग्रंथ संस्कृत और हिंदी दोनों भाषाओं में है।

स्वामी दयानंद दो प्रकार की विद्याएं मानते हैं–परा और अपरा। परा विद्या आध्यात्मिक विद्या है। इससे ईश्वर की प्राप्ति होती हैं अपरा विद्या भौतिक विद्या है। स्वामी दयानंद के अनुसार वेदों में परा और अपरा दोनों विद्याओं का निरुपण है। लेकिन उनमें मुख्य जोर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परा विद्या पर है।

भारत में वेदों के भाष्य-लेखन की परंपरा पुरानी है। सायण, महीधर, स्कंद और उव्वट आदि वेदों के प्रमुख भाष्यकार हुए हैं। लेकिन इन विद्वानों के वैदिक भाष्यों में वैदिक मंत्रों की कर्मकांडपरक व्याख्याएं हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों में आर्य जाति के रीति-रिवाजों और सामाजिक जीवन को खोजने का प्रयत्न किया है। स्वामी दयानंद वेदों के पहले भाष्यकार हैं जिन्होंने वैदिक मंत्रों का मानव-उपयोगी अर्थ किया है।

स्वामी दयानंद से पहले वेदों के अध्ययन-अध्यापन का अधिकार केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित था। स्वामी दयानंद ने वेदों के अध्ययन का अधिकार शूद्रों तथा स्त्रियों सबको दिया है।

स्वामी दयानंद ने ऋग्वेद का आंशिक और यजुर्वेद का पूरा भाष्य किया है। उन्होंने स्वयं भाष्य के संस्कृत भाग की रचना की थी। उसका हिंदी रूपांतर उनके द्वारा नियुक्त पंडितों ने किया था। पंडितों के हिंदी अनुवाद कहीं-कहीं विसंगत हैं।

स्वामी दयानंद ने अपने वैदिक भाष्य में आर्ष पद्धति अपनाई थी। वे यह मान कर चले थे कि वैदिक शब्द यौगिक है और प्रत्येक शब्द के प्रसंगानुसार विभिन्न अर्थ हो सकते हैं।

स्वामी दयानंद के वेदभाष्य की एक विशेषता यह है कि उसमें प्रत्येक वेद मंत्र की व्याख्या के बाद उसका भावार्थ दे दिया गया है। भावार्थ में अनेक स्थलों पर स्वामी दयानंद के अपने मौलिक विचार प्रस्फुटित हुए हैं।

पश्चिम में वेदों का अनुशीलन उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में आरंभ हो गया था। कोलब्रुक, रोठ, मैक्समूलर, विलसन, ग्रासमान, ग्रिफिथ, लुडविग पश्चिम के प्रमुख वैदिक विद्वान हैं। पश्चिमी विद्वानों का वैदिक अनुशीलन निम्न क्षेत्रों में हुआ है : (1) वैदिक ग्रंथों का संपादन, (2) वैदिक ग्रंथों के अनुवाद, (3) वैदिक कोशों का निर्माण, (4) वैदिक व्याकरण विषयक कार्य, (5) वैदिक छंद विषयक कार्य, (6) वैदिक साहित्य विषयक सूचियां, (7) वैदिक पुराण विषयक ग्रंथ, (8) वैदिक साहित्य विषयक सामान्य अनुसंधान।

श्री अरविंद ने वेदों की व्याख्या के संबंध में स्वामी दयानंद के कार्य को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना है। उनका निष्कर्ष है कि वेदों की व्याख्या के बारे में अंतिम निर्णय चाहे कुछ भी हो, स्वामी दयानंद उसके सत्व सूत्रों के प्रथम आविष्कारकर्त्ता के तौर पर सदा आहत किए जाएंगे।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. डॉ. भवानीलाल भारतीय, *स्वामी दयानंद सरस्वती, व्यक्तित्व और विचार,* पृ. 68।
2. *वही,* पृ. 71।
3. *वही।*
4. *वही,* पृ. 75।
5. *ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका,* आर्ष साहित्य ट्रस्ट, दिल्ली, 1993, पृ. 2।
6. ऋषि दयानंद और पाश्चात्य विद्वानों की भाष्य प्रणाली में मौलिक भेद उत्पन्न होने का कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह था कि पाश्चात्य लोग जहां डारविन के विकासवाद के अनुयायी होने के कारण वेदों को असभ्य मानव की अटपटी वाणी से अधिक महत्त्व देने के लिए तैयार नहीं थे। वहीं ऋषि उन्हें प्रभु प्रणीत तथा ज्ञान-विज्ञान का भंडार मानते थे। ऋषि ने पाश्चात्यों द्वारा वेदों पर लगाई गई अनेक भ्रांतिपूर्ण उपपत्तियों का खंडन किया तथा अश्लीलता, जादू-टोना, अस्पष्टता आदि का निराकरण। डॉ. भवानीलाल भारतीय, *उपर्युक्त*, पृ. 80।

7. *वही*।
8. *ऋग्वेदभाष्य, 1/20/2*।
9. *वही*, 1/22/1।
10. *वही*, 1/69/3।
11. *वही*, 1/117/5।
12. *वही*, 2/39/8।
13. डॉ. मंगलदेव शास्त्री, 'वैदिक साहित्य में पाश्चात्य विद्वानों का कार्य', *वेदवाणी*, वेदवाणी कार्यालय बहालगढ़ (सोनीपत-हरियाणा) नवंबर, 1978, पृ. 50।
14. *वही*, पृ. 51।
15. *वही*, पृ. 52।
16. *वही*।
17. *वही*।
18. *वही*, पृ. 55-59।
19. *वही*, पृ. 59।
20. *वही*, पृ. 60।
21. *वही*।
22. *वही*।
23. *वही*।
24. *वही*, पृ. 61।
25. *वही*।
26. *वही*।
27. *वही*, पृ. 62।
28. *वही*।
29. *वही*, पृ. 62-63।
30. *वही*, पृ. 63।
31. *वही*।
32. *वही*।
33. श्री अरविंद, दयानंद (अनुवादक आचार्य अभयदेव विद्यालंकार), प्रकाशक श्री अरविंद निकेतन, कनाट सर्कस नई दिल्ली, प्रकाशन-तिथि नहीं दी गई; पृ. 3-4।
34. *वही*, पृ. 11।
35. *वही*।
36. *वही*।
37. *वही*, पृ. 16-17।
38. *वही*, पृ. 17।
39. *वही*।
40. *वही*, पृ. 40।
41. *वही*, पृ. 54।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 22

स्वामी दयानंद और भारतीय नवजागरण

आधुनिक भारत के वैतालिक

स्वामी दयानंद ने अपना सार्वजनिक जीवन 1867 में हरिद्वार के कुंभ मेले के अवसर पर किया था। आगे के सोलह सालों में उन्होंने अपने विचारों को स्थायित्व दिया, समूचे उत्तर भारत में अपने सिद्धांतों का प्रचार किया, धार्मिक अंधविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों की आलोचना की, अपने विचारों के प्रसार के लिए अनेक ग्रंथों की रचना की, वेदों की नए ढंग से व्याख्या की तथा उसके संदेश को जनसाधारण तक पहुंचाया, भारतीयों को उनकी प्राचीन गरिमा से अवगत कराया और एक सुदृढ़ तथा सुगठित समाज की रूपरेखा प्रस्तुत कर भारत में राष्ट्रीय एकता का बीज-वपन किया। स्वामी दयानंद आधुनिक भारत के वैतालिक थे और उनके कर्तृत्व को समझने के लिए उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग के भारत को राजनीतिक आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक दशा की जानकारी पाना उपयोगी होगा। कोई भी विचारक या सुधारक शून्य में जन्म नहीं लेता। उस पर युगीन परिस्थितियों का ऋण होता है। स्वामी दयानंद की विचारधारा और कार्यपद्धति पर भी युगीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा था।

राजनीतिक दशा

भारत में अंग्रेजी शासन का सूत्रपात 1757 के प्लासी युद्ध द्वारा हुआ था।[1] अंग्रेज सेनापति क्लाइव ने एक छोटी-सी सेना के बल पर जिसमें अधिकांश भारतीय सिपाही थे, देशवासियों के विश्वासघात के कारण बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को पराजित किया तथा बंगाल पर अधिकार कर लिया। बंगाल पर विजय प्राप्त करने के बाद अंग्रेजों ने एक सदी से भी कम समय में समूचे भारत को जीत लिया।[2] भारत में उस समय जो शक्तियां थीं—मुगल, मराठे, राजपूत, सिख और जाट—उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ कोई संयुक्त मोर्चा नहीं बांधा। वे आपस में लड़ते रहे और अंग्रेजों ने एक-एक करके उन सबको हरा दिया और उनके अधिकृत प्रदेशों को अपने नियंत्रण में ले लिया। मुगल साम्राज्य के भग्नावशेषों पर भारत में अनेक छोटे-मोटे राज्य स्थापित हो गए थे। अंग्रेजों ने कुछ को सीधे जीत कर और कुछ के साथ संधियां कर उनको अपने अधीन कर लिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजों के समय में राजनीतिक दृष्टि से भारत दो भागों में बंट गया था। एक भाग ब्रिटिश भारत कहलाता था। इसमें प्रांत थे जिन पर अंग्रेजों का सीधे शासन चलता था। दूसरा भाग देशी भारत था। इसमें बहुसंख्य राजे-रजवाड़े थे। इन राजे-रजवाड़ों को अपनी रियासतों पर शासन करने की आंशिक आजादी थी। रियासतों में अंग्रेजी सरकार का एक रेजीडेंट रहता था जो उनके शासन पर सतर्क दृष्टि रखता था और उनकी सारी खबरें ब्रिटिश सरकार के पास भेजता रहता था।[3]

अंग्रेजों की भारत-विजय से पहले भी भारत पर अनेक बार विदेशियों ने आक्रमण किए थे और उसके कुछ भागों को जीता था। लेकिन वे भारत में कोई स्थायी शासन स्थापित नहीं कर सके। वे वापस लौट गए और यदि वापस नहीं लौटे तो भारत की मिट्टी में घुलमिल गए। कहने को तो भारत के तुर्क-अफगान तथा मुगल शासक भी विदेशी थे। लेकिन वे भारत विजय के बाद भारत में ही बस गए थे। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ने उपर्युक्त घटना-क्रम का निष्कर्ष निकालते हुए लिखा है :

"तुर्क-अफगान और मुगल युगों में भी न भारत की राजशक्ति का पूर्ण रूप से ह्रास ही हुआ था और न यह देश किसी विदेशी शासन के अंतर्गत था। न मुगलों को विदेशी शासक कहा जा सकता है और न तुर्क अफगानों को। भारत में आकर वे इसी देश में बस गए थे, और विदेशी आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा के लिए भी तत्पर रहा करते थे। मंगोलों के आक्रमणों का मुकाबला करने के लिए तुर्क-अफगान सुल्तानों ने अनेक युद्ध किए और मुगल बादशाह अपने साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा के लिए निरंतर संघर्ष में तत्पर रहे।"[4]

प्लासी के युद्ध के बाद भारत में जो अंग्रेजी शासन स्थापित हुआ, वह वास्तविक अर्थों में विदेशी था। अंग्रेज भारत में स्थायी रूप में नहीं बसे। उनका उद्देश्य भारत की धन-संपदा का शोषण कर इंगलैंड को समृद्ध करना था। भारत के सुदीर्घ इतिहास में यह पहला अवसर था जब इस देश की राजशक्ति का अंत हो गया। इस शासन का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि उसने सदियों से चली आ रही पंचायत-प्रणाली को नष्ट कर दिया और मालगुजारी वसूल करने के लिए जागीरदारों की एक नई जमात का विकास किया जो अपने आर्थिक स्वार्थों के कारण ब्रिटिश सरकार से बंध हुए थे।[5]

भारतीयों ने अंग्रेजी शासन को चुपचाप स्वीकार नहीं किया। 1757 से 1857 तक भारत के विभिन्न भागों में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध अनेक छोटे-मोटे विद्रोह हुए लेकिन उन्हें कुचल दिया गया।[6] 1857 का सिपाही विद्रोह भारत का पहला स्वतंत्रता संग्राम था जिसमें हिंदू तथा मुसलमानों दोनों ने आपस में मिल कर अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया लेकिन भारतीयों का यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ और ब्रिटिश शासकों ने विद्रोह को सख्ती से कुचल दिया।[7] विद्रोह के पश्चात् भारत का शासन ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथों से निकल कर ब्रिटिश 'क्राउन' (दूसरे शब्दों में ब्रिटिश संसद) के हाथों में आ गया। 1858 में महारानी विक्टोरिया ने अपनी भारतीय प्रजा को आश्वस्त किया कि उसके धार्मिक मामलों में सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी तथा सरकार का लक्ष्य जनता के विभिन्न वर्गों में कोई भेदभाव किए बिना सबका समान रूप से कल्याण करना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटिश सरकार के आश्वासनों के बावजूद भारत के विभिन्न प्रांतों में विदेशी सत्ता के प्रति असंतोष का भाव प्रबल होता गया। महाराष्ट्र, मद्रास और कलकत्ता में कई स्थानीय राजनीतिक संगठन स्थापित हुए जिन्होंने 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना का पथ-प्रशस्त किया।

आर्थिक दशा

भारत की आर्थिक स्थिति अठारहवीं सदी तक पर्याप्त रूप से उन्नत थी। आर्थिक क्षेत्र में भारत कम से कम पश्चिमी देशों से पीछे नहीं था। भारत के वस्त्र तथा जहाज निर्माण उद्योग की सारे यूरोप में धाक थी। भारत के तैयार माल की यूरोप की मंडियों में बराबर मांग बनी रहती थी।

अठारहवीं सदी की औद्योगिक क्रांति ने स्थिति को बदल दिया। जेम्स वाट ने अठारहवीं सदी के शुरू में स्टीम इंजन का आविष्कार किया। इस आविष्कार के कारण बड़े-बड़े कारखानों का संचालन संभव हो गया। उत्पादन की मात्रा और गति दोनों में वृद्धि हुई। भारत इस औद्योगिक क्रांति से वंचित रहा। उसके शिल्पी अपने हाथों से घरेलू उद्योगों में ही काम करते रहे।

वैज्ञानिक आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रांति में भारत के पिछड़ जाने का कारण जाति-प्रथा थी। भारत में उत्पादन का कार्य और इस प्रकार विविध शिल्प समाज के निम्न वर्गों विशेष कर शूद्रों तथा वैश्यों के हाथ में थे। शूद्रों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार न था। शिक्षा के अभाव में वे अपने शिल्प को समय की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं ढाल सके। उनका ज्ञान वंशानुगत था। जहां पश्चिम में ज्ञान-विज्ञान का निरंतर विस्तार होता गया, भारतीय शिल्पी जहां के तहां रहे। पश्चिमी देशों के वैज्ञानिक आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रांति के कारण भारत के शिल्पी इंग्लैंड के शिल्पियों के मुकाबले नहीं टिक सके। ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1757 में अपने हाथों में राजशक्ति आ जाने पर जुलाहों को अपनी मर्जी के मुताबिक कपड़ा तैयार करने से मना कर दिया। उन्होंने जुलाहों को अपनी व्यापारी कोठियों पर बुला कर इस आधार पर पेशगी रुपया देना शुरू किया कि वे तैयार कपड़ा एक निश्चित दर पर अंग्रेजों को ही दिया करें। अब जुलाहे अपना तैयार माल खुले बाजार में नहीं बेच सकते थे। परणामतः बंगाल के जुलाहे स्वतंत्र कारीगर न रह कर अंग्रेजों के बंधक बन गए। 1813 के बाद कंपनी के कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य अंग्रेजों को भी भारत में व्यापार करने की छूट मिल गई। धीरे-धीरे भारत का विदेशी व्यापार पूरी तरह अंग्रेजों के हाथों में केंद्रित हो गया।

ब्रिटिश सरकार ने इंगलैंड में आने वाले भारतीय वस्त्र पर भारी आयात कर लगा कर भी भारतीय वस्त्र उद्योग को नुकसान पहुंचाया। इसके विपरीत जो ब्रिटिश माल भारत में बिक्री के लिए आता था, उस पर बहुत कम आयात कर लगता था। ईस्ट इंडिया कंपनी भारत से कच्चे माल को सस्ती से सस्ती कीमत पर खरीदती थी। इंगलैंड के कारखानों में यह कच्चा माल तैयार माल का रूप लेता था और भारत आकर अधिक से अधिक कीमत पर बिकता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईस्ट इंडिया कंपनी का भारत में जो भी खर्च होता था, वह सब भारतीय खजाने से चुकाया जाता था। ब्रिटिश सरकार ने अफगानिस्तान, बर्मा, चीन, ईरान और मिस्र देशों पर अपना अधिकार जमाने की इच्छा से भारतीय सैनिकों का उपयोग किया। इन सैनिकों पर होने वाला खर्च भी भारत के मत्थे मढ़ा गया।

अंग्रेजी शासन में कारीगरों के साथ-साथ किसानों की दशा भी बद से बदतर होती गई। सरकार ने मालगुजारी वसूल करने के अधिकार नीलामी के आधार पर ठेकेदारों को दिए। ठेकेदार किसानों से मालगुजारी की मनमानी रकम वसूल करने लगे। इस दशा में खेती करने वाले किसान गरीब होते गए और मालगुजारी वसूल करने वाले ठेकेदार अमीर।

शिल्प नष्ट हो जाने के कारण भारत में मजदूरी की दर बहुत कम हो गई। अंग्रेजों ने बंगाल-बिहार में ढील की, कुर्ग और नीलगिरि में काफी की तथा हिमालय की तराई में चाय की बड़े पैमाने पर खेती शुरू की। उन्हें भारतीय मजदूर सस्ती दर पर उपलब्ध थे। अक्सर वे मजदूरों को कुछ सालों के ठेके पर रखते थे। ठेके पर रखे गए इन मजदूरों की स्थिति गुलामों जैसी हो गई। भारत में उचित मजदूरी न मिलने के कारण गरीब लोग भारी संख्या में मारीशस, त्रिनिदाद, जैमेका जैसे ब्रिटिश उपनिवेशों में चले गए।

धार्मिक दशा

उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदू धर्म अनेक मतमतांतरों में विभक्त हो गया था—शैव, वैष्णव, शाक्त, समार्त, वेदांती आदि। मध्ययुग के अनेक संतों, कबीर, दादू, रैदास, नानक, रामानंद, वल्लभाचार्य, माधवाचार्य के अपने-अपने संप्रदाय थे। इन संप्रदायों के अपने प्रतीक थे, बाह्यचार थे, धर्मग्रंथ थे और उपासना-पद्धतियां थीं। यद्यपि वेदों की महत्ता को सभी संप्रदाय स्वीकार करते थे, पर वेदों का अध्ययन एक संकीर्ण ब्राह्मण वर्ग तक सीमित था। लोग वैदिक शिक्षाओं तथा आदर्शों को भूल चुके थे और जिन देवी-देवताओं, पूजा-पद्धतियों तथा व्रतों का पालन होता था, वे पुराणों पर आधारित थे। लोगों की पुराणों के अवतारवाद में आस्था थी।

सामाजिक ऊंच-नीति तथा जात-पांत के बंधन हिंदुओं की धार्मिक एकता के मार्ग में बड़ी बाधा थे। वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मों पर नहीं, जन्म पर आधारित थी। समाज में शूद्रों की स्थिति दयनीय थी। उन्हें अछूत तक समझा जाता था। वे मंदिरों में देवदर्शन नहीं कर सकते थे। छोटी जातियों के लोग वेदों के पढ़ने की बात तो दूर, वेदों को सुनने तक से वंचित थे। मुसलमान कुरान तथा पैगंबर के नाम पर तथा ईसाई बाइबिल और ईसा के नाम पर एकत्रित हो सकते थे, लेकिन हिंदुओं में कोई ऐसा एकताकारी आधार नहीं था।

उन्नीसवीं सदी के हिंदू धर्म में अनेक विकृतियां पाई जाती थीं। वाममार्गीय उपासना में मद्य, मांस और मैथुन आदि पांच मकारों का प्रयोग होता था और ऐसे अनेक अनुष्ठान प्रचलित थे जिन्हें सभ्य समाज के लिए सर्वथा अग्राह्य माना जा सकता है। हिंदू जनता का बहुतांश तंत्र-मंत्र और भूत प्रेतों में विश्वास रखता था। उसका पीरों, फकीरों तथा गुरुओं के चमत्कारों में भरोसा था। काफी लोग यह समझते थे कि ग्रहों की गति उनके भौतिक जीवन को नियंत्रित करती है। ग्रहों की शांति के लिए विभिन्न प्रकार के पूजा-पाठ का रिवाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। यज्ञों की परिपाटी प्रायः समाप्त हो गई थी और मूर्तिपूजा ने वास्तविक धर्म का रूप ले लिया था। मंदिर भ्रष्टाचार के केंद्र बन गए थे। देवदासी प्रथा ने मंदिरों के वातावरण को दूषित कर दिया था। पंडे-पुजारी तीर्थ स्थानों को अपनी आमदनी का स्रोत समझते थे।

उन्नीसवीं सदी के भारत में इस्लाम में इस्लाम की दशा भी हिंदू धर्म से विशेष अच्छी न थी। भारत में इस्लाम को आए प्रायः एक हजार साल हो गए थे लेकिन उसके मानने वाले देश की कुल जनसंख्या के 20 प्रतिशत से अधिक न थे। मुसलमानों ने भारत में प्रायः छः सौ सालों तक शासन किया था। अपने हाथ से राजशक्ति छिन जाने के कारण उनमें निराशा व्याप्त हो गई थी।

प्लासी की लड़ाई के बाद ब्रिटेन और अन्य यूरोपीय देशों के ईसाई धर्म प्रचारक अपने धर्म का प्रचार करने के लिए भारत आने लगे। 1792 में तीन ईसाई पादरियों कैरी, मार्शमैन तथा वार्ड ने कलकत्ता से सोलह मील दूर हुगली नदी के तट पर सीरामपुर नामक नगर में अपना प्रधान कार्यालय स्थापित किया। उन्होंने अपने धर्मग्रंथ बाइबिल का अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया। ईसाई धर्माचार्यों ने हिंदू धर्म पर अनेक आक्षेप किए। जो हिंदू या मुसलमान अपने पुरखों का धर्म छोड़ कर ईसाई धर्म स्वीकार कर लेते थे, उनकी सरकार की दृष्टि में प्रतिष्ठा बढ़ जाती थी तथा उन्हें ऊंची नौकरियां भी मिल जाती थीं। ब्रिटिश सरकार का यह विचार भी था कि भारत में ईसाई मत का प्रचार होने पर ब्रिटिश शासन की जड़ें मज़बूत हो जाएंगी और ब्रिटेन में बने माल की भी ज्यादा खपत होगी। उन्नीसवीं सदी में हिंदुओं को इस्लाम से उतना खतरा नहीं था जितना कि ईसाइयत से था।

सामाजिक दशा

उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज में अनेक दुर्बलताएं पाई जाती थीं। सबसे बड़ी दुर्बलता जात-पांत की थी। जात-पांत की बुराई केवल हिंदुओं तक ही सीमित नहीं थी। वह मुसलमानों तथा सिखों तक में व्याप्त थी। इस प्रथा की व्यापकता का कारण यह था कि यह धर्मसम्मत मानी जाती थी। इस प्रथा के कारण देश में सामाजिक और राष्ट्रीय एकता का स्थापित होना कठिन था।

भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा दयनीय थी। इस काल में स्त्रियों का क्षेत्र घर की चहारदीवारी तक सीमित हो गया था। परदे की प्रथा हिंदुओं तथा मुलसमानों दोनों में समान रूप से पाई जाती थी। लड़कियों का विवाह बहुत छोटी उम्र में कर दिया जाता था। विधवा विवाह निषिद्ध था। मांगलिक अवसरों पर विधवाओं की उपस्थिति अशुभ समझी जाती थी।

इस काल में सती प्रथा का रिवाज था। पति के मरने पर स्त्री को उसके शव के साथ जिंदा जला दिया जाता था।

नवजागरण

आधुनिक भारत में नवयुग का सूत्रपात धार्मिक आंदोलनों के रूप में प्रकट हुआ था। इन आंदोलनों से भारत को अपनी वर्तमान शोचनीय स्थिति का ज्ञान हुआ, उसे अपने स्वर्णिम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतीत का पता चला और उसके मन में अपने भविष्य के प्रति आशा तथा विश्वास उत्पन्न हुआ। इन आंदोलनों ने प्राचीन धर्मशास्त्रों का नए सिरे से अध्ययन किया और समाज में व्याप्त रूढ़िवाद तथा अंधविश्वासों की भर्त्सना की। इन धार्मिक आंदोलनों के प्रेरक कारण थे भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना, भारतीयों का पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से संपर्क और ईसाई मिशनरियों का भारतीय धर्मों पर आक्रमण।

उन्नीसवीं सदी में भारत में धार्मिक आंदोलन समूचे देश में फैल गए थे। अखिल भारतीय महत्त्व के धार्मिक आंदोलन 10 थे : ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, थियोसोफी, रामकृष्ण मिशन, अलीगढ़ आंदोलन, वहाबी आंदोलन, देवबंद आंदोलन, सिख सुधार आंदोलन और पारसी सुधार आंदोलन। इनमें से पहले पांच आंदोलन हिंदुओं तक सीमित थे, इसके बाद तीन आंदोलन मुसलमानों तक और बाद के दो आंदोलन क्रमशः सिखों तथा पारसियों तक। इन आंदोलनों का एक सामूहिक नाम 'पुनर्जागरण' भी है।

यूरोपीय पुनर्जागरण

भारतीय पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि, स्वरूप और उसके विविध आयामों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि यूरोपीय पुनर्जागरण के उद्भव विकास का अवलोकन कर लिया जाए। 'पुनर्जागरण' शब्द फ्रांसीसी भाषा के Renaissance शब्द का हिंदी अनुवाद है। मूल फ्रांसीसी शब्द 'रेनेसांस' का अर्थ है—पुनर्जन्म। यूरोपीय इतिहास में यह काल 1340 से शुरू होकर 1600 तक का माना जाता है। इस काल में लोगों की चिंतन पद्धति, रचना पद्धति, चित्रकला, शिल्पकला, वास्तुकला कहना चाहिए जीवन के हर क्षेत्र में भारी परिवर्तन हुए। लगता था मानो मनुष्य की आत्मा फिर से जन्म ले रही है। इसलिए इस युग का 'रेनेसांस' अर्थात् 'पुनर्जन्म' तथा 'पुनर्जागरण' नाम पड़ा।

पुनर्जागरण काल में मध्य युग का अंत हुआ और आधुनिक संसार का आरंभ। मध्य युग का समस्त चिंतन आत्मा और परमात्मा तक केंद्रित था। मनुष्यों की सबसे बड़ी चिंता यह रहती थी कि पाप से कैसे बचा जाए, आत्मा की कैसे रक्षा की जाए, स्वर्ग तक कैसे पहुंचा जाए। 'पुनर्जागरण' के काल में ईश्वर का स्थान मनुष्य ने ले लिया। अब संसार की विभिन्न समस्याओं पर मनुष्य को केंद्र में रखकर विचार होने लगा। अब मृत्यु पर कम, जीवन पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। मानव जीवन की भौतिक सुख-सुविधाओं को किस प्रकार बढ़ाया जाए, वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों की चिंता का यह मुख्य विषय हो गया।

यूरोपीय मानव के मन की इस स्थिति का कुछ राजनीतिक और धार्मिक आधार भी था। पिछले एक हजार वर्ष से पवित्र रोमन साम्राज्य यूरोप की राजनीतिक एकता का प्रतीक रहा था। अब उसका अधिक महत्त्व नहीं रहा था। पोप का पद यूरोप की धार्मिक एकता को प्रकट करता था। लेकिन अब इस पद का महत्त्व भी समाप्त हो गया था। लोगों के मन में धर्म की अपेक्षा राष्ट्रीयता की भावना अधिक बलवती होने लगी थी। यह प्रवृत्ति फ्रांस और इंगलैंड में विशेष सक्रिय थी। इस समय स्पेन और पुर्तगाल के नाविक नई दुनिया की खोज कर रहे थे, अफ्रीका के चारों ओर चक्कर लगा रहे थे और भारत के भीतर घुसने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कोशिश कर रहे थे। सोलहवीं सदी में स्विट्ज़रलैंड, जर्मनी और उत्तरी यूरोप में धर्म-सुधार का संकट था। धर्म-सुधार और पुनर्जागरण दोनों अलग-अलग धाराएं थीं। लेकिन पुनर्जागरण ने धर्म-सुधार आंदोलन का पथ-प्रशस्त किया था।

नए आविष्कारों ने नए विचारों को जन्म दिया। इसमें मुद्रण कला का विकास हुआ। पुस्तकें बड़ी संख्या में छपने और सस्ती कीमत पर जनसाधारण तक पहुंचने लगीं। दिशा सूचक यंत्र की मदद से नाविकों को नए-नए देशों का पता लगाने में मदद मिली। बारूद के आविष्कार ने राष्ट्रों को पहले की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बना दिया। युद्ध की विनाशकता कहीं अधिक बढ़ गई। यूरोप में मुद्रा का प्रयोग बढ़ गया। इसके फलस्वरूप व्यापार में उन्नति हुई और बैंक खुलने लगे। कला के प्रति लोगों के मन में रुचि जागृति हुई और वे कलाकारों की कृतियों को खरीदकर उन्हें प्रोत्साहन देने लगे।

पुनर्जागरण का क्रम इटली से शुरू हुआ। इटली के विद्वानों ने प्राचीन यूनान और रोम के लेखकों की रचनाओं में दिलचस्पी ली। इटली के कवि फ्रांसेस्को पेट्रार्क (1304-74) पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने यूनान और रोम के लेखकों की कृतियों का अध्ययन किया। इस दिशा में उनके एक अन्य सहयात्री थे गिओबानी बोकाकिओ (1313-75)। पेट्रार्क और बोकाकिओ ने यूनान की विचार संपदा का समूचे यूरोप में प्रचार किया। कुस्तुनतुनिया में यूनान और रोम के विद्वानों की बहुत-सी पांडुलिपियां थीं। जो विद्वान वहां से भागकर इटली पहुंचे वे अपने साथ पांडुलिपियां भी लेते गए। इटली ने इन विद्वानों का स्वागत किया।[8]

चित्रकारों ने यूनान और रोम की पुराणकथाओं से प्रेरणा ग्रहण की। अब चित्रकार अथवा शिल्पी मानव शरीर का चित्रांकन करके अथवा उसकी स्थूल मूर्तियां बनाकर ही संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने मानव-शरीर के भीतर छिपे सौंदर्य का भी उद्घाटन करने का प्रयास किया।

पुनर्जागरण-काल की कला का मुख्य केंद्र फ्लोरेंस था। वहां के शासक मेदीची परिवार ने चित्रों, भवनों और मूर्तियों पर विपुल धनराशि व्यय की। माइकेल एंजिलों, डोनाटेलो, बोटिसेली और लिओनार्डो इस युग के प्रमुख कलाविद् थे। वे सभी कलाकार बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। माइकेल एंजिलों चित्रकार होने के साथ-साथ कवि भी था। लिओनार्डो ने **मोनालिसा** और **लास्ट सपर** जैसी अमर चित्रकृतियां प्रस्तुत कीं। इसके साथ ही वह वास्तुविद, इंजीनियर और वैज्ञानिक भी था। इस युग के अन्य श्रेष्ठ वास्तुविद थे : फिलिप्पो ब्रुनेलेची, डोनाटो ब्रामन्टे और एंड्रिआ पेलाडिओ।

दर्शन के क्षेत्र में इस काल का अप्रतिम विद्वान था हालेंड का एरास्मस।

जर्मनी में अधिकतर विद्वान धर्मसुधार के विवाद में उलझे रहे। फिलिप मेलान्कटोन और एल्बर्ट डयूरर जर्मनी के प्रमुख कलाकार थे। फ्रांस में माइकेल डी मोंटेन और फ्रांकोइस राबेलाइस ने अपनी रचनाओं में पुनर्जागरण की भावना को व्यक्त किया। इन लेखकों ने मनुष्यों की अच्छाइयों और बुराइयों पर प्रकाश डाला।

पुनर्जागरण ने मानव मन को अंधविश्वासों की बेड़ियों से मुक्त कर दिया। मनुष्य की अपार शक्तियों का ज्ञान हुआ इस प्रवृत्ति का एक प्रमाण है मैक्यिावेली (1469-1527) की *प्रिंस* पुस्तक। पुस्तक में मैक्यिावेली ने बताया है कि राज्यों का उत्थान और पतन कैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है तथा राजनेता उन्हें किन साधनों द्वारा स्थायी बना सकता है। मैक्यावेली ने राजनीतिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अनैतिक साधनों के प्रयोग की स्वीकृति दी है और यह विश्वास प्रकट किया है कि शासन मुख्यतः शक्ति तथा कूटनीति पर आधारित होता है।

आधुनिक विज्ञान का जन्म पुनर्जागरण की कोख से हुआ है। मध्ययुग तक ज्ञान का मुख्य आधार पुस्तकें थीं। लोग प्रयोग और परीक्षण कम करते थे। रोगर बेकन जैसे कुछ वैज्ञानिक अपवाद थे। पुनर्जागरण ने वैज्ञानिक खोजों को नया आयाम दिया। कोपरनिकस और गैलीलियो जैसे वैज्ञानिकों ने प्रयोगों, परीक्षणों और निरीक्षणों पर बल दिया। उनकी खोजों के फलस्वरूप पृथ्वी, ग्रहों और सूर्य के बारे में नई जानकारी सामने आई। एंड्रियास विसालियस ने मानव शरीर का वैज्ञानिक रीति से विच्छेदन किया। उसने इस रीति से मानव शरीर के बारे में जो ज्ञान प्राप्त किया, वह चित्रकारों तथा शिल्पियों के लिए भी लाभदायक सिद्ध हुआ। इंगलैंड के फ्रांसिस बेकन (1561-1626) ने *द एडवांसमेंट ऑफ लर्निंग* नामक पुसतक में इस बात को दुहराया कि मनुष्य को सुनी-सुनाई या परंपरा से चली आ रही बातों पर भरोसा नहीं करना चाहिए। सारे विश्वासों और मतों की परीक्षा होनी आवश्यक है। बेकन के इस तर्क ने आधुनिक विज्ञान की नींव रखी।

यूरोपीय पुनर्जागरण ने मनुष्य को अमूर्त कल्पनाओं के कुहरे से निकालकर यथार्थ की भूमि पर खड़ा कर दिया। अब लोगों की चिंता का मुख्य विषय 'परलोक' नहीं 'लोक' था। अब उन्हें नए विचारों, नए देशों, नए आविष्कारों और नए अवतारों की तलाश थी। पुनर्जागरण की मुख्य विशेषताएं थीं :

1. धार्मिक शिक्षाओं की तर्क के आधार पर छानबीन और धर्मसत्ता के प्रति विद्रोह की भावना।
2. संन्यास का तिरस्कार और भौतिक सुख-साधनों के संग्रह का समर्थन।
3. ईश्वरीय दूतों की सत्ता का निषेध और मनुष्य की अपनी अंतरात्मा के महत्त्व का प्रतिपादन।
4. इस विश्वास का पनपना कि मनुष्य सृष्टि का मुकुटमणि है, वह ईश्वर की अनुकृति है और अपनी नियति का स्वयं निर्माता है।
5. बौद्धिक स्वतंत्रता पर आग्रह।
6. इतिहास के घटना-प्रवाह में मनुष्य की निर्णायक भूमिका।
7. विधि-सम्मत समाज-व्यवस्था में विश्वास।
8. वैज्ञानिक प्रयोगों में रुचि।
9. नए कला प्रतिमानों और साहित्य रूपों का विकास।
10. शिक्षा पर बल।

भारतीय पुनर्जागरण : दशा और दिशा

यूरोपीय पुनर्जागरण और भारतीय पुनर्जागरण में 400 वर्ष का अंतराल है। यूरोप में पुनर्जागरण पंद्रहवीं सदी में आरंभ हुआ और भारत में उन्नीसवीं सदी में। यूरोपीय पुनर्जागरण को स्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने वाले अनेक विद्वान, कलाकार और वैज्ञानिक थे। भारत में पुनर्जागरण का शंख अकेले राजा राममोहन राय ने फूंका।[9] हां, बाद में उनके बताए हुए रास्ते पर और लोग भी चले।

राजा राममोहन राय के समय तक भारत मध्ययुगीन तंद्रा में सोया हुआ था। राजा राममोहन राय ने जीवन के हर क्षेत्र में मध्ययुगीन विचारों और विश्वासों पर आघात किया। उन्होंने हिंदू शास्त्रों और परंपराओं का त्याग नहीं किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि इन शास्त्रों और परंपराओं का बदलती हुई परिस्थितियों के आलोक में मूल्यांकन होना चाहिए। राममोहन राय के विचार से हिंदू धर्म का मूल एकेश्वरवाद का, वेदांत का था। बाद में हिंदू धर्म में अनेक देवी-देवताओं का, मूर्ति-पूजा का तथा निरर्थक कर्मकांडों का समावेश हो गया। अनेक सामाजिक कुरीतियों को, उदाहरण के लिए सतीप्रथा को, धर्म का समर्थन मिलने लगा। राममोहन राय पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिंदू धर्म के कुछ प्रमुख ग्रंथों का बंगला में अनुवाद किया। आधुनिक भारत में धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की परंपरा राममोहन राय से ही आरंभ होती है। उन्होंने संसार के तीन महान धर्मों—हिंदू धर्म, इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म—का तुलनात्मक अध्ययन किया और उनके बीच समन्वय के सूत्र खोजे।

राममोहन राय के धार्मिक चिंतन का आधार उपनिषद और ब्रह्मसूत्र थे। वे धर्मतत्त्व को परखने के लिए मनुष्य की विवेक-शक्ति को आवश्यक समझते थे।

अपने आरंभिक वर्षों में राममोहन राय अरब के दो विचारकों—वसील बी. अता और अमीर बी. उमैद से प्रभावित हुए थे। ये दोनों एकेश्वरवादी चिंतक थे और उनका कहना था कि आत्मज्ञान के लिए किसी ईश्वरीय ग्रंथ की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य अपने कर्तव्यों का उचित रीति से पालन करके आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। जब राममोहन राय की आयु 21 वर्ष की थी, तब अर्थात् 1803 में उनकी प्रथम रचना *तुहपफत-उल-मुवाहिद्दीन* प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तिका फारसी भाषा में लिखी गई थी और इसकी प्रस्तावना अरबी भाषा में। इस पुस्तिका में राममोहन राय ने एकेश्वरवाद पर आधारित सार्वभौम धर्म के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।

राममोहन राय का विचार है कि मनुष्य को अपनी विवेक-शक्ति द्वारा धार्मिक विश्वासों तथा अनुभवों का विश्लेषण करना चाहिए। संसार के सभी धर्मों में कुछ अच्छी बातें हैं और कुछ निंदनीय। सभी धर्मों के श्रेष्ठ तत्त्वों को ग्रहण कर लेना चाहिए। अंधविश्वास अज्ञान से पैदा होते हैं। चमत्कारों में विश्वास नहीं करना चाहिए। मनुष्य अपनी अंतश्चेतना के द्वारा ईश्वर संदेश समझ सकता है।

राममोहन राय अवतारों तथा पैगंबरों के विरुद्ध थे।

राममोहन राय समझते थे कि धर्म के वास्तविक तत्त्व को समझने के लिए सुशिक्षित मानस की आवश्यकता है। वे देश की परंपरागत संस्कृत शिक्षा के विरुद्ध थे। उनका मानना था कि देश की अधोगति का प्रधान कारण यह पुरानी शिक्षा-पद्धति है।

धर्म और शिक्षा राममोहन राय के कार्यक्रम के दो प्रधान अंग थे। इनके अलावा उन्होंने बंगाली भाषा और साहित्य, सामाजिक, आर्थिक, न्यायायिक तथा राजनीतिक सुधारों की दिशा में भी पहल की। वे समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता के पक्षधर थे। भारत में आगे चलकर सामाजिक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक और राजनीतिक सुधारों के क्षेत्र में जो भी काम हुआ, उसके प्रेरणा-स्रोत राजा राममोहन राय थे। वे भारतीय पुनर्जागरण के आदि देव थे—मानस गंगोत्री थे। उन्होंने 1828 में ब्रह्मसमाज की स्थापना की जिसने उनके काम को आगे बढ़ाया।

राजा राममोहन राय के बाद ब्रह्म समाज के मुख्य नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर हुए। देवेन्द्रनाथ ने वेदों की निर्भ्रांतता का विचार त्याग दिया।

1857 में ब्रह्मसमाज में केशवचन्द्र सेन का पदार्पण हुआ। केशवचंद्र सेन ईसाई धर्म से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने ईसा को ब्रह्मसमाज में प्रविष्ट कराना चाहा।

बंबई में प्रार्थना समाज की नींव 1867 में पड़ी। इसके नेता डॉ. आत्माराम पांडुरंग, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर तथा महादेव गोविंद रानाडे थे।

प्रार्थना समाज जाति प्रथा के उन्मूलन, विधवा पुनर्विवाह, स्त्री-शिक्षा के प्रोत्साहन तथा बाल-विवाह निषेध का समर्थक था। प्रार्थना समाज एक शक्तिशाली आंदोलन नहीं बन सका।

स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरु स्वामी रामकृष्ण परमहंस के नाम पर रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। उन्होंने 1892 में अमरीका के शिकागो नगर में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन में हिंदू धर्म का प्रतिनिधित्व किया था और हिंदू धर्म का एक सर्वग्राही रूप संसार के सामने रखा था। स्वामी विवेकानंद ने अपने ओजस्वी व्याख्यानों तथा आलेखों द्वारा भारत की सामाजिक कुरीतियों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया तथा भारत की दार्शनिक संपदा की झलक प्रस्तुत की। नमूने के तौर पर हम स्वामी विवेकानंद के स्त्री-शिक्षा विषयक विचारों की समीक्षा कर सकते हैं।

स्वामी विवेकानंद और स्त्री शिक्षा[10]

स्वामी विवेकानंद स्त्रियों को आदर की दृष्टि से देखते थे। वे प्रत्येक स्त्री को मां अथवा बहन के रूप में पूजते थे। उनके समय में स्त्रियों की दशा दयनीय थी। स्त्रियों का मानसिक स्तर भी बहुत नीचा माना जाता था। स्वामीजी ने महिलाओं को दासता से मुक्त किया, परदे से बाहर निकाला, सार्वजनिक जीवन में भाग लेने की प्रेरणा दी तथा उनके शिक्षा ग्रहण करने पर बल दिया। स्वामीजी यह नहीं समझ पाते थे कि भारत में स्त्रियों और पुरुषों के बीच इतना भेदभाव क्यों रखा जाता है। वेदांत की घोषणा है कि सभी प्राणियों में एक ही आत्मा का अस्तित्त्व है। स्मृतियां आदि सीखकर और स्त्रियों पर कड़े बंधन आरोपित कर पुरुषों ने उन्हें अपने चरणों की दासी बना रखा है। अवनति के युग में जब पुरोहितों ने अन्य जातियों को वेदाध्ययन के अयोग्य ठहरा दिया, उसी समय उन्होंने स्त्रियों को भी उनके अधिकारों से वंचित कर दिया था। लोगों ने इस बात को भुला दिया कि वैदिक और औपनिषदिक युग में तो मैत्रेयी और गार्गी आदि पुण्यस्मृति महिलाओं ने ऋषियों का स्थान ले लिया था। सहस्र वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में गार्गी ने याज्ञवल्क्य को ब्रह्म के विषय में शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा था। स्वामी विवेकानंद का मानना था कि संसार के सभी उन्नतिशील राष्ट्रों ने अपने राष्ट्रीय जीवन में स्त्रियों को समुचित स्थान देकर ही महत्ता प्राप्त की है। जो राष्ट्र स्त्रियों का आदर नहीं करते, वे कभी बड़े नहीं हो सकते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी विवेकानंद स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। वे चाहते थे कि स्त्रियों में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वे अपनी रक्षा स्वयं कर सकें।

विवेकानंद स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। स्वामीजी के शब्दों में : "कुमारियों को धर्म परायण व नीति परायण बनना पड़ेगा जिससे वे भविष्य में अच्छी गृहणियां हों। इन कन्याओं से जो संतान उत्पन्न होगी वह इन विषयों में और भी उन्नति कर सकेगी। जिनकी माताएं शिक्षित और नीति परायण हैं उनके घर में बड़े लोग जन्म लेते हैं।" स्वामीजी पुनः स्त्री शिक्षा के विषय में कहते हैं कि जैसे 30 वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन पूर्वक पुत्रों की शिक्षा होनी चाहिए इसी तरह माता-पिता को पुत्रियों को भी शिक्षा देनी चाहिए और उनसे ब्रह्मचर्य व्रत धारण कराना चाहिए।

भारत में अभी तक स्त्रियों में जैसा चरित्र, सेवा, भाव, स्नेह, दया, तुष्टि और भक्ति पाई जाती है पृथ्वी पर और कहीं ऐसा नहीं। उचित रीति से शिक्षा प्राप्त करने पर ये आदर्श स्त्रियां बन जाती हैं।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार नारी का वास्तविक रूप मां का है। उनके अनुसार, "भारत के सभी स्त्री-प्रकारों में, मां सबसे ऊपर है। मां सब बातों में संतान का साथ देती है। पत्नी और संतान मनुष्य को त्याग सकती है पर मां कभी नहीं त्यागती।"

स्वामी विवेकानंद को स्त्रियों की वर्तमान दुर्दशा पर हार्दिक संताप था। वे वेदांत के मानने वाले थे। वेदांत में सभी प्राणियों की समानता का विचार है। यदि ऐसा है, तो फिर स्त्रियों के साथ भेदभाव करना अनुचित था। स्त्रियों पर कड़े नियम तथा बंधन डालकर पुरुषों ने उन्हें केवल संतानोत्पादन का यंत्र बना रखा है।

स्वामी के शब्दों में जो देश या राष्ट्र स्त्रियों का आदर नहीं करते, वे कभी बड़े नहीं हो पाए हैं और न भविष्य में ही कभी बड़े होंगे। यथार्थ शक्ति पूजक तो वह है जो यह मानता है कि ईश्वर विश्व में सर्वव्यापी शक्ति है। यह शक्ति स्त्रियों में भरपूर मात्रा में पाई जाती है। अमेरिकन पुरुष अपनी महिलाओं को आदर की दृष्टि से देखते हैं और उनके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं। इसी कारण वे लोग संपन्न हैं, विद्वान हैं, इतने स्वतंत्र और शक्तिशाली हैं। हमारे देश के पतन का मुख्य कारण यह है कि हमने शक्ति की इन सजीव प्रतिमाओं के प्रति आदर बुद्धि नहीं रखी। मनु महाराज का कहना है जहां स्त्रियों का आदर होता है वहां देवता प्रसन्न रहते हैं और जहां उनका आदर नहीं होता वहां सारे कार्य और प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। जहां स्त्रियां उदासीन और दुखी जीवन व्यतीत करती हैं उस कुटुंब या देश की उन्नति की कोई आशा नहीं हो सकती।

स्त्रियों की बहुत-सी कठिन समस्याएं हैं। उनका हल शिक्षा द्वारा ही हो सकता है। पुत्रियों का लालन-पालन और शिक्षा उतनी ही सावधानी और तत्परता से होनी चाहिए जितनी पुत्रों की। जैसे पुत्रों का विवाह तीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य पालन के पश्चात् होना चाहिए उसी प्रकार पुत्रियों को भी ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। पर हम यथार्थ में क्या कर रहे हैं? स्त्रियों को सदैव निःसहाय अवस्था में रहने और दूसरों पर गुलाम के समान अवलंबित रहने की शिक्षा दी जाती है। इसी कारण वे आंसू बहाने के सिवाय और किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग्य नहीं रहतीं। स्त्रियों को ऐसी अवस्था में रखना चाहिए कि वे अपनी समस्याओं को अपने ही तरीके से हल कर सकें। हमारी भारतीय स्त्रियां इस कार्य में संसार की अन्य स्त्रियों के ही समान दक्ष हैं।

स्वामीजी लड़कियों के बाल विवाह तथा अंतर्जातीय विवाह के पक्ष में नहीं थे। स्वामीजी का कहना है कि उन्हें (लड़कियों को) अच्छी शिक्षा दी जाए नहीं तो भ्रष्टाचार और व्यभिचार बढ़ने की आशंका है। शिक्षा से उनका तात्पर्य आधुनिक प्रणाली की शिक्षा से नहीं, वरन् ऐसी शिक्षा से है जो भावात्मक हो तथा जिससे स्वाभिमान और श्रद्धा के भाव जागें। केवल किताबें पढ़ा देने से कोई लाभ नहीं। हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे चरित्र निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो और देश के युवक अपने पैरों पर खड़े होना सीखें। इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त होने पर स्त्रियां अपनी समस्याएं स्वयं ही हल कर लेंगी। अब तक तो उन्होंने केवल असहाय अवस्था में आश्रित जीवन यापन करना और थोड़ी-सी भी अनिष्ट या संकट की आशंका होने पर आंसू बहाना ही सीखा है। पर अब दूसरी बातों के साथ-साथ उन्हें बहादुर भी बनना चाहिए। आज के जमाने में उनके लिए आत्मरक्षा के उपाय सीखना भी बहुत जरूरी हो गया है। झांसी की रानी कैसी महान थी। स्वामीजी कहते हैं आज के युग की आवश्यकताएं देखते हुए मुझे तो यह अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ महिलाएं सन्यस्त जीवन के आदेशों का पालन करने के लिए शिक्षित की जाएं जिससे वे आजन्म कौमार्य व्रत धारण करें। आदिकला से जिनकी नस-नस में सतीव्रत भरा है उन भारतीय महिलाओं के लिए इसमें कोई कठिनता नहीं है। इसके साथ ही साथ महिलाओं को विज्ञान एवं अन्य विषयों की भी शिक्षा दी जाए। इससे उनका ही नहीं, पूरे समाज का हित होगा। उनके आचरण तथा सर्वसाधारण के लिए राष्ट्रीय आदर्श उपस्थित करने के उनके प्रयत्नों से लोगों के विचारों, आशाओं एवं आकांक्षाओं से एक क्रांतिकारी परिवर्तन होगा।

स्वामीजी का मत है स्त्री शिक्षा का विस्तार धर्म को केंद्र बनाकर करना चाहिए। धर्म के अतिरिक्त दूसरी शिक्षाएं गौण होंगी। धार्मिक शिक्षा, चरित्र गठन, ब्रह्मचर्य पालन इन्हीं की ओर ध्यान देना चाहिए। हमारी हिंदू स्त्रियां सती का अर्थ आसानी से समझ लेती हैं। यह उनका आनुवंशिक गुण है। सबसे पहले, उनमें यह आदर्श अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ किया जाए जिससे उनका चरित्र सबल बने और वे अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था में चाहे, विवाहित या अविवाहित, पवित्रता से इंच भर भी डिगने की अपेक्षा बिना किसी हिचक के अपने प्राण तक दे देने को प्रस्तुत रहें। भारतवर्ष की स्त्रियों को सीता के पर चिह्नों का अनुसरण करके अपनी उन्नति करनी चाहिए। सीता का चरित्र अनुपम है। वह सच्ची भारतीय स्त्री की जीती-जागती प्रतिमा हैं क्योंकि पूर्ण विकसित नारीत्व के समस्त भारतीय आदर्श सीता के चरित्र से उत्पन्न हुए हैं। यह महामहिमामयी सीता, स्वयं शुद्धता से भी सहिष्णुता की सर्वोच्च आदर्श सीता आर्यावर्त के इस विस्तृत भूमिखंड में सहस्रों वर्ष से आबालबद्ध वनिता की आराध्या बनी हुई हैं जिसने अविचलित भाव से मुख से आह तक निकाले बिना ऐसा महादुखमय जीवन व्यतीत किया, वह नित्यसाध्वी, सदा शुद्ध स्वभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीता आदर्श पत्नी, सीता मनुष्य लोक यहां तक कि देवलोक की भी आदर्श मूर्ति पुण्य चरित्र सीता चिरकाल के लिए हमारी पूजनीय देवी बनी रहेगी। वह हमारी जाति के नस-नस में समा गई है। हमारी नारियों को आधुनिकता के रंग में रंगने की जो चेष्टाएं हो रही हैं, यदि उन सब प्रयत्नों में उनको सीता चरित्र के आदर्श से भ्रष्ट करने की चेष्टा होगी तो वे सब तुरंत असफल हो जाएंगी और इसके उदाहरण हम प्रतिदिन देख ही रहे हैं।

स्वामी विवेकानंद जी स्त्रियों के लिए त्याग की शिक्षा आवश्यक बताते हुए कहते हैं कि इस युग की वर्तमान आवश्यकताओं का अध्ययन करने पर यह आवश्यक दीखता है कि उनमें से कुछ को वैराग्य के आदर्श की शिक्षा दी जाए जिससे वे युगांतर से बने रक्त में संजात ब्रह्मचर्य रूप सद्गुण की शक्ति द्वारा प्रज्ज्वलित होकर आजीवन कुमारव्रत का पालन करें। हमारी जन्मभूमि को अपनी समुन्नति के लिए अपनी कुछ संतानों को विशुद्धात्मा ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी बनाने की आवश्यकता है। यदि स्त्रियों में से एक भी ब्रह्मज्ञानी हो गई तो एक व्यक्तित्व के तेज से सहस्रों स्फूर्ति प्राप्त करेंगी और सत्य के प्रति जागृत कही जाएगीं। इससे देश और समाज का बड़ा उपकार होगा।

सुशिक्षित और सच्चरित्र व ब्रह्मचारिणियां शिक्षा कार्य का भार अपने ऊपर ले लें। वे ग्रामों और शहरों में केंद्र खोलकर स्त्री शिक्षा के प्रचार का प्रयत्न करें। ऐसी सच्चरित्र, निष्ठावान, उपदेशिकाओं के द्वारा देश में स्त्री शिक्षा का यथार्थ प्रचार होगा। इतिहास और पुराण, गृह व्यवस्था और कला कौशल, गृह जीवन के कर्तव्य और चरित्र गठन के सिद्धांतों की शिक्षा देनी होगी, और दूसरे विषय जैसे सीना, पिरोना, गृहकार्य नियम, शिशु पालन आदि भी सिखाए जाएंगे। जप, पूजा और ध्यान, शिक्षा के अनिवार्य अंग होंगे। दूसरे गुणों के साथ उन्हें वीरता के भाव भी प्राप्त करने होंगे।

स्वामीजी का मत है कि आधुनिक युग में स्त्रियों को आत्म-रक्षा के भी उपाय सीख लेना आवश्यक हो गया है। झांसी की रानी अद्वितीय महिला थीं। बस, इसी प्रकार हम भारतवर्ष के कार्य के लिए संघमित्रा, लीला, अहिल्याबाई और मीराबाई के आदर्शों को चरितार्थ करने वाली तथा अपनी पवित्रता, निर्भयता और ईश्वर के पादस्पर्श द्वारा प्राप्त शक्ति के कारण वीरमाता बनने योग्य महान्, निर्भय, स्त्रियों को सामने लाएंगे। हमें यह भी देखना होगा कि वे समय पर घर की आदर्श माता बनें। जिन सद्गुणों के कारण हमारी ये माताएं प्रसिद्ध हैं उनकी संतानें इन सद्गुणों की और भी वृद्धि करेंगी। शिक्षित और धार्मिक माताओं के ही घर में महापुरुष जन्म लेते हैं। यदि स्त्रियां उन्नत हो जाएं तो उनके बालक अपने उदार कार्यों के द्वारा देश का नाम उज्ज्वल करेंगे। तब संस्कृति, ज्ञान शक्ति और भक्ति के भाव देश में जागृत हो जाएंगे।

स्वामी विवेकानंद जी लड़कियों की उच्च शिक्षा के समर्थक थे। उनके समय में कलकत्ता विश्वविद्यालय में स्त्रियों की शिक्षा की व्यवस्था थी। इससे वह बहुत प्रसन्न थे। वह कहते हैं हमारे धर्म में तो स्त्रियों को शिक्षा देने का विरोध है ही नहीं। लड़कियों को तो इसी प्रकार पढ़ना चाहिए। उन्हें उसी प्रकार शिक्षा देनी चाहिए और पुराने ग्रंथों में तो यह भी लिखा मिलता है कि विद्यापीठों में लड़के और लड़कियां दोनों ही जाते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी विवेकानंद जी का विचार था कि सर्वसाधारण में स्त्री शिक्षा का प्रचार हुए बिना उन्नति का कोई उपाय नहीं है। स्वामीजी का यह भी विचार था कि कुछ ब्रह्मचारिणियां ही संन्यास लेकर शिक्षा का कार्य कर सकती हैं। एक बार स्वामीजी के शिष्य ने स्वामी विवेकानंद जी से प्रश्न किया कि आप स्त्रियों के लिए किस प्रकार का मठ बनाना चाहते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में स्वामीजी ने कहा गंगाजी के उस पार एक बड़ा भूखंड लिया जाएगा। उसमें अविवाहित बालिकाएं एवं विधवा ब्रह्मचारिणियां रहेंगी। साथ ही उसमें गृहस्थ घरों की भक्त स्त्रियां भी बीच-बीच में आकर ठहर सकेंगी। इस मठ से पुरुषों का कोई संबंध नहीं रहेगा। पुरुष मठ के वृद्ध साधुगण दूर से ही स्त्री मठ का कार्य चलाएंगे। स्त्री मठ में लड़कियों का एक विद्यालय रहेगा। उसमें धर्मशास्त्र, साहित्य, संस्कृत, व्याकरण तथा साथ ही साथ थोड़ी बहुत अंग्रेजी भी सिखाई जाएगी। सिलाई का कार्य, रसोई बनाना, घर-गृहस्थी के नियमों एवं शिशु-पालन के छोटे-मोटे विषयों की शिक्षा दी जाएगी साथ ही जप, ध्यान तथा पूजा आदि भी शिक्षा के अंग रहेंगे। जो स्त्रियां घर छोड़कर सदैव के लिए वहां रह सकेंगी, उनके भोजन वस्त्र आदि का प्रबंध मठ की ओर से किया जाएगा। वे इस मठ में दैनिक छात्राओं के रूप में आकर अध्ययन करेंगी। यदि संभव होगा तो वे मठ के अध्यक्ष की अनुमति से वहां पर रहेंगी तथा जितने दिन तक रहेंगी वहां से भोजन भी पाएंगी। स्त्रियों से ब्रह्मचर्य का पालन कराने हेतु वृद्ध ब्रह्मचारिणियां छात्राओं की शिक्षा का भार उठाएंगी। इस मठ में पांच सात वर्ष तक शिक्षा प्राप्त कर लेने के उपरांत लड़कियों के अभिभावकगण उनका विवाह कर सकेंगे। यदि कोई लड़की अधिकारिणी समझी जाएगी, तो वह अपने अभिभावकों की सम्मति से वहां पर चिर कौमार्य व्रत का पालन करती हुई रह सकेगी। जो स्त्रियां चिर कौमार्य व्रत आश्रय लेंगी वे ही समय पाकर उस मठ की शिक्षिकाएं तथा प्रचारिकाएं बन जाएंगी एवं गांव-गांव तथा नगर-नगर में शिक्षा केंद्र खोलकर स्त्रियों की शिक्षा के विस्तार का प्रयत्न करेंगी। चरित्रवान धार्मिक भाव संपन्न प्रचारिकाओं द्वारा देश में वास्तव में स्त्री शिक्षा का प्रसार होगा। वे स्त्री मठ में जितने दिन रहेंगी उतने दिन तक ब्रह्मचर्य की रक्षा करना इस मठ का अनिवार्य नियम होगा।

स्वामीजी के स्त्री-शिक्षा विषयक विचार उनकी दो धारणाओं पर आधारित हैं—समाज में नारी की भूमिका और नारी में दिव्यत्व का आरोप।

अतः हम कह सकते हैं कि स्वामी विवेकानंद स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। उनका मत था कि धर्म परायण, नीति परायण तथा सद्गृहणियां अच्छी संतानों को उत्पन्न करेंगी। स्वामीजी स्त्रियों की उच्च शिक्षा के भी समर्थक थे क्योंकि प्राचीन काल में स्त्रियों की उच्च शिक्षा का प्रबंध था। स्वामी विवेकानंद महिलाओं के लिए बनाए जाने वाले पाठ्यक्रम में विज्ञान एवं जीवनोपयोगी तथा समाजोपयोगी विषय सम्मिलित किए जाने के पक्ष में थे। वे राष्ट्रीय उत्थान के लिए पूर्ण संकल्प तथा ब्रह्मचर्य धारण की शिक्षा पर बल देते थे। स्वामीजी के स्त्री शिक्षा के संबंध में निम्न सुझाव हैं :

1. स्त्री शिक्षा का प्रसार सर्व साधारण में होना चाहिए।
2. स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार ब्रह्मचारिणियों द्वारा होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. शिक्षा का प्रसार करते समय वर्तमान उपलब्ध सस्ते वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करना चाहिए।
4. चरित्र व नैतिकता की शिक्षा सीता जैसी महान देवी का आदर्श रखकर देनी चाहिए।

थियोसोफी का प्रवर्त्तन मैडम ब्लैवत्स्की तथा कर्नल एच. एस. आल्काट ने न्यूयार्क में 1875 में किया था। भारत में वे आर्य समाज के सहयोग से अपने काम को आगे बढ़ाना चाहते थे, लेकिन स्वामी दयानंद इसके लिए सहमत नहीं हुए। भारत में थियोसोफी आंदोलन एनी बीसेंट के नाम से विशेष रूप से जुड़ा हुआ है। भारतीय नवजागरण में श्रीमती एनी बीसेंट का विशेष महत्त्व है।

एनी बीसेंट

प्रारंभिक जीवन

एनी बीसेंट का जन्म अक्तूबर, 1847 में लंदन में हुआ था। उनका बचपन का नाम एनी वुड था। उनकी माता तथा दादी दोनों आयरलैंड की थीं। वे अपने आपको आयरिश कहलाना पसंद करती थीं।

एनी की मां मोरिस धार्मिक विचारों की महिला थीं। अपनी आत्मकथा में एनी ने अपनी माता की बहुत प्रशंसा की है। एनी बीसेंट के पिता गंभीर विद्वान थे। उन्हें कई भाषाओं का ज्ञान था। व्यवसाय से वे सफल डॉक्टर थे। जब एनी की आयु पांच वर्ष की थी, उनके पिता की मृत्यु हो गई। एनी की मां ने इतना गहरा आघात होने पर भी एनी की पढ़ाई की ओर पूरा ध्यान दिया। एनी की आरंभिक शिक्षा में कुमारी मेरियट नामक महिला का सक्रिय योग था। एनी के किशोर मन पर प्लेटो, होमर, दांते, मिल्टन और स्पेंसर का प्रभाव पड़ा था।

दिसंबर 1867 में 20 वर्ष की आयु में एनी का पादरी फ्रैंक बीसेंट के साथ विवाह हुआ। एनी दो बच्चों की मां बनीं—एक बेटा और एक बेटी। लेकिन उनका विवाहित जीवन सुखी न था। उनकी अपने पति से अनबन रहने लगी। उनके मन में ईसाई धर्म के प्रति अनेक शंकाएं उत्पन्न हो गईं। 1873 में 26 वर्ष की आयु में उन्हें अपना घर छोड़ना पड़ा। 1874 में एनी बीसेंट चार्ल्स ब्रेडला[11] की एक संस्था नेशनल सेकुलर सोसायटी की सदस्य बन गईं। इस संस्था के सदस्य ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे और हर प्रश्न को तर्क की कसौटी पर कसते थे। ब्रेडला ने उन्हें अपनी पत्रिका नेशनल रिफार्मर के संपादकीय विभाग में नियुक्त किया। एनी बीसेंट ने नेशनल सेकुलर सोसायटी की ओर से सार्वजनिक भाषण देने शुरू किए। उनका पहला भाषण 1874 में स्त्रियों की राजनीतिक स्थिति पर हुआ था।

1878 और 1888 के बीच एनी बीसेंट ने गहन अध्ययन किया, अनेक भाषण दिए और कई पुस्तकों की रचना की। उनकी वैवाहिक संबंधों, फ्रांसीसी क्रांति, स्त्री अधिकार और धर्म जैसे विषयों में विशेष रुचि थी। इन विषयों पर पुस्तकें लिखने के अलावा उन्होंने कई लेख भी लिखे। बीसेंट ने पूरे देश में घूमकर धर्म और राजनीति के विविध पहलुओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर भाषण देने का क्रम भी जारी रखा। एनी बीसेंट का कहना था कि शरीर के साथ आत्मा की आजादी भी ज़रूरी है। जीवन में धर्म के स्थान पर विज्ञान का वर्चस्व स्थापित होना चाहिए। यह दुनिया आम आदमी की है जिसमें कानून की दृष्टि से सभी व्यक्ति समान हैं।

इस काल में एनी बीसेंट का सिडनी वेब[12], जार्ज बनार्ड शा[13], ग्राहम वाल्स और ब्लैंड दंपति से परिचय हुआ। 1885 में बीसेंट फेबियन सोसायटी[14] की सदस्या बन गईं। उन्होंने श्रमिकों की समस्याओं पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया और मजदूर आंदोलन में भाग लिया।

1889 में एनी बीसेंट की थियोसाफी सोसायटी[15] की संस्थापिका एच. पी. ब्लेवत्स्की से भेंट हुई। ब्लेवत्स्की की पुस्तक *द सीक्रेट डाक्ट्रीन* (गोपनीय सिद्धांत) ने उनके मन को झकझोर दिया। वे थियोसोफिस्ट बन गईं।

एनी बीसेंट और भारत

भारत की थियोसोफिकल सोसायटी ने 1892 में एनी बीसेंट को भारत आने का आमंत्रण दिया। एनी बीसेंट अक्तूबर, 1893 में भारत पहुंची। मद्रास में अडयार में थियोसोफी का मुख्यालय था।

एनी बीसेंट हिंदू धर्म से बहुत प्रभावित थीं। उन्होंने हिंदू धर्म, दर्शन और संस्कृति के अध्ययन के साथ-साथ हिंदू आचार-व्यवहार को भी आदर की दृष्टि से देखा। एनी बीसेंट ने भारतीयों को अपनी मान्यताओं के प्रति सम्मान करना सिखाया। उनका विचार था कि भारतीयों की वास्तविक शक्ति उनकी आध्यात्मिकता है। हिंदू धर्म के अध्ययन की दिशा में उन्हें काशी के परम विद्वान डॉ. भगवानदास से उचित मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ।

हिंदू धर्म के अतिरिक्त एनी बीसेंट की धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में भी रुचि थी। उन्होंने 1897 में थियोसोफिकल सोसायटी, मद्रास की इक्कीसवीं जन्मतिथि पर हिंदू धर्म, जरथुश्त धर्म, बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म पर सारगर्भित भाषण दिए थे। 1901 में सोसायटी की पच्चीसवीं सालगिरह पर उन्होंने इस्लाम, जैन धर्म और सिख धर्म पर भाषण दिए। इनके ये भाषण्ण *सेवेन ग्रेट रिलीजन्स* नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। श्रीमती बीसेंट ने इस पुस्तक में सभी समीक्षाधीन धर्मों की अच्छी बातें उजागर की हैं। वे धर्मों की एकता और समन्वय में विश्वास रखती थीं। उन्होंने धर्म के आवश्यक और अनावश्यक पहलुओं में भेद किया है। धर्म के आवश्यक पहलू की कसौटी है : क्या वह प्राचीन है और उसका प्राचीन धर्मग्रंथों में उल्लेख मिलता है? क्या धर्म के संस्थापक अथवा उन्नायकों ने उसको मान्यता दी है? क्या वह सार्वभौम है और किसी न किसी रूप में अन्य धर्मों में भी पाया जाता है? एनी बीसेंट मानती हैं कि धर्म के स्थायी तत्त्व को परखने के लिए इनमें से कोई भी कसौटी काफी है। बीसेंट के विचार से रीति-रिवाज, संस्कार और लोकाचार धर्म के अनावश्यक पहलू हैं। धार्मिक विचारों में व्यक्ति को सहिष्णु होना चाहिए। इसमें जोर-जबर्दस्ती की कोई गुंजाइश नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा

भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में एनी बीसेंट का योगदान ऐतिहासिक महत्त्व का है। उन्होंने भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली का अध्ययन किया था। प्राचीन भारत में शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण नहीं था। समाज में शिक्षकों का आदर था। वे आधुनिक भारतीय शिक्षा प्रणाली में प्राचीन शैक्षिक आदर्शों को सम्मिलित करना चाहती थीं।

श्रीमती बीसेंट ने 7 जुलाई, 1898 को बनारस के एक छोटे से घर में दो कक्षाएं आरंभ कीं। उन्होंने अपने शिक्षा केंद्र को इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संबद्ध किया। डॉ. भगवानदास, उपेन्द्र नाथ, ज्ञानेन्द्र नाथ चक्रवर्ती, आर्थर रिचर्डसन, कुमारी लिलपियन एड्गर और कुमारी पालमर ने इस शिक्षा-संस्था के निर्माण में सहयोग दिया था। यही संस्था बनारस हिंदू कालेज के रूप में विकसित हुई।

श्रीमती बीसेंट ने एक भारतीय विश्वविद्यालय की भी योजना बनाई थी। उनका विचार इस विश्वविद्यालय में सभी लोगों को सम्मिलित करने का था। अंग्रेजी सरकार की उपेक्षा के कारण श्रीमती बीसेंट की यह योजना सफल नहीं हो सकी।

1917 में जब श्रीमती एनी बीसेंट कांग्रेस की अध्यक्ष बनीं, तब उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा की एक योजना तैयार की थी। इस योजना में गांवों की आवश्यकताओं, क्षेत्रीय परिस्थितियों तथा प्रांतीय भाषाओं के महत्त्व पर जोर दिया गया था।

होमरूल आंदोलन

भारतीय राजनीति में श्रीमती एनी बीसेंट का नाम होमरूल[16] आंदोलन के साथ जुड़ा हुआ है। 1914 में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक मांडले (बर्मा) के कारागार से छूटकर स्वदेश वापस आए। इस समय उनकी लोकप्रियता चरम शिखर पर थी। वे गरम दल[17] के नेता थे। उसी समय श्रीमती बीसेंट ने भी राजनीति में सक्रिय रूप से प्रवेश किया।[18] थियोसोफिकल आंदोलन के नेता के रूप में उनका नाम सारे संसार में फैल चुका था। श्रीमती बीसेंट ने भारत के स्वाधीनता संग्राम को नई दिशा दी। भारतवर्ष के धार्मिक, शैक्षिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए उन्होंने जो कार्य किया था, उसके कारण उसका नाम सभी शिक्षित और प्रबुद्ध भारतीयों की जुबान पर चढ़ चुका था। श्रीमती बीसेंट भारत वर्ष को अपनी मातृभूमि मानती थीं। भारत वर्ष के राजनीतिक पुनरुत्थान के उद्देश्य को सामने रखकर ही वे कांग्रेस में सम्मिलित हो गईं। श्रीमती बीसेंट की प्रतिभा बहुमुखी थी। उनकी विद्वता अथाह थी और बुद्धि अलौकिक। उनकी इच्छा-शक्ति अदम्य थी। खतरों से जूझना उनका स्वभाव था और साहस उनका सदा का साथी था। उनमें कार्य करने की अद्भुत शक्ति थी और जब तक काम पूरा न हो जाए, वे विश्राम करना नहीं जानती थीं। बीसेंट शक्ति की साक्षात प्रतिमा थीं।

आयरलैंड में उस समय जो होमरूल आंदोलन चल रहा था, एनी बीसेंट उससे बहुत अधिक प्रभावित हुई थीं। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के इस तर्क का विरोध किया कि भारतीय स्वतंत्रता के योग्य नहीं हैं। उनका कहना था कि अब भारत वह बच्चा नहीं रहा जो साम्राज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की शिशुशाला में पढ़ता रहे। उनका विश्वास था कि देश को जितनी जल्दी स्वशासन मिल जाए, उतना ही अच्छा है। कांग्रेस का कार्य जिस मंदगति से चल रहा था, उससे बीसेंट संतुष्ट नहीं थी। उन्होंने कांग्रेस से निवेदन किया कि वह होमरूल आंदोलन को आरंभ करे। लेकिन उन्हें यह देखकर निराशा हुई कि कांग्रेस में नरम दल के लोग संकोची और शंकालु स्वभाव के हैं। उन्हें होमरूल आंदोलन को आरंभ करने में झिझक थी। इस स्थिति में श्रीमती एनी बीसेंट ने औपनिवेशिक स्वशासन अथवा डोमीनियन स्टेटस का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए अपना एक अलग संगठन बनाने का निश्चय किया। उनका विश्वास था कि युद्ध काल इस आंदोलन को आरंभ करने के लिए सबसे अच्छा अवसर है। एनी बीसेंट ने 1916 में कांग्रेस के गरम और नरम दोनों दलों के बीच समझौता बनाने में भी सफलता प्राप्त की।

एनी बीसेंट ने 1 सितंबर, 1916 को मद्रास में भारतीय होमरूल की स्थापना की। इससे छः महीने पहले लोकमान्य तिलक महाराष्ट्र होमरूल लीग की स्थापना कर चुके थे। इसका केंद्र पूना था। तिलक ने एनी बीसेंट को पूरा सहयोग दिया और दोनों नेताओं ने आपसी सहयोग से कार्य किया। दिसंबर, 1916 में कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने सुधारों की एक सामान्य योजना को स्वीकार किया। उन्होंने अपनी योजना को जनता में लोकप्रिय बनाने के लिए होमरूल लीग का उपयोग करना चाहा। तिलक और एनी बीसेंट ने इस आदर्श को पूरा करने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया।

श्रीमती एनी बीसेंट ने होमरूल आंदोलन को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिए एक तो दैनिक पत्र निकाला—*न्यू इंडिया* और एक साप्ताहिक पत्र *कामन वील।* उन्होंने सारे देश का तूफानी दौरा किया और अपने ओजस्वी व्याख्यानों द्वारा जनता में एक नई स्फूर्ति पैदा की। वे भारतवर्ष को उसकी युग-युग व्यापी निद्रा से जगाना चाहती थीं। उनका कहना था, "मैं भारत वर्ष में वैतालिक का कार्य कर रही हूं। मैं सोनेवालों को जगा रही हूं ताकि वे उठ बैठें और अपनी मातृभूमि के लिए कार्य कर सकें।" लोकमान्य तिलक के पत्रों दैनिक केसरी और साप्ताहिक मराठा ने भी महाराष्ट में होमरूल आंदोलन का प्रचार किया।

होमरूल आंदोलन एक वैधानिक संघर्ष था। जिस समय यह आंदोलन चल रहा था उस समय महायुद्ध जारी था और भारत सुरक्षा अध्यादेश भी क्रियाशील थे। आंदोलन का यह उद्देश्य नहीं था कि सरकार को व्यर्थ में परेशान किया जाए अथवा उसके युद्ध-प्रयत्नों में बाधा डाली जाए। सच तो यह है कि आंदोलन के दोनों प्रमुख नेताओं—श्रीमती एनी बीसेंट और लोकमान्य तिलक ने भारतीय जनता को यह सलाह दी थी कि वह जर्मनी के खिलाफ ब्रिटिश सरकार की यथासंभव सहायता करे। लेकिन इन नेताओं ने इस बात पर भी जोर दिया कि स्वशासित भारत इंग्लैंड के लिए अधिक सहायक हो सकेगा। श्रीमती बीसेंट इंग्लैंड की शत्रु नहीं थी। जिस समय उन्होंने अपना आंदोलन आरंभ किया गरम दल क्रांति की ओर झुक रहा था। श्रीमती बीसेंट ने गरम दल को क्रांति के रास्ते से दूर हटाया। उनकी योजना यह थी कि गरम दल के लोग भारतवर्ष को ब्रिटिश साम्राज्य में बनाए रखने के लिए तैयार हो जाएं। श्रीमती बीसेंट चाहती थीं कि इंग्लैंड और भारत एक दूसरे के निकट आएं और एक दूसरे को समझें। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि इंग्लैंड का भाग्य भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ जुड़ा हुआ है। भारत को होमरूल देकर उसे संतुष्ट करना अंग्रेज शासकों के अपने हित में होगा।

श्रीमती बीसेंट का कहना था कि होमरूल भारतवर्ष का अधिकार है। वह इंग्लैंड के प्रति भारतवर्ष की राजभक्ति का पुरस्कार नहीं है। उन्होंने कहा था :

"भारत ने अपने पुत्रों और पुत्रियों के रक्त को इसलिए नहीं बहाया है कि से बदले में उसे स्वतंत्रता मिले, अधिकार मिले। यह सौदेबाजी नहीं है। भारत एक राष्ट्र की हैसियत से साम्राज्य की जनता के बीच न्याय पाने के अधिकार का दावा करता है। भारत ने इसे युद्ध के पहले मांगा था, भारत इसे युद्ध के बीच मांगता है, भारत इसे युद्ध के बाद मांगेगा। वह इसे एक पारितोषिक के रूप में नहीं, एक अधिकार के रूप में मांगता है।"

एनी बीसेंट के होमरूल का लक्ष्य वही था जो दादाभाई नौरोजी के 'स्वशासन' अथवा 'स्वराज्य' का था। उन्होंने अपने साप्ताहिक *कामनवील* के पहले अंक में ही अपने लक्ष्य की व्याख्या की थी। उन्होंने लिखा था :

"राजनीतिक क्षेत्र में हमारा लक्ष्य ग्राम परिषदों, जिला बोर्डों, म्युनिसिपल बोर्डों तथा प्रांतीय विधान सभाओं के माध्यम से एक राष्ट्रीय संसद का निर्माण करना है। इस संसद की शक्तियां वही होंगी जो उपनिवेशों की स्वशासित विधानसभाओं की होती हैं। हमारा यह भी लक्ष्य है कि जब समूचे ब्रिटिश साम्राज्य की संसद का अधिवेशन हो, तब उसमें स्वशासित उपनिवेशों के प्रतिनिधियों की तरह भारत के प्रतिनिधि भी शामिल हों।"

अस्तु, भारतीय राजनीति में होमरूल कोई नया आदर्श नहीं था। वह स्वाधीनता आंदोलन के लक्ष्य के लिए एक नया नाम मात्र था। इस नाम की प्रेरणा आयरलैंड के स्वतंत्रता संग्राम से ली गई थी।

1917 में होमरूल आंदोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया। यह आंदोलन पूरी तरह वैधानिक और शांतिपूर्ण था। फिर भी इस आंदोलन ने जनता के बीच एक नई हलचल पैदा की। सरकार इससे घबरा उठी और उसने आंदोलन को दबा देने का संकल्प किया। एनी बीसेंट और लोकमान्य तिलक की गतिविधियों के ऊपर कई प्रतिबंध लगा दिए गए। तिलक से कहा गया कि वे एक साल तक बिल्कुल शांत रहें। उन्हें भारी जमानत जमा करने का आदेश दिया गया। तिलक ने सरकार के इस आदेश के विरोध में उच्च न्यायालय में अपील की। उच्च न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप करने पर सरकार ने अपना आदेश वापिस ले लिया। सरकार ने श्रीमती बीसेंट के दोनों पत्रों *न्यू इंडिया* और *कामनवील* से 20,000 रुपए की जमानत मांगी। इन दमन-कार्यों से आंदोलन दबा नहीं। वह और तीव्र हुआ। सरकार ने तिलक को दिल्ली और पंजाब जाने से रोक दिया। श्रीमती एनी बीसेंट तथा उनके दो सहयोगी जी. एस. अरेन्डेल तथा पी. जी. वाडिया नजरबंद कर दिए गए। सरकार समझती थी कि श्रीमती बीसेंट की नजरबंदी से आंदोलन ठंडा पड़ जाएगा। लेकिन हुआ बिल्कुल उल्टा। इससे आंदोलन और भड़का। सारे देश में श्रीमती बीसेंट की नजरबंदी के विरोध में सभाएं हुईं। अनेक नेता जो अब तक होमरूल आंदोलन से अलग रहे थे, होमरूल लीग के सदस्य बन गए। एनी बीसेंट के छुटकारे के लिए सारे देश में तीव्र आंदोलन हुआ। तिलक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने सत्याग्रह शुरू करने का प्रस्ताव किया।

इस बीच राजनीतिक घटना-चक्र तेजी से घूमता गया। 1917 में मांटेग्यू भारतमंत्री के पद पर नियुक्त हुए। उन्हें भारत का सच्चा शुभचिंतक समझा जाता था। उनका विचार था कि भारत पर भारतीय जनता की सहमति से शासन होना चाहिए। अपना पद सम्हालने के कुछ दिनों के बाद 26 अगस्त, 1917 को ब्रिटिश सरकार की ओर से मांटेग्यू ने भारत के संबंध में सरकार की नीति को स्पष्ट किया। उन्होंने कहा :

"सम्राट सरकार की यह नीति है और उससे भारत सरकार पूरी तरह सहमत है कि भारतीय शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का संपर्क उत्तरोत्तर बढ़े और उत्तरदायी शासन प्रणाली का धीरे-धीरे विकास हो। इस नीति के परिणामस्वरूप भारत निरंतर उन्नति के पथ पर अग्रसर होगा और देश में स्वशासन प्रणाली स्थापित हो जाएगी। भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बना रहेगा। सरकार ने तय कर लिया है कि इस दिशा में यथाशीघ्र कुछ ठोस कदम उठाया जाए। इस नीति में प्रगति धीरे-धीरे अर्थात् सीढ़ी-दर-सीढ़ी होगी। ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार के ऊपर भारतीयों की भलाई और उन्नति का भार है। वही यह तय करेगी कि कब और कितना कदम आगे बढ़ाया जाए।"

ब्रिटिश सरकार की 20 अगस्त, 1917 की घोषणा का भारत में सर्वत्र स्वागत किया गया। नवंबर, 1917 में मोंटेग्यू भारतीय नेताओं से विचार-विमर्श करने के लिए भारत आए। उनके भारत आने से पहले श्रीमती एनी बीसेंट की नजरबंदी के ऊपर सारे देश में बहुत असंतोष था। मोंटेग्यू ने भारत आते ही हवा के रुख को पलट दिया। श्रीमती बीसेंट पर से नजरबंदी हटा ली गई। ब्रिटिश सरकार के प्रति उनका रुख नरम पड़ गया।

उन्हीं दिनों भारतीय राजनीति में गांधीजी का प्रवेश हुआ। वे जनवरी 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस लौट आए थे। दक्षिण अफ्रीका में उनकी सफलता के कारण उनका नाम भारत के हर कोने में फैल गया था। वे अपने साथ जीवन का एक विशिष्ट दर्शन और एक ऐसी राजनीतिक टेक्नीक लाए थे जिसकी उपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी। भारतवर्ष आकर गांधीजी ने गोपाल कृष्ण गोखले को अपना राजनीतिक गुरु बनाया। गोखले ने उन्हें सलाह दी कि भारतीय राजनीति में सक्रिय होने से पहले वे कुछ समय तक उसका गंभीर अध्ययन करें। तदनुसार, गांधीजी ने करीब दो साल तक सारे देश का भ्रमण किया। अपनी इस यात्रा के काल में उन्होंने सक्रिय राजनीति में कोई भाग नहीं लिया। इसके बाद चंपारन और खेड़ा के किसानों की समस्या को गांधीजी ने शांतिपूर्वक सुलझाया। उन्होंने अहमदाबाद के मिल मजदूरों की समस्या का भी समाधान किया। गांधीजी अब तक राजभक्त थे। लेकिन रौलट एक्ट और जलियांवाला बाग की दुर्घटनाओं ने उन्हें राजद्रोही बना दिया। खिलाफत का प्रश्न भी गांधीजी को अंग्रेजी शासन से दूर ले गया। 1919 में कांग्रेस ने उनके असहयोग आंदोलन के कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। श्रीमती बीसेंट को गांधीजी की रीति-नीति उचित नहीं लगी और वे सक्रिय राजनीति से अलग हो गईं। बीसेंट का विचार था कि गांधीजी अपने कार्यक्रम द्वारा कानून के उल्लंघन की जो आदत डाल रहे हैं, वह स्वतंत्र भारत के लिए हानिकारक सिद्ध होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांग्रेस से अलग होने के बाद भी एनी बीसेंट अपने तरीके से भारत की आजादी के लिए कार्य करती रहीं। यद्यपि एनी बीसेंट के गांधीजी के साथ राजनीतिक मतभेद थे, फिर भी दोनों नेता एक-दूसरे का आदर करते थे। एनी बीसेंट ने भारत में स्काउटिंग आंदोलन को शुरू करने और उसे बढ़ाने में योग दिया। 1921 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय ने उन्हें डॉक्टर ऑफ लेटर्स की उपाधि से सम्मानित किया था। उन्होंने तेज बहादुर सप्रू के साथ मिलकर भारत के भावी संविधान की रूपरेखा बनाई थी। वे भारत के लिए एक ऐसा संविधान चाहती थीं जो पूरी तरह भारतीय जीवन मूल्यों पर आधारित हो।

1921 में एनी बीसेंट ने बुड़ापेस्ट यूरोपियन कांग्रेस तथा शिकागो वर्ल्ड कांग्रेस की अध्यक्षता की थी। 1930 में वे दुबारा यूरोप गईं और उन्होंने कई सभाओं में भाषण दिए।

1931 के बाद श्रीमती बीसेंट का स्वास्थ्य गिरने लगा उनकी स्मरण शक्ति ने जवाब दे दिया। 20 सितंबर, 1933 को उनका स्वर्गवास हो गया।[19]

मुसलमानों में धार्मिक सुधारों के नेता सर सैयद अहमद खां थे। उन्होंने 1857 के प्रथम स्वातंत्र्य-समर में अंग्रेजों का साथ दिया था और राजनीति में मुसलमानों को उन्नत स्थान दिलाने के साथ-साथ मुसलमानों में शैक्षिक तथा सामाजिक जागृति उत्पन्न करने का भी प्रयत्न किया था।

भारत में वहाबी आंदोलन राय बरेली के सईद अहमद (1786-1831) ने शुरू किया था। इस आंदोलन का उद्देश्य अंग्रेजों और सिखों को हरा कर भारत में फिर से मुस्लिम शासन की स्थापना करना था। ब्रिटिश सरकार ने इस आंदोलन को कठोरता से कुचल दिया।

देवबंद के दार अलउलूम अथवा इस्लामी विद्या केंद्र की 1867 में स्थापना हुई थी। यह संस्था काहिरा के अल अजहर विश्वविद्यालय के बाद इस्लामी विद्या का सबसे बड़ा केंद्र है। देवबंद के अनुयायी सामाजिक दृष्टि से कट्टरपंथी रहे हैं। उन्होंने राजनीति में राष्ट्रीय आंदोलन तथा इंडियन नेशनल कांग्रेस का समर्थन किया था।

उन्नीसवीं सदी के प्रगतिशील विचारों ने सिख सम्प्रदाय को भी प्रभावित किया। 1873 में अमृतसर में सिंह सभा आंदोलन का सूत्रपात हुआ। यह आंदोलन आधुनिक शिक्षा के द्वारा सिख समाज में सुधार करना चाहता था।

पारसी समुदाय भी धार्मिक सुधारों की लहर से अछूता नहीं रहा। 1857 में कुछ अंग्रेजी शिक्षित पारसियों ने रहनुमायी माज़दायास्नान सभा अथवा धर्मसुधार की स्थापना को और जरथुश्त धर्म को उसके शुद्ध रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। नारोजी फर्डोन जी, दादा भाई नौरोजी और के. आर. कामा आंदोलन के अग्रणी नेता थे।

स्वामी दयानंद का जीवनवृत्त

स्वामी दयानंद का जन्म काठियावाड़ की मोर्वी नामक रियासत के टंकारा नामक गांव में 1824 को एक सुसंपन्न ब्राह्मण कुल में हुआ था। 1837 में शिव रात्रि के महोत्सव में शिवलिंग पर चढ़े हुए चूहे को देखकर उनका मूर्तिपूजा से मन फिर गया। 1846 में 22 वर्ष की आयु में वे सच्चे ज्ञान की खोज में घर से भाग गए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी दयानंद ने अपने जीवन के आगामी चौदह वर्ष गुरुओं की खोज, योगाभ्यास, विद्या अध्ययन और पर्यटन में लगाए। इस बीच उन्होंने हिमालय की भी यात्रा की। 1860 में वे मथुरा में स्वामी विरजानंद के पास पहुंचे और उन्होंने तीन वर्ष तक स्वामी विरजानंद से वैदिक साहित्य तथा व्याकरण का अध्ययन किया।

स्वामी दयानंद ने अपना सार्वजनिक जीवन 1867 में हरिद्वार के कुंभ मेले में शुरू किया। उन्होंने अपनी कुटिया के बाहर पाखंड-खंडिनी पताका गाड़ कर हिंदू जाति में फैले हुए अंधविश्वासों तथा पाखंडों को चुनौती दी।

स्वामीजी के सार्वजनिक जीवन का यह क्रम 1875 तक चला। इस बीच उन्होंने कलकत्ता यात्रा की और वे ब्रह्मसमाज के तत्कालीन नेताओं के संपर्क में आए। इसके अतिरिक्त इस काल में अपने व्याख्यानों तथा शास्त्रार्थों द्वारा उन्होंने भारत के धर्माचार्यों में अग्रणी स्थान अर्जित किया।

10 अप्रैल, 1875 को स्वामी दयानंद ने बंबई में आर्यसमाज की स्थापना की। आगे के आठ वर्षों में उन्होंने उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा राजस्थान में 85 आर्य समाजों की स्थापना की, अपने सिद्धांतों के स्पष्टीकरण के लिए एक दर्जन के लगभग महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे और वैदिक यंत्रालय तथा परोपकारिणी सभा जैसी संस्थाओं का गठन किया। 1883 में जोधपुर में वहां के महाराजा की एक रखैल ने स्वामीजी को उनके रसोइये के हाथों दूध में विष दिलवा दिया जिससे 30 अक्तूबर, 1883 को अजमेर में स्वामीजी का निधन हो गया।

स्वामी दयानंद द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने वेदों को अपनी आधारशिला बनाया, ईसाइयों के प्रचार का निराकरण किया तथा हिंदू धर्म पर इस्लाम द्वारा किए गए आक्षेपों का करारा जवाब दिया। आर्य समाज ने सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है और उसके कई नेता स्वतंत्रता संग्राम में अग्रिम पंक्ति में रहे हैं। शिक्षा, सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा सामाजिक कुरीतियों के निवारण में भी आर्यसमाज की देन महत्त्वपूर्ण रही है।

वैदिक धर्म

स्वामी दयानंद ने अपनी रचनाओं में जीवन तथा समाज का एक समग्र दर्शन प्रस्तुत किया है। वे विशुद्ध वैदिक धर्म का पुनरुद्धार चाहते थे। वे मानते थे कि वेदों के अनुसार ईश्वर एक है। वह संसार की सर्वोच्च सत्ता है। उसका कोई आकार नहीं होता। उसकी मूर्ति नहीं बनाई जा सकती। ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता। राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार नहीं थे। वे महापुरुष थे।

त्रैतवाद

स्वामीजी का कहना था कि तीन अनादि सत्ताएं हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। वे त्रैतवाद के समर्थक थे। उनका मत था कि मृत्यु के साथ आत्मा का अंत नहीं होता। आत्मा पुराने शरीर को त्याग कर नया जन्म ग्रहण करती है। इस प्रकार उसका पुनर्जन्म होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्राद्ध और तर्पण

स्वामी दयानंद मृत व्यक्ति के लिए पिंडदान करना या मृतकों का श्राद्ध करना वेद विरुद्ध मानते थे।

डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के शब्दों में, "वैदिक धर्म के वास्तविक व विशुद्ध रूप को पुनःस्थापित करने का प्रयत्न भारत के सुदीर्घ इतिहास में योगिराज कृष्ण के पश्चात् केवल महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा ही किया गया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, और यही महर्षि की सबसे बड़ी देन है।"[20]

स्वामी दयानंद का मंतव्य है कि ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम 'ओऽम्' है। वेदों में इंद्र, वरुण, मित्र, अग्नि और वायु आदि जिन देवताओं के नाम आते हैं, वे सब एक ईश्वर के विभिन्न नाम हैं। संसार में अनेक देवी-देवताओं की सत्ता वेदानुकूल नहीं है।

मूर्तिपूजा का विरोध

स्वामी दयानंद मूर्तिपूजा के विरोधी हैं। निराकार ईश्वर की साकार प्रतिमा बनना संभव नहीं है। आश्चर्यमयी सृष्टि सदा ही ईश्वर की महत्ता का ध्यान दिलाती है। स्वामीजी मानते हैं कि हिंदुओं में मूर्तिपूजा का चलन जैनियों और बौद्धों ने शुरू किया। ये दोनों धर्म ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते। मनुष्य कष्ट के समय किसी उच्च लोकोत्तर शक्ति से सहायता पाना चाहता है। जैनियों तथा बौद्धों ने ईश्वर के स्थान पर अपने धर्माचार्यों की पूजा शुरू कर दी और इसी प्रवृत्ति ने मूर्तिपूजा को जन्म दिया। भक्ति आंदोलन ने मूर्तिपूजा को बढ़ावा दिया। स्वामीजी ने मूर्तिपूजा की भर्त्सना करते हुए लिखा है :

"पाषाणादि मूर्तिपूजा को सर्वथा छोड़ने और मातादि मूर्तिमानों की सेवा करने में ही कल्याण है। बड़े अनर्थ की बात है कि साक्षात् माता आदि प्रत्यक्ष सुखदायक देवों को छोड़ कर अदेव पाषाणादि में सिर मारना मूढ़ों ने इसीलिए स्वीकार किया है कि जो माता-पितादि के सामने नैवेद्य व भेंट-पूजा धरेंगे तो स्वयं खा लेंगे और भेंट पूजा लेंगे तो हमारे मुख व हाथ में कुछ न पड़ेगा।"[21]

अवतारवाद का विरोध

स्वामी दयानंद ने मूर्तिपूजा की भांति अवतारवाद का भी खंडन किया है। स्वामीजी मानते हैं कि राग, द्वेष, ईर्ष्या, जन्म, मरण आदि सात मनुष्य के गुण हैं, अनंत शक्ति संपन्न ईश्वर के नहीं। स्वामीजी यह भी नहीं मानते हैं कि परमात्मा मनुष्यों को उपदेश देने के लिए पृथ्वी पर अपने प्रतिनिधि भेजता है। अपने कष्टों के निवारण के लिए मनुष्य को किसी अलौकिक सत्ता की ओर नहीं देखना चाहिए। उसे अपने ऊपर ही निर्भर रह कर अपनी समस्याओं का समाधान करना उचित है।

अद्वैतवाद का खंडन

स्वामी दयानंद ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का भी खंडन किया है। स्वामीजी यह नहीं मानते कि जीव और ब्रह्म एक हैं। उनका कहना है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"परमेश्वर के अनंत ज्ञान, आनंद, बल, क्रिया, निर्भ्रांतित्त्व और व्यापकता जीव से और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल, अल्प स्वरूप, सभ्रान्तित्त्व और पराधिन्तादि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव और परमेश्वर एक नहीं, क्योंकि इनका स्वरूप भी (परमेश्वर अति सूक्ष्म और जीव उससे कुछ स्थूल होने से) भिन्न है।"[22]

छः दर्शन

भारतीय परंपरा में वेदों को स्वतः प्रमाण मानने वाले दर्शन छः हैं : सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और वेदांत या उत्तर मीमांसा।

शंकराचार्य आदि अनेक विद्वानों का मत है कि इन दर्शनों के अनेक सिद्धांत परस्पर विरोधी हैं। स्वामी दयानंद इन दर्शनों में परस्पर विरोध नहीं मानते। उनके विचार से छहों दर्शन वेद की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं, इसलिए उनके सिद्धांत वेदविरुद्ध नहीं हो सकते। यदि इन दर्शनों में कुछ विरोध दिखाई देता है, तो उसका कारण उनकी पृथक शब्दावली है। उदाहरण के लिए सांख्य ने जिस अर्थ में पुरुष शब्द का प्रयोग किया है, न्याय और वैशेषिक दर्शनों में उसी अर्थ में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग हुआ है।[23]

स्वामी दयानंद ने भारतीयों का ध्यान भारत के प्राचीन गौरव की ओर आकृष्ट कर उनकी हीनभावना को दूर किया। स्वामीजी का कहना था कि पश्चिमी देशों ने ज्ञान-विज्ञान में जितनी उन्नति की है, वह भारत प्राचीन काल में कर चुका था। प्राचीन भारत का गौरव गान कर स्वामी दयानंद ने भारतीयों को आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाया। स्वामी दयानंद प्राचीन भारत की अत्यधिक उन्नति और पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष को ही भारत की अवनति का प्रधान कारण मानते हैं। भारत की दुर्दशा पर दुख व्यक्त करते हुए स्वामी दयानंद ने लिखा था :

"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी किंतु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखंड स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रांत हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतंत्र हैं। दुर्दिन जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परंतु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतांतर के आग्रहरहित, अपने और पराए का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"[24]

स्वराज्य

स्वामी दयानंद ने महात्मा गांधी के नमक सत्याग्रह से प्रायः 55 साल पहले भारत में अंग्रेजों द्वारा लगाए गए नमक कर का विरोध किया था। उन्होंने अपनी दो पुस्तकों **आर्याभिविनय** तथा **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** में 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने परमात्मा की प्रार्थना करते हुए कहा है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हमको भी सत्यविद्या से युक्त सुनीति दे के साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिए। हम पर सहाय करो, जिससे सुनीतियुक्त होकर हमारा स्वराज्य अत्यंत बढ़े।"[25]

स्वदेशी

स्वामी दयानंद 'स्वराज्य' के साथ-साथ 'स्वदेशी' के भी समर्थक हैं। उन्होंने अंग्रेजों की इस आधार पर सराहना की है कि उन्होंने भारत में भी रहते हुए अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा। स्वामीजी ब्रह्मसमाजियों और प्रार्थना समाजियों की इसलिए भी आलोचना करते हैं कि वे अपने व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते। स्वामीजी को स्वदेश में निर्मित वस्तुओं से कितना प्रेम था, यह उनके विप्र कथन से सिद्ध होता है : "हम और आपको उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे भी होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब मिल कर प्रीति से करें।"[26] स्वामी दयानंद की स्वदेशी भावना का एक पहलू यह था कि वे देश में संस्कृत तथा हिंदी भाषाओं का अधिकाधिक प्रचार चाहते थे।

राजनीतिक धारणाएं[27]

स्वामी दयानंद ने राज्य और शासन के संबंध में भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने राज्यसंस्था के लिए राजा शब्द का प्रयोग किया है। स्वामी दयानंद का राजा आनुवंशिक राजा नहीं है। वह प्रजा द्वारा निर्वाचित 'सभापति' या 'सभाध्यक्ष' है—जो अपनी सभा के सहयोग से शासन करता है। उनका मंतव्य है कि जहां एक व्यक्ति का शासन होता है, वहां प्रजा का पीड़न अवश्यम्भावी है। जहां राजप्रबंध सभा के हाथों में हो, वहां संपूर्ण प्रजा का हित संपादित होता है।

स्वामी दयानंद ने शासन-संचालन के लिए तीन सभाओं का प्रस्ताव किया है—आर्य राजसभा, आर्य विद्यासभा और आर्य धर्मसभा। राजसभा का कार्य कानून बनाना और जारी करना है। विद्या सभा का कार्य विद्या का प्रचार करना और अविद्या का नाश करना है। धर्मसभा का कार्य जनता को सच्चरित्र बनाना है।

समाज

स्वामी दयानंद के सामाजिक संगठन का आधार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था है। वे चारों वर्णों की स्थिति जन्म के आधार पर नहीं कर्म के आधार पर मानते हैं। उन्होंने वेदों में प्रतिपादित जीवन के चार आश्रमों की व्यवस्था को स्वीकार किया है। स्वामीजी वर्णाश्रम व्यवस्था भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में समन्वय उपस्थित करती है।[28]

स्त्रियों की स्थिति

स्वामी दयानंद ने बालकों के समान बालिकाओं को शिक्षा की भी वकालत की है। शासन, युद्ध तथा न्याय-कर्म में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार देने के समर्थक हैं।[29]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृषि और पशुपालन

स्वामी दयानंद ने कृषि और पशुपालन के महत्त्व पर जोर दिया है। उनकी **गोकरुणानिधि** पुस्तक सिर्फ गोरक्षा पर ही नहीं है। उसमें राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में पशुधन के महत्त्व को रेखांकित किया गया है।

शिल्पविद्या

स्वामी दयानंद ने अपने वैदिक भाष्यों में शिल्प विद्या के अनेक सूत्र खोज निकाले हैं।

गुरुकुल

स्वामी दयानंद ने अपनी रचनाओं तथा कार्यक्रमों में शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया है। वे मानते हैं कि बच्चों की उत्तम शिक्षा ही उनका सच्चा आभूषण है। वे माता-पिता तथा आचार्य का यही परम धर्म मानते हैं कि उनके द्वारा संतानों को अच्छी शिक्षा प्राप्त हो। स्वामीजी मानते हैं कि पांच वर्ष की आयु तक माता बच्चे की शिक्षिका होती है, छठे वर्ष से आठवें वर्ष तक पिता बालक का शिक्षक होता है और इसके बाद आचार्य बालक की शिक्षा का दायित्व ग्रहण करता है।

स्वामी दयानंद ने बालक बालिकाओं के लिए अलग-अलग गुरुकुलों का सुझाव दिया है। पुरुषों को कम से कम पच्चीस साल की आयु तक और स्त्रियों को सोलह साल की आयु तक गुरुकुल में रहकर विद्या-अध्ययन करना चाहिए। स्वामीजी के अनुसार राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजे वह दंडनीय हो।

स्वामी दयानंद सह-शिक्षा के विरोधी थे। उन्होंने लिखा है कि लड़के और लड़कियों की पाठशाला एक-दूसरे से दो कोस की दूरी पर होनी चाहिए। स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष के लड़के और पुरुषों की पाठशाला पांच वर्ष की लड़की का प्रवेश निषिद्ध होना चाहिए।

स्वामीजी ने गुरुकुलों में सभी विद्यार्थियों के लिए एक समान भोजन, वस्त्र, निवास तथा शिक्षा की व्यवस्था की है। सामाजिक अथवा आर्थिक स्तर के आधार पर विद्यार्थियों के बीच भेदभाव निषिद्ध है।

गुरुकुलों में विद्यार्थियों का जीवन तपस्यामय होना चाहिए। उनके लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन आवश्यक है। ब्रह्मचर्य पालन के लिए स्वामी दयानंद ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि चमों तथा शौच, संतोष, तप और स्वाध्याय आदि नियमों पर चलना ज़रूरी माना है।

गुरुकुल में गुरुओं का छात्रों के प्रति वही व्यवहार होना चाहिए जो माता-पिता का बालकों के प्रति होता है। आवश्यक होने पर गुरु शिष्यों को शारीरिक दंड दे सकते हैं।

गुरुकुलों में अध्यापन करने वाले आचार्यों का सच्चरित्र होना आवश्यक है। स्वामी दयानंद ने अपनी शिक्षा-प्रणाली में संस्कृत भाषा और व्याकरण के अध्ययन का पूरा पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपनी शिक्षा-प्रणाली में विज्ञान को भी समुचित स्थान दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक कुरीतियों का विरोध

स्वामी दयानंद ने अपने समय में प्रचलित सामाजिक बुराइयों का विरोध किया है। वे बाल विवाह, अनमेल विवाह और बहुविवाह के कटु आलोचक थे। उन्होंने कुछ स्थितियों में विधवा विवाह तथा नियोग का समर्थन किया है। स्वामी दयानंद अस्पृश्यता को स्वीकार नहीं करते और उन्होंने विदेश-यात्रा का समर्थन किया है।

सारांश

स्वामी दयानंद आधुनिक भारत के वैतालिक थे। उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन 1867 में आरंभ किया था और 1883 में अपनी मृत्युपर्यंत वे अपने सिद्धांतों का प्रचार करते रहे। इस बीच उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की और आर्यसमाज की स्थापना की। स्वामी दयानंद का वास्तविक कर्तृत्व उन्नीसवीं सदी के भारत की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक दशा के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

भारत में अंग्रेजी शासन का सूत्रपात 1757 के प्लासी युद्ध द्वारा हुआ था। इस युद्ध के फलस्वरूप ईस्ट इंडिया कंपनी का बंगाल पर अधिकार हो गया। इसके बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने एक सदी से भी कम समय में समूचे भारत पर नियंत्रण स्थापित कर लिया।

अंग्रेजों के समय में राजनीतिक दृष्टि से भारत दो भागों में बंट गया था—ब्रिटिश भारत और देशी भारत। ब्रिटिश भारत पर अंग्रेजों का सीधे शासन था। देशी भारत में राजे-रजवाड़ों का शासन था लेकिन वे ब्रिटिश सरकार को सर्वोच्च सत्ता (Paramountcy) के अधीन थे।

भारतीय इतिहास में अंग्रेज शासक पहले विदेशी शासक थे। कारण, अंग्रेज भारत में स्थायी रूप से नहीं बसे। उनका उद्देश्य भारत की धन-संपदा का शोषण कर इंगलैंड को समृद्ध करना था।

अंग्रेजों ने भारत में सदियों से चली आ रही पंचायत-प्रणाली को नष्ट कर दिया और जागीरदारों को एक नई श्रेणी तैयार की। जागीरदारों के आर्थिक हित अंग्रेजों के साथ संलग्न थे।

1757 से 1857 तक भारत के विभिन्न भागों में अनेक विद्रोह हुए लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उन्हें कुचल दिया। 1857 का सिपाही विद्रोह पहला राष्ट्रीय विद्रोह था। लेकिन आपसी फूट और संगठन के अभाव के कारण यह विद्रोह भी असफल हो गया।

1858 में महारानी विक्टोरिया ने अपनी भारतीय प्रजा को समानता तथा न्याय पर आधारित शासन का आश्वासन दिया।

ब्रिटिश सरकार के आश्वासनों के बावजूद भारत के विभिन्न भागों में राजनीतिक जागृति हुई। इसका परिणाम था 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना।

भारत की आर्थिक स्थिति अठारहवीं सदी तक पर्याप्त उन्नत थी। इंगलैंड की औद्योगिक क्रांति ने स्थिति को बदल दिया। भारत औद्योगिक क्रांति से वंचित रहने के कारण इंगलैंड से पिछड़ गया। भारत के घरेलू उद्योग धंधे नष्ट हो गए। ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुलाहों पर अनेक प्रतिबंध लगा कर उनकी उत्पादन-क्षमता को कम कर दिया। भारत का विदेशी व्यापार धीरे-धीरे अंग्रेजों के हाथों में आ गया। भारत में रोजगार की कमी होने पर भारत के बहुत से मजदूर ब्रिटिश उपनिवेशों में चले गए।

उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदू धर्म में अनेक मत-मतांतर पाए जाते थे। वेदों का अध्ययन ब्राह्मणों तक सीमित था। शूद्रों तथा स्त्रियों की स्थिति दयनीय थी। सामाजिक ऊंच-नीच तथा जात-पांत के बंधन धार्मिक एकता के मार्ग में बड़ी बाधा थे। ईसाई धर्म-प्रचारकों से हिंदू धर्म के लिए खतरा पैदा हो गया था।

आधुनिक भारत में नवयुग का सूत्रपात धार्मिक आंदोलनों से हुआ। ये आंदोलन देश के सभी भागों और वर्गों में पैदा हुए। मुख्य आंदोलन 10 थे : ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्यसमाज, थियोसोफी और रामकृष्ण मिशन हिंदुओं तक सीमित थे। अलीगढ़, वहाबी और देवबंद आंदोलनों ने मुसलमानों में जागृति का शंख फूंका। सिंह सभा आंदोलन ने सिखों और पारसी धर्म आंदोलन ने पारसियों की सामाजिक दशा सुधारने का प्रयत्न किया।

राजा राममोहन राय भारतीय नवजागरण के देवदूत थे। स्वामी विवेकानंद और श्रीमती एनी बीसेंट ने भी हिंदुओं में जागृति पैदा की।

स्वामी दयानंद की मुख्य देन है :

1. वेदों तथा वैदिक धर्म का पुनरुद्धार।
2. श्राद्ध, तर्पण, मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि पुराने रीति-रिवाजों की भर्त्सना।
3. भारत के प्राचीन गौरव का गान और वर्तमान दुरवस्था पर शोक।
4. 'स्वराज्य' और 'स्वदेशी' की धारणाएं।
5. वर्ण-व्यवस्था को जन्म पर नहीं कर्म पर आधारित मानना।
6. स्त्रियों की स्थिति में सुधार।
7. कृषि और पशुपालन पर जोर।
8. शिल्पविद्या के प्रचार की आवश्यकता।
9. शिक्षा की गुरुकुल प्रणाली।
10. आर्य समाज।
11. सामाजिक कुरीतियों का विरोध।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. प्लासी-युद्ध के ऐतिहासिक महत्त्व के बारे में इतिहासकार जी. बी. मालेसन (G. B. Malleson) ने लिखा है :

"There never was a battle is which the consequences were so vast, so immediate and so permanent. From the very morrow of the victory, the English became virtual masters of Bengal, Bihar and Orissa. During the century which followed no serious attempt was made to east off the yoke virtuelly imposed by Plassey. It gave them a false resting on the sea and with proper love, unassailable, they were able to extend their authority beyond the Indus...their influence amongst people of whose insistence

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

even Europe was at that time profoundly ignorant."

2. अंग्रेजों ने भारत को संयोगवश ही जीता या एक योजनाबद्ध तरीके से, इस विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। पहले सिद्धांत के समर्थक जान सीली (John Seely) हैं जिनका कहना है कि अंग्रेजों ने भारत को आंख मूंदे बिना किसी इरादे के संयोगवश ही जीत लिया। दूसरे सिद्धांत के समर्थकों का कहना है कि अंग्रेज शुरू से ही भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने अपनी इस योजना को धीरे-धीरे कार्यान्वित किया। साम्राज्य-निर्माण में तटस्थता या उदासीनता की बात वे अपने आलोचकों का मुंह बंद करने के लिए करते हैं।
3. ब्रिटिश शासन के अंतर्गत देशी रियासतों की स्थिति के बारे में देखिए : *Indian States Committee Report* (Butler Committee) 1928-29; Lee-Warner, *The Native States of India* (1910), Majundar, R.C. *British paramountcy and India Renaissance*, Menon. V.P. *Story of the Integration of Indian States* (1956), Pannikar, K.M., *Introduction to the study of the Relations of Indian States with the Government of India* (1927), Vardacharior, *Indian States in the Federation.*
4. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार *आर्यसमाज का इतिहास,* प्रथम भाग, नई दिल्ली, 1982, पृ. 137।
5. ब्रिटिश शासन-काल में भारत की भूमि-व्यवस्था (Land System) के बारे में अधिक जानकारी के लिए निम्नलिखित पुस्तकें देखी जा सकती हैं : Baden Powell, B.H., *The Land Systems of British India,* 2. Vols; Dutt, R.C., Economic History of India 2 vols. Morris, D. Moris, *Indian Economic in the Nineteenth Century A Symposium*, Stopes Fric, *The peasant and the Raj.*
6. 1757 से 1856 तक अंग्रेजी शासन के विरुद्ध भारत के सभी भागों में विद्रोह हुए थे। पूर्वी भारत के प्रमुख विद्रोह थे : संन्यासियों का विद्रोह, चुआर और हो विद्रोह, कोल विद्रोह, संथाल विद्रोह, अहोम विद्रोह, खासी विद्रोह, पागल पंथियों का विद्रोह, फराइज़ी विद्रोह। पश्चिमी भारत के प्रमुख विद्रोह थे : भील विद्रोह, कोली विद्रोह, कछ विद्रोह, वघेरा विद्रोह, सूरत नमक विद्रोह, रमोही विद्रोह, कोल्हापुर और सावंतवाड़ी विद्रोह। दक्षिणी भारत में विजयनगरम के राजा ने 1794 में और तिरुवांकुर के दीवान वेला ताम्पी ने 1805 में विद्रोह किया था। उत्तर भारत में वहाबियों का आंदोलन अंग्रेजों के खिलाफ एक सशक्त आंदोलन था। निम्नलिखित पुस्तकों में इन आंदोलनों के बारे में विस्तृत सूचना दी गई है : Datta, K.K. *Anti. British Plots and Movements before 1857*, Majumdar, R.C. (ed.) *British Paramountacy and Indian Renaissance.*
7. 1857 के सिपाही विद्रोह के बारे में इतिहासकारों के परस्पर-विरोधी विचार रहे हैं। काये, मालेसन, ट्रेवेलियन, लारेंस और होम्स ने इस विद्रोह को शुद्ध सिपाही विद्रोह कहा है जो सिर्फ कुछ असंतुष्ट सैनिकों तक सीमित था और जिसमें जनता की कोई भूमिका नहीं थी। राष्ट्रीय नेताओं ने 1857 के विद्रोह को भारत का पहला स्वतंत्रता संग्राम माना है। वी. डी. सावरकर 1909 में *The Indian war of Independence* पुस्तक लिखी थी। डॉ. रमेशचंद्र मजूमदार ने इस विद्रोह के बारे में लिखा है : "It has been said that Julius Caesar dead was more powerful than when he was alive. The same thing may be said about the Mutiny of 1857. Whatever might have been its original character, it soon became a symbol of challenge to the mighty British Power in India. It remained a shining example before naseent nationalism in India in its struggle for freedom from the British yoke and was invested with the full glory of the first national war of Independence against the British."
8. "One of the main elements in the Renaissence was a revival of the literature and learning of ancient Greece and Rome. Humanist scholars turned book to the classics

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

in order is escape from the other world—lines of wedieval thinking and recapture more optimistic views of human life. Henry Bumford Parkes, *A History of United States of America*, New Delhi, 2001, p-8.

9. विश्वप्रकाश गुप्त और मोहिनी गुप्त, *राजा राममोहन राय : व्यक्ति और विचार*, नई दिल्ली, 1996, पृ. 56-57।
10. राजेन्द्र प्रकाश गुप्त, *स्वामी विवेकानंद : व्यक्ति और विचार*, नई दिल्ली, 1997, पृ. 108-114।
11. चार्ल्स ब्रेडला (1833-1891) इंग्लैंड के स्वतंत्र विचारक और नास्तिक थे। 1880 में वे उदारवादी दल के टिकट पर ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स के सदस्य चुने गए थे। वे इंग्लैंड में नारी मुक्ति आंदोलन के आरंभिक नेताओं में थे।
12. सिडनी वेब (1859-1947) और उनकी पत्नी बेट्रिस वेब (1858-1943) समाज सुधारक, लेखक और लंदन स्कूल ऑफ इकानामिक्स के संस्थापक थे। वे फेबियन सोसायटी के आरंभिक सदस्य थे। उनका विवाह 1892 में हुआ था। उनकी कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें हैं : *हिस्ट्री ऑफ ट्रेड यूनियनिज्म* (1894), *इंगलिश लोकल गवर्नमेंट* (1906-29) और *सोवियत कम्युनिज्म* (1935)।
13. जार्ज बर्नार्ड शॉ (1856-1950) आयरलैंड के नाटककार, आलोचक और उपन्यासकार थे। वे फेबियन सोसाय़टी के सक्रिय सदस्य थे उनकी साहित्यिक रचनाओं में सामाजिक चेतना का तत्त्व मुखर है। उनकी मुख्य रचनाएं हैं : *आर्म्स एंड द मैन* (1894), *डेविल्स डिसाइपिल* (1897), *मैन एंड सुपरमैन* (1905) *पिगमालियन* (1915) और *सेंट जान* (1924)। शा को 1925 में नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ था। शॉ महात्मा गांधी के प्रशंसक थे और गांधीजी की मृत्यु पर उन्होंने कहा : It is dangerous to be too good.
14. इंग्लैंड में फेबियन सोसायटी की स्थापना 1840 में हुई थी। यह एक समाजवादी संगठन था। फेबियन लोग सामाजिक सुधारों द्वारा धीरे-धीरे समाजवाद प्राप्त करना चाहते हैं। इस सोसायटी के प्रयत्नों से ही 1906 में लेबर पार्टी की स्थापना हुई थी। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु पर फेबियन विचारधारा का प्रभाव पड़ा था।
15. थियोसोफी के उद्देश्य थे :
    (i) विश्व बंधुत्व की स्थापना।
    (ii) आर्य और दूसरे पूर्वी धर्मों, भाषा और विज्ञान के अध्ययन को बढ़ावा देना।
    (iii) मनुष्य की अज्ञात धारणाओं और अपरिचित रुझानों पर खोज करना।
16. आयरलैंड में होमरूल आंदोलन ईसाक बट्ट (1813-1879) ने 1870 में शुरू किया था। इस साल उन्होंने होमरूल एसोसिएशन की स्थापना की। यह वैधानिक आंदोलन था और इसके मुख्य नेता चार्ल्स पार्नेल थे। 1918 के बाद होमरूल के स्थान पर स्वतंत्र आयरिश गणराज्य की मांग का आंदोलन जारी हुआ।
17. भारतीय राजनीति में उग्रवाद अथवा गरम दल का विकास 1892 के बाद हुआ। इस प्रवृत्ति के प्रमुख नेता थे : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, अरविंद घोष और विपिन चंद्र पाल।
18. श्रीमती एनी बीसेंट ने भारतीय राजनीति में क्यों भाग लिया इस बारे में विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं :
    (i) भारतवासियों पर ब्रिटिश सरकार के अत्याचार बढ़ते जा रहे थे जिन्हें एनी बीसेंट बर्दाश्त नहीं कर सकीं।
    (ii) एनी बीसेंट भारत के प्राचीन जीवन-मूल्यों को जागृत करके उनके द्वारा विश्वशांति की स्थापना करना चाहती थीं।
    (iii) एनी बीसेंट भारत के स्वतंत्रता संग्राम क़ी नेता बनना चाहती थीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(iv) एनी बीसेंट इंग्लैंड और भारत के बीच मित्रता बढ़ाना चाहती थीं।
(v) एनी बीसेंट ब्रिटिश साम्राज्य की सहायक बनकर भारत आई थीं।

19. एनी बीसेंट के संबंध में भारत के अनेक नेताओं, तेजबहादुर सप्रू, मोतीलाल नेहरू, मोहम्मद अली जिन्ना, बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, जी. सुब्रमण्यम, सरोजिनी नायडू, जवाहर लाल नेहरू और श्रीप्रकाश ने अपने विचार प्रकट किए हैं। श्री प्रकाश ने *एनी बीसेंट एज वूमेन एंड एज लीडर* नाम से संस्मरणात्मक पुस्तक लिखी है।
20. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, *आर्यसमाज का इतिहास,* प्रथम भाग, दिल्ली, 1982, पृ. 379।
21. उद्धृत, *वही,* पृ. 385।
22. उद्धृत, *वही,* पृ. 392।
23. *वही,* पृ. 392-396
24. *वही,* पृ. 417।
25. *वही,* पृ. 419-420।
26. *वही,* पृ. 420-423।
27. *वही,* पृ. 423-429।
28. *वही,* पृ. 443-449।
29. *वही,* पृ. 458-463।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 23

आर्यसमाज

स्वामी दयानंद बैरिस्टर चंद्रशेखर सेन नामक एक ब्रह्मसमाजी सज्जन तथा ब्राह्म नेता देवेंद्रनाथ ठाकुर के आमंत्रण पर दिसंबर, 1872 में कलकत्ता गए थे और मध्य अप्रैल 1873 तक वहां रहे थे। अपने कलकत्ता प्रवास में स्वामीजी ने बंगाल के प्रमुख धर्म सुधारकों, समाज-संस्कारकों, शिक्षा-शास्त्रियों और सार्वजनिक नेताओं से भेंट की थी तथा धर्म और समाज के विषय में अनेक व्याख्यान दिए थे। स्वामीजी को अपनी इस यात्रा में ब्रह्म-समाज को निकट से देखने तथा परखने का अवसर प्राप्त हुआ था। उन्होंने पाया कि ब्रह्म-समाज अपने संगठन, प्रकाशनों तथा पत्रिकाओं द्वारा अपने सिद्धांतों का प्रचार करने में सफल हुआ है। संभवतः ब्रह्म-समाज को देख कर ही स्वामीजी के मन में अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए एक संगठन स्थापित करने का विचार उत्पन्न हुआ था। स्वामीजी के यशस्वी जीवनी लेखक डॉ. भवानीलाल भारतीय के शब्दों में "स्वामी दयानंद ने कालातंर में 'आर्यसमाज' के रूप में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान, आर्य संस्कृति के पुनर्जागरण तथा भारत देश की सर्वतोमुखी उन्नति एवं प्रगति की सिद्धि के लिए जिस आंदोलन का सूत्रपात किया, उसकी रूपरेखा संगठन का ढांचा, कार्यक्रम तथा प्रचार-प्रणाली को बहुत कुछ ब्रह्म-समाज के अनुकरण पर ही तैयार किया गया था।"[1]

स्वामी दयानंद ने ब्रह्म-समाज के नेताओं से सार्वजनिक भाषण-प्रणाली तथा साहित्य-प्रणयन की महत्ता भी समझी और वे इस दिशा में अग्रसर हुए।

स्वामी दयानंद ने 1975 के आरंभ में राजकोट (काठियावाड़) में यह प्रस्ताव किया कि वहां आर्यसमाज की स्थापना की जाए और प्रार्थना समाज को ही आर्य समाज के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए। प्रार्थना समाज के सदस्य इससे सहमत हो गए और इस प्रकार प्रथम आर्य समाज की स्थापना हुई। राजकोट में स्थापित प्रथम आर्य समाज की सदस्य-संख्या 30 थी। यह आर्य समाज ज्यादा दिनों तक नहीं चला। छः मास के भीतर ही इसका अंत हो गया।[2]

स्वामी दयानंद ने 10 अप्रैल, 1875 को बंबई में आर्य समाज की नींव डाली।[3] इस आर्य समाज के सदस्यों की संख्या लगभग 100 थी।[4] समाज के कुछ सदस्य चाहते थे कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामीजी को उसका प्रधान बनाया जाए। लेकिन स्वामीजी इसके लिए तैयार नहीं हुए और वे समाज के साधारण सदस्य ही बने रहे।[5]

बंबई आर्य समाज के नियम

बंबई आर्य समाज ने निम्नलिखित 28 नियमों को स्वीकार किया था :

1. सब मनुष्यों के हितार्थ आर्य समाज का होना आवश्यक है।
2. इस समाज में मुख्य स्वतःप्रमाण, वेदों का ही माना जाएगा। साक्षी के लिए तथा वेदों के ज्ञान के लिए और इसी प्रकार आर्य-इतिहास के लिए, शतपथ ब्राह्मणादि 4, वेदांग 6, उपवेद 4, दर्शन 6 और 1127 शाखा (वेदों के व्याख्यान), वेदों के आर्ष सनातन संस्कृत ग्रंथों का भी वेदानुकूल होने से गौण (प्रमाण) माना जाएगा।
3. इस समाज में प्रति देश के मध्य (में) एक प्रधान समाज होगा और दूसरी शाखा प्रशाखाएं होंगी।
4. प्रधान समाज के अनुकूल और सब समाजों की व्यवस्था रहेगी।
5. प्रधान समाज में वेदोक्त अनुकूल संस्कृत आर्य भाषा में नाना प्रकार के सत्योपदेश के लिए पुस्तक होंगी और एक 'आर्यप्रकाश' पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाज में प्रवृत्त किए जाएंगे।
6. प्रत्येक समाज में एक प्रधान पुरुष और दूसरा, मंत्री तथा अन्य पुरुष और स्त्री—यह सब सभासद् होंगे।
7. प्रधान पुरुष इस समाज की यथावत् व्यवस्था का पालन करेगा और मंत्री सबके पत्र का उत्तर तथा सबके नाम व्यवस्था लेख करेगा।
8. इस समाज में सत्पुरुष सत्-नीति सत्-आचरणी मनुष्यों के हितकारक समाजस्थ किए जाएंगे।
9. जो गृहकृत्य से अवकाश प्राप्त होय सो जैसा घर के कामों में पुरुषार्थ करता है उससे अधिक पुरुषार्थ इस समाज की उन्नति के लिए करे और विरक्त तो नित्य इस समाज की उन्नति ही करे; अन्यथा नहीं।
10. प्रत्येक आठवें दिन प्रधानमंत्री और सभासद् समाजस्थान में एकत्रित हों और सब कामों से इस काम को मुख्य जानें।
11. एकत्रित होकर सर्वथा स्थिर चित्त हों। परस्पर प्रीति से प्रश्नोत्तर पक्षपात छोड़कर करें। फिर सामवेद आदि गान, परमेश्वर, सत्यधर्म, सत्यनीति के विषय में तथा सत्योपदेश के संबंध में ही बाजा आदि द्वारा गान हो और इसी विषय पर मंत्रों का अर्थ और व्याख्यान हो। फिर गान, फिर मंत्रों का अर्थ, फिर व्याख्यान फिर गान आदि।
12. प्रत्येक सभासद् न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त करे—उसमें से आर्य समाज, आर्यविद्यालय और आर्यप्रकाश पत्र के प्रचार और उन्नति के लिए आर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज धनकोष में (एक) प्रतिशत देवे। अधिक देने से अधिक धर्मफल। इस धन का इन विषयों में ही व्यय होय, अन्यत्र नहीं।

13. जो मनुष्य इन कार्यों की उन्नति और प्रचार के लिए जितना प्रयत्न करे—उसका यथायोग्य सत्कार उत्साह के लिए होना चाहिए।

14. इस समाज में वेदोक्त प्रकार से प्रत्येक अद्वितीय परमेश्वर की ही स्तृति, प्रार्थना और उपासना करने में आएगी अर्थात् निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, दयालु, सर्वजगत्पिता, सर्वजगत्माता, सर्वधाम, सर्वेश्वर, सच्चिदानंदादि, लक्षण युक्त, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य-शुत्य-बुद्ध, मुक्तस्वभाव, अनंत, सुखप्रद, धर्मार्थ काममोक्षप्रद इत्यादि विशेषणों से परमात्मा की ही स्तुति, उसका गुणकीर्तन, प्रार्थना, उससे सर्वश्रेष्ठ कार्यों में सहाय चाहना—उपासना, उसके आनंद स्वरूप में मग्न हो जाना—सो पूर्वोक्त निराकार आदि लक्षण वाले की ही भक्ति करनी, उसके अतिरिक्त किसी और की कभी नहीं करनी।

15. इस समाज में निषेक आदि अंत्येष्टि पर्यंत संस्कार वेदोक्त किए जाएंगे।

16. आर्यविद्यालय में वेदादि सनातन आर्ष ग्रंथों का पठन-पाठन कराया जाएगा और वेदोक्त रीति से ही सत्य शिक्षा सब पुरुषों और स्त्रियों को प्राप्त होगी।

17. इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जाएगा—एक परमार्थ और दूसरी लोकव्यवहार। इन दोनों का शोधन और शुद्धता की उन्नति तथा सब संसार के हित की उन्नति की जाएगी।

18. इस समाज में न्याय, जो पक्षपातरहित अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यथावत् परीक्षित सत्यधर्म वेदोक्त ही माना जाएगा। इससे विपरीत को यथाशक्ति न माना जाएगा।

19. इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान लोग सर्वत्र सत्योपदेश करने के लिए समयानुकूल भेजे जाएंगे।

20. स्त्री और पुरुष इन दोनों के विद्याभ्यास के लिए पृथक्-पृथक् आर्यविद्यालय प्रत्येक स्थान में यथाशक्ति बनाए जाएंगे। स्त्रियों के लिए पाठशालाएं, अध्यापन और सेवाप्रबंध स्त्री द्वारा ही किया जाएगा और पुरुष पाठशाला का पुरुषों द्वारा। इसके विपरीत नहीं।

21. इन पाठशालाओं की व्यवस्था प्रधान आर्य समाज के अनुकूल पालन की जाएगी।

22. इस समाज में प्रधानादि सब सभासदों को परस्पर प्रीति के लिए अभिमान, हठ, दुराग्रह और क्रोधादि दुर्गुण सब छोड़ के उपकार सुहृदयता से सबसे सबको निर्वैर होके, स्वात्मत् सम्प्रीति करनी होगी।

23. बिचार समय सब व्यवहारों में न्याययुक्त, सर्वहितकारी जो सत्य बात भली प्रकार विचार से ठहरे—उसी को सब सभासदों को प्रकाशित करके वही सत्य बात मानी जाए, उसके विरुद्ध न मानी जाए। इसी का नाम पक्षपात छोड़ना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

24. जो मनुष्य इन नियमों के अनुकूल आचरण करने वाला, धर्मात्मा, सद्गुणी हो—उसको उत्तम समाज में सम्मिलित करना; उसके विपरीत को साधारण समाज में रखना और अत्यंत प्रत्यक्ष दुष्ट को समाज से निकाल ही देना परंतु पक्षपात से यह काम नहीं करना प्रत्युत् यह दोनों बातें श्रेष्ठ सभासदों के विचार से ही की जाएं और प्रकार से नहीं।
25. आर्य्य समाज, आर्य्य विद्यालय, आर्य्य प्रकाश पत्र और आर्य्यसमाजार्थ धनकोष—इन चारों की रक्षा और उन्नति प्रधान आदि सभासद् तन, मन और धन, से यथावत् सदा करें।
26. जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्य समाजस्थ मिले तब तक और की नौकरी न करें और न किसी और को नौकर रखें। वे दोनों परस्पर स्वामिसेवक भाव से यथावत् बरतें।
27. जब विवाह, पुत्रजन्म, महालाभ या मरण या और कोई समय दान और धनव्यय करने का हो तब तब आर्यसमाज के निमित्त धन आदि का दान किया करें। ऐसा धर्म का काम और कोई नहीं है—इस निश्चय को जानकर इसको कभी न भूलें।
28. इन नियमों से यदि कोई नियम नया लिखा जाएगा या कोई निकाला जाएगा अथवा न्यूनाधिक किया जाएगा सो सब श्रेष्ठ सभासदों की विचाररीति से सब श्रेष्ठ सभासदों को विदित करके ही यथायोग्य करना होगा।

स्वामी दयानंद ने आर्य समाज की जो नियमावली बनाई थी, वह पूर्णतया लोकतंत्र के सिद्धांत पर आधारित थी। नियमावली के अनुसार प्रधान तथा मंत्री जैसे पदाधिकारियों की नियुक्ति सभासदों द्वारा की जाती थी। आर्य समाज की यह स्थिति ब्रह्म समाज से भिन्न थी जिसमें केशवचन्द्र सेन सर्वेसर्वा हो गए थे। आर्य समाज की स्थापना करते समय स्वामीजी ने अपने सहयोगियों तथा अनुयायियों को चेतावनी दी थी कि भारत में अनेक मतमतांतर होने का कारण यही है कि इनमें गुरु के वचन को सत्य की कसौटी मान लिया गया। इसके परिणामस्वरूप लोग धर्मान्ध हो गए। उनमें कलह उत्पन्न हो गई। सत्यज्ञान का विनाश हो गया और लोग पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होने लगे। भारत की वर्तमान दुर्दशा इसी ढंग से हुई है। मुझे डर है कि यदि सावधानी नहीं बरती गई तो आर्य समाज की भी यही दशा हो सकती है। वह भी एक अन्य संप्रदाय का रूप धारण कर लेगा। भारत में चाहे कितने ही मत-मतांतर रहें, पर यदि वे सब वेदों की सर्वमान्यता स्वीकार कर लेते हैं, तो वे सब छोटी-छोटी नारियों के सदृश वैदिक धर्म के महासमुद्र में मिलकर एक हो जाएंगी और देश में धर्म की एकता स्थापित हो सकेगी। इससे देश की सामाजिक और आर्थिक उन्नति का पथ प्रशस्त होगा। स्वामीजी ने इस बात को कई बार कहा है कि मेरा अपना कोई स्वतंत्र मत नहीं है। मैं तो वेदों के अधीन हूं और उन्हीं की शिक्षाओं का लोगों में प्रचार करता हूं।[6]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब में आर्य समाज की स्थापना

जनवरी, 1877 में लार्ड लिटन के दिल्ली दरबार में भाग लेने के बाद मार्च, 1877 में स्वामीजी ने पंजाब की यात्रा की। स्वामीजी पंजाब में सोलह मास के लगभग रहे। उन्होंने लाहौर, अमृतसर, रावलपिंडी, जालंधर, मुलतान, गुजरात, गुजरांवाला, लुधियाना, जेहलम, गुरुदासपुर, फीरोजपुर और वजीराबाद का दौरा किया तथा वहां आर्य समाजों की स्थापना की। पंजाब में स्वामी दयानंद को जैसी सफलता प्राप्त हुई, वैसी और कहीं नहीं मिली थी।[7]

स्वामीजी ने लाहौर आर्य समाज की स्थापना 24 जून, 1877 को की थी। इस समय उन्होंने आर्य समाज के नए नियम बनाए जिनकी संख्या 10 है। ये नियम आज भी आर्य समाज के मान्य नियम हैं। नियम इस प्रकार हैं :

1. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।
2. ईश्वर सच्चिदानंदस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करने योग्य है।
3. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना, पढ़ना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।
4. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।
5. सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।
6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
7. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।
8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिए। किंतु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
10. सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

लाहौर के लाला मूलराज ने आर्य समाज के इन नियमों के निर्धारण में सक्रिय भाग लिया था। वे लाहौर आर्य समाज के प्रथम निर्वाचित प्रधान भी थे। स्वामीजी ने लाहौर आर्य समाज के सदस्यों को केवल स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करने के लिए प्रेरित किया था।

6 नवंबर, 1877 को लाहौर आर्य समाज की अंतरंग सभा में आर्य समाज के 34 उपनियम स्वीकार किए गए। इन उपनियमों में आर्य समाज का संविधान निहित है। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ने इन नियमों का सारांश प्रस्तुत किया है।[8]

बंबई में आर्य समाज के जो नियम निर्धारित किए गए थे, उनमें समाज के संगठन के विषय में अनेक व्यवस्थाएं सन्निहित थीं। अब उन्हें अलग करके तथा अत्यंत सुस्पष्ट।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप देकर समाज के संविधान या नियमावली का निर्माण किया गया और उन्हें उपनियमों की संज्ञा दी गई। अठारह वर्ष की आयु का कोई भी सदाचारी व्यक्ति जो आर्य समाज के आधारभूत सिद्धांतों में विश्वास रखता हो और अपनी आमदनी का कम-से-कम एक प्रतिशत नियमित रूप से समाज को चंदा प्रदान करे, आर्य सभासद् बन सकता है, यह व्यवस्था की गई। साधारण सभासदों और कर्मठ सभासदों में भी भेद किया गया। समाज के निम्नलिखित पदाधिकारी रखे गए—प्रधान, उपप्रधान, मंत्री, कोषाध्यक्ष और पुस्तकाध्यक्ष। आवश्यकतानुसार उपमंत्री, उपकोषाध्यक्ष तथा उपपुस्तकाध्यक्ष भी नियत किए जा सकें और एक अंतरंग सभा भी हो—यह व्यवस्था भी की गई। इन सबकी नियुक्ति चुनाव द्वारा हो, जिसमें सब आर्य सभासद् वोट दे सकें और चुनाव प्रतिवर्ष हुआ करें यह भी उपनियमों में स्पष्ट कर दिया गया। प्रधान, मंत्री आदि सब पदाधिकारियों के अधिकारों एवं कर्तव्यों का भी उपनियमों में विशद रूप से प्रतिपादन कर दिया गया। साल में एक बार समाज का वार्षिक अधिवेशन अवश्य हुआ करे, जिसमें कि वार्षिक रिपोर्ट पेश की जाया करे, और अंतरंग सभा के सदस्यों तथा पदाधिकारियों का चुनाव हुआ करे। समाज का असाधारण अधिवेशन बुला सकने का अधिकार जहां पदाधिकारियों व अंतरंग सभा के सदस्यों को हो, वहां साथ ही समाज के कुल सदस्यों के दस प्रतिशत सदस्य भी आवश्यकता पड़ने पर विशेष या असाधारण अधिवेशन बुला सकें। वार्षिक अधिवेशन के समय पर ही समाज का वार्षिकोत्सव भी हुआ करे, और इनकी सूचना नियत दिन से एक मास पूर्व अवश्य दे दी जाया करे। अंतरंग सभा को यह अधिकार हो कि विशेष कार्यों के लिए यह उपसमितियों की भी नियुक्ति कर सके। अंतरंग सभा के अधिवेशन एक पक्ष (दो सप्ताह) में एक बार अवश्य हों, पर यदि अंतरंग सभा के पांच सदस्य मंत्री से निवेदन करें, तो अन्य समय पर भी इस सभा की बैठक की जा सके। अंतरंग सभा के प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार हो, कि वह प्रधान की अनुमति से किसी विषय को सभा के विचारार्थ प्रस्तुत कर सके। पर यदि अंतरंग सभा के पांच सदस्य किसी विषय को विचारार्थ प्रस्तुत करना चाहें, तो उस पर अवश्य ही (चाहे उसके लिए प्रधान की अनुमति न भी हो) विचार करना होगा। यद्यपि समाज के पदाधिकारियों का चुनाव प्रतिवर्ष हुआ करे, पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों को दुबारा भी विभिन्न पदों पर निर्वाचित किया जा सके। किसी पदाधिकारी के अनुपस्थित होने की दशा में अंतरंग सभा को यह अधिकार हो कि वह स्थापनापन्न रूप से उसका कार्य करने के लिए किसी अन्य उपयुक्त आर्य सभासद् की नियुक्ति कर सके। यदि समाज के वार्षिक अधिवेशन में किसी पदाधिकारी का चुनाव न होने पाए, तो जब तक नया पदाधिकारी न चुन लिया जाए, पुराना पदाधिकारी ही पद पर कार्य करता रहे। समाज के सब अधिवेशनों का कार्य विवरण नियमित रूप से लेखबद्ध किया जाया करे, और सब आर्य सभासदों को उसका अवलोकन करने का अधिकार हो। अधिवेशनों के लिए सभासदों की कुल संख्या के एक तिहाई की उपस्थिति पर्याप्त समझी जाए, अर्थात् 33 प्रतिशत सदस्यों का कोरम माना जाए। सब निर्णय बहुसम्मति के अनुसार किए जाएं। आर्य समाज के संगठन के संबंध में जो ये व्यवस्थाएं उपनियमों द्वारा की गई हैं, वे सब पूर्णतया लोकतंत्रवाद के अनुरूप हैं। उन्हें पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है, जैसे किसी विधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभा के संविधान एवं कार्यविधि का विवरण हो। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सन् 1877 तक संसार में कहीं भी लोकतंत्रवाद पर आधारित शासन-संस्थाओं का समुचित रूप से विकास नहीं हुआ था। यूरोप तथा अमेरिका के कुछ राज्यों में निर्वाचित राष्ट्रपतियों और विधान मंडलों का प्रारंभ अवश्य हो गया था, पर ये लोकतंत्र संस्थाएं अभी पूर्णतया बद्धमूल नहीं हुई थीं। भारत में तो उस समय न कोई केंद्रीय विधान सभा थी, और न प्रादेशिक। स्थानीय स्वशासन में कुछ लोकतंत्र तत्त्वों का समावेश अवश्य हुआ था, पर वह अत्यंत प्रारंभिक दशा में था। जहां तक धार्मिक संगठनों का संबंध है, वे प्रायः गुरुडम पर ही आधारित थे। ऐसी दशा में पूर्णतया लोकतंत्रवाद के अनुसार आर्य समाज के संगठन की व्यवस्था कर स्वामी दयानंद सरस्वती ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण, मौलिक एवं प्रगतिशील पग उठाया था।

स्वामीजी चाहते थे, कि आर्य समाज के सदस्यों में परस्पर भाईचारा रहे और वे अपने को एक बिरादरी का अंग समझें। इस प्रयोजन से उपनियमों में जो व्यवस्थाएं की गई थीं, वे अत्यंत महत्त्व की हैं। "समाज के सब सभासदों का यह सर्वोपरि कर्तव्य है कि जब किसी के यहां कोई शोक या विपत्ति की बात हो, तो सब उसके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करें। पर यदि कोई खुशी का या शुभ अवसर हो, तो उसमें तभी सम्मिलित हों, जबकि उन्हें निमंत्रित किया जाए। बड़ा और छोटा होने की भावना से सब बच कर रहें।" (उपनियम 30) "यदि किसी सभासद् के माता-पिता की मृत्यु हो जाए, कोई स्त्री विधवा हो जाए या बच्चे अनाथ हो जाएं और उनके पालन-पोषण का कोई साधन न हो, तो आर्य समाज को चाहिए कि इस मामले की भली-भांति जांच कर उनके पालन-पोषण की यथाशक्ति व्यवस्था करे।" (उपनियम 31) "आर्य सभासदों को चाहिए कि परस्पर प्रीतिपूर्वक बरताव करें और एक-दूसरे का यथोचित सम्मान करें। पक्षपात, ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध का परित्याग कर उन्हें समाज के हित के लिए प्रयत्न करना चाहिए।" (उपनियम 33) इसमें संदेह नहीं, कि इन उपनियमों का पालन करने से आर्य समाज के सदस्यों में इस प्रकार की एकता की भावना विकसित हो सकती है, जिससे कि उसका रूप एक बिरादरी का हो जाए।

अठाइसवें उपनियम में कहा गया है कि "समाज के सब आर्य सभासदों को संस्कृत या आर्य भाषा आनी चाहिए।" आर्य भाषा से हिंदी अभिप्रेत है। देश की एकता तथा आर्यों में बंधुत्व के विकास के लिए स्वामीजी यह आवश्यक समझते थे कि कोई एक ऐसी भाषा अवश्य होनी चाहिए, जिसका सबको परिज्ञान हो। यह आर्य भाषा या हिंदी ही हो सकती थी। वेदशास्त्रों के पढ़ने, पढ़ाने के लिए संस्कृति भाषा को सीखना आवश्यक है। इसीलिए संस्कृत और हिंदी के संबंध में यह उपनियम बनाया गया था।

आर्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशन के कार्यक्रम के संबंध में भी उपनियमों में स्पष्ट विधान है। "सप्ताह में एक बार आर्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशन हुआ करेंगे, जिनमें वेद मंत्रों से प्रार्थना एवं हवन किए जाया करेंगे। और वेद मंत्रों के आधार पर एवं उनकी व्याख्या के साथ भौतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विषयों पर व्याख्यान दिए जाएंगे। व्याख्यान के पहले और पश्चात् सामवेदीय पद्धति से और जब कभी संभव हो, वाद्य उपकरणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ ईश्वर की स्तुति में भजन गाए जाएं। इस अवसर पर सभासदों को जो सूचनाएं देनी आवश्यक हों, वे भी दे दी जाया करें।'' (उपनियम 4) आर्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में अब भी प्रायः इसी कार्यक्रम का अनुसरण किया जाता है। इसका निर्धारण स्वामीजी ने सन् 1877 में ही करा दिया था।

वेदों के संबंध में आर्य समाज का जो मंतव्य दस नियमों में प्रतिपादित है, प्रथम उपनियमों में उसे अधिक स्पष्ट कर दिया गया है—''ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार वैदिक संहिताओं के विषय में आर्य समाज की यह मान्यता है कि मनुष्य की इहलौकिक तथा पारलौकिक उन्नति के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, उस सबके संबंध में वे मुख्य व स्वतः प्रमाण हैं। ब्राह्मण, षड्दर्शन, वेदों की व्याख्या रूप 1127 शाखाएं, अष्टाध्यायी और महाभाष्य तथा दस उपनिषद् (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, एतरेय, तैत्तिरीय, छांदोग्य और बृहदारण्यक) वेदों के अभिप्राय को स्पष्ट करने में सहायक रूप से मान्य है। जहां तक ये वेदानुकूल हों, उन्हें भी गौण प्रमाण माना जाएगा।''

सभासदों का अपने समाज के प्रति क्या कर्तव्य है, चौंतीसवें उपनियम में इसे इस प्रकार प्रकट किया गया है—''समाज के प्रत्येक सभासद् से यह अपेक्षा की जाती है, कि (आवश्यकता पड़ने पर अपनी सब संपत्ति तथा जीवन को दांव पर लगा कर भी) आर्य समाज तथा उससे जो कुछ भी संबद्ध हो, उन सब के अधिकारों की रक्षा करने, उनकी स्थिति को ऊंचा उठाने और उनके प्रभाव का विस्तार करने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा दे।'' स्वामीजी ने आर्य समाज की स्थापना महान् उद्देश्यों को सम्मुख रख कर की थी। संपूर्ण मानव समाज तथा संसार का हित साधन करना उसका मुख्य लक्ष्य था। इन उद्देश्यों की पूर्ति तभी की जा सकती थी, जब प्रत्येक आर्य सभासद् समाज के लिए अपना तन, मन, धन अर्पण करने को उद्यत हो। उन्हें इसी कर्तव्य का बोध कराने के लिए चौंतीसवां उपनियम बनाया गया था।

नवंबर, 1877 में लाहौर में आर्यसमाज के जो उपनियम बनाए गए थे, बाद में उनमें कुछ संशोधन किए गए। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उपनियमों का संबंध मुख्यतया समाज के संगठन और कार्यविधि आदि के साथ है। देश और समय की परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन किए ही जाने चाहिए। दस नियम आर्य समाज के आधारभूत सिद्धांत हैं, वे अपरिवर्तनीय हैं, पर उपनियम उनसे भिन्न हैं।

उत्तर प्रदेश में आर्य समाजों की स्थापना

पंजाब में 16 मास बिताने तथा अनेक नगरों में आर्य समाज की स्थापना करने के बाद जुलाई, 1878 के मध्य में स्वामी दयानंद उत्तर प्रदेश आ गए। स्वामीजी ने आगे के ढाई साल उत्तर प्रदेश में व्यतीत किए और इस अवधि में रुड़की, मेरठ, दिल्ली, देहरादून, मुरादाबाद, बदायूं, शाहजहांपुर, फर्रुखाबाद, कानपुर, दानापुर, लखनऊ, मैनपुरी और आगरा आदि नगरों में आर्य समाज की स्थापना हुई।[9]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजस्थान में आर्य समाज

स्वामीजी ने अपने जीवन के अंतिम दिन राजस्थान में व्यतीत किए थे। उन्होंने जयपुर, अजमेर और ब्यावर आदि नगरों में आर्य समाज की स्थापना की।[10]

स्वामी दयानंद ने 1875 से 1883 तक के आठ वर्ष के समय में 85 नगरों में आर्य समाज की स्थापना की थी। 1885 तक आर्य समाज की संख्या 200 तक पहुंच गई थी। वर्तमान समय में तो आर्य समाज केवल भारत के प्रमुख नगरों में ही नहीं संसार के अन्य अनेक देशों में भी विद्यमान हैं। आर्य समाज का यह व्यापक संगठन बहुत कुछ स्वामी दयानंद के कर्तृत्व की देन है।

थियोसोफी से संपर्क[11]

फरवरी, 1879 में थियोसोफी के दो नेता कर्नल आल्काट और मैडम बलैवेत्स्की भारत आए। वे थियोसोफिकल सोसायटी को आर्य समाज में मिलाना चाहते थे। स्वामी दयानंद से उनका पत्र-व्यवहार हुआ था। मई, 1878 में स्वामीजी की थियोसोफी के नेताओं से सहारनपुर में भेंट हुई। स्वामीजी उनके शुद्ध आचरण से प्रभावित हुए। मेरठ और सहारनपुर में आर्य समाज के तत्त्वावधान में इन नेताओं के अनेक व्याख्यान आयोजित किए गए।

कर्नल आल्काट तथा मैडम ब्लैवेत्स्की के समय स्वामी दयानंद की दूसरी बार भेंट वाराणसी में 15 दिसंबर, 1879 को हुई। थियोसोफिकल सोसायटी में वेदों को मानने वाले सदस्यों का सामूहिक रूप से थियोसोफिकल सोसायटी की वैदिकी शाखा कहते थे। स्वामीजी को यह स्वीकार्य था कि यह वैदिकी शाखा आर्य समाज की भी शाखा मानी जाए और थियोसोफिकल सोसायटी की भी।

थियोसोफिकल के सदस्य प्रधानतया जादू-टोनों और यौगिक चमत्कारों की ओर आकृष्ट होते थे। स्वामी दयानंद का इन पर विश्वास नहीं था। इसके अतिरिक्त थियोसोफिकल नेताओं ने सितंबर, 1880 में मेरठ में स्वामीजी से यह भी कहा कि उनका ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं है। स्वामीजी ने थियोसोफिकल नेताओं के सामने प्रस्ताव रखा कि ईश्वर की सत्ता विषय पर विचार-विमर्श कर लिया जाए। थियोसोफिकल नेता इसके लिए तैयार नहीं हुए। इस पर स्वामीजी ने घोषणा कर दी कि अब उनका थियोसोफिकल सोसायटी से कोई संबंध नहीं रह गया है। स्वामी दयानंद और मैडम ब्लैवेत्स्की के बीच कुछ और भी पत्र-व्यवहार हुआ लेकिन उनके मतभेदों का निराकरण न हो सका तथा 28 मार्च, 1882 के दिन आर्यसमाज तथा थियोसोफिकल सोसायटी का स्थायी रूप से संबंध-विच्छेद हो गया।

सन् 1883 तक स्थापित आर्य समाज

परोपकारिणी सभा, अजमेर के रिकार्ड के अनुसार सन् 1883 तक स्थापित आर्य समाजों की सूची इस प्रकार है।[12]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन् 1883 तक स्थापित आर्य समाज की सूची
(परोपकारिणी सभा अजमेर के रिकार्ड से)

पंजाब

1. लाहौर
2. अमृतसर
3. मुलतान
4. लुधियाना
5. गुजरात
6. रोहतक
7. फीरोजपुर
8. गुजरांवाला
9. आदमवाहन
10. गुरदासपुर
11. रावलपिंडी
12. पेशावर
13. करनाल
14. चांदियाना
15. कसौली, आदि-आदि

राजपूताना

1. जयपुर
2. अजमेर
3. रामगढ़
4. पावटा
5. शाहपुरा
6. चूरू, आदि-आदि।

बंबई

1. बंबई
2. पूना
3. सूरत
4. खरसाज
5. बटा
6. खलकिच
7. दादरा
8. डूगरा
9. स्याम, आदि-आदि।

सिंध

1. सक्खर, आदि-आदि

पश्चिमोत्तर देश

1. सहारनपुर
2. इलाहाबाद
3. जबलपुर
4. मेरठ
5. लखनऊ
6. मुरार

25. चंदौली
26. इटर्रा
27. पचरांव
28. बदायूं
29. बनारस
30. भोलेपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. दानापुर
8. फर्रूखाबाद
9. बरेली
10. देहरादून
11. शिमला
12. मुरादाबाद
13. कानपुर
14. पुराना कानपुर
15. शाहजहांपुर
16. मथुरा
17. मिर्जापुर
18. सिकंदराबाद
19. रुड़की
20. आगरा
21. मैनपुरी
22. बिलासपुर
23. चुनार
24. गाजीपुर
31. हरदोई
32. जलालाबाद
33. चांदोस
34. शिकारपुर
35. आजमगढ़
36. सीतापुर (अवध)
37. नगलिया उदयभान
38. कायमगंज
39. गोरखपुर
40. हजारीबाग (बंगाल)
41. पीलीभीत
42. पचम्भा
43. बिजनौर
44. मुहशमपुर
45. नगला शरकी (जिला बदायूं)
46. सिखड
47. मुहम्मदपुर
48. कर्णवास, आदि-आदि।

उन अन्य आर्यसमाज की सूची, जो सन् 1883 तक स्थापित हो गए थे, पर जिनका उल्लेख ऊपर दीं गई सूची में नहीं है—

1. मंझना
2. शमसाबांद
3. फतेहगढ़
4. कालका
5. नजीबाबाद
6. भारोल
7. पानीपत
8. रिवाड़ी
9. नगीना
10. मोहम्मदपुर-देवमल

नोट—परोपकारिणी सभा से प्राप्त सूची में कितने ही स्थान स्पष्ट नहीं हैं, और कुछ स्थानों का उल्लेख अन्य प्रदेशों में कर दिया गया है, यथा शिकारपुर का पश्चिमोत्तर प्रदेश (उत्तर प्रदेश)।

आर्य समाज का संगठन

आर्य समाज किसी वर्ग विशेष का संगठन नहीं है। ऐसे सभी स्त्री और पुरुष आर्य समाज के सदस्य बन सकते हैं जो आर्य समाज के दस नियमों को स्वीकार करें तथा स्वामी दयानंद द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के सिद्धांतों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करें। आर्य समाज में सब सदस्यों की स्थिति एक ही मानी जाती है। पदाधिकारियों का चुनाव वोटों के आधार पर होता है। आर्य समाज में पुरोहित, उपदेशक और प्रचारक का कार्य ऐसे किसी भी व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा किया जा सकता है जिसमें ऐसा कार्य करने की योग्यता हो। शूद्र तथा हरिजन भी उचित शिक्षा प्राप्त कर पुरोहित का कार्य कर सकते हैं।

आर्य समाज की प्रगति

गत 120 वर्षों में भारत ने सामाजिक क्षेत्र में जो प्रगति की है, उसका कुछ श्रेय आर्य समाज को भी है। आर्य समाज का कार्यक्षेत्र किसी एक जाति, वर्ग या प्रदेश तक सीमित नहीं रहा है। उसका कार्यक्षेत्र विदेशों में भी विस्तृत है। मारीशस, फीजी, सुरीनाम, त्रिनिदाद, केनिया, दक्षिणी अफ्रीका, थाईलैंड, सिंगापुर, बर्मा, हालैंड, ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, गुयाना, अमरीका, तंजानिया आदि देशों में आर्य समाज की स्थापना हुई है। इस समय कुल आर्य समाजों की संख्या साढ़े पांच हजार है। आर्य समाज दो हजार से अधिक शिक्षण संस्थाओं का संचालन कर रहा है।

केंद्रीय संगठन

अप्रैल, 1875 में बंबई में आर्य समाज की स्थापना के समय जो 28 नियम स्वीकार किए गए थे, उनमें तीसरा नियम एक केंद्रीय आर्य समाज की स्थापना से संबंधित था। नियम में कहा गया था : "इस समाज में देश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा-प्रशाखा होंगे।" इस नियम से यह स्पष्ट है कि स्वामी दयानंद आर्य समाज का एक केंद्रीय संगठन खड़ा करना चाहते थे। उनके विचार से विविध नगरों तथा ग्रामों के आर्य समाजों की स्थिति एक केंद्रीय समाज की शाखाओं-प्रशाखाओं की होनी चाहिए। स्वामीजी के देहावसान के पश्चात् उनके अनुयायियों ने इस विचार को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया। 1885 में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई। इस सभा के प्रथम प्रधान लाला साईंदास थे जो जून 1890 में अपने देहावसान के समय तक प्रधान बने रहे।

पंजाब आर्य समाजों में दलबंदी

स्वामी दयानंद की मृत्यु के कुछ वर्षों बाद ही पंजाब के आर्य समाजों में दलबंदी आरंभ हो गई। इस दलबंदी के दो मुद्दे थे। पहला मुद्दा यह था कि डी. ए. वी. स्कूल तथा कालेज में संस्कृत तथा वेद-वेदांगों की पढ़ाई को कितना स्थान दिया जाए। एक वर्ग डी. ए. वी. शिक्षण संस्थाओं में संस्कृत तथा वैदिक धर्म की शिक्षाओं को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की तुलना में अधिक महत्त्व देता था। पंडित गुरुदत्त इस वर्ग के प्रधान नेता थे। दूसरे वर्ग के नेता लाला हंसराज तथा लाला लाजपत राय थे। वे डी. ए. वी. संस्थाओं में वेदशास्त्रों की शिक्षा की तुलना में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को अधिक महत्त्व देते थे। पंडित गुरुदत्त के अनुयायियों, विशेष कर स्वामी श्रद्धानंद ने आगे चलकर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य स्वामी दयानंद द्वारा निर्धारित शिक्षा-पद्धति को मूर्त रूप देना था। गुरुकुल कांगड़ी की पाठविधि में वेदशास्त्रों के अध्ययन को प्रधान स्थान दिया गया था।

पंजाब के आर्य समाजियों में मांसाहार के प्रश्न पर भी मतभेद उभर कर सामने आए। सत्यार्थ प्रकाश वेदभाष्य तथा अपने पत्रों और व्याख्यानों में स्वामी दयानंद ने मांसाहार का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध किया था। आर्यसमाज के अनेक अनुयायियों ने मांसभक्षण के विरोध में लेख और पुस्तकें प्रकाशित की थीं।

शुरू में आर्य समाज के ऐसे अनेक सदस्य बने थे जो मांसभक्षक थे। बाबू मूलराज मांसाहारी थे पर स्वामी दयानंद ने उन्हें परोपकारिणी सभा का उपप्रधान बनाया था। पंजाब के अनेक आर्य समाजों ने इस आशय के प्रस्ताव पास किए कि केवल निरामिषभोजी ही समाज के सदस्य बन सकते हैं। मांसभक्षण के प्रश्न पर आधारित मतभेदों का परिणाम यह हुआ कि लाहौर आर्य समाज दो गुटों में बंट गया। एक गुट मांस विरोधियों के नियंत्रण में रहा और दूसरा मांस-समर्थकों के। मांस पार्टी का डी. ए. वी. कालेज सोसायटी पर प्रभुत्व स्थापित हो गया और आर्य प्रतिनिधि सभा पर मांसविरोधी पार्टी का।

पंजाब आर्य समाज के इतिहास में 1883 से 1890 तक के काल को 'गुरुदत्त काल' कहा गया है। इस काल में गुरुदत्त पंजाब के प्रमुख आर्य नेता थे और डी. ए. वी. कालेज की स्थापना तथा विकास में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योग दिया था। 1890 में उनका देहांत हो गया। 1890 से 1897 तक के काल को 'लेखराम काल' नाम दिया गया है। इस काल में पंडित लेखराम आर्य समाज के प्रमुख नेता थे और उन्होंने अपने प्रचार कार्य द्वारा आर्य समाज में नई जीवन-शक्ति का संचार किया था। 6 मार्च, 1897 को एक धर्मांध मुलसमान ने पंडित लेखराम की हत्या कर दी।

गुरुदत्त और लेखराम के अतिरिक्त जिन अन्य लोगों ने पंजाब में आर्य समाज का प्रचार किया, उनमें पंडित कृपाराम (बाद में स्वामी दर्शनानंद सरस्वती), पंडित गणपति शर्मा, स्वामी नित्यानंद, स्वामी विश्वेश्वरानंद, मास्टर आत्माराम अमृतसरी, पंडित पूर्णानंद, पंडित दौलतराम, लाला मुंशीराम और लाला लाजपतराय के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आंदोलन तथा कार्यकलाप

स्वामी दयानंद ने अपने विचारों तथा आंदोलन द्वारा किसी नए धर्म, संप्रदाय, मत अथवा पंथ का सूत्रपात नहीं किया। उनकी राय सिर्फ यह थी कि उन्नीसवीं सदी में हिंदू धर्म में जो अनेक विकृतियां आ गई थीं, उनका परिष्कार किया जाए और समाज वेदविहित सिद्धांतों के अनुसार चले। आर्यसमाज ने होली आदि त्यौहारों को शिष्ट ढंग से मानना शुरू किया, नामकरण, उपनयन, विवाह तथा अंत्येष्टि आदि संस्कारों को स्वामीजी द्वारा लिखित **संस्कार विधि** के अनुसार आयोजित करना शुरू किया, विधवा-विवाहों का समर्थन किया और जन्म पर आधारित जाति-प्रथा की निंदा की। आर्य समाज के सुधारात्मक कार्यक्रम पौराणिकों के विरुद्ध थे। इसलिए आर्य समाजियों के पौराणिकों से मतभेद बढ़ते गए। आर्य समाज के तथा सनातन धर्म के विद्वानों के बीच मूर्तिपूजा, मृतक श्राद्ध, अवतारवाद, वर्णव्यवस्था जैसे विषयों पर शास्त्रार्थ होते रहते थे। आर्य समाजियों को सनातनी विद्वानों के अलावा देव समाज, ब्रह्म समाज, सिखों, मुसलमानों तथा ईसाई मिशनरियों के विरोध का भी सामना करना पड़ा।

आर्य समाज के इतिहास में 1939 में आयोजित हैदराबाद सत्याग्रह की घटना उल्लेखनीय है। हैदराबाद के निजाम ने आर्य समाज की शक्ति को कुचलने के लिए उस पर अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबंध लगा दिए थे। आर्य समाज ने इन प्रतिबंधों के विरुद्ध सत्याग्रह किया और सफलता प्राप्त की।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा आर्य समाज का सार्वभौम सर्वोच्च संगठन है। इसकी स्थापना 1909 में हुई थी। सार्वदेशिक सभा के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

1. वैदिक धर्म के योग्य उपदेशक बनाने के लिए एक महाविद्यालय स्थापित करना।
2. आर्यावर्त तथा अन्य देश-देशांतरों में आवश्यकतानुसार वैदिक धर्म के प्रचार का प्रबंध करना।
3. प्रांतिक आर्य प्रतिनिधि सभाओं के पुरुषार्थ को संयुक्त करना तथा उनके पारस्परिक विवादों को सुलझाना।
4. ऋषि दयानंदकृत ग्रंथों की वास्तविक लिपि के अनुसार उनकी रक्षा करना तथा इस बात पर दृष्टि रखना कि उनमें किसी प्रक्षिप्त अंश का समावेश न हो।
5. धर्म संबंधी पुस्तकों का एक बृहत् पुस्तकालय स्थापित करना।
6. वैदिक धर्म की उन्नति तथा वृद्धि के उपाय करना।

सार्वदेशिक सभा के प्रकाशन विभाग ने स्वामी दयानंद तथा आर्य समाज के संबंध में अनेक प्रामाणिक पुस्तकों का प्रकाशन किया है।

अपने जन्मकाल से ही आर्य समाज समाज-सुधार, शिक्षा-प्रसार, धार्मिक पुनर्जागरण तथा स्वतंत्रता-संग्राम में अग्रणी रहा है। स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान आर्य समाज ने कांग्रेस आंदोलन को सशक्त करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। भारत के अंग्रेज शासक आर्य समाज को संदेह को दृष्टि से देखते थे। वे स्वामी दयानंद को एक उग्र राष्ट्रवादी मानते थे और आर्य समाज को एक उग्रवादी संस्था। आर्य समाज के एक प्रमुख नेता लाला लाजपतराय को सरकार ने देशनिकाला दिया तथा भाई परमानंद तथा अन्य कई लोगों को गिरफ्तार किया। स्वामी श्रद्धानंद ने कांग्रेस आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई थी और 1919 के सत्याग्रह आंदोलन में एक जुलूस का नेतृत्व करते हुए दिल्ली के चांदनी चौक में पुलिस की संगीनों के सामने अपना सीना तान दिया था और कहा था कि "निहत्थे लोगों पर वार करने से पहले मेरी छाती पर संगीन चलाओ।" इसी आंदोलन के दौरान स्वामी श्रद्धानंद ने जामा मस्जिद की पवित्र वेदी से हिंदुओं तथा मुलसमानों दोनों को संबोधित किया था। इन्हीं स्वामी श्रद्धानंद को 26 दिसंबर, 1926 को अब्दुल रशीद नामक एक धर्मांध मुसलमान ने अपने तमंचे की तीन गोलियों से हमेशा के लिए सुला दिया।

महात्मा गांधी ने आर्य समाज के सामाजिक कार्यक्रम को प्रायः पूरी तरह अपना लिया था। स्वतंत्रता के बाद यह कार्यक्रम राष्ट्रीय कार्यक्रम का अभिन्न भाग हो गया है। अब बाल-विवाह कानून द्वारा वर्जित है। विधवा विवाहों पर भी किसी को आपत्ति नहीं है। अस्पृश्यता का भारतीय संविधान ने ही अंत कर दिया है। स्त्रियों की दशा सुधारने के निरंतर प्रयत्न हो रहे हैं। लेकिन स्वामी दयानंद जिस एक वैदिक मत की स्थापना करना चाहते थे, भारतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज उसके लिए तैयार नहीं है। भारत में अनेक मत-मतांतर हैं तथा भारतीय संविधान ने सभी को फलने-फूलने की छूट दी है। भारत सामासिक संस्कृति का देश है।

सारांश

स्वामी दयानंद ने 1872-73 में चार मास के लिए भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता की यात्रा की थी। वहां उनका केशवचंद्र सेन तथा देवेन्द्रनाथ ठाकुर जैसे ब्राह्म नेताओं से संपर्क हुआ और उन्होंने ब्रह्म समाज के संगठन तथा कार्यविधि का अध्ययन किया। ब्रह्म समाज के अनुकरण पर ही आर्य समाज की स्थापना का विचार स्वामी दयानदं के मन में उदित हुआ था।

स्वामी दयानंद ने ब्रह्मसमाज के नेताओं से सार्वजनिक भाषण-प्रणाली तथा प्रचार के आधुनिक तौर-तरीकों का महत्त्व भी समझा।

स्वामी दयानंद ने 1875 के आरंभ में राजकोट में और फिर 10 अप्रैल, 1875 को बंबई में आर्य समाज की स्थापना की। राजकोट आर्य समाज कुछ महीनों बाद ही बंद हो गया। 10 अप्रैल, 1875 को ही आर्य समाज का स्थापना-दिवस माना जाता है। बंबई आर्य समाज ने 28 नियमों को स्वीकार किया था। ये नियम लोकतंत्र के सिद्धांत पर आधारित थे। स्वामीजी का बार-बार कहना था कि उनका अपना कोई स्वतंत्र मत नहीं है और वे वेदों की शिक्षाओं का ही प्रचार करना चाहते हैं।

मार्च, 1877 में स्वामीजी पंजाब गए और वहां 18 मास रहे। उन्हें पंजाब में विशेष सफलता मिली। उन्होंने पंजाब के कई प्रमुख नगरों में आर्य समाजों की स्थापना की। स्वामीजी ने लाहौर आर्य समाज के 10 नियम बनाए। ये नियम आज भी आर्य समाज के मान्य नियम हैं।

6 नवंबर, 1877 को लाहौर आर्य समाज ने 34 उपनियम स्वीकार किए। इन उपनियमों में आर्य समाज का संविधान निहित है।

जुलाई, 1878 के मध्य में स्वामीजी उत्तर प्रदेश आ गए। आगे के ढाई साल उन्होंने उत्तर प्रदेश में व्यतीत किए। इस अवधि में उन्होंने उत्तर प्रदेश के कई प्रमुख नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना की।

स्वामीजी ने अपने जीवन के अंतिम दिन राजस्थान में व्यतीत किए और जयपुर तथा अजमेर जैसे बड़े नगरों में आर्य समाजों की नींव डाली।

स्वामी दयानंद ने 1875 से 1883 तक के आठ वर्ष के समय में 85 नगरों में आर्य समाज की स्थापना की थी। 1885 तक यह संख्या 200 हो गई।

1879 में स्वामी दयानंद का थियोसोफिकल सोसायटी के दो नेताओं कर्नल आल्काट तथा मैडम ब्लैवेत्स्की से संपर्क हुआ। थियोसोफिस्ट नेता चाहते थे कि उनकी संस्था आर्य समाज का अंग बन कर काम करे। लेकिन इन नेताओं का ईश्वर की सत्ता पर विश्वास नहीं था। इसलिए स्वामी दयानंद ने थियोसोफिकल सोसायटी से संबंध-विच्छेद कर लिया।

आर्य समाज किसी वर्ग-विशेष का संगठन नहीं है। जो लोग आर्य समाज के दस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियमों को तथा स्वामी दयानंद द्वारा प्रतिपादित विचारधारा को स्वीकार करें, वे आर्य समाज के सदस्य बन सकते हैं।

आर्य समाज ने गत 120 वर्षों में भारत की सामाजिक प्रगति में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। आज उसका कार्यक्षेत्र विदेशों में भी विस्तृत है। विभिन्न प्रांतों में प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि संभाएं हैं। आर्य समाज का केंद्रीय संगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा है।

स्वामी दयानंद की मृत्यु के बाद आर्य समाज दो गुटों में बंट गया। एक गुट वैदिक शिक्षा के साथ ही पाश्चात्य शिक्षा का भी प्रबल समर्थक था। लाला हंसराज और लाला लाजपत राय इस गुट के नेता थे। इस गुट ने लाहौर में डी. ए. वी. कालेज की स्थापना की। दूसरा गुट गुरुकुल प्रणाली के अनुसार शिक्षा देना चाहता था। गुरुदत्त विद्यार्थी तथा स्वामी श्रद्धानंद ने इस गुट का नेतृत्व किया। 1902 में स्वामी श्रद्धानंद ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की।

पंजाब के आर्य समाजियों में मांसाहार के प्रश्न पर भी मतभेद उभर कर सामने आए।

आर्य समाज को अपने इतिहास में पौराणिक हिंदुओं के साथ ही ईसाई और मुसलमानों से भी टक्कर लेनी पड़ी। कट्टरपंथी मुसलमानों ने आर्य समाज के दो प्रमुख नेताओं पंडित लेखराम तथा स्वामी श्रद्धानंद की हत्या कर दी।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. डॉ. भवानीलाल भारतीय, *नवजागरण के पुरोधा दयानंद सरस्वती,* अजमेर 1983, पृ. 189।
2. *उपर्युक्त,* पृ. 233-234।
3. *उपर्युक्त,* पृ. 245।
4. आर्य समाज बंबई के इन प्रारंभिक सदस्यों की सूची आर्य समाज बंबई द्वारा प्रकाशित एक छोटी-सी पुस्तक *श्री आर्यसमाज ना नियमों* में दी गई है। *उपर्युक्त,* पृ. 266, पाद टिप्पणी 10।
5. *उपर्युक्त,* पृ. 246।
6. *उपर्युक्त,* पृ. 244।
7. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, *आर्य समाज का इतिहास,* प्रथम भाग, दिल्ली, 1982, पृ. 595-598।
8. *उपर्युक्त,* पृ. 304-306।
9. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, *उपर्युक्त,* पृ. 459-592।
10. *उपर्युक्त,* पृ. 593-595।
11. आर्य समाज तथा थियोसोफिकल सोसायटी के संबंधों के इतिहास के बारे में देखिए, डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, *आर्य समाज का इतिहास,* प्रथम भाग, पृ 346-376।
12. *उपर्युक्त,* पृ. 603-604।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 24

स्वामी दयानंद : इतिहास का निर्णय

आल्काट, कर्नल एच. एस.

वह अदम्य, कर्मठ सुधारक

"भारत से एक महानात्मा चली गई है। पंडित दयानंद सरस्वती नहीं रहे। वह अदम्य, कर्मठ सुधारक, जिसकी ओजस्वी वाणी और भावप्रवण वक्तृता ने पिछले कुछ वर्षों के दौरान हजारों लोगों को आलस्य और उदासीनता की नींद से जगा कर सक्रिय देशभक्त बना दिया था, अब नहीं रहा। आर्यों के पुनरुत्थान के लिए जीवनपर्यंत किया गया उनका कार्य ही अब हमें याद रखना है। अपने पूर्वजों के गौरवशाली दर्शन के प्रति उनका उत्कट प्रेम, सामाजिक और धार्मिक सुधार के लिए उनका अनथक, अनवरत कार्य हमें सदा याद रहेगा। उनकी मृत्यु से भारत ने अपना एक महान पुत्र खो दिया है। वह सच्चे देशभक्त थे और अपने जीवन के आरंभिक काल से ही उन्होंने भारतीय बौद्धिक प्रतिभा द्वारा रचे गए साहित्य के अमूल्य खजानें को फिर से ढूंढने के लिए कठिन परिश्रम किया। अपनी मातृभूमि के पुनरुत्थान के लिए उनका उत्साह और उनकी ज्ञान विदग्धता दोनों ही अप्रतिम थे। उन्होंने हिन्दुत्व के अवरुद्ध और सड़ांध भरे सरोवर में मानो बम विस्फोट-सा कर दिया था, और उनकी अनोखी वाक्शक्ति के दायरे में जो भी आत्मा आई उसके अंदर उन्होंने ऋषियों की शिक्षाओं और वैदिक ज्ञान के प्रति प्रेम की ज्वाला प्रज्वलित कर दी। निश्चय ही हिंदी या संस्कृत में दयानंद जैसा वक्ता समस्त भारत में कोई दूसरा नहीं था।"

इंडियन क्रांनिकल, कलकत्ता

स्वामी जी के उद्योग का मुख्य हेतु

"संस्कृत का पूरा मर्मज्ञ होना, आर्यों के धर्मग्रंथों की पारंगतता, मनोहर वाक्चातुर्य उत्तम आदरातिथ्य इत्यादि जो-जो गुण उत्कृष्ट धर्मोपदेशकों में चाहिए वे सब स्वामी दयानंद जी में निवास पा रहे थे। उन्होंने धर्म का सुधार करने की दृष्टि से जहां-तहां आर्य समाज स्थापित किए हैं। कोई भूल से भी यह न समझे कि ये समाज थोड़े ही दिन टिकेंगे। आगे हिंदुस्तान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में किस प्रकार का धर्म चलता होगा इसका निर्णय करते समय कोई स्वामीजी को नहीं भूलेगा। हिंदू धर्म में फिर से पहले जैसी शुद्धता लाकर उसमें आधे से ऊपरी परम आधुनिक पाखंड मतों को निकाल बाहर कर देना मात्र स्वामीजी के उद्योग का मुख्य हेतु था।''

इंडियन स्पीकर, बंबई, 18 नवंबर, 1883

आर्यावर्त के स्तंभ

''हम स्वामी दयानंद को आर्यावर्त का एक स्तंभ मानते हैं। सहजानंद या स्वामी नारायण के अनंतर गुजरात देश ने स्वामी दयानंद जैसा प्रबल सुधारक उत्पन्न नहीं किया। स्वाभाविक बौद्धिक शक्ति, उपलब्धियों और प्रभाव की दृष्टि से स्वामी दयानंद सहजानंद स्वामी से कहीं बढ़कर थे। जो लोग उन्हें यशस्वी शंकराचार्य के समकक्ष रखते हैं, वे कोई ज्यादती नहीं करते। उनमें असाधारण प्रतिभा थी। वे आजीवन अपने ध्येय की पूर्ति में लगे रहे। उनकी खंडन-मंडन शक्ति अत्यंत प्रबल थी। उन्होंने अपनी इसी शक्ति से मूर्तिपूजा का विरोध किया।''

एंड्रयूज, सी. एफ.

महान स्वामी की महान आत्मा

''हम आज जिस युग में रहते हैं स्वामी दयानंद उससे कहीं ऊंचे थे। उनकी आध्यात्मिक ईमानदारी, उनके साहसिक चरित्र, उनके सादे जीवन, उनके उच्च आदर्शों में लोग वैदिक काल को मूर्तिमंत हुआ देख सकते थे। इस महान स्वामी की महान आत्मा का प्रकाश इतना चुंबकीय था, प्राणवान था, उसमें इतनी प्रखर ईमानदारी और वीरता थी कि उनके मरने के बाद लोगों ने उससे प्रेरित होकर उनके संदेश को आगे बढ़ाया।''

महान् वैदिक संस्कृति

दयानंद ने अपनी युवावस्था से ही न केवल उस महान वैदिक संस्कृति का अध्ययन किया था जिसके बल पर भारत आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव के चरम शिखर पर पहुंचा था, बल्कि उसे अपने जीवन में स्वयं जिया था।''

कुल्यार, शिवनंदन प्रसाद

पश्चिम से कोई प्रेरणा नहीं

''इस सुधारक तथा राष्ट्रनिर्माता के संबंध में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात यही है कि यह व्यक्ति आर्यों की प्राचीन विधा एवं संस्कृति की ही उपज है।'''उसने पश्चिम से कोई प्रेरणा ग्रहण नहीं की। उसका यूरोप की सभ्यता, संस्कृति तथा उपलब्धियों से कोई परिचय नहीं था।''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किरोल, वैलेन्टाइन

हिंदुओं की कट्टरता के विरुद्ध विद्रोह

''आर्य समाज एक अर्थ में हिंदुओं की कट्टरता के विरुद्ध विद्रोह था, लेकिन दूसरी ओर वह पाश्चात्य आदर्शों के विरुद्ध भी विद्रोह का प्रतीक था, क्योंकि अपने संस्थापक की शिक्षाओं में आर्य समाज को एक आक्रामक संदेश भी मिला है, जो हिंदुओं की श्रेष्ठता मानवीय और दैवी ज्ञान के अंतिम स्रोत वेदों पर उनके एकाधिकार पर आधारित है।''

खां, सर सैयद अहमद

सौम्य और आध्यात्मिक प्रवृत्ति

''स्वामी दयानंद सरस्वती संस्कृत के प्रकांड विद्वान और वेदों के मर्मज्ञ अध्येता थे। एक प्रबुद्ध विद्वान होने के साथ ही वह अत्यंत सौम्य और आध्यात्मिक प्रकृति के मनुष्य थे। उनके शिष्य उन्हें ईश्वर के समान पूजते हैं, और निश्चय ही वह इस सम्मान के अधिकारी थे। वह निराकार ईश्वर के सिवाय किसी अन्य रूप में ईश्वर की पूजा को ठीक नहीं समझते थे। उन्होंने यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया कि वेदों में प्राकृतिक शक्तियों की पूजा का विधान नहीं दिया गया है। मैं दिवंगत स्वामी दयानंद सरस्वती से भली-भांति परिचित था और मैं उनके प्रति बहुत सम्मान व्यक्त करता था। वह इतने उत्तम और विद्वान व्यक्ति थे कि सभी धर्मों के लोगों को उनका सम्मान करना ही उचित और शोभनीय था। उनकी जोड़ का भारत में दूसरा महान व्यक्ति नहीं है।''

गांधी, महात्मा

अस्पृश्यता के विरुद्ध शिक्षाएं

''स्वामी दयानंद ने बहुत-सी अच्छी बातें हमें दी, उनमें से एक है : अस्पृश्यता के विरुद्ध उनकी शिक्षाएं।''

घोष, अरविंद

भौतिक विज्ञान के सत्य वैदिक मंत्रों में

''दयानंद ने इस बात की पुष्टि की है कि आधुनिक भौतिक विज्ञान के सत्य वैदिक मंत्रों में मिलते हैं। यहां एक बुनियादी सिद्धांत के बारे में अकेला मुद्दा मिलता है जिस पर किसी को शंका हो तो अनुचित नहीं है। इस मामले में मैं कोई निश्चित मत व्यक्त करने में अपनी असमर्थता स्वीकार करता हूं। लेकिन प्राचीन जगत के बारे में हमें हाल में जो जानकारी मिल रही है, उनसे स्वामी दयानंद के विचारों को उत्तरोत्तर समर्थन मिल रहा है। प्राचीन सभ्यता निश्चय ही विज्ञान के ऐसे रहस्यों से परिचित थी जिनमें से कुछ को आधुनिक ज्ञान ने फिर से जाना, विस्तृत किया तथा समृद्ध और सटीक बनाया है। लेकिन अभी भी बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ज्ञान की जानकारी हमें नहीं है। अतः दयानंद के इस विचार में कोई विचित्र बात नहीं है कि वेदों में धर्म का सत्य तथा विज्ञान और कला का ज्ञान निहित है।''

वेदों में सार्वभौम तत्त्व

''यदि वैदिक ईश्वरत्व एक ऐसे परमदेव की शक्तियों का वर्णन करते हैं जो सफल, ब्रह्मांड का सृष्टा, शासक और पिता है, तब वेदों में ब्रह्मांड विज्ञान, सृष्टि और विश्व-व्यवस्था के नियम आदि के बारे में काफी कुछ होगा। दयानंद वेदों में ऐसे सार्वभौम तत्त्व होने का दावा करते हैं। उन्होंने वेदों में सृष्टि के रहस्य और प्रकृति के नियम पाए हैं जिनके द्वारा वह सर्वव्यापी सत्ता संसार का संचालन करती है।''

चट्टोपाध्याय, नगेंद्र नाथ

मधुर और सरल संस्कृत

''जब मैंने केशव बाबू (ब्रह्मसमाज के नेता केशवचंद्र सेन) के घर पर स्वामी दयानंद को पहले-पहल बोलते सुना, तब मुझे एक नई बात का ज्ञान हुआ। मुझे उस समय तक यह नहीं मालूम था कि कोई व्यक्ति इतनी मधुर और सरल संस्कृत में भाषण दे सकता है। उनकी शैली इतनी सहज थी कि जो आदमी ज़रा भी संस्कृत जानता, वह उनको समझ सकता था। मुझे एक बात से और आश्चर्य हुआ। मैंने किसी ऐसे संन्यासी के मुख से जो अंग्रेजी का एक शब्द भी नहीं जानता था, धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों के बारे में ऐसे उन्नत विचार नहीं सुने थे।''

जार्डेन्स.

नेता नहीं

''स्वामीजी का विचार यह कतई नहीं था कि वह अपने विचारों के प्रसार के लिए अपने अनुयायियों का एक संगठन खड़ा करें। सुधार की प्रेरणा स्वयं जनता के अंतर में जागृत होनी थी और उसे आत्मोत्थान और समाजोत्थान का काम स्वयं अपने हाथ में लेना था। सलाह देने के लिए दयानंद स्वयं या उनकी पुस्तकें सदैव मौजूद थीं, लेकिन वह उनके नेता की भूमिका निभाने को तैयार नहीं थे।''

टर्नर आर. एल.

विश्व की संस्कृति में विशिष्ट योगदान

''हमें दयानंद के इस महान गुण को स्वीकार क़रना होगा कि उन्होंने भारत में वेदों के अध्ययन को प्रबल प्रोत्साहन दिया और यह सिद्ध किया कि वेदों में मूर्तिपूजा का समर्थन नहीं किया गया। यदि आर्य समाज के संस्थापक दयानंद ने जाति प्रथा के उन्मूलन के लिए अपने अनुयायियों को जोरदार संघर्ष करने की प्रेरणा देने के अलावा और दूसरा कोई काम न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया होता तो भी केवल उस एक काम के बल पर वह आधुनिक भारत के एक महान नेता के रूप में सम्मान प्राप्त करने के अधिकारी होते।

अनेक वेदांशों की स्वामी दयानंद द्वारा की गई व्याख्या को कोई ठीक माने या न माने लेकिन ऐसे आदमी की सराहना किए बिना नहीं रहा जा सकता जिसने भारत को एक इकाई के रूप में इस बात का अहसास कराया कि उसे विश्व की संस्कृति में कुछ विशिष्ट योगदान करना है।''

टैगोर, रवीन्द्रनाथ

आधुनिक भारत का पथ प्रशस्त करने वाले महापुरुष

''मैं स्वामी दयानंद को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं जो आधुनिक भारत का पथ-प्रशस्त करने वाले महापुरुष थे। उन्होंने देश की अवनति के दिनों में उग आने वाले मत-मतांतरों और रीति-रिवाजों रूपी झाड़-झंखाड़ को साफ करके एक सीधा मार्ग बनाया था, जिस पर चल कर हिंदू जाति ईश्वर की उपासना और मानव की सेवा करने का सरल और विवेक सम्मत जीवन व्यतीत कर सकती थी। सत्य की सुस्पष्ट कल्पना और संकल्प के साहस के साथ उन्होंने आत्मसम्मान की भावना और मानसिक सजगता उत्पन्न करने का अनवरत प्रयत्न किया ताकि हम आधुनिक युग की प्रगतिशील प्रवृत्तियों के साथ तालमेल बिठा सकें और इसके साथ ही भारत के उस गौरवशाली अतीत के साथ भी सुंदर संपर्क बनाए रख सकें, जब हमारे देश ने विचार और कार्य की स्वतंत्रता के बीच एक आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करके अपने पूर्ण व्यक्तित्व का परिचय दिया था।''

ट्रिब्यून, लाहौर, 3 नवंबर, 1883 ई.

उनकी बुद्धि अत्यंत विशाल थी

''हमको दारुण शोक सागर में डुबो कर परमधाम में जा विराजे स्वामीजी महाराज के उपदेशों का प्रभाव केवल आर्यसमाज पर ही नहीं पड़ा है। उनका प्रभाव अन्य समस्त मतों और संप्रदायों के लोगों पर भी पड़ा है। वे बड़े सुयोग्य पुरुष थे तथा उनकी बुद्धि अत्यंत विशाल थी।''

दर, बिशन नारायण

प्रथम भारतीय सुधारक

''स्वामी दयानंद अपने युग के सर्वाधिक मौलिक हिंदू हैं। वे ही प्रथम भारतीय सुधारक हैं जो पश्चिम से कुछ भी ग्रहण नहीं करते।''

देसाई, रमणलाल वसंतलाल

वह गौरवशाली पुरुष

''जिस क्षण देह में दुर्बलता प्रतीत हो, उसी क्षण एक महान् विशालकाय संन्यासी का स्मरण करो। जिस क्षण तुम्हारे मन में शिथिलता या कायरता का प्रवेश हो, उसी क्षण जीवन और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्साह से ओतप्रोत उस देशभक्त का स्मरण करो। जिस क्षण तुम्हारे हृदय में मोह और विलास का साम्राज्य प्रवर्तित हो, उसी क्षण धन को ठोकर मारने वाले उस नैष्ठिक ब्रह्मचारी की ओर दृष्टिपात करो। अपमान से आहत होकर जिस क्षण तुम नजर ऊंची न उठा सको, उसी क्षण हिमालय के समान अडिग और उन्नत व्यक्ति के ओजस्वी मुख को अपनी कल्पना में उपस्थित करो। मृत्यु वरण करते हुए डर लगे तो इस निर्भयता की मूर्ति का ध्यान करो। द्वेष भाव से उत्तप्त होकर जब तुम्हें अपने विरोधी को क्षमा करने में हिचकिचाहट हो, तो रागद्वेषविमुक्त संन्यासी को याद करो। यह गौरवशाली पुरुष भारतीय महापुरुषों में अग्रस्थान पर विराजमान स्वामी दयानंद है।"

पाल, विपिन चंद्र

नई राष्ट्रीय चेतना

"इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि दयानंद सरस्वती द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज आंदोलन ने आधुनिक हिंदू समाज में, विशेष कर पंजाब में, एक नई राष्ट्रीय चेतना के उन्मेष में राजा राममोहन राय के बुद्धिसंगत आंदोलन की अपेक्षा अधिक योग दिया है। दयानंद का आंदोलन वास्तव में भारत के हिंदुओं के बीच उस धार्मिक और सामाजिक पुनरुत्थान का श्रीगणेश था जिसने हमारी वर्तमान राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया है।"

फुलर, जे. एफ.

उद्दाम और सर्वग्राही राष्ट्रीयता

"आर्य समाज ने न केवल धार्मिक सुधार और राष्ट्रीय पुनर्जागरण, बल्कि एक ऐसी उद्दाम और सर्वग्राही राष्ट्रीयता के धर्म को जन्म दिया जिसकी तुलना 1789 में फ्रांस की क्रांति-जनित राष्ट्रीयता की भावना से ही की जा सकती है।"

बंगाली, कलकत्ता, (3 नवंबर, 1883 ई.)

अद्वितीय शक्ति के धर्म प्रचारक

"स्वामी दयानंद सरस्वती कोई साधारण कोटि के मनुष्य न थे। लोगों ने भले ही उनके निर्धारित धर्ममार्ग और वेदार्थ को सम्मान न दिया हो, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि वे अद्वितीय शक्ति के धर्मशिक्षक थे⋯वे पूरे योगी थे⋯उनकी मृत्यु से सारे देश को अपार हानि हुई है⋯उनकी विद्वत्ता भूली नहीं जा सकती⋯समझदार लोग उनको स्वदेश का भूषण कहकर गौरव का अनुभव करेंगे।"

बीसेंट, एनी

पहले व्यक्ति

"स्वामी दयानंद पहले व्यक्ति थे जिन्होंने घोषणा की कि भारत सिर्फ भारतवासियों का है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोस, सुभाषचंद्र

नैतिक पुनरुत्थान और धार्मिक पुनर्जागरण

"स्वामी दयानंद सरस्वती निश्चय ही उन अत्यंत प्रभावशाली महापुरुषों में से एक थे जिन्होंने आधुनिक भारत को गढ़ा है और जो उसके नैतिक पुनरुत्थान और धार्मिक पुनर्जागरण के लिए जिम्मेदार हैं।"

ब्लैवेत्स्की, मैडम

शंकराचार्य के बाद

"दयानंद ने अपने पैरों में लिपटे कोबरा सांप को झटक कर अलग कर दिया और एक बार में उसका सिर कुचल दिया···यह सुनिश्चित है कि शंकराचार्य के बाद भारत में उन जैसा संस्कृत का प्रकांड विद्वान, उनसे अधिक गहन तत्त्व का ज्ञाता, उनसे ज्यादा विलक्षण वक्ता, किसी भी बुराई का उनसे अधिक कठोर निंदक और आलोचक कोई नहीं हुआ।"

भारत बंधु, अलीगढ़

स्वामी जी महाराज की प्रशंसा

"स्वामीजी महाराज की यह प्रशंसा दर्शकीय थी कि उन्होंने मुसलमानों को यह निश्चय करा दिया कि आर्य मत पवन मत की अपेक्षा सनातनिक और श्रेष्ठ है। बहुधा देखा गया कि बड़े-बड़े मौलवी, जो फारसी और अरबी के यथार्थ ज्ञाता थे, वे स्वामीजी की वक्तृता के सम्मुख मूक हो जाते थे और ऐसी उनकी बुद्धि की स्फूर्ति थी कि जहां किसी ने प्रश्न किया उन्होंने उसी समय सप्रमाण और युक्ति सहित उत्तर दे दिया। ऐसा कोई एक भी पंडित उनके सम्मुख न आया जो उनके समान···समाचतुर हो।

इसी प्रकार अंग्रेजों को भी उन्होंने दिखा दिया था कि तुम्हारे मत से भी आर्य मत श्रेष्ठ है। यह भी बहुत बार पादरियों के संग उत्तर-प्रत्युत्तरों से निश्चित हो चुका था। उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा विलायत आदि देशों में ऐसी हुई कि आज तक किसी विद्वान की नहीं हुई और वेदों की टीका भी किसी आधुनिक पंडित ने नहीं की।"

भारतीय, भवानीलाल

सुखद सामंजस्य

"दयानंद सरस्वती ने स्व प्रतिपादित विचारधारा में प्राचीन एवं नवीन सुखद सामंजस्य पर जोर देते हुए आवश्यक समझा था कि इस देश के निवासी अपनी गौरवपूर्ण विरासत तथा परंपराओं पर समुचित गर्व करते हुए ही उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करें और ऐसा करते समय वे पश्चिम के भौतिक विज्ञान, कला कौशल तथा उन्नत आविष्कारों से भी सहायता लेने में संकोच न करें। दयानंद का संपूर्ण जीवन ही प्राचीन वैदिक आदर्शों का वर्तमान कालीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धिवाद, वैज्ञानिक चिंतन तथा भौतिक उपलब्धियों समन्वित कराने के प्रयत्नों हेतु समर्पित रहा।''

विश्व मानव की भूमिका

''स्वामीजी के समस्त कार्य तथा विचार जहां स्वराष्ट्र के सर्वविध उत्थान की दृष्टि से प्रासांगिकता रखते हैं, वहां वे उन्हें विश्व मानव (Universel Man) की भूमिका पर भी प्रतिष्ठित करते हैं। दयानंद के विचार और उपदेश, उनकी आकांक्षाएं और कल्पनाएं समस्त मानव समाज के अभ्युत्थान को दिशा बोध देती हैं। उनके सिद्धांत और मंतव्य सार्वभौम हैं, सार्वकालिक हैं तथा सार्वजनीन हैं। उनकी प्रखर राष्ट्रभक्ति ही सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाती है क्योंकि उनकी दृष्टि में सारी मानव जाति एक है, भाषा, धर्म, नस्ल और रंग का विभेद काल्पनिक है, मानव-निर्मित है। जिस युग में वे पैदा हुए थे उससे आगे के युग की बात को सोचने के कारण ही वे ऋषि हैं। उनकी दूरदर्शिता, युगबोध तथा समय-शक्तियों की पहवान अपूर्व है।''

सामजिक दर्शन

''दयानंद जितने बड़े धर्म-संशोधक, धर्म-व्याख्याता अथवा धर्माचार्य हैं, एक समाजशास्त्री, समाज-संस्कारक तथा सामाजिक नेता के रूप में उनका व्यक्तित्व भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यों तो वे उन्नीसवीं शती के उन समाज सुधारकों की ही परंपरा में आते हैं, जिन्होंने वृहत्तर हिंदू समाज में व्याप्त बुराइयों, मूर्खतापूर्ण रीति-रिवाजों तथा पुरातन सड़ी-गली प्रथाओं के विरोध में आवाज उठाई थी, किंतु दयानंद का वह सुधारक रूप भी एक उग्र क्रांतिकारी, समाज को आमूल-चूल बदलने वाले युग प्रवर्तक तथा क्रांति दृष्टा की प्रभा से परिवेष्टित है। भारतीय समाज में व्याप्त बुराइयों, विषमताओं, शोषण की प्रवृत्तियों तथा अत्याचारमूलक प्रथाओं को नष्ट करने के लिये दयानंद के प्रयासों का सर्वत्र, सब कालों में अभिनंदन हुआ है।''

उपासना, धर्म, अध्यात्म

''उपासना, धर्म, अध्यात्म एवं दर्शन के क्षेत्र में दयानंद की सर्वोपरि देन तो यही है कि वे पुरातन विश्वासों, धारणाओं तथा पद्धतियों से केवल इसीलिए चिपटे रहने का उपदेश नहीं देते कि ये प्राचीन हैं, अतः हमारे लिए मान्य तथा आचारणीय हैं। वे मनुष्य के विवेक को जागृत करना चाहते हैं। जिन वेदों को सर्वोपरि प्रमाण मानने के लिए उन्हें प्रायः दोषी ठहराया जाता है उन वेदों के प्रति भी वे मानव जाति का विश्वास इसीलिए जगाना चाहते हैं, क्योंकि दयानंद वेदों को पूर्णतया बुद्धिसंगत, तर्कयुक्त एवं सृष्टि रचना के शाश्वत नियमों के सर्वथा अनुकूल मानते हैं। दयानंद की मानव जाति को यदि कोई एकमात्र महत्त्वपूर्ण देन है, तो वह यही है कि वे मनुष्य को अपनी बुद्धि, विवेक, शक्ति तथा चिंतन प्रणाली का प्रयोग करने के लिए कहते हैं, किसी बात को केवल इसीलिए मान लेने के लिए नहीं कहते कि वह शास्त्रकारों का आदेश है, पूर्वजों की प्रणाली है अथवा महाजनों से समर्थित आप्त वाक्य है।''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मजूमदार, रमेशचन्द्र

वैदिक संस्कार और संस्थाएं

"राजा राममोहन राय की भांति स्वामी दयानंद का भी विश्वास था कि हिंदू समाज का सुधार उन वैदिक संस्कारों तथा संस्थाओं को फिर से जीवित करने पर ही हो सकता है जो परवर्ती पुराण काल के आडंबरों के भीतर छिप गए थे। इसलिए उन्होंने सामाजिक सुधार का कार्यक्रम अपनाया। स्वामीजी ने आनुवंशिक जाति प्रथा को अस्वीकार किया। वे केवल जन्म के आधार पर ब्राह्मणों की सत्ता या श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने कहा कि वेदों तथा हिंदू धर्मशास्त्रों को पढ़ने का सबको अधिकार है। स्वामी दयानंद ने अनेक देवी-देवताओं की उपासना को व्यर्थ ठहराया और घोषणा की कि केवल एक सर्वोच्च ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए। उन्होंने अंतर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया और बाल विवाह की निंदा की। स्वामी दयानंद ने निश्चित किया कि लड़के की विवाह योग्य आयु कम से कम 25 वर्ष और लड़की की सोलह वर्ष होनी चाहिए।"

वेदों की शाश्वत भावना

"स्वामी दयानंद ने देखा कि ईसाई धर्म और इस्लाम दोनों ही हिंदू धर्म को तेजी से खोखला कर रहे हैं। उन्होंने निश्चय किया कि हिंदू धर्म को कमजोर करने की यह प्रक्रिया रोकने के लिए विरोधियों के हथियारों का ही प्रयोग किया जाए। ईसाई धर्म और इस्लाम का विश्ववाद ईसाई और इस्लामी धर्मग्रंथों—बाइबिल और कुरान—की विश्वदृष्टि तथा शाश्वत भावना पर आधारित हैं। हिंदुओं के पास प्राचीन या मध्यकाल में ऐसी कोई चीज नहीं थी। इसलिए स्वामी दयानंद ने बाइबिल और कुरान की शाश्वत भावना के मुकाबले वेदों की शाश्वत भावना को प्रतिष्ठित किया। स्वामी दयानंद वेदों की शाश्वत भावना के आधार पर ऐसे हिंदू समाज और हिंदू राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे जो संसार के अन्य राष्ट्रों का भी पथ-प्रदर्शन कर सके।"

शुद्धि आंदोलन

"स्वामी दयानंद ने धार्मिक और सामाजिक एकता की बुनियाद पर हिंदू राष्ट्रवाद को शुद्धि आंदोलन के द्वारा संगठित करना चाहा। शुद्धि का अर्थ था उन लाखों-करोड़ों हिंदुओं को फिर से हिंदू धर्म में दीक्षित करना जो पहले कभी अपनी इच्छा से या जोर-जबर्दस्ती से इस्लाम या ईसाई धर्म की शरण में चले गए थे लेकिन जो अब फिर हिंदू धर्म में वापस लौटना चाहते थे। रूढ़िवादी हिंदू धर्म ने अपने द्वार सदा के लिए उनके लिए बंद कर रखे थे। आर्य समाज ने अपने द्वार उनके लिए खोल दिए। सच तो यह है कि आर्य समाज के बाहर के लोगों का आर्य समाज के इस पहलू की ओर सबसे ज्यादा ध्यान गया। मुसलमानों ने उसका डट कर विरोध किया और इस प्रश्न को लेकर दोनों धर्मावलंबियों के बीच हमेशा कलह होता रहता था। इसके साथ ही आर्य समाज शुद्धि आंदोलन को अपने अभीष्ट लक्ष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश के भीतर धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक एकता को स्थापित करने की दिशा में एक सशक्त साधन समझता था।''

मुंशी, कन्हैयालाल माणिकलाल

राष्ट्रीयता की पहली मंजिल

''भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित होने के बाद दयानंद सरस्वती के साथ राष्ट्रीयता की मंजिल का उदय हुआ। 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की असफलता में निहित अपमान से परितप्त भारत में उन्होंने ही सर्वप्रथम राष्ट्रीयता का विकास किया।''

मुखोपाध्याय, देवेन्द्रनाथ

भारतीय एकता के स्थापनकर्ता

''इस संन्यासी (दयानंद) के हृदय में यह प्रबल इच्छा और उत्साह था कि सारे भारतवर्ष में एक शास्त्र प्रतिष्ठित हो, एक देवता पूजित हो, एक जाति (राष्ट्र) संगठित हो और एक भाषा प्रचलित हो। यही नहीं कि उनमें केवल ऐसी सदिच्छा और उत्साह ही था, वरन् वह इस इच्छा और उत्साह को किसी अंश तक कार्य में परिणत करने में कृतकार्य भी हुए थे। अतएव स्वामी दयानंद केवल संन्यासी ही नहीं थे, केवल वेद-व्याख्याता ही नहीं थे, केवल शास्त्रों के मर्मोद्घाटक ही नहीं थे, केवल तार्किक ही नहीं थे, केवल दिग्विजयी पंडित ही नहीं थे, वह भारतीय एकता (राष्ट्रीयता एवं स्वराज्य भावना) के स्थापनकर्ता भी थे। इसलिए भारत की आचार्य मंडली में दयानंद का स्थान विशिष्ट और अद्वितीय है।''

आर्य जाति के धर्म प्रवक्ता

''आर्य जाति के धर्म प्रवक्ता या धर्माचार्य पद के लिए कठोर तपस्या आवश्यक है, ज्वलंत वैराग्य आवश्यक है एवं विषय तृष्णा व वैषयिकता के साथ सर्वप्रकार से संबंध छोड़ देना आवश्यक है। यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति इच्छा करने से ही ज्ञानापन्न हो जाए, प्रथितनामा पंडित हो जाए, किंवा मेधा और मनस्विता के संपर्क से लोगों के हृदय में विस्मय उत्पन्न कर दे, पर यह नहीं हो सकता कि वह इस देश में धर्माचार्य या धर्मप्रचारक के नाम से परिगणित हो जाए। सौभाग्य से दयानंद में वे सभी गुण विद्यमान थे जिनके कारण वे आर्य जाति के धर्म प्रवक्ता के पद पर आरूढ़ हो सके।''

ये हैं भारत दिवाकर दयानंद

''ये हैं भारत दिवाकर दयानंद, जिन्होंने इस पाप परिपुष्ट युग में जन्म लेकर जीवन भर निष्कंटक ब्रह्मचर्य का पालन किया, जो विद्या में, वाक्पटुता में, तार्किकता में, शास्त्रदर्शिता में, भारतीय आचार्य मंडली के बीच में शङ्कराचार्य के ठीक परवर्ती आसन पर आरूढ़ होने के सर्वथा योग्य थे, वेद निष्ठा में, वेद व्याख्या में, वेद ज्ञान की गंभीरता में, जिनका नाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यासादि महर्षिगण के ठीक नीचे लिखे जाने योग्य था, जो अपने को हिंदुओं के आदर्श सुधारक पद पर प्रतिष्ठित कर गए हैं, और इस मृतप्राय आर्यजाति को जागरित करके उठाने के उद्देश्य से मृत संजीवनी औषध के भांड को हाथ में लेकर जिन्होंने भरतखंड में चतुर्दिक परिभ्रमण किया था।''

केवल संन्यासी ही नहीं...

''इस संन्यासी के हृदय में यह प्रबल इच्छा और उत्साह था कि सारे भारतवर्ष में एक शास्त्र प्रतिष्ठित हो, एक देवता पूजित हो, एक जाति संगठित हो और एक भाषा प्रचलित हो। यही नहीं कि उनमें केवल सदिच्छा और उत्साह ही था, वरन् वह इस इच्छा और उत्साह को किसी अंश तक कार्य में परिणत करने में भी कृतकार्य हुए थे। अतएव स्वामी दयानंद केवल संन्यासी ही नहीं थे, केवल वेद व्याख्याता ही नहीं थे, केवल शास्त्रों में मर्मोद्घाटन करने में ही निपुण नहीं थे, केवल तार्किक ही नहीं थे, केवल दिग्विजयी पंडित ही नहीं थे, वह भारतीय एकता के स्थापनकर्ता भी थे, भारत की जातीयता (राष्ट्रीयता) के प्रतिष्ठाता भी थे। इसलिए भारत की आचार्य मंडली में दयानंद का स्थान विशिष्ट एवं अद्वितीय है।''

मैकलेगन

विज्ञानों के बुनियादी सिद्धांत

''वेदों में सभी विज्ञानों के बुनियादी सिद्धांत मिलते हैं।''

मैक्समूलर

संस्कृत साहित्य के दो काल

''हम संपूर्ण संस्कृत साहित्य को दो कालों में बांट सकते हैं उसका आरंभ ऋग्वेद से होता है और अंत दयानंद की **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** से।''

रिजले, हर्बर्ट

सक्रिय राष्ट्रवाद

''दयानंद जानते थे कि दार्शनिक समझौतावाद की ठंडी पड़ चुकी राख में से देशभक्ति की ज्वाला पैदा नहीं की जा सकती और सक्रिय राष्ट्रवाद की भावना उत्पन्न करने से पहले स्वयं हिंदुत्व को अपने अंदर पूरी सुदृढ़ता उत्पन्न करनी होगी।''

रेनू, लुई

वेदों से प्रेरणा

''सनातन हिंदू धर्म का एक स्पष्ट मान्यता सूत्र वेदों के प्रति एकांत विश्वास है। इसलिए, हमें स्वामी दयानंद को वेदों के प्रति परंपरागत आदर-भाव दिखाते देखकर कोई आश्चर्य नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता। किंतु सनातन हिंदू धर्म में वेदों के प्रति इस प्रकार की आस्था दिखाना तो बहुत कुछ वैसा ही है जैसे कोई श्रद्धालु किसी रास्ते या चौराहे पर रखी किसी मूर्ति के आगे सिर झुका देता है, भावी जीवन में चाहे इस मूर्ति से उसका कोई वास्ता पड़े या नहीं। किंतु दयानंद के लिए यह बात नहीं थी। उन्होंने तो वेदों से सचमुच अपने कार्य की प्रेरणा ली थी। दयानंद ने वेदों के साथ बिना शर्त जुड़ने की बात कही और कहा कि विशुद्ध एकेश्वरवाद तथा सामाजिक एवं नैतिक सुधार के मूल सूत्र वेदों में ही उपलब्ध हैं।"

रोलां, रोमां

विचारक, कर्मयोगी और अद्‌भुत नेतृत्वक्षमता

"दयानंद सरस्वती अत्यंत श्रेष्ठ कोठि के व्यक्ति थे। सिंह प्रवृत्ति का यह महापुरुष वह व्यक्ति है जिसे भारत के बारे में निर्णय व्यक्त करते समय यूरोप वाले भूल जाना चाहेंगे लेकिन जिनका स्मरण उन्हें करना ही होगा क्योंकि उनके अंदर तीन दुर्लभ गुणों–विचारक, कर्मयोगी और अद्‌भुत नेतृत्वक्षमता का सम्मिश्रण था।

दयानंद ने भारत के सुशरीर में अपने अंदर की अदम्य ऊर्जा प्रवाहित कर दी थी, अपनी निश्चयात्मकता और अपने सिंह-रक्त का संचार कर दिया था। उनके शब्द मेघ-गर्जन के समान गूंजते थे। दयानंद को अस्पृश्यता जैसा घृण्य अन्याय कदापि सह्य नहीं था, और 'अछूतों' के अधिकारों के लिए लड़नेवाला उनके समान योद्धा अन्य कोई नहीं हुआ है। उन्हें आर्य समाज में बराबरी का दर्जा देकर सम्मिलित किया गया था क्योंकि आर्य कोई एक जाति नहीं है।

भारत में राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जन्म और पुनर्जागरण के क्षणों में दयानंद तत्काल कर्म के प्रबल शक्ति पुंज थे। वह नव-निर्माण और राष्ट्रीय संगठन के सबसे ओजस्वी पैगंबर थे। मैं समझता हूं कि उन्होंने एक सजग प्रहरी की भूमिका निभाई।"

विद्यालंकार, सत्यकेतु

आधुनिक भारत के सबसे महान् चिंतक

"सदियों की मोह निद्रा के पश्चात् उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में पुनर्जागरण (Renaissance) और धार्मिक सुधारणा (Reformation) के जिन आंदोलनों का सूत्रपात भारत में हुआ, महर्षि दयानंद सरस्वती तथा आर्य समाज का उनमें प्रमुख कर्तृत्व था। दयानंद आधुनिक भारत के सबसे महान चिंतक थे। धर्म, दर्शन, समाज संगठन, राज्य संस्था और आर्थिक व्यवस्था आदि के संबंध में जो विचार उन्होंने अपने ग्रंथों में प्रतिपादित किए हैं, उनसे न केवल भारत, अपितु संपूर्ण विश्व व मानव समाज का वास्तविक हित-कल्याण हो सकता है। उन्होंने आर्य समाज की स्थापना इसी प्रयोजन से की थी, कि उस द्वारा 'संसार का उपकार' व 'सब मनुष्यों का हित' किया जाए। पर वे यह भी मानते थे, कि भारत संसार का सर्वश्रेष्ठ देश है, किसी समय यह विश्व का शिरोमणि रहा है, और सत्य सनातन वैदिक धर्म के पुनःस्थापन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा यह देश एक बार फिर संसार का नेतृत्व कर सकता है, और मानव मात्र को सुख-शांति, उन्नति एवं समृद्धि का मार्ग प्रदर्शित कर सकता है। उन्नीसवीं सदी में ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज आदि सुधार के जिन अन्य आंदोलनों का भारत में सूत्रपात हुआ था, उनका क्षेत्र अत्यंत सीमित रहा। विश्वव्यापी आंदोलन के स्वरूप की प्राप्ति का तो प्रश्न ही क्या, वे भारत के भी बहुत थोड़े ही प्रदेश तथा जनता के बहुत थोड़े वर्ग को प्रभावित कर सके। लेकिन आर्य समाज ने शीघ्र ही एक जन आंदोलन का रूप प्राप्त कर लिया। भारत का कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं रहा, जहां आर्य समाजों की स्थापना न हुई हो। भारत के बाहर अफ्रीका, मारीशस, फिजी, सुरीनाम, गुयाना, ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, हालैंड, सिंगापुर, थाईलैंड, आदि कितने ही देशों में आर्य समाज स्थापित हो चुके हैं, और देश-विदेश के इन आर्य समाज की संख्या अब पांच हजार के लगभग पहुंच गई है। महर्षि दयानंद सरस्वती द्वारा प्रारंभ किए गए वैदिक धर्म के पुनरुत्थान तथा समाज सुधार के आंदोलन के इस विस्तार व प्रसार में केवल एक शताब्दी के लगभग का स्वल्प समय लगा है, जो वस्तुतः अत्यंत आश्चर्य की बात है।''

आर्य समाज का क्षेत्र

''आर्य समाज का क्षेत्र जनता के किसी एक वर्ग तक ही सीमित नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि ऊंची समझी जाने वाली जातियों के लोगों के साथ-साथ अछूत या दलित (हरिजन) जातियों के लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में आर्य समाज में सम्मिलित हैं, और इस समाज में सम्मिलित हो जाने पर उनका 'अस्पृश्यता' का दोष स्वयं दूर हो जाता है। सामाजिक कुरीतियों के निवारण, पाखंड के खंडन, अंधविश्वासों और मिथ्या रूढ़ियों के निराकरण, स्त्रीशिक्षा, अछूतोद्धार, सामाजिक न्याय और समता की स्थापना, स्वदेशी और राष्ट्रीयता की भावनाओं के विकास आदि के लिए जो ठोस कार्य पिछली एक शताब्दी में आर्य समाज द्वारा किया गया है, वह शायद किसी अन्य संस्था या संगठन द्वारा नहीं किया गया। आज भारत जो स्वतंत्र है, यहां के जनसाधारण में जो राष्ट्रीय चेतना, अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति गर्व की अनुभूति और आत्म-गौरव विद्यमान हैं, इस सबका बहुत कुछ श्रेय आर्य समाज को दिया जा सकता है। आर्य समाज द्वारा जिस व्यापक जन-आंदोलन का प्रारंभ महर्षि दयानंद सरस्वती ने किया था, उसके कारण जनता में जागृति उत्पन्न हुई और वह चिरनिद्रा से जागकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए प्रवृत्त हो गई। पर खेद है कि आधुनिक भारतीय इतिहास के लेखकों ने देश के नवजागरण का वृत्तांत लिखते हुए महर्षि दयानंद सरस्वती और आर्य समाज के प्रति न्याय नहीं किया है। संभवतः, इसका कारण यह है कि अभी तक ऐसे उच्च कोटि के ग्रंथ पर्याप्त संख्या में नहीं लिखे गए, जिनमें कि महर्षि के मौलिक चिंतन व मंतव्यों का वैज्ञानिक ढंग से निरूपण किया गया हो और जिन द्वारा भारत के नवजागरण के संबंध में आर्य समाज के कर्तृत्व पर उस शैली से प्रकाश डाला गया हो जो कि आधुनिक इतिहास के लेखकों द्वारा अपनायी जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेब, सिडनी

स्वतंत्र भारतीय बौद्धिक जीवन

"आर्य समाज निस्संदेह एक शक्तिशाली आध्यात्मिक संधान है जिसमें कट्टरपंथी हिंदुत्व के सांसारिक दोषों और कुप्रथाओं को सुधारने के आंदोलन के साथ-साथ पंडा-पुरोहितवाद की जगह वैदिक धर्म ग्रंथों के अनुसार जीवन का पुरातनवादी ढंग से सरलीकरण करने का आंदोलन भी शामिल है, और जो एक स्वतंत्र भारतीय बौद्धिक जीवन और विचारधारा के विकास का आग्रही है।"

शर्मा डी. एस.

आर्य समाज हिंदू धर्म का युयुत्सु

"वेद के प्रमाण का नारा लगा कर वे (स्वामी दयानंद) समस्त हिंदुओं को एक ही ध्वज के नीचे ला सके तथा इतर मतावलंबियों से उनकी रक्षा कर सके। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि दयानंद द्वारा स्थापित आर्य समाज हिंदू धर्म का युयुत्सु संप्रदाय है।"

शारदा, हर विलास

कृष्ण, बुद्ध और ईसा के समान

"कृष्ण, बुद्ध और ईसा के समान दयानंद एक महापुरुष थे जिन्होंने मनुष्य जाति का नैतिक स्तर ऊंचा उठाया और मानव-कल्याण का पथ-प्रशस्त किया।"

सफावी एच. एस.

हिंदू धर्म और राष्ट्रोत्थान

"दयानंद सरस्वती की हिंदू धर्म और राष्ट्रोत्थान के लिए की गई सेवाएं इतनी महान् हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता।"

सरकार, सर यदुनाथ

भारत के विकास की कहानी

"वह एक सच्चे राजनेता हैं जो भविष्य के लिए नियम-निर्माण कर सकते हैं, एक ऐसी शक्ति को कार्यरूप में परिणत कर सकते हैं जो भविष्य की अजन्मी पीढ़ियों के जीवन को, उनके चिंतन को प्रभावित करती रहेगी। जब भारत के विकास की कहानी लिखी जाएगी, उस समय, वह उच्च स्थान उस नंगे फकीर दयानंद सरस्वती को प्रदान किया जाएगा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरस्वती, स्वामी सत्यप्रकाश

सृष्टि और सृष्टिकर्ता दोनों सत्य

''भारत में बड़े से बड़ा दार्शनिक भौतिकवाद का विरोधी बन रहा था। किंतु महर्षि दयानंद ने सृष्टि और सृष्टिकर्ता दोनों को सत्य घोषित किया और अभ्युदय और निःश्रेयस के बीच में समन्वय का प्रयास किया। सहस्रों वर्ष बाद भारत में एक ऐसा मनीषी पैदा हुआ जिसमें प्रकांड पांडित्य था, नैतिकता में जिसकी अद्वितीय आस्था थी, जिसका दार्शनिक तत्त्वज्ञान उदात्त और यथार्थता के सिद्धांतों पर आधारित था, जिसने मानव समाज की छोटी-से-छोटी विकृति की ओर भी ध्यान दिया था, और भारत के उज्ज्वल भविष्य की भी जिसने कल्पना की थी। साथ ही साथ भारत के बाहर अन्य देशों में जो संप्रदायवाद अंकुरित हो गए थे, उनके कारणों पर भी उसने विचार किया था—उसने उनकी उलझी समस्याओं का भी निदान किया। सर्वतोमुखी प्रतिभा के ऐसे क्रांतिकारी इतिहास में यदा-कदा ही जन्मते हैं। वह दरिद्रों, शोषितों, दलितों और पतितों—सबका प्रतिनिधि था—सबके प्रति उसके हृदय में वेदना थी।''

दयानंद का दृष्टिकोण

''मैं बहुधा कहा करता हूं कि यदि कोई दयानंद के दृष्टिकोण को समझ ले, तो यदि वह ईसाई है, तो और भी अधिक अच्छा और ईमानदार ईसाई बन सकता है; हिंदू है तो वह दयानंद को समझने के बाद अच्छा हिंदू बन सकता है; जैन, मुसलमान, सिक्ख, पारसी है, तो अच्छा जैन, मुसलमान, सिक्ख और पारसी बन सकता है; यदि वह राजनीतिक या राष्ट्रवादी है, तो दयानंद के दृष्टिकोण को समझ लेने पर वह अपने क्षेत्र का अच्छा कार्यकर्ता बन सकता है; यदि वह समाजवादी या साम्यवादी है, तो वह अच्छा समाजवादी या साम्यवादी बन सकता है। दयानंद के दृष्टिकोण को ठीक समझ लेने पर ब्राह्मण अच्छा ब्राह्मण, क्षत्रिय अच्छा क्षत्रिय, वैश्य अच्छा वैश्य और शूद्र अच्छा शूद्र बन सकता है।''

हिंदी प्रदीप

स्वामी दयानंद का शोक वृत्तांत

''हम इस हिंदुस्तान को अभागा ही कहें कि इसके ऐसे हितैषी परलोक यात्रा के लिए दत्तचित्त हो झटपट सिधार गए।···आर्य समाज की बांह टूट गई, सरस्वती का भंडार लुट गया, यहां के बिगड़े समाज के संशोधन का फाटक ढह गया···यह इन्हीं महात्मा का पुरुषार्थ है कि भारतवर्ष के धर्मतत्त्व का सर्वस्व वेद। उसे सब जाति और चारों वर्ण के लोग समझने लगे···अतिरिक्त वेद के उद्धार के, हिंदू समाज की सैकड़ों बिगड़ी बातों को सुधारने में भी कोई कल बल इन्होंने नहीं छोड़ रखा।''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 25

ईश्वर के विविध नाम

(यह अंश स्वामी दयानंद के सबसे प्रमुख ग्रंथ **सत्यार्थ प्रकाश** का पहला समुल्लास अथवा अध्याय है। इसमें स्वामीजी ने वेदों में प्रयुक्त ईश्वर के विविध नामों की व्याख्या की है)।

ओ३म् शन्नों मित्रः शं वरुणः शन्नों भवत्वर्य्यमा।

शन्नुऽइन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः।।

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम् अवतु वक्तारम्। ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः।।1।।

अर्थ–(ओ३म्) यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है क्योंकि इसमें जो अ, उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक (ओ३म्) समुदाय हुआ है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं, जैसे–आकार से, विराट्, अग्नि और विश्वादि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि। मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है। उसका ऐसा ही वेदादि सत्यशास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं।

(प्रश्न) परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक विराट् आदि नाम क्यों नहीं ? ब्रह्मांड, पृथिवी आदि भूत, इन्द्रादि देवता और वैद्यकशास्त्र में शुंठ्यादि औषधियों के भी ये नाम हैं वा नहीं ?

(उत्तर) हैं, परंतु परमात्मा के भी हैं।

(प्रश्न) केवल देवों का ग्रहण इन नामों से करते हो वा नहीं ?

(उत्तर) आपके ग्रहण करने में क्या प्रमाण है ?

(प्रश्न) देव सब प्रसिद्ध और वे उत्तम भी हैं इससे मैं उनका ग्रहण करता हूं।

(उत्तर) क्या परमेश्वर अप्रसिद्ध और उससे कोई उत्तम भी है ? पुनः ये नाम परमेश्वर के भी क्यों नहीं मानते ? जब परमेश्वर अप्रसिद्ध और उसके तुल्य भी कोई नहीं तो उससे उत्तम कोई क्योंकर हो सकेगा, इससे आपका यह कहना सत्य नहीं। क्योंकि आपके इस कहने में बहुत से दोष भी आते हैं, जैसे–**'उपस्थितं परित्यज्याऽनुपस्थितं याचत इति**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाधितन्यायः' किसी ने किसी के लिए भोजन का पदार्थ रख के कहा कि आप भोजन कीजिए और वह जो उसको छोड़ के अप्राप्त भोजन के लिए जहां-तहां भ्रमण करे उसको बुद्धिमान् न जानना चाहिए। क्योंकि वह उपस्थित नाम समीप प्राप्त हुए पदार्थ को छोड़ के अनुपस्थित अर्थात् अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिए श्रम करता है। इसलिए जैसा वह पुरुष बुद्धिमान् नहीं वैसा ही आपका कथन हुआ। क्योंकि आप उन विराट् आदि नामों के जो प्रसिद्ध प्रमाणसिद्ध परमेश्वर और ब्रह्मांडादि उपस्थित अर्थों का परित्याग करके असंभव और अनुपस्थित देवादि के ग्रहण में श्रम करते हैं, इसमें कोई भी प्रमाण वा युक्ति नहीं। जो आप ऐसा कहें कि 'जहां जिसका प्रकरण है वहां उसी का ग्रहण करना योग्य है जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'हे भृत्य ! त्वं सैन्धवमानय' अर्थात् तू सैन्धव को ले आ। तब उसको समय अर्थात् प्रकरण का विचार करना अवश्य है, क्योंकि सैन्धव नाम दो पदार्थों का है, एक घोड़े और दूसरा लवण का। जो स्वस्वामी का गमन समय हो तो घोड़े और भोजन का काल हो तो लवण को ले आना उचित है। और जो गमनसमय में लवण और भोजन समय में घोड़े को ले आवे तो उसका स्वामी उस पर क्रुद्ध होकर कहेगा कि तू निर्बुद्धि पुरुष है। गमनसमय में लवण और भोजनकाल में घोड़े के लाने का क्या प्रयोजन था ? तू प्रकरणवित् नहीं है, नहीं तो जिस समय में जिसको लाना चाहिए था उसी को लाता। जो तुझको प्रकरण का विचार करना आवश्यक था वह तूने नहीं किया, इससे तू मूर्ख है, मेरे पास से चला जा।" इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहां जिसका ग्रहण करना उचित हो वहां उसी अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। तो ऐसा ही हम और आप सब लोगों को मानना और करना भी चाहिए।

अथ मंत्रार्थः

ओं खम्ब्रह्म।। 1।। यजुः अ. 40। मं. 17।।

देखिए वेदों में ऐसे-ऐसे प्रकरणों में 'ओम्' आदि परमेश्वर के नाम हैं।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।। 2।। छान्दोग्य उपनिषत्।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्।। 3।। माण्डूक्य।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।। 4।।

कठोपनिषद् वल्ली 2। मं. 15।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्।। 5।।
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्।। 6।।

मनु. अ. 12। श्लो. 123।।

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्।
स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः।। 7।। कैवल्य उपनिषत्।

इन्द्रं मित्रं वरुणमुग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपुर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्युग्निं युमं मातुरिश्वानमाहुः।। 8।।

ऋ. म 1। सू. 164। मं. 46।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूर॑सि भूमि॑र॒स्यदि॑तिरसि वि॒श्वधा॑या॒ विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य ध॒र्त्री।
पृथि॒वीं य॑च्छ पृथि॒वीं दृं॑ह पृथि॒वीं मा हिं॑सीः।।9।।

यजु. अ.। मं.।।

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूय्यमरोचयत्।
इन्द्र ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्र स्वानास इन्दवः।। 10।।

सामवे. प्रपा. 6 त्रिक 8। मं. 2।।

प्राणा॑य॒ नमो॒ यस्य॒ सर्व॑मि॒दं वशे॑।
यो भू॒तः सर्व॑स्येश्व॒रो यस्मि॒न्त्सर्वं॒ प्रति॑ष्ठितम्।। 11।।

अथर्ववेद कांड 11। प्रपा. 24। अ. 2। मं. 8।।

अर्थ–यहां इन प्रमाणों के लिखने में तात्पर्य वही है कि जो ऐसे-ऐसे प्रमाणों में ओंकारादि नामों से परमात्मा का ग्रहण होता है लिख आए तथा परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं। जैसे लोक में दरिद्री आदि के धनपति आदि नाम होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं।

'ओम्' आदि नाम सार्थक हैं जैसे (ओं खं.) 'अवतीत्योम्, आकाशमिव व्यापकत्वात् खम्, सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म' रक्षा करने से (ओम्), आकाशवत् व्यापक होने से (खम्) और सब से बड़ा होने से (ब्रह्म) ईश्वर का नाम है।। 1।।

(ओ३म्) जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता उसी की उपासना करनी योग्य है अन्य की नही।। 2।।

(ओमित्येत.) सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम (ओ३म्) को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं।। 3।।

(सर्वे वेदा.) क्योंकि सब वेद, सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण जिसका कथन और मान्य करते और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्य्याश्रम करते हैं उसका नाम 'ओम्' है।। 4।।

(प्रशासिता.) जो सबको शिक्षा देनेहारा, सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है उसको परम पुरुष जानना चाहिए।। 5।।

और स्वप्रकाश होने से 'अग्नि' विज्ञानस्वरूप होने से 'मनु' सब का पालन करने से 'प्रजापति' और परमैश्वर्यवान् होने से 'इंद्र' सबका जीवनमूल होने से 'प्राण' और निरंतर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म' है।। 6।।

(स ब्रह्मा स विष्णु.) सब जगत् के बनाने से 'ब्रह्मा' सर्वत्र व्यापक होने से 'विष्णु' दुष्टों को दंड देके रुलाने से 'रुद्र' मंगलमय और सबका कल्याणकर्ता होने से 'शिव' 'यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम्' 'यः स्वयं राजते स स्वराट्' 'योऽग्निरिव कालः कलयिता प्रलयकर्त्ता स कालाग्निरीश्वरः' (अक्षर) जो सर्वत्र व्याप्त अविनाशी (स्वराट्) स्वयं प्रकाशस्वरूप और (कालाग्नि.) प्रलय में सब का काल और काल का भी काल है इसलिए परमेश्वर का नाम कालाग्नि है।। 7।।

(इन्द्रं मित्रं) जो एक अद्वितीय सत्यब्रह्म वस्तु है उसी के इंद्रादि सब नाम हैं। 'द्युषु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्धेषु पदार्थेषु भवो दिव्यः' 'शोभनानि पर्णानि पालनानि पूर्णानि कर्माणि वा यस्य सः' 'यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्' 'यो मातरिश्वा वायुरिव बलवान् स मातरिश्वा' (दिव्य) जो प्रकृत्यादि दिव्य पदार्थों में व्याप्त (सुपर्ण) जिसके उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं (गुरुत्मान्) जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है जो वायु के समान अनन्त बलवान है इसलिए परमात्मा के दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् और मातरिश्वा ये नाम हैं। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे।। 8।।

(भूमिरसि.) 'भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः' जिसमें सब भूत प्राणि होते हैं इसलिए ईश्वर का नाम 'भूमि' है। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे।। 9।।

(इन्द्रो मह्ना.) इस मंत्र में इंद्र परमेश्वर ही का नाम है इसलिए यह प्रमाण लिखा है।। 10।।

(प्राणाय) जैसे प्राण के वश सब शरीर, इंद्रियां होती हैं वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है।। 11।।

इत्यादि प्रमाणों के ठीक-ठीक अर्थों के जानने से इन नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। क्योंकि 'ओ३म्' और अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। जैसा कि व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण, सूत्रादि ऋषि मुनियों के व्याख्यानों से परमेश्वर का ग्रहण देखने में आता है वैसा ग्रहण करना सबको योग्य है परंतु 'ओ३म्' यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहां-जहां स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्ता आदि विशेषण लिखे है। वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है और जहां-जहां ऐसे प्रकरण हैं कि—

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः। श्रोत्रा॑द्वा॒युश्च॑ प्रा॒णश्च॒ मुखा॑द॒ग्निर॑जायत। तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त। प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः। यजुः अ. 31।।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है।

ऐसे प्रमाणों में विराट्, पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं। क्योंकि जहां-जहां उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों वहां-वहां परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है और उपरोक्त मंत्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं इसी से यहां विराट् आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है। किंतु जहां-जहां सर्वज्ञादि विशेषण हों वहीं-वहीं परमात्मा और जहां-जहां इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहां-वहां जीव का ग्रहण होता है ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए। क्योंकि परमेश्वर का जन्म-मरण कभी नहीं होता इससे विराट् आदि नाम और जन्मादि विशेषणों से जगत् के जड़ और जीवादि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है, परमेश्वर का नहीं। अब जिस प्रकार विराट् आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है, वह प्रकार नीचे लिखे प्रमाण जानो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ ओंकारार्थः

(वि) उपसर्गपूर्वक **(राजृ दीप्तौ)** इस धातु से क्विप् प्रत्यय करने से 'विराट्' शब्द सिद्ध होता है। 'यो विविधं नाम चराऽचरं जगद्राजयति प्रकाशयति स विराट्' विविध अर्थात् जो बहु प्रकार के जगत् को प्रकाशित करे इससे **'विराट्'** नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है।

(अञ्चु गतिपूजनयोः) (अग, अगि, इण् गत्यर्थक) धातु हैं, इनसे 'अग्नि' शब्द सिद्ध होता है। 'गतैस्त्र्योऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति, पूजनं नाम सत्कारः।' 'योऽञ्चति अच्यतेऽगत्यङ्गत्येति सोऽयमग्निः' जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'अग्नि'** है।

(विश प्रवेशने) इस धातु से **'विश्व'** शब्द सिद्ध होता है। 'विशन्ति प्रविष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन्। यो वाऽऽकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्टः स विश्व ईश्वरः' जिसमें आकाशादि सब भूत प्रवेश कर रहे हैं अथवा जो इनमें व्याप्त होके प्रविष्ट हो रहा है इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'विश्व'** है। इत्यादि नामों का ग्रहण अकार मात्र से होता है।

'ज्योतिर्वै हिरण्यं तेजो वै हिरण्यमित्यैतरेय शतपथब्राह्मणे' 'यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः' जिसमें सूर्यादि तेज वाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार रहते हैं अथवा जो सूर्यादि तेजःस्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्ति और निवासस्थान है इससे उस परमेश्वर का नाम **'हिरण्यगर्भ'** है। इसमें यजुर्वेद के मंत्र का प्रमाण है–

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

इत्यादि स्थलों में 'हिरण्यगर्भ' से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

(वा गतिगन्धनयोः) इस धातु से 'वायु' शब्द सिद्ध होता है। (गंधनं हिंसनम्) 'यो वाति चराऽचरञ्जगद्धरति बलिनां बलिष्ठः स वायुः' जो चराऽचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलय करता और सब बलवानों से बलवान् है इससे उस ईश्वर का नाम 'वायु' है।

(तिज निशाने) इस धातु से 'तेजः' और इससे तद्धित करने से 'तैजस' शब्द सिद्ध होता है। जो आप स्वयं प्रकाश और सूर्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करने वाला है, इससे इस ईश्वर का नाम **'तैजस'** है। इत्यादि नामार्थ उकारमात्र से ग्रहण होते हैं।

(ईश ऐश्वर्ये) इस धातु से 'ईश्वर' शब्द सिद्ध होता है। 'य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः' जिसका सत्य विचारशील ज्ञान और अनंत ऐश्वर्य है, इससे उस परमात्मा का नाम **'ईश्वर'** है।

(दो अवखंडने) इस धातु से 'अदिति' और इससे तद्धित करने से 'आदित्य' शब्द सिद्ध होता है। 'न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः+अदितिरेव आदित्यः' जिसका विनाश कभी न हो उसी ईश्वर की **'आदित्य'** संज्ञा है।

(ज्ञा अवबोधने) 'प्र' पूर्वक इस धातु से 'प्रज्ञ' और इससे तद्धित करने से 'प्राज्ञ' शब्द सिद्ध होता है। 'यः प्रकृष्टतया चराऽचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः+प्रज्ञ एव प्राज्ञः' जो निर्भ्रान्त ज्ञान युक्त सब चराऽचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है इससे ईश्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का नाम **'प्राज्ञ'** है। इत्यादि नामार्थ मकार से गृहीत होते हैं। जैसे एक-एक मात्रा से तीन-तीन अर्थ यहां व्याख्यात किए हैं वैसे ही अन्य नामार्थ भी ओंकार से जाने जाते हैं।

जो **(शन्नो मित्रः शम्व.)** इस मंत्र में मित्रादि नाम हैं वे भी परमेश्वर के हैं क्योंकि स्तुति, प्रार्थना, उपासना श्रेष्ठ ही की जाती है। श्रेष्ठ उसको कहते हैं जो गुण, कर्म, स्वभाव और सत्य-सत्य व्यवहारों में सबसे अधिक हो। इन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यंत श्रेष्ठ उसको परमेश्वर कहते हैं। जिसके तुल्य कोई न हुआ, न है और न होगा। जब तुल्य नहीं तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है ? जैसे परमेश्वर के सत्य, न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनंत गुण हैं वैसे अन्य किसी जड़ पदार्थ व जीव के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी सत्य होते हैं इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान्, दैत्य दानवादि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी उससे भिन्न की नहीं की। वैसे हम सबको करना योग्य है। इसका विशेष विचार मुक्ति और उपासना विषय में किया जाएगा।

(प्रश्न) मित्रादि नामों से सखा और इंद्रादि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिए।

(उत्तर) यहां उनका ग्रहण करना योग्य नहीं क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है इससे मुख्यार्थ में सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता किंतु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र, न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है, इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता। इसलिए परमात्मा ही का ग्रहण यहां होता है। हां, गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण होता है।

(ञिमिदा स्नेहने) इस धातु से औणादिक 'क्त्र' प्रत्यय के होने से 'मित्र' शब्द सिद्ध होता है। 'मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः' जो सब से स्नेह करके और सबको प्रीति करने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम **'मित्र'** है।

(वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम्) इन धातुओं से उणादि 'उनन्' प्रत्यय होने से 'वरुण' शब्द सिद्ध होता है। 'यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून्धर्मात्मनो वृणोत्यथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः' जो आत्म योगी विद्वान् मुक्ति की इच्छा करने वाले मुक्त और धर्मात्माओं का स्वीकारकर्त्ता अथवा जो शिष्ट मुमुक्षु मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है वह ईश्वर 'वरुण' संज्ञक है। अथवा 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः' जिसलिए परमेश्वर सबसे श्रेष्ठ है इसीलिए उसका नाम **'वरुण'** है।

(ऋ गतिप्रापणयोः) इस धातु से 'यत्' प्रत्यय करने से 'अर्य्य' शब्द सिद्ध होता है और 'अर्य्य' पूर्वक (माङ् माने) इस धातु से 'कनिन्' प्रत्यय होने से 'अर्य्यमा' शब्द सिद्ध होता है। 'योऽर्य्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सोऽर्यमा' जो सत्य न्याय के करने हारे मनुष्यों का मान्य और पाप तथा पुण्य करने वालों को पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य-सत्य नियमकर्त्ता है इसी से उस परमेश्वर का नाम **'अर्यमा'** है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(इदि परमैश्वर्ये) इस धातु से 'रन्' प्रत्यय करने से 'इंद्र' शब्द सिद्ध होता है। 'य इंदति परमैश्वर्यवान् भवति स इंद्रः परमेश्वरः' जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है इससे उस परमात्मा का नाम 'इंद्र' है।

'बृहत्' शब्दपूर्वक **(पा रक्षणे)** इस धातु से 'डति' प्रत्यय, बृहत् के तकार का लोप और सुडागम होने से 'बृहस्पति' शब्द सिद्ध होता है। 'यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता स बृहस्पतिः' जो बड़ों से भी बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्मांडों का स्वामी है इससे उस परमेश्वर का नाम **'बृहस्पति'** है।

(विष्लृ व्याप्तौ) इस धातु से 'नु' प्रत्यय होकर 'विष्णु' शब्द सिद्ध हुआ है। 'वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत् स विष्णुः' चर और अचररूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम **'विष्णु'** है।

'उरुर्महान् क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः' अनंत पराक्रमयुक्त होने से परमात्मा का नाम **'उरुक्रम'** है। जो परमात्मा (उरुक्रमः) महापराक्रमयुक्त (मित्रः) सबका सुहृत् अविरोधी है वह (शम्) सुखकारक, वह (वरुणः) सर्वोत्तम (शम्) सुखस्वरूप, वह (अर्यमा) (शम्) सुखप्रचारक, वह (इन्द्रः) (शम्) सकल ऐश्वर्यदायक, वह (बृहस्पतिः) सबको अधिष्ठाता (शम्) विद्याप्रद और (विष्णुः) जो सबमें व्यापक परमेश्वर है, वह (नः) हमारा कल्याणकारक (भवतु) हो।

(वायो ते ब्रह्मणे नमोऽस्तु) **(बृह बृहि वृद्धौ)** इन धातुओं से **'ब्रह्म'** शब्द सिद्ध हुआ है जो सबके ऊपर विराजमान, सब से बड़ा, अनंतबलयुक्त परमात्मा है उस ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं। हे परमेश्वर ! **(तवमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि)** आप ही अन्तर्यामिरूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हो **(त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि)** मैं आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा क्योंकि आप सब जगह में व्याप्त होके सब को नित्य ही प्राप्त हैं **(ऋतं वदिष्यामि)** जो आपकी वेदस्थ यथार्थ आज्ञा है उसी को मैं सबके लिए उपदेश और आचरण भी करूंगा **(सत्यं वदिष्यामि)** सत्य बोलूं, सत्य मानूं और सत्य ही करूंगा **(तन्मामवतु)** सो आप मेरी रक्षा कीजिए **(तद्वक्तारमवतु)** सो आप मुझ आप्त सत्यवक्ता की रक्षा कीजिए कि जिससे आपकी आज्ञा में मेरी बुद्धि स्थिर होकर विरुद्ध कभी न हो। क्योंकि जो आपकी आज्ञा है वही धर्म और जो उसके विरुद्ध वही अधर्म है। **'अवतु मामवतु वक्तारम्'** यह दूसरी बार पाठ अधिकार्थ के लिए है। जैसे 'कश्चित् कंचित् प्रति वदति त्वं ग्रामं गच्छ गच्छ' इसमें दो वार क्रिया के उच्चारण से तू शीघ्र ही ग्राम को जा ऐसा सिद्ध होता है। ऐसे ही यहां कि आप मेरी अवश्य रक्षा करो अर्थात् धर्म से सुनिश्चित और अधर्म से घृणा सदा करूं ऐसी कृपा मुझ पर कीजिए, मैं आपका बड़ा उपकार मानूंगा **(ओ३म् शांतिः शांतिः शांतिः)** इस में तीन बार शांति पाठ का यह प्रयोजन है कि त्रिविधताप अर्थात् इस संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं—एक 'आध्यात्मिक' जो आत्मा शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वर पीड़ादि होते हैं। दूसरा 'आधिभौतिक' जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है। तीसरा 'आधिदैविक' अर्थात् जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अति उष्णता, मन और इंद्रियों की अशांति से होता है। इन तीन प्रकार के क्लेशों से आप हम लोगों को दूर करके कल्याणकारक कर्मों में सदा प्रवृत्त रखिए क्योंकि आप ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्याण स्वरूप, सब संसार के कल्याणकर्त्ता और धार्मिक मुमुक्षुओं के कल्याण के दाता हैं। इसलिए आप स्वयं अपनी करुणा से सब जीवों के हृदय में प्रकाशित होइए कि जिससे सब जीव धर्म का आचरण और अधर्म को छोड़ के परमानंद को प्राप्त हों और दुःखों से पृथक् रहें।

'सूर्य्य' आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'

इस यजुर्वेद के वचन से जो जगत् नाम प्राणी चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते फिरते हैं, 'तस्थुषः' अप्राणी अर्थात् स्थावर जड़ अर्थात् पृथिवी आदि हैं उन सब के आत्मा होने और स्वप्रकाश रूप सबके प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम **'सूर्य्य'** है।

(अत सातत्यगमने) इस धातु से 'आत्मा' शब्द सिद्ध होता हैं 'योऽतति व्याप्नोति स आत्मा' जो सब जीवादि जगत् में निरंतर व्यापक हो रहा है। परश्चासावात्मा च य आत्मभ्यो जीवेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः परोऽतिसूक्ष्मः स परमात्मा' जो सब जीव आदि से उत्कृष्ट और जीव प्रकृति तथा आकाश से भी अतिसूक्ष्म और सब जीवों का अंतर्यामी आत्मा है इससे ईश्वर का नाम **'परमात्मा'** है।

सामर्थ्यवाले का नाम ईश्वर है। 'य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः' जो ईश्वरों अर्थात् समर्थों में समर्थ, जिसके तुल्य कोई भी न हो उसका नाम **'परमेश्वर'** है।

(षुञ् अभिषवे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने) इन धातुओं से 'सविता' शब्द सिद्ध होता है। 'अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं चोत्पादनम्। यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः' जो सब जगत् की उत्पत्ति करता है इसलिए परमेश्वर का नाम **'सविता'** है।

(दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु) इस धातु से 'देव' शब्द सिद्ध होता है। (क्रीडा) जो शुद्ध जगत् को क्रीड़ा कराने (विजिगीषा) धार्मिकों को जिताने की इच्छायुक्त व्यवहार सब चेष्टा के साधनोपसाधनों का दाता (द्युति) स्वयं प्रकाशस्वरूप सबका प्रकाशक (स्तुति) प्रशंसा के योग्य (मोद) आप आनंदस्वरूप और दूसरों को आनंद देनेहारा (मद) मदोन्मत्तों का ताड़नेहारा (स्वप्न) सबके शयनार्थ रात्रि और प्रलय का करनेहारा (कांति) कामना के योग्य और (गति) ज्ञानस्वरूप है इसलिए उस परमेश्वर का नाम 'देव' है। अथवा 'यो दीव्यति क्रीडति स देवः' जो अपने स्वरूप में आनंद से आप ही क्रीड़ा करे अथवा किसी के सहाय के बिना क्रीड़ावत् सहज भाव से सब जगत् को बनाता व सब क्रीड़ाओं का आधार है। 'विजिगीषते स देवः' जो सबका जीतनेहारा स्वयं अजेय अर्थात् जिसको कोई भी न जीत सके। 'व्यवहारयति स देवः' जो न्याय और अन्यायरूप व्यवहारों का जानने और उपदेष्टा, 'यश्चराचरं जगत् द्योतयति' जो सबका प्रकाशक, 'यः स्तूयते स देवः' जो सब मनुष्यों की प्रशंसा के योग्य और निंदा के योग्य न हो, 'यो मोदयति स देवः' जो स्वयं आनंदस्वरूप और दूसरों को आनंद कराता, जिसको दुःख का लेश भी न हो, 'यो माद्यति स देवः' जो सदा हर्षित, शोकरहित और दूसरों को हर्षित करने और दुःखों से पृथक् रखने वाला, 'यः स्वापयति स देवः' जो प्रलय समय अव्यक्त में सब जीवों को सुलता, 'यः कामयते काम्यते वा स देवः' जिसके सब सत्य काम और जिसकी प्राप्ति की कामना सब शिष्ट करते हैं तथा 'यो गच्छति गम्यते वा स देवः' जो सब में व्याप्त और जानने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम **'देव'** है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(कुबि आच्छादने) इस धातु से 'कुबेर' शब्द सिद्ध होता है। 'यः सर्वं कुंबति स्वव्याप्त्याच्छादयति स कुबेरो जगदीश्वरः' जो अपनी व्याप्ति से सबका आच्छादन करे इससे उस परमेश्वर का नाम **'कुबेर'** है।

(पृथु विस्तारे) इस धातु से 'पृथिवी' शब्द सिद्ध होता है। 'यः पर्थति सर्वं जगद्विस्तृणाति तस्मात् स पृथिवी' जो सब विस्तृत जगत् का विस्तार करने वाला है इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'पृथिवी'** है।

(जल घातने) इस धातु से 'जल' शब्द सिद्ध होता है 'जलति घातयति दुष्टान्, संघातयति-अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्' जो दुष्टों का ताड़न और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योऽन्य संयोग वा वियोग करता है वह परमात्मा **'जल'** संज्ञक कहाता है।

(काशृ दीप्तौ) इस धातु से 'आकाश' शब्द सिद्ध होता है, 'यः सर्वतः सर्वं जगत् प्रकाशयति स आकाशः' जो सब ओर से जगत् का प्रकाशक है इसलिए उस परमात्मा का नाम **'आकाश'** है।

(अद् भक्षणे) इस धातु से **'अन्न'** शब्द सिद्ध होता है।

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोहमन्नादः।।

तैत्ति. उपनि.।

अत्ता चराऽचरग्रहणात्।।

यह व्यासमुनिकृत शारीरक सूत्र है। जो सबको भीतर रखने सबको ग्रहण करने योग्य चराचर जगत् का ग्रहण करने वाला है, इससे ईश्वर के **'अन्न'**, **'अन्नाद'** और **'अत्ता'** नाम हैं। और जो इसमें तीन बार पाठ है सो आदर के लिए है। जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न होकर उसी में रहते और नष्ट हो जाते हैं वैसे परमेश्वर के बीच में सब जगत् की अवस्था है।

(वस निवासे) इस धातु से 'वसु' शब्द सिद्ध हुआ है। 'वसन्ति भूतानि यस्मिन्नथवा यः सर्वेषु वसति स वसुरीश्वरः' जिसमें सब आकाशादि भूत बसते हैं और जो सब में वास कर रहा है इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'वसु'** है।

(रुदिर् अश्रु विमोचने) इस धातु से 'णिच्' प्रत्यय होने से 'रुद्र' शब्द सिद्ध होता है। 'यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः' जो दुष्ट कर्म करनेहारों को रुलाता है इससे उस परमेश्वर का नाम **'रुद्र'** है।

यन्मनसां ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति, यत् कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।।

यह यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है। जीव जिसका मन से ध्यान करता उसको वाणी से बोलता, जिसको वाणी से बोला उसको कर्म से करता, जिसको कर्म से करता उसी को प्राप्त होता है। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। जब दुष्ट कर्म करने वाले जीव ईश्वर की न्यायरूपी व्यवस्था से दुःखरूप फल पाते तब रोते हैं और इसी प्रकार ईश्वर उनको रुलाता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'रुद्र'** है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।।

मनु. अ. 1। श्लो. 10।।

जल और जीवों का नाम नारा है, वे अयन अर्थात् निवासस्थान हैं जिसका इसलिए सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम 'नारायण' है।

(चदि आह्लादे) इस धातु से 'चंद्र' शब्द सिद्ध होता है। 'यश्चंदति चंदयति वा स चंद्रः' जो आनंदस्वरूप और सबको आनंद देने वाला है इसलिए ईश्वर का नाम **'चंद्र'** है।

(मगि गत्यर्थक) धातु से **'मङ्गेरलच्'** इस सूत्र से 'मङ्गल' शब्द सिद्ध होता है। 'यो मङ्गति मङ्गयति वा स मङ्गलः' जो आप मङ्गलस्वरूप और सब जीवों के मङ्गल का कारण है इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'मङ्गल'** है।

(बुध अवगमने) इस धातु से 'बुध' शब्द सिद्ध होता है। 'यो बुध्यते बोध्यते वा स बुधः' जो स्वयं बोधस्वरूप और सब जीवों के बोध का कारण है इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'बुध'** है। 'बृहस्पति' शब्द का अर्थ कह दिया।

(ईशुचिर् पूतीभावे) इस धातु से 'शुक्र' शब्द सिद्ध हुआ है। 'यः शुच्यति शोचयति वा स शुक्रः' जो अत्यंत पवित्र और जिसके संग से जीव भी पवित्र हो जाता है इसलिए ईश्वर का नाम **'शुक्र'** है।

(चर गतिभक्षणयोः) इस धातु से 'शनैस्' अव्यय उपपद होने से 'शनैश्चर' शब्द सिद्ध हुआ है। 'यः शनैश्चरति स शनैश्चरः' जो सब में सहज से प्राप्त धैर्यवान् है इससे उस परमेश्वर का नाम **'शनैश्चर'** है।

(रह त्यागे) इस धातु से 'राहु' शब्द सिद्ध होता हैं 'यो रहति परित्यजति दुष्टान् राहयति त्याजयति स राहुरीश्वरः' जो एकान्तस्वरूप जिसके स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं, जो दुष्टों को छोड़ने और अन्य को छुड़ाने हारा है इससे परमेश्वर का नाम **'राहु'** है।

(कित निवासे रोगापनयने च) इस धातु से 'केतु' शब्द सिद्ध होता है। 'यः केतयति चिकित्सति वा स केतुरीश्वरः' जो सब जगत् का निवासस्थान, सब रोगों से रहित और मुमुक्षुओं की मुक्ति समय में सब रोगों से छुड़ाता है इसलिए उस परमात्मा का नाम 'केतु' है।

(यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु) इस धातु से 'यज्ञ' शब्द सिद्ध होता है। **'यज्ञो वै विष्णुः'** यह ब्राह्मण ग्रंथ का वचन है। 'यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः' जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता और सब विद्वानों का पूज्य है, और ब्रह्मा से लेके सब ऋषि मुनियों का पूज्य था, है और होगा, इससे उस परमात्मा का नाम **'यज्ञ'** है क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है।

(हु दानाऽदनयोः, आदाने चेत्येके) इस धातु से 'होता' शब्द सिद्ध हुआ है। 'यो जुहोति स होता' जो जीवों को देने योग्य पदार्थों का दाता और ग्रहण करने योग्यों का ग्राहक है इससे उस ईश्वर का नाम **'होता'** है।

(बंध बंधने) इससे 'बंधु' शब्द सिद्ध होता है। 'यः स्वस्मिन् चराचरं जगद् बध्नाति बंधुवद्धर्मात्मनां सुखाय सहायो वा वर्त्तते स बंधुः' जिसने अपने में सब लोकलोकांतरों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियमों से बद्ध कर रखे और सहोदर के समान सहायक है इसी से अपनी-अपनी परिधि वा नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते। जैसे भ्राता भाइयों का सहायकारी होता है वैसे परमेश्वर भी पृथिव्यादि लोकों के धारण, रक्षण और सुख देने से **'बंधु'** संज्ञक है।

(पा रक्षणे) इस धातु से 'पिता' शब्द सिद्ध हुआ है। 'यः पाति सर्वान् स पिता' जो सबका रक्षक जैसा पिता अपनी संतानों पर सदा कृपालु होकर उनकी उन्नति चाहता है वैसे ही परमेश्वर सब जीवों की उन्नति चाहता है इससे उसका नाम **'पिता'** है।

'यः पितृणां पिता स पितामहः' जो पिताओं का भी पिता है इससे उस परमेश्वर का नाम **'पितामहः'** है।

'यः पितामहानां पिता स प्रपितामहः' जो पिताओं के पितरों का पिता है इससे परमेश्वर का नाम 'प्रपितामह' है।

'यो मिमीते मानयति सर्वाञ्जीवान् स माता' जैसे पूर्णकृपायुक्त जननी अपने संतानों का सुख और उन्नति चाहती है वैसे परमेश्वर भी सब जीवों की बढ़ती चाहता है इससे परमेश्वर का नाम **'माता'** है।

(चर गतिभक्षणयोः) आङ्पूर्वक इस धातु से 'आचार्य्य' शब्द सिद्ध होता है 'य आचारं ग्राहयति, सर्वा विद्या बोधयति स आचार्य ईश्वरः' जो सत्य आचार का ग्रहण करानेहारा और सब विद्याओं की प्राप्ति का हेतु होके सब विद्या प्राप्त कराता है इससे परमेश्वर का नाम **'आचार्य'** है।

(गृ शब्दे) इस धातु से 'गुरु' शब्द बना है। 'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स गुरुः' **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' योग.** जो सत्यधर्मप्रतिपादक, सकल विद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता, सृष्टि की आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु और जिसका नाश कभी नहीं होता इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'गुरु'** है।

(अज गतिक्षेपणयोः, जनी प्रादुर्भावे) इन धातुओं से 'अज' शब्द बनता है। 'योऽजति सृष्टिं प्रति सर्वान् प्रकृत्यादीन् पदार्थान् प्रक्षिपति, जानाति, कदाचिन्न जायते सोऽजः' जो सब प्रकृति के अवयव आकाशादि भूत परमाणुओं को यथायोग्य मिलाता, शरीर के साथ जीवों का संबंध करके जन्म देता और स्वयं कभी जन्म नहीं लेता इससे उस ईश्वर का नाम **'अज'** है।

(बृह बृहि वृद्धौ) इन धातुओं से 'ब्रह्मा' शब्द सिद्ध होता है। 'योऽखिलं जगन्निर्माणेन बर्हति वर्द्धयति स ब्रह्मा' जो संपूर्ण जगत् को रच के बढ़ाता है इसलिए परमेश्वर का नाम **'ब्रह्मा'** है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है।

'सन्तीति सन्तस्तेषु सत्सु साधु तत्सत्यम्। यज्जानाति चराऽचरं जगत्तज्ज्ञानम्। न विद्यतेऽन्तोऽवधिर्मर्यादा यस्य तदनन्तम्। सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म' जो पदार्थ हों उनको सत् कहते हैं, उनमें साधु होने से परमेश्वर का नाम 'सत्य' है। जो जानने वाला है इससे परमेश्वर का नाम **'ज्ञान'** है। जिसका अंत अवधि मर्यादा अर्थात् इतना लंबा, चौड़ा, छोटा, बड़ा है ऐसा परिमाण नहीं है इसलिए परमेश्वर के नाम **'सत्, ज्ञान और अनंत'** हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(डुदाञ् दाने) आङ्पूर्वक इस धातु से 'आदि' शब्द और नञ्पूर्वक 'अनादि' शब्द सिद्ध होता है। **'यस्मात् पूर्व नास्ति परं चास्ति स आदिरित्यचुच्यते।'** 'न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिरीश्वरः' जिसके पूर्व कुछ न हो और परे हो, उसको आदि कहते हैं, जिसका आदि कारण कोई भी नहीं है इसलिए परमेश्वर का नाम **'अनादि'** है।

(टुनदि समृद्धौ) आङपूर्वक इस धातु से 'आनंद' शब्द बनता है। 'आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन् यद्वा यः सर्वाञ्जीवानानादयति स आनंदः' जो आनंदस्वरूप जिसमें सब मुक्त जीव आनंद को प्राप्त होते और सब धर्मात्मा जीवों को आनंदयुक्त करता है उससे ईश्वर का नाम **'आनंद'** है।

(अस भुवि) इस धातु से 'सत्' शब्द सिद्ध होता है। 'यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सद् ब्रह्म' जो सदा वर्त्तमान अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान, कालों में जिसका बाध न हो उस परमेश्वर को **'सत्'** कहते हैं।

(चिती संज्ञाने) इस धातु से 'चित्' शब्द सिद्ध होता है। 'यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनस्तच्चित्परं ब्रह्म' जो चेतन-स्वरूप सब जीवों को चिताने और सत्यासत्य का जाननेहारा है इसलिए उस परमात्मा का नाम **'चित्'** है। इन तीनों शब्दों के विशेषण होने से परमेश्वर को **'सच्चिदानंदस्वरूप'** कहते हैं।

'यो नित्यध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः' जो निश्चल अविनाशी है सो **'नित्य'** शब्दवाच्य ईश्वर है।

(शुन्ध शुद्धौ) इससे 'शुद्ध' शब्द सिद्ध होता है। 'यः शुन्धति सर्वान् शोधयति वा स शुद्ध ईश्वरः' जो स्वयं पवित्र सब अशुद्धियों से पृथक् और सबको शुद्ध करने वाला है इससे ईश्वर का नाम **'शुद्ध'** है।

(बुध अवगमने) इस धातु से 'क्त' प्रत्यय होने से 'बुद्ध' शब्द सिद्ध होता है। 'यो बुद्धवान् सदैव ज्ञाताऽस्ति स बुद्धो जगदीश्वरः' जो सदा सबको जाननेहारा है इससे ईश्वर का नाम 'बुद्ध' है।

(मुच्लृ मोचने) इस धातु से 'मुक्त' शब्द सिद्ध होता है। 'यो मुंचति मोचयति वा मुमुक्षून् स मुक्तो जगदीश्वरः' जो सर्वदा अशुद्धियों से अलग और सब मुमुक्षओं को क्लेश से छुड़ा देता है इसलिए परमात्मा का नाम **'मुक्त'** है।

'अतएव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः' इसी कारण से परमेश्वर का स्वभाव नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त है।

निर् और आङ्पूर्वक **(डुकृञ् करणे)** इस धातु से 'निराकार' शब्द सिद्ध होता है 'निर्गत आकारात्स निराकारः' जिसका आकार कोई भी नहीं और न कभी शरीर-धारण करता है इसलिए परमेश्वर का नाम **'निराकार'** है।

(अञ्जू व्यक्तिम्लक्षणकान्तिगतिषु) इस धातु से 'अंजन' शब्द और निर् उपसर्ग के योग से 'निरंजन' शब्द सिद्ध होता हैं 'अंजनं व्यक्तिर्म्लक्षणं कुकाम इन्द्रियैः प्राप्तिश्चेत्यस्माद्यो निर्गतः पृथग्भूतः स निरञ्जनः' जो व्यक्ति अर्थात् आकृति, म्लेच्छाचार, दुष्टकामना और चक्षुरादि इंद्रियों के विषयों के पथ से पृथक् है इससे ईश्वर का नाम **'निरञ्जन'** है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(गण संख्याने) इस धातु से 'गण' शब्द सिद्ध होता है। इसके आगे 'ईश' वा 'पति' शब्द रखने से 'गणेश' और 'गणपति शब्द' सिद्ध होते हैं। 'ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा' जो प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव प्रख्यात पदार्थों का स्वामी वा पालन करनेहारा है इससे उस ईश्वर का नाम **'गणेश'** वा **'गणपति'** है।

''यो विश्वमीष्टे स विश्वेश्वरः' जो संसार का अधिष्ठाता है इससे उस परमेश्वर का नाम **'विश्वेश्वर'** है।

'यः कूटेऽनेकविधव्यवहारे स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति स कूटस्थः परमेश्वरः' जो सब व्यवहारों में व्याप्त और सब व्यवहारों का आधार होके भी किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता इससे परमेश्वर का नाम 'कूटस्थ' है।

जितने 'देव' शब्द के अर्थ लिखे हैं उतने ही 'देवी' शब्द के भी हैं। परमेश्वर के तीनों लिंगों में नाम हैं, जैसे—'ब्रह्म चितिरीश्वरश्चेति'। जब ईश्वर का विशेषण होगा तब 'देव' जब चिति का होगा तब 'देवी' इससे ईश्वर का नाम **'देवी'** है।

(शक्लृ शक्तौ) इस धातु से 'शक्ति' शब्द बनता है। 'यः सर्वं जगत् कर्तुं शक्नोति स शक्तिः' जो सब जगत् के बनाने में समर्थ है इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'शक्ति'** है।

(श्रिञ् सेवायाम्) इस धातु से 'श्री' शब्द सिद्ध होता है। 'यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः'। जिसका सेवन सब जगत्, विद्वान् और योगीजन करते हैं, उस परमात्मा का नाम **'श्री'** है।

(लक्ष, दर्शनाङ्कनयोः) इस धातु से 'लक्ष्मी' शब्द सिद्ध होता है। 'यो लक्ष्यति पश्यत्यङ्कते चिह्नयति चराचरं जगदथवा वेदैराप्तैर्योगिभिश्च यो लक्ष्यते स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः' जो सब चराचर जगत् को देखता, चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता, जैसे शरीर के नेत्र, नासिका और वृक्ष के पत्र, पुष्प, फल, मूल, पृथिवी, जल के कृष्ण, रक्त, श्वेत, मृत्तिका, पाषाण, चंद्र, सूर्य्यादि चिह्न बनाता तथा सबको देखता, सब शोभाओं की शोभा और जो वेदादि शास्त्र वा धार्मिक विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम **'लक्ष्मी'** है।

(सृ गतौ) इस धातु से 'सरस्' उससे मतुप् और ङीप् प्रत्यय होने से 'सरस्वती' शब्द सिद्ध होता है। 'सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती' जिसको विविध विज्ञान अर्थात् शब्द अर्थ संबंध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे इससे उस परमेश्वर का नाम **'सरस्वती'** है।

'सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः' जो अपने कार्य करने में किसी अन्य की सहायता की इच्छा नहीं करता, अपने ही सामर्थ्य से अपने सब काम पूरे करता है इसलिए उस परमात्मा का नाम **'सर्वशक्तिमान्'** है।

(णीञ् प्रापणे) इस धातु से 'न्याय' शब्द सिद्ध होता है। **'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'** यह वचन न्याय सूत्रों पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य का है। 'पक्षपातराहित्याचरणं न्यायः' जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा से सत्य-सत्य सिद्ध हो तथा पक्षपात रहित धर्मरूप आचरण है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह न्याय कहलाता है। 'न्यायं कर्तुं शीलमस्य स न्यायकारीश्वरः' जिसका न्याय अर्थात् पक्षपातरहित धर्म करने ही का स्वभाव है इससे उस ईश्वर का नाम **'न्यायकारी'** है।

(दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु) इस धातु से 'दया' शब्द सिद्ध होता है। 'दयते ददाति जानाति गच्छति रक्षति हिनस्ति यया सा दया, बह्वी दया विद्यते यस्य स दयालुः परमेश्वरः' जो अभय का दाता सत्यासत्य सर्व विद्याओं का जानने, सब सज्जनों की रक्षा करने और दुष्टों को यथायोग्य दंड देने वाला है इससे परमात्मा का नाम **'दयालु'** है।

'द्वयोर्भावो द्वाभ्यामितं सा द्विता द्वीतं वा सैव तदेव वा द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं द्वितीयेश्वरभावो यस्मिंस्तदद्वैतम्। अर्थात् सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं ब्रह्म' दो का होना वा दोनों से युक्त होना वह द्विता वा द्वीत अथवा द्वैत से रहित है। सजातीय जैसे मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है; विजातीय जैसे मनुष्य से भिन्न जाति वाला वृक्ष पाषाणादि। स्वगत अर्थात् शरीर में जैसे आंख, नाक, कान आदि अवयवों का भेद है वैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर, विजातीय ईश्वर वा अपने आत्मा में तत्त्वांतर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है इससे परमात्मा का नाम **'अद्वैत'** है।

'गण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गणयन्ति ते गुणाः, यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुण ईश्वरः' जितने सत्त्व, रज, तम, रूप, रस, स्पर्श गन्धादि जड़ के गुण, अविद्या, अतपज्ञता, राग, द्वेष आदि क्लेश जीव के गुण हैं उनसे जो पृथक् है। इसमें **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'** इत्यादि उपनिषदों का प्रमाण है। जो शब्द, स्पर्श, रूपादि गुणरहित है इससे परमात्मा का नाम **'निर्गुण'** है।

'यो गुणैः सह वर्त्तते स सगुणः' जो सबका ज्ञान सर्वसुख पवित्रता अनंत बलादि गुणों से युक्त है इसलिए परमात्मा का नाम **'सगुण'** है। जैसे पृथिवी गन्धादि गुणों से 'सगुण' और इच्छादि गुणों से रहित होने से 'निर्गुण' है, वैसे जगत् और जीव के गुणों से पृथक् होने से परमेश्वर 'निर्गुण' और सर्वज्ञादि गुणों से सहित होने से 'सगुण' है। अर्थात् ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो सगुणता और निर्गुणता से पृथक् हो। जैसे चेतन के गुणों से पृथक् होने से जड़ पदार्थ निर्गुण और अपने गुणों से सहित होने से सगुण, वैसे ही जड़ के गुणों से पृथक् होने से जीव निर्गुण और इच्छादि अपने गुणों से सहित होने से सगुण। ऐसे ही परमेश्वर में भी समझना चाहिए।

'अन्तर्यन्तुं नियन्तुं शीलं यस्य सोऽयमन्तर्यामी' जो सब प्राणि और अप्राणिरूप जगत् के भीतर व्यापक होके सबका नियम करता है इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'अन्तर्यामी'** है।

'यो धर्म्मे राजते स धर्मराजः' जो धर्म ही में प्रकाशमान और अधर्म से रहित धर्म ही का प्रकाश करता है इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'धर्म्मराज'** है।

(यमु उपरमे) इस धातु से 'यम' शब्द सिद्ध होता है। 'यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः' जो सब प्राणियों के कर्मफल देने की व्यवस्था करता और सब अन्यायों से पृथक् रहता है इसलिए परमात्मा का नाम **'यम'** है।

(भज सेवायाम्) इस धातु से 'भग' इससे मतुप् होने से 'भगवान्' शब्द सिद्ध होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। 'भगः सकलैश्वर्य्यं सेवनं वा विद्यते यस्य स भगवान्' जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त वा भजने के योग्य है इसलिए उस ईश्वर का नाम **'भगवान्'** है।

(मन ज्ञाने) इस धातु से 'मनु' शब्द बनता है 'यो मन्यते स मनुः' जो मनु अर्थात् विज्ञानशील और मानने योग्य है इसलिए उस ईश्वर का नाम **'मनु'** है।

(पृ पालनपूरणयोः) इस धातु से 'पुरुष' शब्द सिद्ध हुआ है। 'यः स्वव्याप्त्या चराऽचरं जगत् पृणाति पूरयति वा स पुरुषः' जो सब जगत् में पूर्ण हो रहा है इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'पुरुष'** है।

(डुभृञ् धारणपोषणयोः) 'विश्व' पूर्वक इस धातु से 'विश्वम्भर' शब्द सिद्ध होता है। 'यो विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा स विश्वम्भरो जगदीश्वरः' जो जगत् का धारण और पोषण करता है इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'विश्वम्भर'** है।

(कल संख्याने) इस धातु से 'काल' शब्द सिद्ध बना है। 'कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः' जो जगत् के सब पदार्थ और जीवों की संख्या करता है इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'काल'** है।

(शिष्लृ विशेषणे) इस धातु से 'शेष' शब्द सिद्ध होता है। 'यः शिष्यते स शेषः' जो उत्पत्ति और प्रलय से शेष अर्थात् बच रहा है इसलिए उस परमात्मा का नाम **'शेष'** है।

(आप्लृ व्याप्तौ) इस धातु से 'आप्त' शब्द सिद्ध होता है। 'यः सर्वान् धर्मात्मन आप्नोति वा सर्वैर्धर्मात्मभिराप्यते छलादिरहितः स आप्तः' जो सत्योपदेशक सकल विद्यायुक्त सब धर्मात्माओं को प्राप्त होता और धर्मात्माओं से प्राप्त होने योग्य छल कपटादि से रहित है इसलिए उस परमात्मा का नाम **'आप्त'** है।

(डुकृञ् करणे) 'शम्' पूर्वक इस धातु से 'शंङ्कर' शब्द सिद्ध हुआ है। 'यः शंङ्कल्याणं सुखं करोति स शंङ्करः' जो कल्याण अर्थात् सुख का करनेहारा है। इससे इस ईश्वर का नाम **'शंङ्कर'** है।

'महत्' शब्द पूर्वक 'देव' शब्द से 'महादेव' सिद्ध होता है। 'यो महतां देवः स महादेवः' जो महान् देवों का देव अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान, सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक है इसलिए उस परमात्मा का नाम **'महादेव'** है।

(प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च) इस धातु से 'प्रिय' शब्द सिद्ध होता है। 'यः पृणाति प्रीयते वा स प्रियः' जो सब धर्मात्माओं, मुमुक्षुओं और शिष्टों को प्रसन्न करता और सब को कामना के योग्य है इसलिए उस ईश्वर का नाम **'प्रिय'** है।

(भू सत्तायाम्) 'स्वयं' पूर्वक इस धातु से 'स्वयम्भु' शब्द सिद्ध होता है। 'यः स्वयं भवति स स्वयम्भूरीश्वर' जो आप से आप ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है इससे उस परमात्मा का नाम **'स्वयम्भू'** है।

(कु शब्दे) इस धातु से 'कवि' शब्द सिद्ध होता है। 'यः कौति शब्दयति सर्वा विद्याः स कविरीश्वरः' जो वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेष्टा और वेत्ता है इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'कवि'** है।

(शिवु कल्याणे) इस धातु से 'शिव' शब्द सिद्ध होता है। **'बहुलमेतन्निदर्शनम्'** इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिवु धातु माना जाता है, जो कल्याणस्वरूप और कल्याण का करनेहारा है इसलिए उस परमेश्वर का नाम 'शिव' है।

ये सौ नाम परमेश्वर के लिखे हैं परंतु इनसे भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं। क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनंत गुण कर्म स्वभाव हैं वैसे उसके अनंत नाम भी हैं। उनमें से प्रत्येक गुण, कर्म और स्वभाव का एक-एक नाम है। इससे ये मेरे लिखे नाम समुद्र के सामने बिंदुवत् हैं क्योंकि वेदादि शास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण कर्म स्वभाव व्याख्यात किए हैं। उनके पढ़ने पढ़ाने से बोध हो सकता है और अन्य पदार्थों का ज्ञान भी उन्हीं को पूरा-पूरा हो सकता है जो वेदादिशास्त्रों को पढ़ते हैं।

(प्रश्न) जैसे अन्य ग्रंथकार लोग आदि, मध्य और अंत में मंगलाचरण करते हैं वैसे आपने कुछ भी न लिखा न किया ?

(उत्तर) ऐसा हमको करने योग्य नहीं क्योंकि जो आदि, मध्य और अंत में मंगल करेगा तो उसके ग्रंथ में आदि, मध्य तथा अंत के बीच में जो कुछ लेख होगा वह अमंगल ही रहेगा। इसलिए **'मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रु तितश्चेति'** यह सांख्यशास्त्र का वचन है। इसका यह अभिप्राय है कि जो न्याय, पक्षपातरहित, सत्य वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा है उसी का यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना गंगलाचरण कहाता है। ग्रंथ के आरंभ से ले के समाप्तिपर्यन्त सत्याचार का करना ही मंगलाचरण है, न कि कहीं मंगल और कहीं अमंगल लिखना। देखिए महाशय महर्षियों के लेख को—

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि।।

यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है।

हे संतानो ! जो 'अनवद्य' अनिंदनीय अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हैं वे ही तुमको करने योग्य है अधर्मयुक्त नहीं।

इसलिए जो आधुनिक ग्रंथों में 'श्रीगणेशाय नमः' 'सीतारामाभ्यां नमः' 'राधाकृष्णाभ्यां नमः' 'श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः' 'हनुमते नमः' 'दुर्गायै नमः' 'बटुकाय नमः' 'भैरवाय नमः' 'शिवाय नमः' 'सरस्वत्यै नमः' 'नारायणाय नमः' इत्यादि लेख देखने में आते हैं, इनको बुद्धिमान लोग वेद और शास्त्रों से विरुद्ध होने से मिथ्या ही समझते हैं। क्योंकि वेद और ऋषियों के ग्रंथों में कहीं ऐसा मंगलाचरण देखने में नहीं आता और आर्ष ग्रंथों में 'ओ३म्' तथा 'अथ' शब्द तो देखने में आता है। देखो—

'अथ शब्दानुशासनम्' अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। यह व्याकरणमहाभाष्य।

अथातो धर्मजिज्ञासा' अथेत्यानन्तर्ये वेदाध्ययनानन्तरम्। यह पूर्वमीमांसा।

'अथातो धर्म व्याख्यास्यामः' अथेति धर्मकथनानन्तरं धर्मलक्षणं विशेषेण व्याख्यास्यामः। यह वैशेषिक दर्शन।

'अथ योगानुशासनम्' अथेत्ययमधिकारार्थः। यह योगशास्त्र।

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' सांसारिकविषयभोगानन्तरं त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्त्यर्थः प्रयत्नः कर्त्तव्यः। यह सांख्यशास्त्र।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह वेदांतसूत्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'। यह छांदोग्य उपनिषद् का वचन है।

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्'। यह मांडूक्य उपनिषद् के आरंभ का वचन है।

ऐसे ही अन्य ऋषि मुनियों के ग्रंथों में 'ओम्' और 'अथ' शब्द लिखे हैं, वैसे ही (**अग्नि, इट्, अग्नि, ये त्रिषप्ताः परियन्ति**) ये शब्द चारों वेदों के आदि में लिखे हैं। 'श्री गणेशाय नमः' इत्यादि शब्द कहीं नहीं और जो वैदिक लोग वेद के आरंभ में 'हरिः ओम्' लिखते और पढ़ते हैं। यह पौराणिक और तांत्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखे हैं। वेदादि शास्त्रों में 'हरि' शब्द आदि में कहीं नहीं। इसलिए 'ओ३म्' वा 'अथ' शब्द ही ग्रंथ के आदि में लिखना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 26

अपने विचार

(स्वामी दयानंद ने **सत्यार्थ प्रकाश** के चौदवें समुल्लास पूरा होने पर ग्रंथ के अंत में **स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः** नामक एक प्रकरण दिया है। इसमें उन्होंने 'ईश्वर', 'चारों वेदों', 'धर्म-अधर्म', 'जीव' आदि विषयों के बारे में सूत्र रूप से अपने विचार दिए हैं)।

सर्वतंत्र सिद्धांत अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आए, मानते हैं और मानेंगे भी इसीलिए उसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके। यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुए जन जिस को अन्यथा जानें वा मानें उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान नहीं करते किंतु जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक, पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं वही सबको मंतव्य और जिसको नहीं मानते वह अमंतव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता। अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से ले कर जैमिनिमुनि पर्यंतों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूं; सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूं।

मैं अपना मंतव्य उसी को जानता हूं कि जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतांतर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किंतु जो सत्य है उसको मानना, मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त में प्रचारित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता किंतु जो-जो आर्यावर्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चाल-चलन है उसका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता न करना चाहता हूं क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म से बहिः है।

मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुःख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किंतु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं—कि चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों—उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्र, सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचर सदा किया करे अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें परंतु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इसमें श्रीमान् महाराजा भर्तृहरिजी आदि ने श्लोक कहे हैं उनका लिखना उपयुक्त समझ कर लिखता हूं–

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगांतरे वा न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।
।।1।। भर्तृहरिः।।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्म त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।। 2।।
महाभारते श्लो. 11। 12।।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति।। 3।। मनु.।।
सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाऽऽक्रमन्त्युषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।। 4।।
न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
न हि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्।। 5।। उपनिषदि।।

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सबको निश्चय रखना योग्य है। अब मैं जिन-जिन पदार्थों को जैसा-जैसा मानता हूं उन-उन का वर्णन संक्षेप से यहां करता हूं कि जिनका विशेष व्याख्यान इस ग्रंथ में अपने-अपने प्रकरण में कर दिया है। इनमें से–

1. प्रथम **'ईश्वर'** कि जिसके ब्रह्म परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानंदादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं। जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है; उसी को परमेश्वर मानता हूं।

2. चारों **'वेदों'** (विद्या धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मंत्रभाग) को निर्भ्रांत स्वतः प्रमाण मानता हूं। वे स्वयं प्रमाण रूप हैं कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रंथ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतःप्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं। और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अंग, छः उपांग, चार उपवेद और 1127 (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाए ग्रंथ हैं उनको परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूं।

3. जो पक्षपातरहित, न्यायाचरण सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा, वेदों से अविरुद्ध है उसको **'धर्म'** और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभंग, वेदविरुद्ध है उसको **'अधर्म'** मानता हूं।

4. जो इच्छा, द्वेष, सुख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को 'जीव' मानता हूं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्यव्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्त्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक और पिता-पुत्र आदि संबंधयुक्त मानता हूं।

6. **'अनादि पदार्थ'** तीन हैं। एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म स्वभाव भी नित्य हैं।

7. **'प्रवाह से अनादि'** जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते परंतु जिससे प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उनमें अनादि है और उनसे पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी, इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूं।

8. **'सृष्टि'** उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्तिपूर्वक मेल हो कर नाना रूप बनना।

9. **'सृष्टि का प्रयोजन'** यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टिनिमित्त गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किसलिए हैं ? उसने कहा देखने के लिए। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग कराना आदि भी।

10. **'सृष्टि सकर्तृक'** है। इसका कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है। क्योंकि सृष्टि की रचना देखने और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का **'कर्त्ता'** अवश्य है।

11. **'बंध'** सनिमित्तक अर्थात् अविद्या निमित्त से है। जो-जो पाप कर्म ईश्वर-भिन्नोपासना अज्ञानादि सब दुःख फल करने वाले हैं इसीलिए यह **'बंध'** है कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है।

12. **'मुक्ति'** अर्थात् सर्व दुःखों से छूटकर बंधरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यंत मुक्ति के आनंद को भोग के पुनः संसार में आना।

13. **'मुक्ति के साधन'** ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।

14. **'अर्थ'** वह है कि जो धर्म ही से प्राप्त किया जाए और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको **'अनर्थ'** कहते हैं।

15. **'काम'** वह है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाए।

16. **'वर्णाश्रम'** गुण कर्मों की योग्यता से मानता हूं।

17. **'राजा'** उसी को कहते हैं जो शुभ गुण, कर्म, स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपात रहित न्यायधर्म का सेवी, प्रजाओं में पितृवत् वर्त्ते और उनको पुत्रवत् मान के उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने से सदा यत्न किया करे।

18. **'प्रजा'** उसको कहते हैं कि जो पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्षपातरहित न्याय धर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राजविद्रोहरहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्त्ते।

19. जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे, अपनी आत्मा के समान सबका सुख चाहे सो **'न्यायकारी'** है; उसको मैं भी ठीक मानता हूं।

20. **'देव'** विद्वानों को और अविद्वानों को **'असुर'** पापियों को **'राक्षस'** अनाचारियों को **'पिशाच'** मानता हूं।

21. उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना **'देवपूजा'** कहलाती है। इससे विपरीत अदेवपूजा, इनकी मूर्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं।

22. **'शिक्षा'** जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं।

23. **'पुराण'** जो ब्रह्मादि के बनाए ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूं; अन्य भागवतादि को नहीं।

24. **'तीर्थ'** जिससे दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्संग, यमादि, योगाभ्यास, पुरुषार्थ विद्यादानादि शुभ कर्म हैं उसी को तीर्थ समझता हूं; इतर जल-स्थलादि को नहीं।

25. **'पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा'** इसलिए है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।

26. **'मनुष्य'** को सबसे यथायोग्य स्वात्मवत् सुख, दुःख, हानि, लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ; अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूं।

27. **'संस्कार'** उसको कहते हैं कि जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवे। वह निषेकादि श्मशानांत सोलह प्रकार का है। इसको कर्तव्य समझता हूं और दाह के पश्चात् मृतक के लिए कुछ भी न करना चाहिए।

28. **'यज्ञ'** उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ विद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना है; उसको उत्तम समझता हूं।

29. जैसे **'आर्य'** श्रेष्ठ और **'दस्यु'** दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं वैसे ही मैं भी मानता हूं।

30. **'आर्यावर्त'** देश इस भूमि का नाम इसलिए है कि इसमें आदि सृष्टि से आर्य लोग निवास करते हैं परंतु इनकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विंध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी है। इन चारों के बीच में जितने देश हैं उसको **'आर्यावर्त'** कहते और जो इसमें सदा रहते हैं उनको भी आर्य कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

31. जो सांगोपांग वेदविद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह **'आचार्य'** कहाता है।

32. **'शिष्य'** उसको कहते हैं कि जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला है।

33. **'गुरु'** माता-पिता और जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह भी 'गुरु' कहाता है।

34. **'पुरोहित'** जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे।

35. **'उपाध्याय'** जो वेदों का एकदेश वा अंगों को पढ़ाता हो।

36. **'शिष्टाचार'** जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्याग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार और जो इसको करता है वह **'शिष्ट'** कहाता है।

37. प्रत्यक्षादि आठ **'प्रमाणों'** को भी मानता हूं।

38. **'आप्त'** जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सबके सुख के लिए प्रयत्न करता है उसी को आप्त कहता हूं।

39. **'परीक्षा'** पांच प्रकार की है। इसमें से जो प्रथम ईश्वर उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवीं अपने आत्मा की पवित्रता विद्या, इन पांच परीक्षाओं से सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना चाहिए।

40. **'परोपकार'** जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़े उसके करने को परोपकार कहता हूं।

41. **'स्वतंत्र' 'परतंत्र'** जीव अपने कर्मों में स्वतंत्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतंत्र, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतंत्र है।

42. **'स्वर्ग'** नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

43. **'नरक'** जो दुःख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

44. **'जन्म'** जो शरीर धारण कर प्रकट होना सो पूर्व, पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूं।

45. शरीर के संयोग का नाम **'जन्म'** और वियोग मात्र को **'मृत्यु'** कहते हैं।

46. **'विवाह'** जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छा कर के पाणिग्रहण करना वह **'विवाह'** कहाता है।

47. **'नियोग'** विवाह के पश्चात् पति के मर जाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा पुरुष आपातकाल में स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ संतानोत्पत्ति करना।

48. **'स्तुति'** गुणकीर्त्तन श्रवण और ज्ञान होना, इसका फल प्रीति आदि होते हैं।

49. **'प्रार्थना'** अपने सामर्थ्य के उपरांत ईश्वर के संबंध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं उनके लिए ईश्वर से याचना करना और इसका फल निरभिमान आदि होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

50. **'उपासना'** जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना, ईश्वर को सर्वव्यापक अपने को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना उपासना कहाती है, इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है।

51. **'सगुणनिर्गुणसतुतिप्रार्थनोपासना'** जो-जो गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त और जो-जो गुण नहीं हैं उनसे पृथक् मान कर प्रशंसा करना सगुणनिर्गुण स्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की ईश्वर से इच्छा और दोष छुड़ाने के लिए परमात्मा का सहाय चाहना सगुण-निर्गुण प्रार्थना और सब गुणों से सहित सब दोषों से रहित परमेश्वर को मान कर अपनी आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना सगुणनिर्गुणोपासना कहाती है।

ये संक्षेप में स्वसिद्धांत दिखला दिए हैं। इनकी विशेष व्याख्या इसी **'सत्यार्थ प्रकाश'** के प्रकरण-प्रकरण में है तथा ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका आदि ग्रंथों में भी लिखी है अर्थात् जो-जो बात सबके सामने माननीय है उसको मानता अर्थात् जैसे सत्य बोलना सबके सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ऐसे सिद्धांतों को स्वीकार करता हूं और जो मतमतांतर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न नहीं करता क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर सबको ऐक्यमत में करा द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त करा के सबसे सबको सुख लाभ पहुंचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा सहाय और आप्तजनों की सहानभूति से **'यह सिद्धांत सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे'** जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनंदित होते रहें। यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 27

नित्यकर्म और मुक्ति

(स्वामी दयानंद का यह भाषण **उपदेश मंजरी** का चौदहवां व्याख्यान है जो उन्होंने अपने पूना-प्रवचनों के दौरान 2 अगस्त, 1975 को दिया था। इस भाषण में स्वामीजी ने ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथि यज्ञ की व्याख्या की है तथा मुक्ति के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं)।

प्रत्येक स्त्री-पुरुष के जो प्रतिदिन के कर्तव्य हैं, उनको आन्हिक कर्म कहते हैं। धर्म-संबंधी जो कर्त्तव्य हैं वे नित्यकर्म हैं। वे कर्म किसको, किस प्रकार और कहां तक करने चाहिए और किसको न करने चाहिए, इस विषय पर विचार किया जाता है। बालक मूर्ख छोटा होने के कारण माता-पिता के आधीन रहता है। 8 वर्ष की अवस्था तक उसमें धर्म-संबंधी काम करने की योग्यता नहीं होती। इसलिए हमारे धर्मशास्त्रों ने व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत) होने से पहले बालकों के लिए नित्यकर्म का विधान नहीं किया है। इसी प्रकार वर्ण, आश्रम, विद्या, आयु और शारीरिक बल इत्यादि के अनुसार शास्त्रों ने नित्यकर्म की व्यवस्था की है। धर्मानुष्ठान के संबंध में नित्यकर्म निम्नलिखित हैं–

1. ब्रह्मयज्ञ–जो वेदों के पठन-पाठन द्वारा होता है। **'ब्रह्म'** शब्द के अर्थ विद्या, वेद और परमात्मा तीनों के हैं। **'यज्ञ'** शब्द का अर्थ विचार है। इसलिए ब्रह्मयज्ञ के अर्थ वेदों का विचार या परमात्मा का विचार हुआ। ब्रह्मयज्ञ के ठीक अर्थों को मन में जगह देकर यह स्पष्ट मालूम होता है। आजकल जिस रीति पर ब्रह्मयज्ञ किया जाता है, वह निष्फल है और फिर यह आक्षेप मन में कभी स्थान न पावेगा कि आधुनिक ब्रह्मयज्ञ शास्त्र के अनुसार नहीं है।

2. देवयज्ञ–"यदग्नौ हूयते स देवयज्ञः" जो अग्नि में होम किया जाता है, वह देवयज्ञ का अभिप्राय देवताओं की पूजा समझते हैं, परंतु ब्राह्मण ग्रंथों और मनुस्मृति के देखने से मालूम होता है कि इस देवयज्ञ का ठीक अभिप्राय होम अर्थात् अग्निहोत्र है। अग्नि दो प्रकार की है, **एक जठराग्नि** और **दूसरी भौतिकाग्नि**। कई लोग कहते हैं–

होमैर्देवान् यथाविधि अर्चयेत्। मनु. 3/81

होम शब्द के पारिभाषिक अर्थ कभी-कभी दान और आदान के भी हो जाते हैं। फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी कोई मनुष्य किसी प्रकार मूर्ति-पूजा को देवयज्ञ में शामिल नहीं कर सकता।

3. पितृयज्ञ–"(यस्मिन्) पितृभ्यो ददाति स पितृयज्ञः।" जिसमें पितरों को दिया जावे अर्थात् उनकी सेवा की जावे, उसे **पितृयज्ञ** कहते हैं। यहां पर पितृ शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।।
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान।। मनू. 2/156, 154

सुनीति, धर्म, सच्चाई और सच्चरित्रता आदि गुणों से युक्त अत्यंत सहिष्णु, महात्मा जो प्राचीन ऋषि हुए हैं, उन्हीं को अपने तपोबल के प्रभाव से वसु, रुद्र और आदित्य आदि की पदवियां मिला करती थीं। ऐसे ऋषि सच्चे पितर होते थे और उनका आदर-सत्कार करना पितृयज्ञ कहलाता था। 24 वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करने वाला वसु, 36 वर्ष तक रुद्र और 48 वर्ष तक रहने वाला आदित्य कहलाता था। छांदोग्य-उपनिषद् में प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल के लिए 3 सवन बतलाए गए हैं, जो तीनों प्रकार के ब्रह्मचारियों से संबंध रखते हैं। इन सबके तात्पर्य पर विचार करने से मालूम होता है कि विद्या के द्वारा आत्मिक जन्म देने वाला ही पिता कहलाता है और ऋषि मंत्रद्रष्टा को कहते हैं।

आजकल पितृयज्ञ कहने से जो मृतकों का श्राद्ध और तर्पण समझा जाता है, वह ठीक नहीं है क्योंकि मनुजी ने भी कहा है कि श्रद्धा से जो काम किया जाता है, उसे **श्राद्ध** कहते हैं और तृप्ति का नाम **तर्पण** है। इन सब अर्थों और प्रयोगों पर विचार करने से मालूम होता है कि आजकल जो देवयज्ञ और पितृयज्ञ की व्याख्या की जाती है, वह कवियों की अत्युक्ति ही है। भला विद्या-सत्कार अर्थात् पितृ सत्कार अर्थात् विद्वानों के सत्कार को पितृयज्ञ मानना चाहिए। श्रद्धा के बिना जो किया जाता है वह धर्म-कर्म अर्थात् श्राद्ध नहीं होता। मनुजी ने कहा है–

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।। मनु. 4/30

पाखंडी, वेदों की आज्ञा के विरुद्ध चलने वाले, विडालवृत्ति वाले, हठी, बकवादी और बगुलाभक्त मनुष्यों का वाणी से भी सत्कार नहीं करना चाहिए।

वेदविहित पितरों की सेवा-सुश्रूषा छोड़कर समुद्र, पहाड़, नदी और वृक्षों का तर्पण करना और इसे श्राद्ध मानना, भला पाखंड नहीं तो और क्या है ? प्राचीन पद्धति ही यदि लेनी थी, तो ऋषियों की पद्धति को स्वीकार करते।

4. भूतयज्ञ–"यो भूतेभ्यः क्रियते स भूतयज्ञः।" जो प्राणियों को भाग दिया जाता है, उसे भूतयज्ञ कहते हैं। इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, साधारण प्राणियों का पालन करना भूतयज्ञ है।

5. अतिथि यज्ञ–मनुजी लिखते हैं–

अनित्या हि स्थितिर्यस्य सोऽतिथिः सद्भिरुच्यते।[1]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसके आगमन की कोई नियत तिथि न हो और स्थिति भी जिसकी अनियत हो, वह **अतिथि** कहलाता है। अतिथि यज्ञ का अधिकारी वही है, जो विद्वान हो एवं जिसका आना, जाना और ठहरना अनियत हो, वह चाहे किसी वर्ण का हो (उसकी सेवा करना) यह एक श्रेष्ठ कर्म है।

अब पुनः ब्रह्मयज्ञ का विचार करना चाहिए। इस यज्ञ के संबंध में संध्योपासना अवश्य करनी चाहिए। इसके विषय में एक **सन्ध्योपनिषद्** है, इस पुस्तक में विशेष व्याख्या की गई है। इस उपासना का अधिकार यदि योग्य अवस्था हो तो लड़के-लड़कियों को बराबर है। दिन और रात की संधि के समय में यह उपासना अवश्य करनी चाहिए। ऐसा संधि के समय में सायं-प्रातः दो समय आता है, तीन बार नहीं होता। इसलिए दोपहर की संध्या कदापि नहीं हो सकती। साम-ब्राह्मण और यजुर्वेद का ब्राह्मण देख लीजिए—

तस्मादहोरात्रस्य संयोगेसन्ध्यामुपासीत।[2]

दिन और रात की संधि के समय संध्योपासना करनी चाहिए।

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायेत्।[3]

सूर्य के उदय और अस्त होने पर संध्या करनी चाहिए। इन प्रमाणों से केवल दो संध्या ही सिद्ध होती हैं। संध्योपासना में गायत्री महामंत्र के अर्थ पर विचार करना चाहिए। इस मंत्र में सारे विश्व को उत्पन्न करने वाले परमात्मा का जो उत्तम तेज है उसका ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है और धर्माचरण में श्रद्धा और योग्यता उत्पन्न होती है। दूसरे किसी मत में प्रार्थना के मंत्रों की ऐसी गहराई और सचाई नहीं है। ईसाई लोगों की प्रार्थना के मंत्र का अर्थ इस प्रकार है कि—**"हे परमेश्वर ! हमको प्रतिदिन रोटी खाने को दे।"** इसकी अपेक्षा इन आर्यों के महामंत्र का अर्थ कैसा गंभीर है। आधुनिक समय में जो-जो मत निकले हैं, उनके प्रार्थना के मंत्र इस महामंत्र के सामने कैसे तुच्छ हैं ? इस पर प्रत्येक बुद्धिमान को विचार करना चाहिए। संध्योपासना सदा सायं-प्रातः इन दो कालों में ही करनी चाहिए। इन दोनों कालों में मनोवृत्ति की स्थिति में प्राकृतिक सहायता मिलती है। सूतक में संध्या अवश्य करनी चाहिए, अनध्याय नहीं करना चाहिए। इस विषय में मनुजी लिखते हैं।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
न निरोधोस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि।। मनु. 2।105

वेद-पाठ, नित्यकर्म और होम मंत्रों में अनध्याय नहीं है।

नित्यकर्म का अभिप्राय यह है कि अपने मन का लक्ष्य परमेश्वर को बनाया जावे, इसलिए प्रत्येक कर्म की समाप्ति पर यह कहा जाता है कि मैं इस कर्म का या इसके फल को परमेश्वर के अर्पण करता हूं। यहां तक नित्य कर्म का विधान हुआ।

अब आगे मुक्ति के विषय में थोड़ा-सा विचार किया जाता है। मुक्ति शब्द का अर्थ छूटना है। यहां प्रश्न होता है, किससे छूटना ? उत्तर स्पष्ट है कि दुःख अर्थात् बंधन से छूटना मुक्ति है। जहां बंधन नहीं, वहां मुक्ति भी नहीं। जीवात्मा बद्ध है, इसलिए इसको मुक्ति की आवश्यकता है। ईश्वर सदा मुक्त है अर्थात् बंधन से पृथक् है, इसलिए उसको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्त-स्वभाव कहते हैं। मुक्ति का अधिकारी होना बड़ा ही कठिन काम है। मुक्ति की दशा में नित्य सुख का अनुभव होता है। आजकल तो लोग यह समझते हैं कि सस्ती भाजी की तरह मनमाने कामों से मुक्ति मिलती है, परंतु यह मूर्खतापन की समझ है। मुक्ति के मनमाने चार भेद जो लोग बतलाते हैं वे ये हैं–सायुज्य, सारूप्य, सामीप्य और सालोक्य। ये सब कल्पित हैं, वेदादि शास्त्रों में मुक्ति के ये भेद कहीं नहीं लिखे। प्रत्युत उनमें एक ही प्रकार की मुक्ति बतलाई है। यजुर्वेद में लिखा है–

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

यजु. 31/18

"उस परमात्मा को जानकर ही मृत्यु को जीत सकते हैं, दूसरा और कोई मार्ग नहीं है।" इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मुक्ति का मार्ग एक है और वह केवल परमेश्वर का ज्ञान है। इस पर प्रश्न होगा कि वह परमेश्वर कैसा है ?

न तस्य प्रतिमा असित यस्य नाम महद्यशः। यजु. 31/2

"उस परमात्मा की कोई प्रतिमा (मूर्ति या पैमाना) नहीं है, जिसका कि यश बड़ा है" फिर तवलकार और बृहदारण्यक उपनिषद् को भी देखना चाहिए, जिनमें बतलाया है कि जीवात्मा के भीतर भी वह परमात्मा व्यापक है तथा उसे वाणी, मन, आंख, कान और प्राणों को भी अपने-अपने कामों में लगाने वाला माना है और उसे एक तथा अद्वितीय माना है। इन सब प्रमाणों पर विचार करने से सिद्ध होता है। वह परमेश्वर अरूप, अनादि तथा अनंत है। वही ब्रह्म सबसे बड़ा और सबका सहारा है। आजकल की मुक्ति तो यह समझी जाती है कि जीव और परमात्मा एक ही है, बस, यह ज्ञान होना ही मुक्ति है। यह आजकल के वेदांतियों का मत है किंतु यह सच्चा वेदांत नहीं है और न वेदों का सिद्धांत है। इस बात की पड़ताल करने पर कि षट् दर्शनों के प्रणेताओं की मुक्ति के विषय में क्या सम्मति है–इसका तत्त्व मालूम हो जाएगा। पहले जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा में यह कहा है कि धर्म अर्थात् यज्ञ से मुक्ति मिलती है और वहां **"यज्ञो वै विष्णुः"**[4] इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण भी दिए हैं। इस पर विचार कीजिए।

फिर कणाद मुनि ने वैशेषिक दर्शन में कहा है कि तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है।[5] न्यायदर्शन के रचयिता गौतम ने अत्यंत दुःख-निवृत्ति को मुक्ति माना है।[6] मिथ्याज्ञान के दूर होने से बुद्धि, वाक् और शरीर शुद्ध होते और इनकी शुद्धि से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, वही मुक्ति की अवस्था है। योगशास्त्र के कर्ता पतंजलि मानते हैं कि चित्त-वृत्तियों का निरोध करने से शांति और ज्ञान प्राप्त होते हैं और इससे कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। सांख्यशास्त्र के प्रणेता महामुनि कपिल कहते हैं कि तीन प्रकार के दुःखों की (अत्यंत) निवृत्ति होना ही परम पुरुषार्थ (मुक्ति) है।[7] अब देखिए कि उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदांत दर्शन के रचयिता बादरायण (व्यास) क्या कहते हैं–

अविभागेन दृष्टात्वात्।।[8] **चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः।।**[9] **अभावं बादरिराह ह्येवम्।।**[10] **(भावं जैमिनिर्निर्विकल्पामननात्।।**[11] **द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः।।**[12]

व्यास के मत से मुक्ति की दशा में अभाव और भाव दोनों रहते हैं। मुक्त जीवात्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का परमेश्वर के साथ व्याप्य-व्यापक संबंध रहता है। दोनों एक अर्थात् जीवात्मा का अभाव कभी नहीं होता है।

भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च।। वेदांत 4।4।21।

परमेश्वर के ज्ञान, सामर्थ्य और आनंद कुछ जीवात्मा को प्राप्त होते हैं।

ईश्वर का आनंद असीम है, वैसा आनंद मुक्त-जीवात्मा को हो ही नहीं सकता। जीव ब्रह्म में अभेद मानने से धर्मानुष्ठान के सब साधन योग, तप और उपासना आदि सब निष्फल हो जाएंगे। इसलिए परमात्मा और जीवात्मा को एक मानना ठीक नहीं है। व्यापक और व्याप्य, सेव्य और सेवक आदि संबंध ईश्वर और जीव में वर्तमान रहता है और यही संबंध जीवात्मा के जन्म-मरण के बंधन से छुटकारे का कारण होता है।

ओ३म् शांतिः शांतिः शांतिः।

संदर्भ और पाद-टिप्पणियां

1. द्र. मनु. 3/102—अनित्यो ही स्थितो यस्मात् तस्माददतिथिरुच्यते।
2. षड्विंश ब्राह्मण 4/5।। यह सामवेद का ब्राह्मण है।
3. तै. आ. 2।2।2।।
4. शत. 1।1।2।13।।
5. तत्त्वज्ञानन्निःश्रेयसम्।1।1।2।
6. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।1।1।22।।
7. अथ त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। सांख्य. 1।1।।
8. वेदान्त 4।4।4।
9. वेदान्त 4।4।6।
10. वेदान्त 4।4।10।
11. वेदान्त 4।4।11।
12. वेदान्त 4।4।12।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 28

आत्मकथा

(स्वामी दयानंद ने अपने पूना-प्रवचनों के अंतिम दिन अर्थात् 4 अगस्त, 1875 को अपने जीवन चरित्र के बारे में कुछ जानकारी दी थी। स्वामीजी के आरंभिक जीवन के संबंध में यह जानकारी प्रामाणिक मानी जाती है)।

हमसे बहुत से लोग पूछते हैं कि हम कैसे जाने कि आप ब्राह्मण हैं और कहते हैं कि आप अपने मित्रों तथा संबंधियों की चिट्ठियां मंगा दें या आपको जो पहचानता हो, उसको बतलावें। इसलिए मैं अपना कुछ वृत्तांत कहता हूं। दूसरे देशों की अपेक्षा गुजरात में कुछ मोह अधिक है, यदि मैं अपने पूर्व मित्रों तथा संबंधियों को अपना पता दूं या पत्र-व्यवहार करूं तो मेरे पीछे ऐसी व्याधि लग जावेगी, जिससे कि छूट चुका हूं। इस भय से कि कहीं वह बला मेरे पीछे न लग जावे, पत्रादि मंगा देने की चेष्टा नहीं करता। धरांधरा एक राज्य गुजरात देश में है। इसकी सीमा पर एक मौरवी नगर है, वहां मेरा जन्म हुआ था। मैं उदीच्य ब्राह्मण हूं। उदीच्य ब्राह्मण सामवेदी होते हैं। परंतु मैंने बड़ी कठिनता से यजुर्वेद पढ़ा था। मेरे घर में अच्छी जमींदारी है। इस समय मेरी अवस्था 50 वर्ष की होगी।

आठवें वर्ष मेरे बाद एक बहन पैदा हुई थी। मेरा एक चचेरा दादा था वह मुझसे बहुत ही प्यार करता था। मेरे कुटुंबियों के इस समय 15 घर होंगे। मुझको लड़कपन में ही रुद्राध्याय सिखलाकर शुक्ल यजुर्वेद का पढ़ाना आरंभ कर दिया था। मेरे पिता ने मुझको शिव की पूजा में लगा दिया। दसवें वर्ष से पार्थिव (मिट्टी के महादेव) की पूजा करने लग गया।

मुझे पिता ने शिवरात्रि का व्रत रखने को कहा था, परंतु मैंने शिवरात्रि का व्रत न किया। तब शिवरात्रि की कथा मुझे सुनाई, वह कथा मेरे मन को बहुत मीठी लगी और मैंने उपवास रखने का पक्का निश्चय कर लिया। मेरी मां कहती थी कि उपवास मत कर, मैंने माता का कहना न मानकर उपवास किया। मेरे यहां नगर के बाहर एक बड़ा देवल है। वहां शिवरात्रि के दिन-रात के समय बहुत लोग एकत्रित होते हैं और पूजा करते हैं। मेरे पिता, मैं और बहुत मनुष्य इकट्ठे थे। पहले पहर की पूजा कर ली, दूसरे पहर की पूजा भी हो गई। अब बारह बज गए और धीरे-धीरे आलस्य के कारण जहां-के-तहां झुकने लगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे पिता को भी निद्रा आ गई। इतने में पुजारी बाहर गया। मैं इस भय से न सोया कि कहीं मेरा उपवास निष्फल न हो जाए। इतने में यह चमत्कार हुआ कि मंदिर में बिल से चूहे बाहर निकले और महादेव की पिंडी के चारों तरफ फिरने लगे। पिंडी पर जो चावल चढ़ाए हुए थे, उन्हें ऊपर चढ़कर खाने भी लगे। मैं जागता था, इसलिए यह सब कौतुक देख रहा था। इससे एक दिन पहले शिवरात्रि की कथा मैं सुन ही चुका था। उसमें शिव के भयानक गणों, उसके पाशुपत अस्त्र बैल की सवारी और उसके आश्चर्यमय सामर्थ्य के विषय में बहुत कुछ सुन चुका था। इसलिए चूहों के इस खेल को देखकर मेरी लड़कपन बुद्धि आश्चर्य में पड़ गई और मैंने सोचा कि जो शिव अपने पाशुपत अस्त्र से बड़े-बड़े दैत्यों को मारता है, क्या वह ऐसे तुच्छ चूहों को भी अपने ऊपर से नहीं हटा सकता। इस प्रकार बहुत-सी शंकाएं मेरे मन में उठने लगीं ? मैंने पिताजी को जगाकर पूछा ये महादेव इस छोटे से चूहे को (क्यों) नहीं हटा देते। पिता ने कहा कि तेरी बुद्धि भ्रष्ट है, यह तो केवल देवता की मूर्ति है। तब मैंने निश्चय किया कि जब मैं इसी त्रिशूलधारी शिव को प्रत्यक्ष देखूंगा, तब ही पूजा करूंगा, अन्यथा नहीं। ऐसा निश्चय करके मैं घर को गया, भूख लगी, माता से खाने को मांगा। माता कहने लगी, ''मैं तुझसे पहले ही कहती थी कि तुझसे भूखा नहीं रहा जाएगा। तूने ही हठ करके उपवास किया।'' मां ने फिर मुझे खाना दिया और कहा कि दो-तीन दिन तू उनके अर्थात् पिता के पास मत जाइयो और न उनसे बोलियो, नहीं तो मार खाएगा, खाना खाकर मैं सो गया। दूसरे दिन आठ बजे उठा, मैंने सारी कथा अपने दादा से कह दी। मेरे दादा ने बुद्धिमत्ता से मेरे पिता को समझा दिया कि इसको आगे विद्या पढ़नी है, इसलिए व्रत, उपवास आदि इससे कुछ न कराया करो। इस समय मैं इनसे यजुर्वेद पढ़ता था और दूसरे एक पंडित मुझे व्याकरण पढ़ाते थे। सोलहवें या सत्रहवें वर्ष में यजुर्वेद समाप्त हुआ। इसके बाद मैं अपनी जमींदारी के गांव में पढ़ने के लिए गया। वहां हमारे घर में एक दिन नाच होना था, उस समय मेरी छोटी बहन मरणासन्न थी। कंठ बंद हो गया था। मैं वहां गया और उसके बिस्तरे के पास खड़ा हुआ। सबसे पहले मैंने मौत वहीं देखी। जब मेरी बहन मर गई, तो मुझे भय हुआ। मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सबको इसी प्रकार मरना है। सब लोग रोते थे, पर मेरी छाती भय से धड़क रही थी। इसलिए मेरी आंखों से आंसू भी न गिरा। मेरी यह दशा देखकर पिता ने मुझको पाषाण-हृदय कहा।

मेरी माता मुझे बहुत प्यार करती थी, किंतु उसने भी ऐसा ही किया। मुझे सोने के लिए कहते थे पर मुझे कभी अच्छी तरह नींद न आती थी : किंतु मैं हर घड़ी चौंक-चौंक उठता था और मन में भांति-भांति के विचार उठते थे। बहन के मरने के पश्चात् लोक-रीति के अनुसार पांच-छः बार रोना होने पर भी जब मुझे रोना नहीं आया तो सब लोग मुझे धिक्कारने लगे।

उन्नीसवें वर्ष में मुझसे अत्यंत स्नेह रखने वाले मेरे दादा को भी मृत्यु ने आन दबाया। मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं उनके पास बैठा था, मुझे देखकर उनके टप-टप आंसू गिरने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, मैंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रो-रो कर आंखें सुजा लीं। ऐसा रोना मुझे कभी नहीं आया। इस समय मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि चाचा की तरह मैं भी मर जाऊंगा। ऐसा विश्वास हो जाने पर अपने मित्रों और पंडितों से अमर होने का उपाय पूछने लगा। जब उन्होंने योगाभ्यास की ओर संकेत किया, तो मेरे मन में यह सूझी कि घर छोड़कर चला जाऊं। इस समय मेरी आयु 20 वर्ष की थी।

मेरी बढ़ी हुई उदासीनता देखकर पिता ने जमींदारी का काम करने को कहा, परंतु मैंने न किया। फिर पिताजी ने निश्चय किया कि मेरा विवाह कर दें ताकि मैं बिगड़ न जाऊं। यह विचार घर में होने लगा, यह मालूम करके मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि विवाह कभी न करूंगा। यह भेद मैंने एक मित्र से प्रकट किया तो उसने नापसंद किया और विवाह करने के लिए जोर देने लगा। मेरा विचार घर छोड़कर चले जाने का था, पर किसी ने सलाह न दी। जो कहते विवाह करने को ही कहते। एक महीने के भीतर विवाह की तैयारी हो गई। यह देखकर मैं एक दिन शौच के मिस (बहाने) से एक धोती साथ लेकर घर से निकल पड़ा और एक सिपाही द्वारा कहला भेजा कि एक मित्र के घर गया हूं। मैं एक पास के गांव में गया। इधर घर पर मेरी प्रतीक्षा दस बजे रात तक होती रही। इसी रात को चार घड़ी के तड़के मैं गांव से निकल आगे चल दिया और अपने गांव से दस कोस के अंतर पर एक गांव में हनुमान् के मंदिर में ठहरा। वहां से चलकर **सायला योगी के पास गया,** परंतु वहां पर मुझे शांति नहीं मिली और लोगों से सुना कि लालाभक्त नामी एक योगी है। तब उनकी ओर चल पड़ा। मार्ग में वैरागी एक मूर्ति रखकर बैठा हुआ था। बातचीत होने पर वह बोला कि अंगुली में सोने का छल्ला डालकर वैराग्य की सिद्ध कैसे होगी ? मुझे इस प्रकार खिजाकर मेरे तीनों छल्ले मूर्ति के भेंट चढ़वा लिए। लालाभक्त के पास जाकर मैं योगसाधन करने लगा। रात को एक वृक्ष के नीचे बैठ गया, तो वृक्ष के ऊपर घूघूं बोलने लगा। इसकी आवाज सुनकर मुझे भूत का भय हुआ। मैं मठ के भीतर घुस गया। फिर वहां से अहमदाबाद के समीप कोटकांगड़े नामी गांव में आया, वहां बहुत से वैरागी रहते थे। एक कहीं की रानी वैरागी के फंदे में आ गई थी। इस रानी ने मेरे साथ ठट्ठा किया, परंतु मैं जाल से छूट गया, इस स्थान पर मैं तीन महीने रहा था। यहां पर वैरागी मुझ पर हंसी उड़ाने लगे, इसलिए जो रेशमी किनारेदार धोती मैं पहनता था, वह मैंने फेंक दी। मेरे पास केवल 3 रुपए रह गए थे, इनसे सादी धोती खरीद कर पहन ली और तब से अपना ब्रह्मचारी नाम रख लिया। उन्हीं दिनों मैंने सुना कि कार्तिक के महीने में सिद्धपुर के स्थान पर एक मेला होता है। वह सोचकर कि वहां शायद मुझे कोई योगी मिल जावे और अमर होने का मार्ग बता दे, मैंने सिद्धपुर को प्रस्थान किया। मार्ग में मुझे अपने गांव का आदमी मिला, उसने जाकर मेरे बाप को बतला दिया कि मैं सिद्धपुर की ओर चला गया हूं। मेरे पिता तथा घर के लोग बराबर मेरी खोज में थे। इस आदमी की जबानी मेरा पता सुनकर पिता चार सिपाहियों सहित सिद्धपुर को आए। मैं एक मंदिर में बैठा हुआ था कि एकाएक मेरे पिता और चार सिपाही मेरे सामने आकर खड़े हो गए। देखते ही मेरा कलेजा धड़कने लगा। इस भय से कि पिता मुझको मारेंगे, मैंने उठकर उनके पांव पकड़ लिए। वे मुझ पर बहुत ही क्रुद्ध हुए, मैंने उनसे कहा कि एक धूर्त्त बहकाकर मुझे यहां लाया है, मैं घर जाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को तैयार ही था कि आप आ गए। उन्होंने मेरा तूंबा तोड़ डाला और मेरी छाई फाड़ डाली और कुछ कपड़े मुझे दिए। मेरे पीछे दो सिपाही सदा के लिए कर दिए, रात को जहां मैं सोता एक सिपाही मेरे सिरहाने बैठा जागता रहता था। मैंने चाहा कि इस सिपाही को धोखा देकर निकल जाऊं और इसलिए मैं यह जानने के लिए सिपाही रात को सोता है या नहीं खुद भी जागता रहता। सिपाही को तो यह निश्चय हो जाता कि मैं सो रहा हूं और इसलिए मैं नाक से खर्राटे भरने लगता था। इस प्रकार तीन रातें जागना पड़ा, चौथी रात सिपाही को नींद आ गई, तब एक लोटा हाथ में लेकर बाहर निकला। यदि कोई देख पावे तो झट कह दूंगा कि शौच को जाता हूं। वहां से निकलकर गांव के बाहर एक बाग में चला गया। प्रातःकाल होते ही एक वृक्ष की डाल पर चढ़कर बैठ गया। इस भांति एक दिन भर इस वृक्ष के ऊपर भूखा बैठा रहा। रात को अंधेरा हो गया, सात बजे नीचे उतर कर चल दिया। अपने गांव और घर के मनुष्यों से यह अंतिम भेंट थी। **इसके पश्चात् एक प्रयाग (इलाहाबाद) में मेरे गांव के बहुत-से लोग मुझको मिले; परंतु मैंने उनको अपना पता नहीं दिया, तब से आज तक कोई नहीं मिला।**

सिद्धपुर से बड़ौदे को आया, वहां से नर्मदा नदी के तट पर विचरने लगा। इस समय नर्मदा के तट पर योगानंद रहते थे। यहां एक दक्षिणी ब्राह्मण कृष्ण शास्त्री भी रहते थे, इनके पास मैं कुछ-कुछ पढ़ता रहा। तत्पश्चात् राजगुरु के पास वेदों को पढ़ा। 23 या 24 वर्ष की अवस्था में मुझे चाणूदकनाली में एक संन्यासी मिला। मुझे पढ़ने में बहुत ही अनुराग था और संन्यास आश्रम में पढ़ने का बहुत सुभीता होता था। इसलिए उसके उपदेश से मैंने श्राद्ध आदि करके संन्यास ले लिया, तब से दयानंद सरस्वती नाम धारण किया। मैंने दंड गुरु के पास धर दिया। चाणूद में दो गोसाईं आए जो राजयोग करते थे, मैं भी उनके साथ अहमदाबाद तक गया। वहां पर एक ब्रह्मचारी मिला। पर कुछ दिनों बाद मैंने उसका साथ छोड़ दिया। वहां से मैं जाते-जाते हरिद्वार पहुंचा, वहां कुंभ का मेला था। वहां से हिमालय पहाड़ पर उस जगह पहुंचा जहां से **अलकनंदा नदी निकलती है। बर्फ बहुत पड़ी हुई थी और पानी भी बहुत ठंडा था। वहां बर्फ लगने से पैर में कुछ तकलीफ हुई। हिमालय पर्वत पर पहुंच कर यह विचार हुआ कि यहीं शरीर गला दूं। फिर मन में आया कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के बाद शरीर छोड़ना चाहिए।** यह निश्चय करके मैं मथुरा में आया। वहां मुझे एक धर्मात्मा संन्यासी गुरु मिले। उनका नाम स्वामी विरजानंद था, वे पहले अलवर में रहते थे। इस समय उनकी अवस्था 81 वर्ष की हो चुकी थी। उन्हें अभी तक वेद, शास्त्र आदि आर्ष ग्रंथों में बहुत रुचि थी। ये महात्मा दोनों आंखों से अंधे थे, और इनके पेट में शूल का रोग था। ये कौमुदी और शेखर आदि नवीन ग्रंथों को अच्छा नहीं समझते थे और भागवत आदि पुराणों का भी खंडन करते थे। सब आर्ष ग्रंथों के वे बड़े भक्त थे। उनसे भेंट होने पर उन्होंने कहा कि तीन वर्ष में व्याकरण आ जाता है। मैंने उनके पास पढ़ने का पक्का निश्चय कर लिया। मथुरा में एक भद्र पुरुष अमरलाला नामक थे, उन्होंने मेरे पढ़ने के समय में जो-जो उपकार मेरे साथ किए, मैं उनको भूल नहीं सकता। पुस्तकों और खाने-पीने का प्रबंध सब उन्होंने बड़ी उत्तमता से कर दिया। जिस दिन उन्हें कहीं बाहर खाने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाना होता, वे पहले मेरे लिए भोजन बनाकर और मुझे खिलाकर बाहर जाते थे। सौभाग्य से ये उदारचेता महाशय मुझे मिल गए थे, विद्या समाप्त होने पर मैं आगरे में दो वर्ष तक रहा, परंतु पत्र-व्यवहार के द्वारा या कभी-कभी स्वयं गुरु की सेवा में उपस्थित होकर अपने संदेह निवृत्त कर लेता था। आगरे से मैं ग्वालियर को गया, वहां कुछ-कुछ वैष्णव मत का खंडन आरंभ किया, वहां से भी स्वामीजी को पत्रादि भेजा करता था। वहां माध्वमत के एक आचार्य हनुमन्त नामी रहते थे। वे काकन का स्वांग भर कर शास्त्रार्थ सुनने बैठा करते थे। एक-आध बार जब मेरे मुख से कोई अशुद्ध शब्द निकला, तो उन्होंने अशुद्धि पकड़ ली। मैंने कई बार उनसे पूछा कि आप कौन हैं, परंतु उन्होंने यही उत्तर दिया कि मैं काकन हूं, सुनने-सुनाने से कुछ बोध प्राप्त हुआ। एक दिन इस विषय पर वार्तालाप हुआ कि वैष्णव लोग जो माथे पर खड़ी रेखा लगाते हैं, वह ठीक है या नहीं। मैंने कहा यदि खड़ी रेखा लगाने से स्वर्ग मिलता है, तो सारा मुंह काला करने से स्वर्ग से भी कोई बड़ी पदवी मिलती होगी। यह सुनकर उनको बड़ा क्रोध आया और थे उठ गए। तब लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि यही उस मत के आचार्य हैं।

ग्वालियर से मैं रियासत करौली को गया। वहां पर एक कबीरपंथी मिला, उसने एक बार वीर के अर्थ कबीर किए थे और कहने लगा कि एक कबीर उपनिषद् भी है। वहां से फिर मैं जयपुर गया, वहां हरिश्चंद्र नामी एक बड़े विद्वान पंडित थे। वहां पहले मैंने वैष्णव मत का खंडन करके शैव मत (का) स्थापन किया। जयपुर के महाराज सवाई रामसिंह भी शैवमत की दीक्षा ले चुके थे। शैवमत के फैलने पर हजारों रुद्राक्ष की मालाएं मैंने अपने हाथों से लोगों को पहनाईं। वहां पर शैवमत का इतना प्रचार हुआ कि हाथी-घोड़ों के गलों में भी रुद्राक्ष की माला पहनाई गईं।

जयपुर से मैं पुष्कर को गया, वहां से अजमेर आया। अजमेर पहुंचकर शैवमत का भी खंडन करना आरंभ किया। इसी बीच में जयपुर के महाराजा साहब लाट साहब से मिलने के लिए आगरे जाने वाले थे। इस आशंका से कि कहीं वृंदावन निवासी प्रसिद्ध रंगाचार्य से शास्त्रार्थ न हो जावे, राजा रामसिंह ने मुझे बुलाया और मैं भी जयपुर गया; परंतु यह मालूम होने पर कि मैंने शैवमत का खंडन आरंभ कर दिया है राजा साहब अप्रसन्न हुए। इसलिए मैं भी जयपुर छोड़कर मथुरा में स्वामीजी के पास गया और शंका-समाधान किया। वहां से मैं फिर हरिद्वार को गया, वहां अपने मठ पर पाखंड-मर्दन लिखकर झंडा खड़ा किया। वहां वाद-विवाद बहुत-सा हुआ। फिर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सारे जगत् से विरुद्ध होकर भी गृहस्थों से बढ़कर पुस्तक आदि का जंजाल रखना ठीक नहीं है। इसलिए मैंने सब कुछ छोड़कर केवल एक कौपीन (लंगोट) लगा लिया और मौन धारण किया। इस समय जो शरीर में राख लगाना शुरू किया था, वह गत वर्ष बंबई में आकर छोड़ा। वहां तक लगाता रहा था। जब से रेल में बैठना पड़ा। तब से कपड़े पहनने लगा। जो मैंने मौन धारण किया था, वह बहुत दिन सध न सका, क्योंकि बहुत से लोग मुझे पहचानते थे। एक दिन मेरी कुटी के द्वार पर मनुष्य यह कहने लगा—**''निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्''** अर्थात् भागवत से बढ़कर और कुछ नहीं है, वेद भी भागवत से नीचे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब मुझसे यह सहन न हो सका, तब मौनव्रत को छोड़कर मैंने भागवत का खंडन प्रारंभ किया। फिर यह सोचा कि ईश्वर की कृपा से जो कुछ थोड़ा-बहुत ज्ञान अपने को हुआ है, वह सब लोगों पर प्रकट करना चाहिए। इस विचार को मन में रखकर मैं फर्रुखाबाद को गया, वहां से रामगढ़ को गया। रामगढ़ में शास्त्रार्थ शुरू किया। वहां पर जब दो-चार पंडित बोलते थे, तब मैं कोलाहल शब्द कहा करता था, इसलिए आज तक वहां के लोग मुझको कोलाहल स्वामी कहा करते हैं। वहां पर चक्रांकितों के चेले दस आदमी मुझे मारने को आए थे, बड़ी कठिनता से उनसे बचा। वहां से मैं फर्रुखाबाद होकर कानपुर आया। कानपुर से प्रयाग गया। प्रयाग में भी मारने वाले मुझे मारने को आए थे, पर एक माधवप्रसाद नामी धर्मात्मा पुरुष था, उसने मुझे बचा दिया। यह गृहस्थ माधवप्रसाद ईसाई मत ग्रहण करने को तैयार था; उसने इन सब पंडितों को नोटिस दे रखा था कि यदि आप अपने आर्य धर्म में तीन महीने के भीतर मेरा विश्वास न करा देंगे, तो मैं ईसाई धर्म को स्वीकार कर लूंगा। मेरे आर्य-धर्म पर निश्चय दिला देने से वह ईसाई न हुआ। प्रयाग से मैं रामनगर को गया। वहां के राजा की इच्छानुसार काशी के पंडितों से शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ में यह विषय प्रविष्ट था कि वेदों में मूर्तिपूजा है या नहीं ? मैंने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि प्रतिमा शब्द तो वेदों में मिलता है; परंतु उसके अर्थ, तौल, नाप आदि के हैं। वह शास्त्रार्थ अलग छपकर प्रकाशित हुआ है, जिसका सज्जन पुरुष अवलोकन करेंगे।

इतिहास शब्द से ब्राह्मण ग्रंथ ही समझने चाहिए, इस पर भी शास्त्रार्थ हुआ था। गत वर्ष भाद्रपद मास में मैं काशी में था, आज तक चार बार काशी में जा चुका हूं। जब-जब काशी में जाता हूं, तब-तब विज्ञापन देता हूं, कि यदि किसी को वेद में मूर्ति-पूजा का प्रमाण मिला हो, तो मेरे पास लेकर आवे, परंतु अब तक कोई भी प्रमाण नहीं निकाल सका।

इस प्रकार उत्तरी भारत के समस्त प्रांतों में मैंने भ्रमण किया है। दो वर्ष हुए कि कलकत्ता, लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, जयपुर आदि नगरों में बहुत से लोगों को धर्मोपदेश दिया है। काशी, फर्रुखाबाद आदि नगरों में चार पाठशालाएं आर्य-विद्या पढ़ाने के लिए स्थापित की हैं। उनमें अध्यापकों की उच्चछृंखलता से जैसा लाभ पहुंचना चाहिए था, नहीं पहुंचा। गत वर्ष बंबई आया। यहां मैंने गुसाईं महाराज के चरित्रों की बहुत कुछ छानबीन की। बंबई में आर्यसमाज स्थापित हो गया। बंबई, अहमदाबाद, राजकोट आदि प्रांतों में कुछ दिन धर्मोपदेश किया, अब तुम्हारे इस नगर में दो महीनों से आया हूं।

यह मेरा पिछला इतिहास है, आर्य-धर्म की उन्नति के लिए मुझ जैसे बहुत से उपदेशक आपके देश में होने चाहिए। ऐसा काम अकेला आदमी भली प्रकार नहीं कर सकता, फिर भी यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार जो कुछ दीक्षा ली है, उसे चलाऊंगा।

अब अंत में ईश्वर से यह प्रार्थना करता हूं कि सर्वत्र आर्य समाज कायम होकर मूर्ति-पूजादि दुराचार दूर हो जावे, वेद-शास्त्रों का सच्चा अर्थ सबकी समझ में आवे और उन्हीं के अनुसार लोगों का आचरण होकर देश की उन्नति हो जावे। पूरी आशा है कि आप सब सज्जनों की सहायता से मेरी यह इच्छा पूर्ण होगी।

ओ३म् शांतिः शांतिः शांतिः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट-I

स्वामी दयानंद के जीवन की मुख्य तिथियां तथा घटनाएं

1824

गुजरात की मोरवी रियासत के टंकारा गांव में एक सनाढ्य ब्राह्मण वंश में जन्म। स्वामीजी के पिता का नाम कृष्ण जी लाल जी तिवारी था। वे जमींदार तथा साहूकार थे। दयानंद का बचपन का नाम मूलशंकर था।

1829

मूलशंकर ने अपने जीवन के पांचवें वर्ष में देवनागरी अक्षर का अभ्यास आरंभ किया। उन्होंने धर्मशास्त्रों के बहुत से श्लोक तथा सूत्र भी कंठस्थ किए।

1832

मूलशंकर का यज्ञोपवीत संस्कार। इस अवसर पर उन्हें गायत्री, संध्या और उसकी विधि सिखा दी गई। वे यजुर्वेद के अध्ययन में प्रवृत्त हुए और उन्होंने अपने परिवार में माने जाने वाले शैवमत का भी ज्ञान प्राप्त किया।

1837

शिवरात्रि की रात को शिवलिंग पर चूहों को चढ़कर प्रसाद खाते देखकर मूलशंकर की मूर्तिपूजा पर से आस्था उठ गई। इस घटना का उन्होंने थियोसोफिस्ट सोसायटी को भेजे गए आत्मवृत्त में वर्णन किया है। इस समय दयानंद की आयु 13 वर्ष थी। यह घटना उनके जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुई। इस घटना ने उन्हें सच्चे महादेव की खोज में प्रवृत्त किया।

1840

जिस समय मूलशंकर की आयु 16 वर्ष की थी, तब उनकी छोटी बहिन की हैजे से मृत्यु हो गई। उनके हृदय को धक्का लगा और भय हुआ कि ऐसे ही मैं मर जाऊंगा। उन्होंने विचार किया कि कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे यह दुख छूटे और मुक्ति हो। इसी समय उनके चित्त में वैराग्य की जड़ जम गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1843

जब मूलशंकर 19 वर्ष के हुए तब उनसे अत्यधिक प्रेम करने वाले उनके चाचा चल बसे। चाचा धर्मात्मा और विद्वान थे। उनके निधन से मूलशंकर को वैराग्य हुआ कि संसार असार है, उसमें कुछ भी नहीं है।

1845

माता-पिता को मूलशंकर की वैराग्य-भावना का आभास हो गया था। उन्होंने अपने पुत्र के विवाह की तैयारियां शुरू कर दीं। इस समय मूलशंकर की आयु 21 वर्ष थी।

1846

1. मूलशंकर विवाह नहीं करना चाहते थे। जब उन्हें लगा कि माता-पिता किसी भी स्थिति में नहीं मानेंगे, तब वे संवत् 1903 के वर्ष में घर छोड़ कर भाग गए। इस समय उनकी अवस्था का 22वां वर्ष आरंभ हो गया था।

2. मूलशंकर घर से पलायन कर अपने गांव से प्रायः 19 कोस चल कर सायला गांव पहुंचे। वहां कुछ युवा संन्यासियों ने उनके बहुमूल्य वस्त्रों तथा अलंकारों को ठग लिया। सायला गांव में रहते हुए उन्होंने एक अज्ञातनामा ब्रह्मचारी से ब्रह्मचर्य की दीक्षा ली। इसके बाद वे शुद्ध चैतन्य के नाम से परिचित हो गए। सायला गांव में मूलशंकर तीन महीने रहे।

3. शुद्ध चैतन्य वि. सं. 1903 के आश्विन मास में गुजरात के एक प्रसिद्ध शैव तीर्थ सिद्धपुर पहुंचे। उनके पिता को अपने पुत्र के सिद्धपुर-प्रवास का समाचार मिल गया और वे सैनिकों के पहरे में पुत्र को घर ले जाने की योजना बनाने लगे लेकिन शुद्ध चैतन्य पहरेदारों की आंखों में धूल झोंक कर पुनः भाग निकले। यह उनकी अपने पिता से अंतिम भेंट थी।

4. कार्तिक 1903 वि. में शुद्ध चैतन्य सिद्धपुर से अहमदाबाद आए। वहां से चलकर वे बड़ौदा के चेतन मठ में पहुंचे। यहां उनकी स्वामी ब्रह्मानंद तथा अन्य अनेक ब्रह्मचारियों से भेंट हुई। इन संन्यासियों के संपर्क में शुद्ध चैतन्य ने शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का अध्ययन किया और वे स्वयं भी अपने आपको ब्रह्म समझने लगे।

1847

1. 1904 वि. तदनुसार 1847 के आरंभ में शुद्ध चैतन्य नर्मदा नदी के तट पर चाणोद कर्नाली नामक स्थान पर पहुंचे। यहां उन्होंने वेदांत का और गहरा अध्ययन किया तथा उनके मन में संन्यास लेने की इच्छा जागी। उन्होंने पूर्णानंद स्वामी से संन्यास आश्रम की दीक्षा ली। पूर्णानंद स्वामी ने उनका नाम दयानंद सरस्वती रखा।

2. कुछ दिन चाणोद में व्यतीत कर स्वामी दयानंद सरस्वती व्यासाश्रम गए। वहां उन्होंने योगविद्या विशारद योगानंद स्वामी से कुछ काल तक योग क्रियाओं का ज्ञान अर्जित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1848

1905 वि. तदनुसार 1848 में स्वामी दयानंद सिनोर चले गए। यहां उन्होंने कृष्ण शास्त्री नामक पंडित से संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया। सिनोर में स्वामी दयानंद प्रायः 1 वर्ष रहे।

1849

1849 में स्वामी दयानंद पुनः चाणोद आ गए। इस बार उनकी भेंट शिवानंद गिरि तथा ज्वालानंद पुरी नामक दो योगियों से हुई।

1850

स्वामी दयानंद ने शिवानंद गिरि तथा ज्वालानंद पुरी से योगविद्या का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया।

1852

स्वामी दयानंद 1852 में आबू पहुंचे। यहां उन्होंने भवानीगिरि नामक योगी से योगाभ्यास की कुछ रीतियां सीखीं।

1854

1854 के अंत में स्वामी दयानंद हरिद्वार पहुंचे। यह उनकी पहली हरिद्वार यात्रा थी। यहां उन्होंने कुंभ मेले में भाग लिया तथा वे अनेक योगी-संन्यासियों से मिले। उन्होंने ऋषिकेश में योगियों और संन्यासियों से योग की रीति सीखी।

1853

1. 1853 में स्वामीजी ऋषिकेश से टिहरी गए। यहां उन्होंने तंत्रशास्त्र के अनेक ग्रंथों का अध्ययन किया। उन्हें यह जान कर खेद हुआ कि तंत्र-ग्रंथों में उल्लिखित बहुत-सी बातें सामान्य सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करती हैं और नैतिकता के प्रचलित मानदंडों के विपरीत हैं।

2. टिहरी से स्वामी दयानंद ने श्रीनगर, केदारघाट, रुद्रप्रयाग, गुप्त काशी, गौरीकुंड तथा भीमगुहा जैसे पर्वतीय स्थानों की यात्रा की।

3. स्वामी दयानंद 20 दिन तक हिमालय के दुर्गम स्थानों में सच्चे योगियों की खोज करते रहे, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। इस यात्रा में एक मठ के मालिक ने उन्हें अपना शिष्य बना लेने और कालांतर में मठाधीश बनाने का प्रलोभन दिया लेकिन स्वामी दयानंद ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। स्वामीजी को निराशा ने इस सीमा तक घेरा कि वे अपने शरीर को विसर्जित करने की सोचने लगे।

4. उत्तराखंड के पार्वत्य प्रदेश से नीचे उतर कर स्वामीजी ने रामपुर, काशीपुर, मुरादाबाद,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभल, गढ़मुक्तेश्वर आदि स्थानों की यात्रा की। इन दिनों स्वामीजी ने हठयोग के ग्रंथों का अध्ययन किया और एक शव की परीक्षा की कि क्या उसमें हठयोग के ग्रंथों में वर्णित नाड़ी चक्रों का अस्तित्त्व है। उन्होंने पाया कि पुस्तक तथा शव लेशमात्र भी नहीं मिलते। क्षुब्ध होकर उन्होंने हठयोग विषयक पुस्तकों को फाड़ कर फेंक दिया।

1856

1856 में स्वामीजी ने गंगातट पर भ्रमण करते हुए कानपुर, प्रयाग, मिर्जापुर, काशी, चुनार, आदि स्थानों की यात्रा की।

1857

स्वामी दयानंद ने नर्मदा के स्रोत की यात्रा की। नर्मदा के तटवर्ती प्रदेशों में स्वामीजी 3 वर्ष तक भ्रमण करते रहे। दयानंद के जीवन के इस काल के बारे में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। इसी समय उत्तर भारत में 1857 का स्वातंत्र्य-समर शुरू हो गया। कुछ लेखकों का विचार है कि स्वामी दयानंद ने 1857 की हलचल में भाग लिया था।

1860

1. स्वामी दयानंद वेदों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए मथुरा में विरजानंद की पाठशाला में गए। स्वामी विरजानंद ने संस्कृत व्याकरण के आधार पर संपूर्ण संस्कृत वाङ्मय को आर्ष एवं अनार्ष श्रेणी में विभक्त किया था। वे मानते थे कि भारत के धर्म और दर्शन में जो कुछ मिथ्या तत्त्व हैं वे सब अनार्ष ग्रंथों की देन हैं। स्वामी दयानंद ने स्वामी विरजानंद के चरणों में बैठकर तीन वर्ष तक अध्ययन किया।

2. अपनी शिक्षा पूरी करने पर स्वामी दयानंद ने अपने गुरु को मुरु दक्षिणा के रूप में आध सेर लौंग समर्पित कीं। गुरु ने अपने शिष्य से कहा कि वे गुरु दक्षिणा में सांप्रदायिक पाखंडों का खंडन चाहते हैं। स्वामी दयानंद के लिए गुरु का आदेश ज्योति-स्तंभ बन गया।

1863

1. स्वामी विरजानंद के चरणों में अपनी शिक्षा पूरी कर स्वामी दयानंद 1863 में आगरा आए।

2. स्वामीजी के आगरा-प्रवास में पं. सुंदरलाल ने स्वामीजी से भगवद्गीता तथा अष्टाध्यायी का अध्ययन किया। पंडित जी ने स्वामीजी से अनेक यौगिक क्रियाएं भी सीखीं। पं. सुंदरलाल जी से स्वामीजी का संपर्क जीवन-पर्यंत बना रहा।

3. स्वामीजी ने आगरा-प्रवास में अपनी योग-साधना को पुष्ट किया। इस काल में उन्होंने आर्ष ग्रंथों का समर्थन तथा अनार्ष ग्रंथों का खंडन किया।

4. स्वामीजी ने आगरा में **संध्या** नामक एक पुस्तिका लिखी और उसकी 30,000 प्रतियां निःशुल्क वितरित करवाईं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1864

1. 1864 में स्वामीजी आगरा से धौलपुर आए।

2. स्वामीजी 15 दिन धौलपुर रह कर ग्वालियर चले गए।

1865

1865 में स्वामी दयानंद ग्वालियर से चल कर करौली पहुंचे। कुछ मास करौली में रहकर स्वामीजी खुशहालगढ़ और वहां से जयपुर चले गए। जयपुर में वे चार महीने रहे। वहां से वे किशनगढ़, अजमेर और पुष्कर गए। अजमेर में उनका ईसाई तथा मुसलमान धर्माचार्यों से संपर्क हुआ।

1866

1. 1866 में स्वामी दयानंद आगरा पहुंचे। स्वामीजी ने अपने इस आगरा-प्रवास में वैष्णव मत खंडन नामक पुस्तिका लिखी। इस काल में उन्होंने मथुरा जाकर अपने गुरु स्वामी विरजानंद के दर्शन किए तथा उन्हें दो स्वर्ण मुद्राएं तथा एक मलमल का थान भेंट में दिया।

2. मथुरा में कुछ दिन रहने के बाद स्वामी दयानंद मेरठ और मेरठ से हरिद्वार चले गए। अब उनकी आयु 42 वर्ष की हो गई थी। उन्हें अपने घर को त्यागे 21 वर्ष हो चुके थे। 2 दशकों की इस लंबी अवधि में उन्होंने हजारों मीलों की यात्रा की थी और वे सैकड़ों लोगों के संपर्क में आए थे। उन्हें धर्म के नाम पर सर्वत्र आडंबर और पाखंड दिखाई दिया। उनके मन में इस पाखंड को दूर करने की इच्छा साकार रूप लेने लगी।

1867

1. 11 मार्च, 1867 को स्वामी दयानंद हरिद्वार पहुंचे। उन्होंने हरिद्वार और ऋषिकेश के बीच सप्त सरोवर नामक स्थान पर 8-10 फूस के छप्पर डाल कर अपना डेरा जमाया। उन्होंने अपनी कुटिया के बाहर एक पताका गाड़ कर उस पर 'पाखंड खंडन' शब्द अंकित कर दिए।

2. स्वामी दयानंद ने उपस्थित जन-समुदाय के समक्ष भारत में प्रचलित नाना संप्रदायों के बीच पाए जाने वाले अंधविश्वासों का खंडन किया।

3. हरिद्वार से स्वामी दयानंद ऋर्षिकेश, सहारनपुर, मुजफ्फरपुर, बिजनौर, गढ़मुक्तेश्वर, कर्णवास, फर्रुखाबाद, अनूपशहर तथा बुलंदशहर गए।

1868

1. 1868 में स्वामी दयानंद ने सोरों तथा कर्णवास की यात्रा की। कर्णवास में राव कर्णसिंह ने क्रोध में आकर स्वामी दयानंद को मारने के लिए तलवार बाहर निकाली लेकिन स्वामीजी ने उसके हाथ से तलवार खींच ली। स्वामीजी ने पुलिस में रिपोर्ट दर्ज नहीं कराई और राव कर्णसिंह के बारे में कहा, "यदि वह अपने क्षत्रियत्व पर पूरा नहीं उतरा तो हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने ब्राह्मणात्व से पतित क्यों हों ?"

2. स्वामी विरजानंद का स्वर्गवास।

1869

16 नवंबर, 1869 को स्वामी दयानंद ने काशी में काशी नरेश की अध्यक्षता में संपन्न शास्त्रार्थ में पंडित ताराचरण तर्करत्न, बालशास्त्री तथा स्वामी विशुद्धानंद जैसे उद्भट सनातनी विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। शास्त्रार्थ का विषय था—मूर्तिपूजा। यह स्वामी दयानंद के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ था।

1870

1. जनवरी, 1870 को स्वामी दयानंद ने काशी से प्रयाग के लिए प्रस्थान किया। वे 5 फरवरी, 1870 को प्रयाग पहुंचे। इस समय प्रयाग में माघी कुंभ की धूम थी।

2. प्रयाग में स्वामी दयानंद की ब्रह्मसमाज के नेता देवेंद्रनाथ ठाकुर से भेंट हुई। देवेंद्रनाथ ठाकुर कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर के पिता थे। ठाकुर महोदय ने स्वामीजी को कलकत्ता आने का निमंत्रण दिया।

3. स्वामी दयानंद ने मिर्जापुर में एक संस्कृत पाठशाला की स्थापना की।

4. 'अद्वैतमत खंडन' पुस्तिका की रचना।

5. कासगंज में वैदिक पाठशाला की स्थापना।

6. छलेसर में वैदिक पाठशाला की स्थापना।

1872

1. छलेसर से प्रस्थान कर स्वामीजी रामघाट तथा फर्रुखाबाद होते हुए 1 मार्च, 1872 को काशी पहुंचे।

2. स्वामी दयानंद ने अप्रैल में बिहार और बंगाल की यात्रा की। दिसंबर, 1872 में उनकी कलकत्ता में ब्रह्मसमाज के प्रमुख नेता केशवचंद्र सेन से भेंट हुई। केशवचंद्र सेन ने उन्हें हिंदी भाषा में अपने विचारों का प्रचार करने की सलाह दी। स्वामी जी ने इस सलाह को माना।

1873

1. स्वामी दयानंद ने 31 जनवरी, 1873 को कलकत्ता से मुर्शिदाबाद के लिए प्रस्थान किया। लगभग तीन सप्ताह बाद वे फिर कलकत्ता आ गए और उन्होंने अपने उपदेशों तथा बंगाल के विशिष्ट व्यक्तियों से मिलने का क्रम जारी रखा।

2. स्वामी दयानंद ने आगे चलकर आर्य समाज की स्थापना बहुत कुछ ब्रह्मसमाज के ढंग पर की। यह उनके कलकत्ता-प्रवास की देन थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1874

1. सत्यार्थ प्रकाश की रचना।

2. स्वामीजी की मथुरा-वृंदावन यात्रा और वहां मूर्तिपूजा, तिलक, कंठी धारण, अवतारवाद आदि पौराणिक विश्वासों का खंडन।

3. मई, 1874 में स्वामीजी काशी आए। यह उनका काशी में पांचवीं बार आगमन था। काशी के बाद वे प्रयाग, जबलपुर और नासिक गए। बंबई से प्रकाशित होने वाले **इंदुप्रकाश** नामक समाचार-पत्र ने स्वामीजी के शास्त्रज्ञान तथा सुधारवादी दृष्टिकोण की प्रशंसा की।

4. स्वामीजी की बंबई-यात्रा। बंबई-प्रवास में उनका संपर्क प्रार्थना-समाज के नेताओं से हुआ।

5. स्वामीजी **पंच महायज्ञ विधिः** तथा **वेदविरुद्ध मत खंडन** पुस्तकें लिखीं और उनका प्रकाशन किया।

6. दिसंबर, 1874 में स्वामीजी ने अपनी जन्मभूमि गुजरात की यात्रा की। उन्होंने सूरत में स्वामीनारायण मत के खंडन में **शिक्षापत्री ध्वान्ति निवारण** पुस्तक की रचना की।

1875

1. 10 अप्रैल, 1875 को बंबई में आर्यसमाज की स्थापना। शुरू में आर्य समाज के 28 नियम स्वीकृत हुए थे। इन नियमों का आधार व्यापक था।

2. जून, 1875 में बनारस से **सत्यार्थ प्रकाश** का पहला संस्करण प्रकाशित।

3. जून, 1875 में स्वामी दयानंद का महादेव गोविंद रानाडे के आमंत्रण पर पूना आगमन। पूना में उन्होंने ईश्वर, धर्माधर्म, वेद, पुनर्जन्म, यज्ञ और इतिहास विषयों पर 15 व्याख्यान दिए जो **उपदेश मंजरी** नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। उनका अंतिम व्याख्यान जो उन्होंने 4 अगस्त, 1875 को दिया था, आत्मकथा के रूप में था।

1876

1. 5 मार्च, 1876 को स्वामीजी ने आर्य समाज बंबई के तत्त्वावधान में 'वेदों की श्रेष्ठता तथा पवित्रता' विषय पर एक व्याख्यान दिया। स्वामीजी के इस भाषण को प्रो. मोनियर विलियम्स ने भी सुना था।

2. **आर्याभिविनय** तथा **संस्कार विधि** ग्रंथ प्रकाशित। **आर्याभिविनय** एक प्रार्थना पुस्तक है। इसमें **ऋग्वेद** के 53, **यजुर्वेद** के 54 तथा **तैत्तिरीय आरण्यक** के एक मंत्र की व्याख्या है। पुस्तक में कुल 108 मंत्रों की व्याख्या की गई है। स्वामीजी ने **संस्कार विधि** में मनुष्य की शारीरिक, सामाजिक और मानसिक उन्नति में सहायक 16 संस्कारों की व्याख्या की।

3. स्वामीजी ने 20 अगस्त, 1876 को अयोध्या में **ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका** का लिखना आरंभ किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1877

1. 1877 में भारत के गवर्नर जनरल तथा वायसराय लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक बड़े दरबार का आयोजन किया। स्वामी दयानंद ने दरबार में भाग लिया। इस अवसर पर पंजाब से आए प्रतिनिधियों ने स्वामीजी को पंजाब आने का आमंत्रण दिया।

2. चांदापुर मेले में इस्लाम तथा ईसाई धर्मों के प्रतिनिधियों के साथ शास्त्रार्थ।

3. स्वामी दयानंद की पंजाब-यात्रा।

4. 24 जून, 1877 को लाहौर में आर्य समाज की स्थापना। इस अवसर पर स्वामीजी ने आर्य समाज के दस नियम निश्चित किए।

5. 12 अगस्त, 1877 को अमृतसर में आर्य समाज की स्थापना।

6. स्वामीजी की **आर्योद्देश्य रत्नमाला** पुस्तक प्रकाशित।

1878

1. 13 जनवरी, 1878 को स्वामी दयानंद पंजाब के गुजरात शहर में पहुंचे। उन्होंने पंजाब के अन्य कई नगरों की यात्रा की। वे जुलाई, 1878 में उत्तर प्रदेश के रुड़की नगर में आए।

2. स्वामी दयानंद का थियोसोफिस्ट सोसाइटी के नेताओं से पत्र-व्यवहार।

3. 3 नवंबर, 1878 को दिल्ली में आर्य समाज की स्थापना।

1879

1. स्वामी दयानंद ने तीसरी बार हरिद्वार की यात्रा की। इस वर्ष हरिद्वार में कुंभ का महान पर्व था।

2. 1 मई, 1879 को कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेत्स्की ने सहारनपुर में स्वामीजी से भेंट की।

3. बरेली में स्वामीजी और रेवरेंड स्काट के बीच शास्त्रार्थ।

4. बरेली में मुंशीराम का जो बाद में स्वामी श्रद्धानंद बने, स्वामी दयानंद से प्रथम परिचय।

5. बरेली से ही स्वामी दयानंद ने अपनी आत्मकथा की पहली किस्त 'थियोसोफिस्ट' पत्र में प्रकाशन के लिए भेजीं। यह किस्त पत्र के अक्तूबर, 1879 के अंक में प्रकाशित हुई।

1880

1. काशी में आर्य समाज की स्थापना।

2. 12 फरवरी, 1880 को स्वामी दयानंद की रचनाओं को छापने के लिए वैदिक यंत्रालय नामक मुद्रणालय की स्थापना।

3. 9 मई, 1880 को लखनऊ में आर्य समाज की स्थापना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. 8 जुलाई, 1880 को स्वामी दयानंद मेरठ पहुंचे। उन्होंने पंडिता रमाबाई को मेरठ आने का आमंत्रण दिया। स्वामीजी को लगा कि रमाबाई उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलने के लिए तैयार नहीं है। फलतः उन्होंने रमाबाई को ससम्मान विदा कर दिया।

5. 16 अगस्त, 1880 को स्वामी दयानंद ने अपना वसीयतनामा लिख कर मेरठ के उपपंजीयक के कार्यालय में पंजीकृत कराया।

6. गोकरुणानिधि की रचना।

1881

1. 1881 के आरंभ में स्वामीजी आगरा आए। वहां वे लगभग साढ़े तीन मास तक रहे।

2. स्वामी दयानंद देशी राजाओं में नवचेतना का संचार कर उन्हें समाज-उद्धार के कार्य में लगाना चाहते थे। इस उद्देश्य से उन्होंने भरतपुर, जयपुर, अजमेर, मसूदा, रायपुर, ब्यावर, चित्तौड़, इंदौर, आदि राज्यों की यात्रा की।

3. 30 दिसंबर, 1881 को स्वामी दयानंद ने बंबई में अंतिम बार पदार्पण किया।

1882

स्वामी दयानंद ने बंबई में छः मास बिताए। बंबई से स्वामीजी खंडवा, इंदौर, रतलाम, जावरा और चित्तौड़ होते हुए 11 अगस्त, 1882 को उदयपुर पहुंचे। उदयपुर में स्वामीजी छः मास से कुछ अधिक समय तक रहे।

1883

1. जून में स्वामी दयानंद जोधपुर गए।

2. 26 सितंबर को वे बीमार हुए। संदेह किया जाता है कि जोधपुर महाराजा की रखैल नन्हीं भगतिन ने स्वामीजी के रसोइए के हाथों दूध में विष मिलवा दिया जो स्वामीजी की मृत्यु का कारण बना।

3. 30 अक्तूबर, 1883 को दीपावली के दिन सायं छः बजे अजमेर में स्वामी दयानंद का शरीर शांत हो गया। 31 अक्तूबर को उनकी अंत्येष्टि कर दी गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट-II

स्वामी दयानंद का वंश-वृक्ष

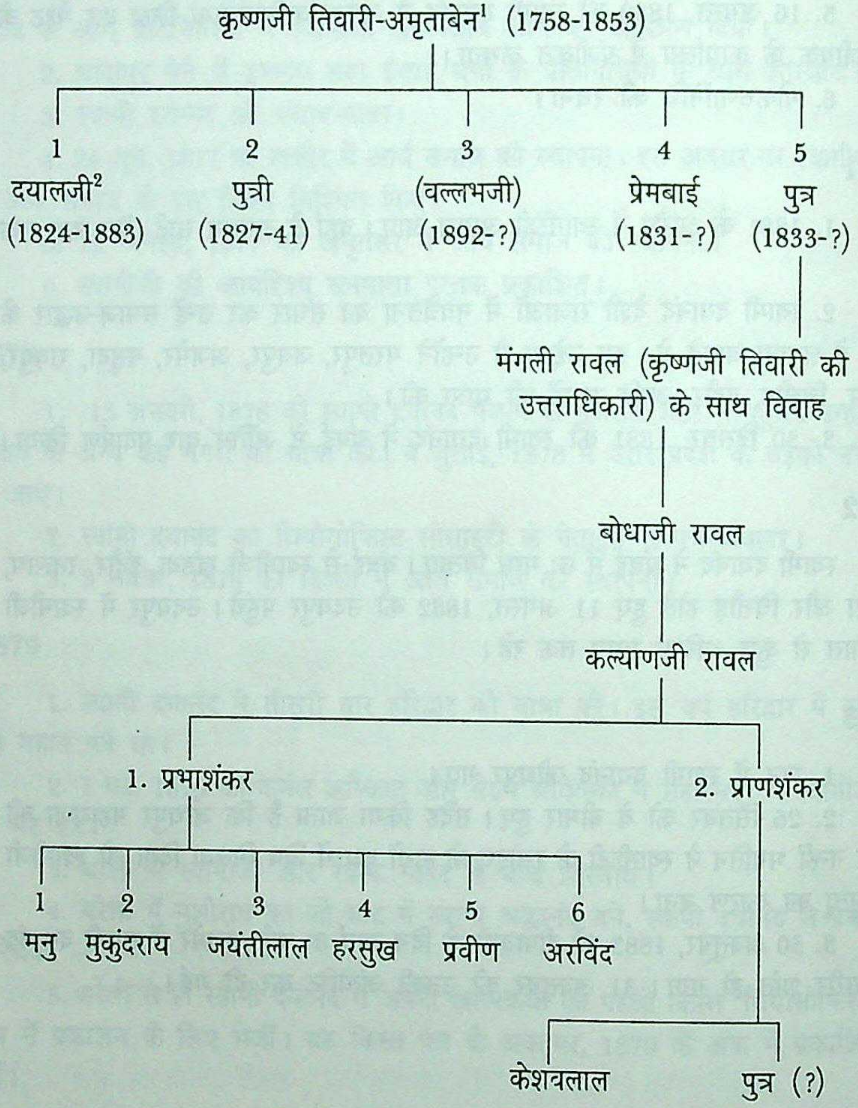

1. स्वामी स्वतंत्रानंद के अनुसार यह नाम अमृताबेन न होकर यशोदाबाई था।
2. स्वामी दयानंद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाराशष्ट-III

स्वामी दयानंद के कुछ प्रसिद्ध शास्त्रार्थ

क्रम	तिथि	स्थान	प्रतिवादी पंडित, वक्ता	विषय
1	2	3	4	5
1.	1922 वि. 1865 ई.	जयपुर	पं. हरिश्चन्द्र, रजीवलोचन ओझा आदि	व्याकरण
2.	ज्येष्ठ द्वितीय 1923 वि. 1866 ई. (3 दिन तक)	अजमेर	रेवरेण्ड ग्रे, पादरी रॉबसन	ईश्वर, जीव, सृष्टि क्रम वेद आदि
3.	आश्विन 1924 वि. अक्तूबर 1867 ई.	कर्णवास	पं. अंबादत्त पर्वती	मूर्तिपूजा
4.	मार्गशीर्ष 1924 वि. दिसंबर 1867 ई.	रामघाट	स्वामी कृष्णानंद	अवतारवाद
5.	पौष कृष्णा 11, 1924 वि. से पौष शुक्ल 1, 1924 वि. तक जनवरी 1868 ई. (6 दिन तक)	कर्णवास	पं. हीरावल्लभ	मूर्तिपूजा
6.	चैत्र शुक्ल पक्ष 1925 वि. अप्रैल 1868 ई.	सोरों (शूकर क्षेत्र)	पं. अंगदराम शास्त्री	मूर्तिपूजा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1	2	3	4	5
7.	कार्तिक 1925 वि. नवंबर 1868 ई.	ककोड़ा	पं. उमादत्त	मूर्तिपूजा
8.	1926 वि. 1869 ई.	फर्रुखाबाद	पं. श्रीगोपाल	मूर्तिपूजा
9.	ज्येष्ठ शुक्ला 10, 11, 1926 वि. 19, 20 जून, 1869 ई.	फर्रुखाबाद	पं. हलधर ओझा	मूर्तिपूजा
10.	आषाढ़ 1926 वि. जुलाई 1869 ई.	कन्नौज	पं. हरिशंकर शास्त्री	मूर्तिपूजा
11.	आषाढ़ 1826 वि. 31 जुलाई, 1869 ई.	कानपुर	पं. हलधर ओझा पं. लक्ष्मण शास्त्री	मूर्तिपूजा मूर्तिपूजा
12.	कार्तिक शुक्ला 12, 1926 वि. 16 नवंबर, 1869 ई.	काशी	स्वामी विशुद्धानन्द आदि 40 प्रमुख पंडित	मूर्तिपूजा
13.	1926 वि. 1870 ई.	मिर्जापुर	पं. गोविंदभट्ट पं. जयश्री	भागवत और मूर्तिपूजा
14.	1929 वि. 1872 ई.	डुमरांव	पं. दुर्गादत्त	अद्वैतवाद, मूर्तिपूजा
15.	भाद्रपद 1929 वि. अगस्त 1872 ई.	आरा	पं. रुद्रदत्त पं. चन्द्रदत्त	मूर्तिपूजा
16.	भाद्रपद शुक्ल पक्ष 1929 वि. सितंबर 1872 ई.	पटना	पं. रामजीवन भट्ट	मूर्तिपूजा
17.	चैत्र शुक्ला 11, 1930 वि. 8 अप्रैल 1873 ई.	हुगली	पं. ताराचरण तर्करत्न	प्रतिमापूजन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1	2	3	4	5
18.	ज्येष्ठ 1930 वि. जून 1873 ई.	छपरा	पं. जगन्नाथ	मूर्तिपूजा
19.	आषाढ़ 1930 वि. जून 1873 ई.	आरा	पं. रुद्रदत्त	मूर्तिपूजा
20.	मार्गशीर्ष अमावस्या 1930 वि. 11 नवंबर 1873, ई.	लखनऊ	पं. गंगाधर शास्त्री	मूर्तिपूजा
21.	आषाढ़ 1931 वि. जुलाई 1874 ई.	प्रयाग	पं. नीलकंठ शास्त्री गोरे (धर्मान्तरित ईसाई)	वेद में देवतावाद
22.	मार्गशीर्ष 1931 वि. दिसंबर 1874 ई.	सूरत	पं. इच्छाशंकर शास्त्री	अद्वैतवाद
23.	मार्गशीर्ष 1931 वि. दिसंबर 1874 ई.	भड़ौंच	पं. माधव त्र्यम्बकराव	मूर्तिपूजा
24.	पौष 1931 वि. जनवरी 1875 ई.	राजकोट	पं. महीधर पं. जीवनराम शास्त्री	मूर्तिपूजा और अवतारवाद
25.	माघ कृष्णा 6, 1931 वि. 27 जनवरी, 1875 ई.	अहमदाबाद	पं. सेवकराम रामनाथ शास्त्री पं. लल्लूभाई बापूभाई शास्त्री पं. भोलानाथ भगवान आदि	मूर्तिपूजा और अवतारवाद
26.	फाल्गुन शुक्ला 5, 1931 वि. 10 मार्च, 1875 ई.	बंबई	पं. खेमजी बालजी जोशी पं. इच्छशंकर शुक्ल	व्याकरण
27.	जयेष्ठ 1932 वि. 12 जून, 1875 ई.	बंबई	पं. कमलनयनाचार्य	मूर्तिपूजा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1	2	3	4	5
28.	पौष 1932 वि. दिसंबर 1875 ई.	बड़ौदा	पं. यज्ञेश्वर शास्त्री पं. अप्पय शास्त्री	व्याकरण और न्याय
29.	चैत्र 1932 वि. 23 मई 1876 ई.	बंबई	पं. रामलाल	मूर्तिपूजा
30.	ज्येष्ठ अमावस्या 1933 वि. 23 मई, 1876 ई.	फर्रुखाबाद	पादरी जे. जे. लूकस	मोक्ष
31.	मार्गशीर्ष 1933 वि. नवंबर 1876 ई.	बरेली	पं. लक्ष्मणशास्त्री	
32.	मार्गशीर्ष 1933 वि. नवंबर 1876 ई.	मुरादाबाद	ई. डब्ल्यू. पार्कर पादरी बेली, देशी ईसाई रामचन्द्र बोस	ईश्वर मुक्तिदाता ? सृष्टि उत्पत्ति
33.	फाल्गुन 1933 वि. फरवरी 1877 ई.	सहारनपुर	पं. बलदेव व्यास साधु दीवानदास	
34.	चैत्र शुक्ला 4, 5, 1934 वि. 19, 20 मार्च, 1877 ई.	चांदापुर (शाहजहांपुर)	मौलवी मोहम्मद कासिम पादरी डॉ. टी. जे. स्कॉट पादरी नोबिल	सृष्टि रचना का प्रयोजन तथा मुक्ति का स्वरूप
35.	श्रावण 1934 वि. अगस्त 1877 ई.	गुरदासपुर	पं. लक्ष्मीधर पं. दौलतराम	मूर्तिपूजा
36.	आश्विन कृष्णा 1, 1934 वि. 24 सितंबर, 1877 ई.	जालंधर	मौलवी अहमदहसन	पुनर्जन्म और करामात
37.	पौष 1934 वि. जनवरी 1878 ई.	जेहलम	शिवचरण घोष (ईसाई)	अज्ञात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1	2	3	4	5
38.	पौष 1934 वि. जनवरी 1878 ई.	गुजरात	जम्मू का एक पंडित	अज्ञात
39.	माघ शुक्ला 1, 2, 1934 वि. 3, 4, फरवरी, 1878 ई.	वजीराबाद	पं. वासुदेव	मूर्तिपूजा
40.	फाल्गुन कृष्णा 2, 1934 वि. 19 फरवरी, 1878 ई.	गुजरांवाला	पादरी सोलफीट (स्विफ्ट) तथा अन्य	क्या जीव और ईश्वर दोनों अनादि हैं ?
41.	मार्गशीर्ष शुक्ला 4, 1935 वि. 28 नवंबर, 1878 ई.	अजमेर	पादरी ग्रे और डॉ. हसबैंड	बाइबिल वर्णित सृष्टि-उत्पत्ति
42.	भाद्रपद कृष्णा 2, 1936 वि. अगस्त 1879 ई.	बदायूं	पं. रामप्रसाद, पं. वृंदावन, पं. टीकाराम	ईश्वर साकार है या निराकार
43.	भाद्रपद शुक्ला 7, 8, 9 1936 वि. 25, 26, 27 अगस्त, 1879 ई.	बरेली	डॉ. टी. जे. स्कॉट	1. आवागमन (पुनर्जन्म) का सिद्धांत। 2. ईश्वर देह धारण करता है या नहीं ? 3. ईश्वर अपराध क्षमा करता है या नहीं ?
44.	आश्विन कृष्ण पक्ष 1936 वि. सितंबर 1879 ई.	शाहजहांपुर	पं. लक्ष्मण शास्त्री	मूर्तिपूजा
45.	श्रावण कृष्णा 2, 1938 वि. 13 जुलाई, 1881 ई.	मसूदा (राजस्थान)	साधु सिद्धकरण	जैनमत विषयक
46.	भाद्रपद कृष्णा 14 से भाद्रपद शुक्ला 5, 1939 वि. 11 सितंबर से 17 सितंबर, 1882 ई. तक	उदयपुर	मौलवी अब्दुलरहमान	7 विभिन्न प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट-IV

आर्य समाज का संविधान

(आर्य समाज के उपनियम जिनमें उसका संविधान निहित है 1875 में स्वामी दयानंद के जीवन-काल में बने थे। ये समय-समय पर संशोधित होते रहे। 18 जुलाई, 1971 को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा नवीनतम संशोधन स्वीकार किए गए और संशोधित उपनियम 1 नवंबर, 1971 से लागू किए गए)।

उपनियम

नाम

1. इस समाज का नाम आर्य समाज होगा और न्यून से न्यून 11 सदस्य होने पर समाज बन सकेगा।[1]

उद्देश्य

2. इस समाज के उद्देश्य वही हैं जो इसके दस नियमों में वर्णित हैं।

आर्य सदस्य

3. जो व्यक्ति आर्य समाज में नाम लिखवाना चाहे और समाज के उद्देश्यों के अनुकूल आचरण स्वीकार करे वह आर्य समाज में प्रविष्ट हो सकता है परंतु उसकी आयु 18 वर्ष से न्यून न हो। इस प्रकार जो आर्य समाज में प्रविष्ट हो वह 'आर्य सदस्य' कहलाएगा। परंतु कोई व्यक्ति एक समय में एक ही समाज का सदस्य हो सकता है।

आर्य समाज में नाम लिखवाने के लिए मंत्री के पास इस प्रकार का पत्र लिखना चाहिए।

---

1. टिप्पणी—आर्य समाज शब्द से 'महिला आर्य समाज भी अभिप्रेत है और इसकी भी पुरुषों और स्त्रियों से बने समाज जैसी ही वैधानिक स्थिति होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मैं प्रसन्नतापूर्वक आर्य समाज के उद्देश्यों को (जैसा कि नियमों में वर्णन किए गए हैं) तथा मंतव्यों एवं सिद्धांतों को (जो वेदों के आधार पर ऋषि दयानंद के ग्रंथों में लिखे गए हैं) मानता और उनके अनुकूल आचरण स्वीकार करता हूं। मेरा नाम आर्य समाज में लिख लेवें।''

परंतु अंतरंग सभा को अधिकार रहेगा कि किसी विशेष हेतु से उसका नाम आर्य समाज में लिखना स्वीकार न करे। यदि अंतरंग सभा प्रवेश पत्र को अस्वीकार करे तो अंतरंग को सूचना देकर प्रांतीय सभा की अंतरंग सभा में अपील हो सकेगी। यदि प्रांतीय सभा के निर्णय से संतोष न हो तो प्रांतीय सभा की न्याय सभा और अंततः सार्वदेशिक सभा की न्याय सभा में अपील हो सकेगी।

आर्य सभासद्

4. (क) जिनका नाम किसी आर्य समाज में सदाचारपूर्वक दो वर्ष तक अंकित रहा हो और वह अपनी आय का शतांश मासिक वा वार्षिक अथवा 250 रु. वार्षिक वा अधिक धन समाज को देता रहा हो और जिसकी उपस्थिति साप्ताहिक सत्संगों में कम से कम 25 प्रतिशत हो तो वह आर्य सभासद् माना जा सकता है।

(ख) आर्य समाज में दो वर्ष भर नाम अंकित रहने का नियम समाज की स्थापना के तीसरे वर्ष से लागू होगा।

अंतरंग सभा किसी विशेष हेतु से चंदा न दे सकने अथवा शतांश से न्यून देने वाले को आर्य सभासद् बना सकती है। परंतु उनकी संख्या उक्त आर्य सभासदों की संख्या के 5 प्रतिशत तक हो सकती है और अंश पूर्णांक माना जाएगा। आर्य संस्थाओं को (चाहे वे आर्य समाज के अंतर्गत हो या न हो) धन देना शतांश न होगा।

विशेष अवस्थाओं में अंतरंग सभा किसी व्यक्ति के लिए उपस्थिति के नियम को शिथिल कर सकती है परंतु उनकी संख्या 5 प्रतिशत से अधिक न होगी। आर्य समाज का सदस्य किसी भी आर्य समाज के साप्ताहिक सत्संग में सम्मिलित हो लेवे तो उसकी उपस्थिति स्थानीय आर्य समाज में मान ली जाएगी, परंतु जिस समाज में सदस्य साप्ताहिक सत्संग में उपस्थित रहे उस समाज द्वारा एक मास के भीतर स्थानीय समाज को इस विषय की सूचना देनी होगी।

विशेष अवस्थाओं और संख्या का निर्णय करना समाज की अंतरंग का काम है। सदस्य का नगर या ग्राम से बाहर होना, रुग्ण होना वा किसी ऐसी विवशता में ग्रस्त होना जिसके विषय में अंतरंग सभा को पूर्ण संतोष हो विशेष अवस्थाएं समझी जा सकती हैं। प्रमुखतः ऐसी छूट के अधिकारी वे ही महानुभाव हैं। जिनके जीवन में क्रियात्मक रूप से धर्मावलंबन पाया जाता हो तथा कम से कम पिछले वर्ष उनके जीवन का कुछ भाग आर्य समाज और वैदिक संस्कृति के प्रचार में व्यय हुआ हो।

(ग) सम्मति देने का अधिकार केवल आर्य सभासदों का होगा। अंतरंग सभा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिवर्ष ऐसे आर्य सभासदों के नाम निर्वाचन से एक मास पूर्व रजिस्टर में अंकित करेगी और ऐसे सदस्यों की सूची आर्य समाज मंदिर में तुरंत टांग दी जाएगी।

(घ) उपधारा (क) में प्रयुक्त सदाचार की परिभाषा इस प्रकार है—
"संध्या आदि नित्य कर्म, शुद्ध वृत्ति, वैदिक संस्कार, पत्नीव्रत वा पतिव्रत आदि सदाचार हैं। व्यभिचार, मद्यादि मादक द्रव्यों और मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन, जुआ, चोरी, छल-कपट, रिश्वत आदि, दुराचार हैं।

(च) स्त्रियों को आर्य सभासद् बनने के लिए यदि उनकी आय अपने संरक्षक वा पति की आय से पृथक् न हो तो संरक्षक वा पति की आय के शतांश का 1/5 देना काफी होगा।

5. जो आर्यसभासद् आर्य समाज के उद्देश्यों अथवा वैधानिक नियमों के विरुद्ध आचरण और व्यवहार करेगा उसको आर्य समाज की अंतरंग सभा स्थगित और साधारण सभा आर्य सभासदी से पृथक् कर सकती है किंतु अंतरंग या साधारण सभा अपना निश्चय करने से पूर्व संबद्ध आर्य सभासद् को अपनी ओर से स्पष्टीकरण करने की पूर्ण सुविधा प्रदान करेगी। ऐसे स्थगित या पृथक् किए गए व्यक्ति को प्रांतीय सभा में इस निर्णय के विरुद्ध अपील करने का अधिकार होगा। प्रांतीय सभा का अधिकार होगा कि वह इस निर्णय को स्थगित करे या पलट दे।

6. आर्य समाज में होने वाली सभाएं दो प्रकार की होंगी—

(1) धार्मिक (2) प्रबंधक।

धार्मिक सभाएं (4) प्रकार की होंगी—

(1) दैनिक (2) साप्ताहिक

(3) वार्षिक (4) नैमित्तिक।

प्रबंधक सभाएं दो प्रकार की होंगी—

(1) वार्षिक (2) नैमित्तिक।

धार्मिक सभा

7. दैनिक—यह सभा प्रतिदिन सम्मिलित संध्या, हवन, कथा और उपदेश आदि के लिए हो सकेगी।

साप्ताहिक—यह सभा प्रत्येक सप्ताह में एक बार हुआ करेगी। इसमें संध्या, हवन, वेदोपदेश, प्रार्थना, भजन, उपदेश, आदि और अंत में ऋग्वेद के अंतिम सूक्त का उच्च स्वर में सम्मिलित पाठ हुआ करेगा।

टिप्पणी—जो कोई समाज संबंधी मुख्य बात सभा के जानने योग्य हो वह भी इस सभा में बताई जाएगी।

वार्षिक—वार्षिक सभा (वार्षिकोत्सव) विशेष रूप से धर्म प्रचार करने और समाज में अधिक उत्साह लाने के लिए वर्ष में एक बार की जाएगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैमित्तिक—किसी आवश्यक कार्य के लिए जब-जब प्रधान या मंत्री उचित समझें, यह सभा की जावेगी। अथवा अंतरंग सभा के 2/3 सदस्य चाहें या साधारण सभा का 1/3 भाग चाहे और मंत्री व प्रधान को लिखे तब भी यह सभा की जाएगी।

प्रबंधक सभा

8. वार्षिक—यह सभा प्रतिवर्ष नीचे लिखे प्रयोजनों के लिए हुआ करेगी—

1. अधिकारियों, अंतरंग सदस्यों, प्रांतीय सभा के लिए प्रतिनिधि सदस्यों (जब अपेक्षित हो) तथा आय-व्यय लेखा निरीक्षक के निर्वाचन के लिए।

2. समाज के पिछले वर्ष का वृत्तांत सुनने, आय-व्यय स्वीकार करने तथा आय-व्यय का आनुमानिक लेखा (बजट) बनाने के लिए।

3. अंतरंग सभा के निश्चयों के विरुद्ध अपील सुनने के लिए।

4. उन विषयों का निर्णय करने के लिए, जिन्हें अंतरंग सभा ने निर्णयार्थ भेजा हो।

5. इस सभा के होने के समय आदि का विज्ञापन 15 दिन पहले दिया जाएगा जिसमें प्रवेशनीय विषयों के विवरण स्पष्ट लिखे जाएंगे।

चुनाव लिखित सम्मति (पर्चियों) द्वारा हुआ करेगा और सर्वसम्मति होने पर हाथ उठाकर भी हो सकेगा। किसी झगड़े की अवस्था में अंतिम फैसला प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभा का माननीय होगा।

नैमित्तिक

9. यह सभा जब कभी आवश्यकता हो, किसी विशेष काम के लिए नीचे लिखी दशा में की जाएगी—

1. जब प्रधान चाहे, और मंत्री को आज्ञा दे।
2. जब अंतरंग सभा चाहे।
3. जब आर्य सभासदों का दसवां भाग वा तीन आर्य सभासद, जो भी अधिक हों, चाहें और इस निमित्त मंत्री के पास विचारणीय विशेष महत्त्वपूर्ण विषय को स्पष्ट शब्दों में लिखकर भेजें तो इस दशा में आवेदन-पत्र प्राप्ति के 15 दिन के भीतर अधिवेशन बुलाना प्रधान और मंत्री का कर्तव्य होगा। यदि प्रधान के परामर्श से नैमित्तिक अधिवेशन बुलाने के लिए विज्ञापन नियत अवधि के भीतर न निकाला जाए तो आवेदन-पत्र देने वाले आर्य सभासद् प्रांतीय सभा को सूचना देकर नियमानुसार अधिवेशन बुला सकेंगे।

अंतरंग सभा

10. समाज के सब कार्यों के प्रबंध के लिए अंतरंग सभा नियुक्त की जाएगी। उसमें दो प्रकार के सभासद् होंगे—1. अधिकारी, 2. अंतरंग द्वारा निर्वाचित जितने आर्य सभासद् घोषित हों उनके दश प्रतिशत तक निर्वाचित सभासद्। इस दश प्रतिशत में अधिकारियों की संख्या गणना में न आवेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11. वर्ष-वर्ष के पीछे अंतरंग सभा के अधिकारी और आय-व्यय लेखा निरीक्षक वार्षिक साधारण सभा में फिर से नियत किए जावेंगे और कोई पुराना अधिकारी सर्वसम्मति होने के सिवाय निरंतर 3 वर्ष से अधिक एक पद पर न चुना जा सकेगा।

12. जब वर्ष के पहले किसी अधिकारी का स्थान रिक्त (खाली) हो तो अंतरंग सभा स्वयं उसके स्थान पर किसी और योग्य पुरुष को नियत कर सकेगी।

13. अंतरंग सभा कार्य के प्रबंध निमित्त कोई उचित व्यवस्था कर सकती है परंतु वह आर्य समाज के उप-नियमों और दस नियमों के विरुद्ध न हो।

14. अंतरंग सभा किसी विशेष कार्य के लिए अपने में से कुछ सभासदों, अन्य आर्य सभासदों वा विशेष गुण रखने वाले आर्य सदस्यों को मिलाकर उपसभा नियत कर सकती है।

15. अंतरंग सभा का कोई सभासद् मंत्री को एक सप्ताह पहले विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदन किया जाए और यह विषय प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया जाएगा परंतु जिस विषय के निवेदन करने में अंतरंग सभा के 5 सभासद् या 1/3 भाग (जो भी संख्या न्यून हो) सम्मति दें, वह अवश्य निवेदन करना पड़ेगा।

16. एक मास में अंतरंग सभा एक बार अवश्य हुआ करेगी और प्रधान की आज्ञा से वा सब अंतरंग सभा के 5 सभासद् या 1/3 भाग (जो संख्या न्यून हो) मंत्री को पत्र लिखें तब भी हो सकती है।

अधिकारी

17. अधिकारी 7 प्रकार के होंगे–

1. प्रधान, 2. उप-प्रधान, 3. मंत्री, 4. उप-मंत्री, 5. कोषाध्यक्ष, 6. पुस्तकाध्यक्ष। 7. अधिष्ठाता आर्य वीर दल।

18. उप-प्रधान, उप-मंत्री और पुस्तकाध्यक्ष इन पदों पर आवश्यकता होने से एक से अधिक व्यक्ति नियत हो सकते हैं और जब किसी पद पर एक से अधिक व्यक्ति निर्वाचित हों तो अंतरंग सभा उन्हें काम बांट सकेगी।

इस धारा के अंत में निम्नलिखित टिप्पणियां बढ़ायी जाएं :

आर्य समाज के अधिकारी, अंतरंग सभासद् एवं आर्य समाज को किसी भी संस्था का प्रमुख अधिकारी बनाए जाने से पूर्व आर्य सभासदी की अवधि निम्न प्रकार की होगी–

क. आर्य समाज का प्रधान, मंत्री अथवा आर्य समाज की किसी भी संस्था का प्रमुख अधिकारी अथवा उसकी प्रबंधकारिणी समिति का अध्यक्ष, मंत्री अथवा प्रबंधक बनाए जाने से पूर्व वह व्यक्ति न्यूनातिन्यून 3 वर्ष तक निरंतर आर्य सभासद् रहा हो।

ख. प्रधान एवं मंत्री के अतिरिक्त अन्य पदाधिकारी एवं अंतरंग सभा का साधारण सभासद बनाए जाने से पूर्व वह व्यक्ति न्यूनातिन्यून दो वर्ष तक निरंतर आर्य सभासद् रहा हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग. आर्य समाज की अंतरंग सभा के प्रत्येक सदस्य एवं आर्य समाज को किसी भी संस्था के प्रमुख अधिकारी पद के हेतु आवश्यक होगा कि आर्य समाज के साप्ताहिक सत्संगों में उसकी उपस्थिति न्यूनातिन्यून 33 प्रतिशत रही हो।

प्रधान

19. प्रधान के नीचे लिखे अधिकार और कर्त्तव्य होंगे–

1. प्रधान अंतरंग सभा और समाज की सब सभाओं का सभापति समझा जावेगा।
2. सदा समाज के कामों के यथावत् प्रबंध करने में और आर्य समाज की उन्नति और रक्षा में तत्पर रहेगा। समाज के समस्त कामों को देखेगा कि नियमानुसार किए जाते हैं वा नहीं और स्वयं नियमानुसार चलेगा।
3. यदि कोई विषय तात्कालिक और आवश्यक प्रतीत हो तो उसका यथोचित प्रबंध उसी समय करे और उसके बिगड़ने में उत्तरदाता वही होगा।
4. प्रधान अपने प्रधानत्व के कारण उन सब उप-सभाओं का जिनका अंतरंग सभा निर्माण करे सभासद् होगा।

20. उप-प्रधान, प्रधान के अनुपस्थिति होने पर उसका प्रतिनिधि होगा और समाज के सब कामों में प्रधान की सहायता देना उसका मुख्य काम होगा। यदि एक से अधिक उप-प्रधान हों तो उनमें से किसी एक उप-प्रधान को प्रधान मुख्य उप-प्रधान नियत कर सकेगा।

मंत्री

21. मंत्री के नीचे लिखे हुए कर्त्तव्य और अधिकार होंगे–

1. अंतरंग सभा तथा प्रधान की आज्ञानुसार समाज के सब कार्यों को चलाना और समाज की ओर से सबके साथ पत्र-व्यवहार करना और समाज संबंधी चिट्ठी और सब प्रकार के विशिष्ट पत्रों को संभाल कर रखना।
2. समाज की सभाओं का वृतांत लिखना और दूसरी सभा होने से पहले ही उसका वृतांत पुस्तक में लिखना वा लिखवा देना।
3. मासिक अंतरंग सभाओं में उन आर्य सदस्यों वा आर्य सभासदों के नाम सुनाया करना जो पिछली मासिक सभा के बाद आर्य समाज में प्रविष्ट हुए हों या उससे पृथक हुए हों।
4. सामान्य प्रकार से समाज के भृत्यों के काम पर दृष्टि रखना और समाज के नियम, उपनियम और व्यवस्थाओं के पालन, उन पर ध्यान रखना।
5. आर्य समाज की संस्थाओं के (यदि कोई हों) प्रबंध पर सामान्य प्रकार से दृष्टि रखना।
6. प्रत्येक सभा में नियत काल पर आना और बराबर ठहरना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उप-मंत्री

22. मंत्री के अनुपस्थित होने पर उसका प्रतिनिधि होना और समाज के सब कामों में मंत्री को सहायता देना उसका मुख्य काम होगा।

कोषाध्यक्ष

23. कोषाध्यक्ष के नीचे लिखे कर्त्तव्य और अधिकार होंगे—

1. समाज की सब आय का लेना, उसकी रसीद देना और उसको यथोचित, सुरक्षित रखना वा रखवाना और कुछ भी धन बिना रसीद लिए और बिना लेखबद्ध आज्ञा प्राप्त किए किसी को न देना।
2. किसी को अंतरंग सभा की आज्ञा बिना रुपया न देना वरन् मंत्री और प्रधान को भी उस परिणाम से, जितना कि अंतरंग सभा ने उनके लिए नियत किया हो, अधिक न देना और उस धन के उचित व्यय के लिए वही अधिकारी जिसके द्वारा वह व्यय हुआ हो, उत्तरदायी होगा।
3. सब धन के आय-व्यय का रीति-पूर्वक बहीखाता रखना और प्रतिमास जांच कराके अंतरंग सभा में हिसाब को बहीखाते समेत स्वीकारी के लिए उपस्थित करना।

पुस्तकाध्यक्ष

24. पुस्तकाध्यक्ष के कर्त्तव्य ये होंगे—

पुस्तकालय में समाज की जो स्थिर पुस्तकें और विक्रय पुस्तकें हों, उन सबकी रक्षा करे और पुस्तकालय संबंधी हिसाब-किताब रखे और पुस्तकों का लेन-देन, मंगवाने और बेचने तथा पुस्तकालय संबंधी अमानत के रखने का काम भी करे।

टिप्पणी—स्थिर वा विक्रय पुस्तक अंतरंग सभा की स्वीकारी से मंगाई जाएंगी।

मिश्रित

25. सब आर्य सभासदों की सम्मति पत्र द्वारा निम्नलिखित दशाओं में ली जावेगी।

1. जब अंतरंग सभा का यह निश्चय हो कि समाज की भलाई के लिए सब आर्य सभासदों की सम्मति जाननी चाहिए।
2. जब सब आर्य सभासदों का 1/5 भाग या तीन सभासद् (जो संख्या अधिक हो) इस निमित्त मंत्री के पास पत्र लिखकर भेजें।
3. जब बहुत से व्यय-संबंधी वा प्रबंध संबंधी वा व्यवस्था संबंधी मुख्य प्रस्ताव करने हों।

26. जब किसी सभा में कुछ समय के लिए सभापति उपस्थित न हो तो उसके स्थान में उस समय के लिए अपने में से किसी योग्य पुरुष को वह सभा सभापति नियत कर सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

27. यदि नियमानुसार वार्षिक साधारण सभा में निर्वाचन न हो सके तो अधिक से अधिक 6 मास तक पुराने अधिकारी कार्य करते रहेंगे। यदि इस अवधि में निर्वाचन न हो सके तो प्रांतीय प्रतिनिधि सभा का प्रधान 2 मास के भीतर निर्वाचन करा दे या उचित प्रबंध कर दे।

28. सब सभाओं और उपसभाओं का वृत्तांत यथासंभव आर्य भाषा तथा देवनागरी लिपि में लिखा जाया करेगा और उसको यदि कोई आर्य सभासद् चाहे तो मंत्री, प्रधान की अनुमति लेकर, उसे दिखला दिया करेगा।

नोट—आर्यावर्त से बाहर के समाजों में जरूरत होने पर आर्य भाषा में वृत्तांत लिखने का नियम शिथिल भी हो सकता है।

29. सब सभाओं का काम तब आरंभ होगा जब 1/3 (एक तिहाई) सभासद उपस्थित हों।

30. (क) सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित होंगे।
(ख) प्रधान के साधारण वोट (मत) के अतिरिक्त एक दूसरा निर्णायक वोट भी होगा।

31. आय का दशांश स्थिरनिधि में रखा जाएगा।

32. सब आर्य सदस्यों और आर्य सभासदों को संस्कृत एवं आर्य भाषा अवश्य जाननी चाहिए।

33. सब आर्य सदस्यों और आर्य सभासदों का साप्ताहिक सत्संगों में सम्मिलित होना मुख्य कर्त्तव्य होगा।

34. सब आर्य सदस्यों और आर्य सभासदों को उचित है कि लाभ और आनंद के समय समाज पर भी दृष्टि रखें और उसकी धनादि से सहायता किया करें।

35. सब आर्य सदस्यों और आर्य सभासदों को उचित है कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें और आनंद उत्सव में निमंत्रण पर सम्मिलित हों, छोटाई बड़ाई न गिनें।

36. यदि कोई आर्य भाई किसी हेतु से संकट में हो वा किसी की दुःखी विधवा या संतान अनाथ हो जावे और उसका किसी प्रकार जीवन निर्वाह न हो सकता हो और आर्य समाज को यह निश्चय हो जाए तो आर्य समाज उसकी रक्षार्थ यथाशक्ति यथोचित प्रबंध करे।

37. सार्वदेशिक सभा द्वारा बनाए गए संपूर्ण नियम जिनमें न्याय सभा का विधान भी सम्मिलित है आर्य समाजों पर लागू होंगे।

38. निम्नलिखित कारणों से अधिकारी और अंतरंग सभासदों के पद रिक्त समझे जाएंगे—

1. मृत्यु होने पर।
2. विक्षिप्त होने पर।
3. पद परित्याग करने पर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. यदि कोई व्यक्ति आर्य न्याय सभा अथवा राजकीय न्यायालय के निर्णयानुसार किसी ऐसे अपराध के लिए दंडित हुआ हो जो अंतरंग की सम्मति में इस सभासद् को सभासद् रहने के अयोग्य सिद्ध करे।

39. प्रधान किसी विशेष अवस्था में अंतरंग सभा की अनुमति लेकर किसी भी अधिकारी को स्थगित कर सकता है। परंतु अंतिम निर्णय के लिए 15 दिन के अंदर नैमित्तिक साधारण सभा बुलानी होगी। यदि ऐसी सभा न बुलाई गई तो अधिकारी को स्थगित करने की आज्ञा निरस्त समझी जाएगी।

40. प्रधान को अपने पद से च्युत करने के लिए साधारण सभा में प्रस्तुत अविश्वास के प्रस्ताव का कम से कम 75 प्रतिशत मतों से स्वीकृत होना आवश्यक होगा :

अविश्वास प्रस्ताव के पारित हो जाने के तुरंत उपरांत वह अपने पद से पृथक् हो गया समझा जाएगा।

ऐसे प्रस्ताव को प्रस्तुत करने के लिए न्यून से न्यून आर्य-सभासदों के 1/2 के हस्ताक्षर आवश्यक होंगे।

41. प्रत्येक प्रांत में एक मुख्य सभा होगी जिसका नाम 'आर्य प्रतिनिधि सभा' होगा। सब समाजों की व्यवस्था उसी के अधीन तथा अनुकूल होगी। यह सभा अपने नियमादि स्वयं बनावेगी।

42. स्थानीय समाज की ओर से प्रांतीय प्रतिनिधि सभा की किसी आज्ञा वा व्यवस्था का घोर और निरंतर विरोध होने अथवा स्थानीय समाज में ऐसी अव्यवस्था हो जाने पर जो प्रांतीय सभा की सम्मति में समाज के लिए हानिकर हो, प्रांतीय सभा के प्रधान को अपनी अंतरंग सभा की अनुमति से अधिकार होगा कि उस स्थानीय समाज के संगठन को, नियत समय के लिए स्थगित कर देवे और समाज तथा समाज के अधीन संस्थाओं का प्रबंध उचित रीति से करावे।

43. समस्त आर्य जगत के लिए एक मुख्यतम सभा होगी जिसका नाम 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधिसभा' होगा। समस्त आर्य प्रतिनिधि सभाओं के पुरुषार्थ को संयुक्त करके आर्य जगत् की समुचित व्यवस्था करना उसका मुख्य कर्त्तव्य होगा। यह सभा अपने नियमादि स्वयं बनाएगी।

44. प्रांतीय सभाओं से संबद्ध आर्य समाजों की रजिस्ट्री प्रांतीय सभाओं से पृथक् नहीं हो सकती। यदि कोई समाज अपनी सम्पत्ति और संगठन की रजिस्ट्री पृथक् कराएगा और प्रांतीय सभा चाहे तो वह धारा 41 के अनुसार उस समाज के विरुद्ध कार्यवाही कर सकती है।

45. ये उपनियम आवश्यकतानुसार 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' द्वारा यथोचित विज्ञापन देने पर शोधे, बढ़ाए वा घटाए जा सकते हैं।

किसी भी आर्य समाज को वा प्रांतीय सभा को इन उपनियमों को घटाने, बढ़ाने अथवा उनमें संशोधन करने को अधिकार नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ ओ३म ॥

आर्य समाज
का
प्रवेश-पत्र

सेवा में,
श्री मंत्री जी, आर्य समाज

श्रीमान् जी,
नमस्ते !

मैं प्रसन्नतापूर्वक आर्य समाज के उद्देश्यों को (जैसा कि नियमों में वर्णन किए गए हैं) तथा मंतव्यों और सिद्धांतों को (वेदों के आधार पर ऋषि दयानंद के ग्रंथों में लिखे गए हैं) मानता और उनके अनुकूल आचरण स्वीकार करता हूं। मेरा नाम आर्य समाज में लिख लेवें।

नाम ....

पिता का नाम .... आयु ....

पूरा पता ....

वृत्ति (आजीविका) ....

मासिक चंदा (जो मेरी आय का शतांश है) ....

तारीख .... महीना .... सन् ....

प्रार्थी के हस्ताक्षर ....

स्वीकृति की तिथि ....

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ ग्रंथ-सूची

हिंदी ग्रंथ

अच्युतानंद सरस्वती, स्वामी, **चतुर्वेद शतकम्**, आर्य प्रकाशन, 814 कुंडेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण, 1996।

आर्य, अशोक, **दयानंद दर्शन**, उदयपुर।

आर्य, गजानंद, **आर्य समाज की मान्यताएं**, कलकत्ता, 1986।

इंद्र विद्या वाचस्पति, **महर्षि दयानंद**, विजय पुस्तक भंडार, दिल्ली, 1945।

इंद्र विद्यावाचस्पति, **आर्य समाज का इतिहास**, 2 भाग, दिल्ली।

उपाध्याय, गंगाप्रसाद, **जीवात्मा**।

उपाध्याय, गंगाप्रसाद, **सनातन धर्म और आर्य समाज** सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली।

कुशवाहा, शिवपूजन सिंह, **महर्षि दयानंद कृत वेदभाष्य अनुशीलन**।

गुप्त, विश्वप्रकाश और मोहिनी गुप्त, **लाला लाजपत राय : व्यक्ति और विचार**, नई दिल्ली, 2000।

गुप्त, वेदप्रकाश, **दयानंद दर्शन**, मेरठ, 1973।

घासीराम, पं., **महर्षि दयानंद सरस्वती का जीवन चरित्र**, 2 भाग, आर्य साहित्य मंडल अजमेर, 1933 ई.।

जगदीश चंद्र विद्यार्थी, **गायत्री माता**, गोविंद राम हासाराम, दिल्ली।

जगदीशानंद सरस्वती, **अथर्ववेद शतकम्**, गोविंद राम हासानंद, दिल्ली।

जगदीशानंद सरस्वती, **ऋग्वेद शतकम्**, गोविंद राम हासानंद, दिल्ली।

जगदीशानंद सरस्वती, **यजुर्वेद शतकम्**, गोविंद राम हासानंद, दिल्ली।

जगदीशानंद सरस्वती, **सामवेद शतकम्**, गोविंद राम हासाराम, दिल्ली।

जयचंद्र विद्यालंकार, **दयानंद चरित का ऐतिहासिक अनुशीलन**, जालंधर, 1923 वि.।

जिज्ञासु ब्रह्मदत्त, **यजुर्वेद भाष्य विवरण**, रामलाल कपूर ट्रस्ट, नई दिल्ली।

दयानंद स्वामी, **आत्मकथा** (सं. जगत्कुमार स्वामी), गोविंद राम हासानंद, दिल्ली।

जिज्ञासु, ब्रह्मदत्त, **वेदार्थ प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धांत**, रामलाल कपूर ट्रस्ट, दिल्ली।

दयानंद स्वामी, **अष्टाध्यायी भाष्य** (2 भाग), वैदिक यंत्रालय, अजमेर, लेखन काल 1935-36 वि., प्रकाशन काल प्रथम भाग 1884 वि. 1927 ई., द्वितीय भाग 1997 वि. 1940 ई.।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दयानंद स्वामी, **आर्याभिविनय,** आर्यमंडल प्रेस, बंबई, 1932 वि., 1876 ई.।

दयानंद स्वामी, **आर्योद्देश्य रत्नमाला** चश्मए नूर प्रेस, अमृतसर, 1934 वि. 1877 ई.।

दयानंद स्वामी, **उपदेश मंजरी,** दिल्ली 1996।

दयानंद स्वामी, **ऋग्वेदभाष्य** (7/62/2 तक), निर्णयसागर प्रेस, बंबई तथा वैदिक यंत्रालय, काशी, प्रयाग, अजमेर, 1935 वि. 1877 ई. से 1956 वि. 1899 ई. पर्यंत।

दयानंद स्वामी, **ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका,** 1993, दिल्ली।

दयानंद स्वामी, **ऋग्वेद भाष्य का प्रथम सूक्त** (सं. जगत्कुमार शास्त्री), गोविंद राम हासानंद, दिल्ली 2010 वि.।

दयानंद स्वामी, **काशी शास्त्रार्थ,** वैदिक यंत्रालय, काशी, 1937 वि. 1880 ई.।

दयानंद स्वामी, **गोकरुणानिधि,** वैदिक यंत्रालय, काशी, 1937 वि. 1880 ई.।

दयानंद स्वामी, **पंचमहायज्ञ विधिः** (संशोधित) लाजरस प्रेस, बंबई, 1934 वि. 1877 ई.।

दयानंद स्वामी, **भ्रमोच्छेदन,** वैदिक यंत्रालय, काशी, 1937 वि. 1880 ई.।

दयानंद स्वामी, **भ्रांतिनिवारण,** आर्यभूषण प्रेस, शहाजहांपुर, 1937 वि. 1880 ई.।

दयानंद स्वामी, **भागवत खंडन अपर नाम पाखंड खंडन,** ज्वाला प्रकाश प्रेस, आगरा, 1923 वि. 1866 ई.।

दयानंद स्वामी, **यजुर्वेद भाष्य,** निर्णय सागर प्रेस, बंबई, और वैदिक यंत्रालय, काशी, प्रयाग, 1935 वि. 1878 से 1946 वि.।

दयानंद स्वामी, **वेद भाष्यम्** (नमूने का अंक), लाजरस प्रेस, बनारस, 1933 वि. 1876 ई.।

दयानंद स्वामी, **वेदविरुद्ध मत खंडन,** निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1931 वि., 1875 ई.।

दयानंद स्वामी, **वेदांग प्रकाश** (14 भाग), वैदिक यंत्रालय, काशी, प्रयाग, 1936 वि. 1879 ई. से 1940 वि. 1883 ई. पर्यंत।

दयानंद स्वामी, **वेदांतिध्वांति निवारण,** ओरिएंटल प्रेस, बंबई, 1932 वि. 1936 ई.।

दयानंद स्वामी, **व्यवहार भानु.,** गोविंदराम हासानंद, दिल्ली।

दयानंद स्वामी, **शिक्षापत्री ध्वांति निवारण सं.,** जगत्कुमार शास्त्री, गोविंदराम हासानंद, दिल्ली।

दयानंद स्वामी, **संध्या,** ज्वाला प्रकाश प्रेस, आगरा 1920 वि. 1863 ई.।

दयानंद स्वामी, **संध्योपासनादि पंचमहायज्ञविधिः,** वैदिक यंत्रालय, प्रयाग, 1941 वि. 1884 ई.

दयानंद स्वामी, **संस्कृत वाक्य प्रबोध,** वैदिक यंत्रालय, काशी, 1936 वि. 1879 ई.।

दयानंद स्वामी, **सत्यार्थ प्रकाश,** आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, सप्तदश संस्करण 1979, दिल्ली 7।

दयाराम तहसीलदार, **वैदिक धर्म विजय,** मेरठ, 1902 ई.।

दीक्षित, पं. हरिदत्त जी, **दयानंद स्वामी और गो रक्षा।**

देवव्रत धर्मेन्दु, **दयानंद वचनामृत,** सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली।

देवव्रतजी धर्मेन्दु, **वैदिक सूक्ति सुधा,** सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देहलवी, रामचंद्र, **हैदराबाद सत्याग्रह और आर्य समाज,** मंत्री, आर्यसमाज, अजमेर।

नारायण, स्वामी, **वैदिक सिद्धांत अर्थात् कतिपय वैदिक सिद्धांतों पर निबंध संग्रह,** मथुरा 1925।

परिव्राजक, श्रीमत्परमहंस, **सत्यार्थ प्रकाश** (संक्षिप्त) श्री मद्दयानंद कालेज प्रबंध समिति, चित्रगुप्त रोड, नई दिल्ली, 1980।

पातंजलि, **योगदर्शन।**

प्रेम प्रकाश वानप्रस्थ, **यज्ञ-विज्ञान।**

भगवद्दत, **ऋषि दयानंद सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र,** रामलाल कपूर ट्रस्ट, दिल्ली।

भगवद्दत, **ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन तथा परिशिष्ट,** रामलाल कपूर ट्रस्ट, दिल्ली।

भगवद्दत, **निरुक्त शास्त्र,** रामलाल कपूर ट्रस्ट, दिल्ली।

भगवद्दत, **वैदिक वाङ्मय का इतिहास,** रामलाल कपूर ट्रस्ट, दिल्ली।

भगवद्दत, **आर्य राजनीति के कतिपय तत्त्व,** गोविंदराम हासाराम, दिल्ली।

भारतीय, भवानीलाल, **आर्य समाज के पत्र और पत्रकार,** परोपकारिणी सभा, अजमेर, 1981

भारतीय, भवानीलाल, **ऋषि दयानंद का राष्ट्रवाद।**

भारतीय, भवानीलाल, **स्वामी दयानंद के दार्शनिक सिद्धांत,** चंडीगढ़, 1982।

भारतीय, भवानीलाल, **दयानंद शास्त्रार्थ संग्रह,** रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, 1982, द्वितीय संस्करण।

भारतीय, भवानीलाल, **नवजागरण के पुरोधा : दयानंद सरस्वती,** वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, 2040 वि. 1983 ई.।

भारतीय, भवानीलाल, **महर्षि दयानंद और स्वामी विवेकानंद,** वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 1976।

भारतीय, भवानीलाल, विश्वधर्म कोश : **सत्यार्थ प्रकाश**

भारतीय, भवानीलाल, **वैदिक स्वाध्याय।**

भीमसेन शास्त्री, **विरजानंद प्रकाश,** रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, 1959।

महेश प्रसाद, मौलवी, **महर्षि दयानंद सरस्वती,** इलाहाबाद, 1998 वि.।

मीतल, प्रभुदयाल, **मथुरा में दंडी विरजानंद जी का विद्यालय और स्वामी दयानंद जी की शिक्षा-दीक्षा,** आर्य समाज, मथुरा, 1959।

मीतल, प्रभुदयाल, **मथुरा में स्वामी दयानंद का विद्यालय,** मथुरा, 1959 ई.।

मीमांसक, युधिष्ठिर, **ऋषि दयानंद और आर्यसमाज से संबंधित महत्त्वपूर्ण अभिलेख,** बहालगढ़, 1938 वि।

मीमांसक, **ऋषि दयानंद के ग्रंथों का इतिहास।**

मुखोपाध्याय, देवेंद्रनाथ (अनु. घासीराम), दयानंद चरित्र, भास्कर प्रेस, मेरठ, 1912।

मुखोपाध्याय, देवेंद्रनाथ **विरजानंद चरित** (अनु. घासीराम), आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रांत, 1919 ई.।

योग वसिष्ठ, गीता प्रेस, 1937।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रघुनाथ प्रसाद, संत रोमा रोल्या, **भारत का एक संत।**

रामगोपाल शास्त्री, **महर्षि दयानंद की राष्ट्रीय विचारधारा।**

लेखराम, **महर्षि दयानंद सरस्वती का जीवन-चरित्र,** आर्य समाज, नया बांस, दिल्ली, 1928 वि.।

वर्मा सत्यकाम, **सत्यार्थ प्रकाश संदेश,** दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, 15 हनुमान रोड, नई दिल्ली 1979।

विद्यालंकार, डॉ. सत्यकेतु, **आर्य समाज का इतिहास,** 7 भागों में।

विश्वनाथ शास्त्री, **दयानंद जीवनी साहित्य,** अजमेर, 2018 वि.।

विश्वनाथ, **बाल सत्यार्थ प्रकाश।**

वेदवाणी, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर की मासिक पत्रिका) वेदवाणी कार्यालय, बहालगढ़ (सोनीपत-हरियाणा)।

वेदानंद तीर्थ, **स्वामी विरजानंद सरस्वती का जीवन-चरित्र।**

शर्मा, गणेश प्रसाद, **फर्रुखाबाद का इतिहास,** आर्य समाज, फर्रुखाबाद, 1931।

श्रद्धानंद स्वामी, **कल्याण मार्ग का पथिक,** ज्ञानमंडल, काशी, 1981 वि.।

शारदा रामविलास, **आर्य धर्मेन्द्र जीवन,** वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 1904 ई., 1961 ई.।

श्रीनिवास शास्त्री, **दयानंद-दर्शन : एक अध्ययन,** कुरुक्षेत्र 1977।

श्रीवास्तव, द्वारका प्रसाद, **भारत के राजनैतिक पुनर्जागरण पर धार्मिक आंदोलनों का प्रभाव।**

सत्यदेव विद्यालंकार, **राष्ट्रवादी दयानंद।**

सत्यानंद स्वामी, **दयानंद प्रकाश,** गोविंद राम हासानंद, दिल्ली।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, **आर्य समाज की उपलब्धियां।**

सिंह बी. के. **स्वामी दयानंद,** नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 1970

सोढ़ा, ब्रह्मदत्त, **अजमेर और ऋषि दयानंद** अजमेर, 2005 वि.।

अंग्रेजी ग्रंथ

Arjun Singh, Bawa, **Dayanand Sarswati Founder of the Arya Samaj,** Ess Ess Publications, Delhi, 2nd ed., 1979.

Ashly, Philip H., **Modern Trends in Hinduism** Columbia University Press, New York, 1974.

Bayly, C.A, ed., **Indian Society and the Making of the British Empire** Cambridge University Press, Cambridge, 1985.

Bayly, C.A, ed. **The Illustrated History of Modern India 1600-1947,** Oxford University Press, Bombay, 1991.

Banerji, S. C., **Aspects of Ancient Indian Life, from Sanskrit Sources,** Pinthi Pustak, Calcutta, 1972.

Bhagvaddat, **Western Ideologists : A Study in Motives.**

Bhisham, A. L., **The Wonder that was India.**

Bisham, A. L., ed., **Cultural History of India.** Oxford Clandon Press, 1975

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Chahdhuri, N.C. , **Hinduism : A Religion to Live by.** Oxford University Press, New York, 1979.
Chopra, P.N. **India An Enclopaedix** S. Chand, New Delhi, 1984.
Desai, A.R., **Social Background of Indian Nationalism.** Popular Prakashan, Bombay, 1966.
Durga Prasad, **Maharshi Swami Dayananad Saraswati,** Lahore, 1892
Ghurge, G.C., **Vedic India Popular Prakashan,** Bombay, 1979.
Gupta V.P. and Mohini Gupta, **Life and Legacy of Lala Lajpat Rai,** New Delhi, 2000.
Haugh James, **The History of Christianity in India.**
Jones, Kenneth, **Arya Dharma Hindu Consciousness in 19th Century Punjab,** New Delhi, 1976.
Jones K.W. **Arya Dharma,** Delhi, 1976.
Jordens, J.F., **Dayanand Saraswati : His Life and Ideas,** Oxford, 1978.
Keith A.B., **History of Sanskrit Literature.**
Kejariwal, O. P. **The Asiatic Society of Bengal and the Discovery of India's Past, 1784-1838,** Oxford University Press, Delhi, 1988.
Kumar Dharma and Meghenand Desai. **The Cambridge Economic History of India, Vol. II. 1757-1970.**
Kumar, Ravinder, "A Review of the Historical Literature on the Struggle for Freedom in India", **In the Making of a Nation : Essays in Indian History and Politics,** Ravinder Kumar, Mandhor, Delhi, 1989.
Kumar, Ravinder, **The Social History of Modern India,** Oxford University Press, Delhi, 1983.
Lajpat Rai (Revised Expanded and edited by Sri Ram Sharma) **A History of the Arya Samaj,** New Delhi, 1967.
Mordonell, A.A., **A History of Sanskrit Literature.**
Majumdar, B.B., **History of Indian Social and Political Ideas** from **Ram Mohan and Dayanand,** Colcutta, 1967.
Majumdar, R.C. and A.D. Pusalker, eds. **The Vedic Age**, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1953.
Malhotra, S., **Political Thought of Swami Dayanand,** Delhi, 1980.
Mehra, Parshotam, **A Dictionary of Modern Indian History,** 1707-1947 Oxford, 1985.
Roman Roland **The Life of Ram Krishina,** Advait Ashram, Mayavati, Almora.
Moon, Penderal **The British Conquest and Domination of India,** 1989.
Muller, F. Max, ed., **The Sacred Books of the East,** 50 Vols. Motilal, 1962-66, Delhi Reprint of 1879-1910 edition.
Muller, F. Max, **Biographical Essays.**
Prasad, Bisheshwar, **Bondage and Freedom : A History of Modern India,**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2 vols. Rajesh Publications, New Delhi, 1977.
Ramakishana Mission, **The Cultural Heritage of India,** 6 Vols. Institute of Culture, Calculla, 1966.
Rad, M.S.A., ed., **Social Movements in India,** Manohar, New Delhi, 1978.
Saletore, R.N. **Eneylopaedia of Indian Culture.** 5 Vols. Sterling, New Delhi, 1981-85.
Sarda, Harvilas, **Shyamji Krishna Varma, 1959.**
Sastri, Siva Nath, **History of the Brahmo Samaj,** 1974, 2nd ed.
Satya Prakash, Dr., **A Critical Study of the Philosophy of Dayanand,** Ajmer, 1938.
Stepanyat Marivetta, **History of Indian Philosophy : A Russian Viewpoint.**
Stutley, Margaret and James Stutley, **A Dictionary of Hinduism,** 1500 B.C.-A.D. 1500, Rontledge and Kegan Paul, London, 1977.
Richter, J.A., **A History of Missions in India.**
Sarda, Harvilas, **Life of Dayananad Saraswati : World Teacher,** Paropkarini Sahha, Ajmer, 1968.
Sharma, Diwan Chand, **Swami Dayanand Saraswati,** Macmillan and Co. London, 1935.
Sharma, Shri Ram, **Swami Dayanand and The Theosophical Society,** Panjab University Research Bulletin 1973.
Singh, B.K. **Swami Dayanand,** National Book Trust, Delhi, 1970.
Suraj Bhan, **Dayanand : His Life and Work,** Jullundher, 1956.
Thaper, Romila, **Interpreting Early India.**
Thomas, P. **Christians and Christianity in India and Pakistan,** Allen and Unwin London, 1954.
Upadhyaya, Ganga Prasad, **Christinity in India.**
Upadhyaya, Ganga Prasad, **Philosophy of Dayanad,** Allahabad, 1955.
Vaidyanath Shastri, **The Arya Samaj. Its Cult and Creed,** 2nd ed., New Delhi, 1967.
Wilson, H.H. Hindu **Sects.**
Yadav, K.C. **Autobiography of Dayanand Sarswati,** Manohar Book Service, Delhi, 1978.
Yajnik, Indulal, **Shyamji Krishna Varma : Life and Times of an Indian** Revolutionary Bombay, 1950.
Palterson, Maureen, **South Asian Civilizations : A Biographical Synthesis,** 1981.

138761

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GUR

Accession on 20.12.05
Class on 21/12/05
Cat on 28/1/06
Tag etc.
Filing 22/1/06
E.A.R. 28/1/06
Any others
Checked

Recommended By डा० ज्ञानचन्द रावल

Entered in Database

Signature with Date
20.12.05

R 15.1,GUP-S

138761

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राधा पब्लिकेशन्स

4378/4B, अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली- 110002
फोन : 3261839, 3254306

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar